स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण

प्रधान-सम्पादक : [illegible]

भारतीय दर्शन के 50 वर्ष

•••

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा

विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण

प्रधान सम्पादक : श्रीप्रकाश दुबे

भारतीय दर्शन के 50 वर्ष

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण - ३

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण

प्रधान सम्पादक : श्रीप्रकाश दुबे

भारतीय दर्शन के 50 वर्ष

***

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
मध्य-प्रदेश

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिए प्रकाशित
भारतीय दर्शन के 50 वर्ष
सम्पादक : अम्बिकादत्त शर्मा

ISBN 81-88289-15-9

प्रथम संस्करण 2006

मूल्य - 600/-

प्रकाशक -
विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
247 जवाहरगंज, सागर - 470002 (म.प्र.)
✆ 07582-243598

अक्षर संयोजन-
एक्टिव कम्प्यूटर्स, सागर
✆ 503225

अनुक्रम

परिच्छेद : तीन 123-318

स्वातंत्र्योत्तरकालीन मौलिक दार्शनिक चिन्तन

पुरोवाक्

काल अथवा महाकाल के संदर्भ में पचास वर्षों की अवधि का संभवतया कोई विशेष अर्थ भले न हो, परन्तु आधुनिक युग में विज्ञान और तकनीकी के प्रभाव से घटनाक्रम जिस तेजी से बदल रहे हैं, उन्हें देखते हुए यह अवधि पर्याप्त महत्त्व की है। भारतीय इतिहास के संदर्भ में पिछली सदी में विदेशी शासन से इस देश की मुक्ति वैसे ही बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना है जिसके परिप्रेक्ष्य में प्रायः प्रत्येक क्षेत्रों में बहुत सी चर्चायें होती हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र के प्रति अतीतोन्मुखी निष्ठा एवं भविष्योन्मुखी पुनर्रचना की दृष्टि से भी 1947 में प्राप्त स्वतंत्रता का अपूर्व महत्त्व है।

हम जिसे स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन कहते हैं उसे 'समकालीन (कन्टेम्पोरेरी) भारतीय दर्शन' भी कहा जा सकता है। समकालीन हम उस अवधि को कह सकते हैं जिसके अंतर्गत रहने वाले किसी व्यक्ति से हमारा संवाद संभव हो। उदाहरण के लिए, यदि आज हमारी आयु 60 वर्ष की है तो लगभग पचास वर्ष पूर्व जीवित किसी व्यक्ति से मेरा संवाद हो सकता था, और तब हमारे लिये वह समय–सीमा समसामयिकता का निर्धारण करेगी। परन्तु यदि कोई स्नातकोत्तर कक्षा का विद्यार्थी ऐसे पाठ्यक्रम का अध्ययन कर रहा है जिसे हम समसामयिक कहेंगे तो उसके लिये 1985 के आसपास की अवधि में विद्यमान विचारक ही समकालीन माने जायेंगे। अतः जब हम तत्सम्बन्धी पाठ्यक्रम का निर्धारण करें तो इस पक्ष का ध्यान रखना होगा। 1969 में जब हम जबलपुर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के व्याख्याता के रूप में कार्य करना प्रारम्भ किये थे तब समकालीन भारतीय दर्शन का पाठ्यक्रम बनाते समय इस तथ्य का विशेष ध्यान रखा गया था।

एक भिन्न दृष्टि से हमारी सारी सांस्कृतिक विरासत समसामयिक हो सकती है, यदि हम उसका आलोचन कर उसे आज के परिदृश्य की सार्थकता की कसौटी पर लायें। जीवन्त रूप में युगीन सांस्कृतिक विकास के लिए यह आवश्यक भी है।

परन्तु प्रकृत प्रसंग में हम अखिल भारतीय दर्शन–परिषद् के स्थापना– वर्ष (1954) से प्रारम्भ कर अद्यावधि तक को समकालीन भारतीय दर्शन की परिधि में रखना चाहेंगे, जिस बीच हमारे चिंतन की धारा विशेषतया राष्ट्रभाषा– हिन्दी माध्यम से प्रवाहित हुई है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर प्रतिष्ठित करने का जैसा उद्देश्य गाँधी जी का था, उसका तात्पर्य भारत को उसकी आत्मा में प्रतिष्ठित करना था।

द्रष्टव्य है कि 'समकालीन भारतीय दर्शन' शीर्षक से हिन्दी में किसी ग्रन्थ का पहला प्रकाशन संभवतः परिषद् ने ही 1962 में किया था। प्रो. के. सच्चिदानन्द मूर्ति द्वारा सम्पादित इस ग्रन्थ में 10 आलेख हैं। इसमें विश्वविद्यालय से अनुबंधित दार्शनिकों के तथा भारतीय

जीवन पर प्रभाव डालने वाले मनीषियों के दर्शनों के विचार मिलते हैं। इसके लेखकों एवं आलेखों का क्रम है :– डॉ. संपूर्णानन्द : बीसवीं शती की भारतीय विचार–धारा की भूमिका, डॉ. नारायण शास्त्री द्रविड़ : भारतीय दर्शन की समसामयिक परम्परावादी प्रवृत्तियाँ, डॉ. ब्रजगोपाल तिवारी : नवीन हिन्दू आध्यात्मिक एवं धार्मिक दर्शन, डॉ. संगमलाल पाण्डेय : समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद : भारतीय दर्शन में अनुभववादी प्रवृत्तियाँ, डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी : श्री अरविन्द दर्शन, डॉ. सुरेन्द्र बारलिंगे : गाँधी दर्शन, नारायण मूर्ति : सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का दर्शन, चन्द्रशेखर राव : समकालीन भारतीय राजनैतिक दर्शन तथा डॉ. के. एस. मूर्ति : भारतीय मुस्लिम तथा ईसाई दार्शनिक विचार। राजेन्द्र प्रसाद का लेख वर्तमान ग्रन्थ में भी साभार सम्मिलित किया गया है जिसमें उन्होंने मानवेन्द्रनाथ राय, जी.सी. चटर्जी, निकुंज बिहारी बनर्जी, के. सच्चिदानन्द मूर्ति, प्रवास जीवन चौधरी तथा दयाकृष्ण को सम्मिलित किया है। प्रो. संगमलाल पाण्डेय के लेख में समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद का अध्ययन इसे कुछ वर्गों में विभक्त कर किया गया है, यथा–तुलनात्मक अनुशीलन, हेगेलीय प्रत्ययवाद, प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद का संशोधन व परित्याग, सार्वदेशिक प्रत्ययवाद एवं अनैकांतिक प्रत्ययवाद।

इस संकलन के 'आधुनिक भारतीय दर्शन अन्वीक्षण' शीर्षक से अपने सम्पादकीय आलेख में प्रो. मूर्ति ने इस आरोप का खण्डन किया है कि समकालीन भारत में मौलिक चिंतन का, विशेष रूप से संसदीय (एकेडमिक) क्षेत्र में, अभाव रहा है। उन्होंने 19 वीं शताब्दी के मौलिक चिंतन के अतिरिक्त 20 वीं शताब्दी के चिंतन को रेखांकित करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि इस शताब्दी में इंग्लैण्ड, जर्मनी तथा अमरीका में भी कोई विशेष महत्त्व का चिंतन नहीं हुआ एवं भारत के संसदीय व संसदेतर क्षेत्रों में जो चिंतन हुआ है वह किसी भी अन्य देश के चिंतन से कम नहीं है।

प्रोफेसर मूर्ति ने बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में भारत के चार प्रमुख असंसदीय विचारकों का उल्लेख किया, यथा, टैगोर, गाँधी, अरविन्द तथा मानवेन्द्रनाथ राय। संसदीय विचारकों में उन्होंने 19 वीं सदी में जन्मे और 20 वीं सदी में पैदा हुए विद्वानों के दो वर्ग किये, परन्तु इनमें किसी वैचारिक भेद को उल्लेखित किये बिना उन्होंने ऐसा किया है।

इस अवधि के संसदीय या शैक्षणिक दार्शनिकों में, मूर्ति का अवलोकन है कि बंगाल के लोगों का बाहुल्य रहा; कारण, यूरोप से बंगाल का वैचारिक टकराव या संपर्क सबसे पहले और सर्वाधिक हुआ। अतः कलकत्ता से ब्रजेन्द्रनाथ सील, हीरालाल हाल्दार, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, एस.के. मैत्र, एस.सी. चटर्जी तथा रासबिहारी दास जैसे नाम प्रमुखता प्राप्त किये हैं। मद्रास के पी.एन. श्री निवासाचारी, डी.एस. शर्मा, कुप्पूस्वामी शास्त्री, एस. एस. सूर्यनारायण शास्त्री, कुन्हन राजा और टी. एम. पी. महादेवन के नाम शीर्ष पर आये हैं। इसी प्रकार आन्ध्र से रौलेश्वर सेन, हुमायुं कबीर, पी.टी. राजू और टी.ए. पुरुषोत्तम के नाम उल्लेखनीय हैं। वाराणसी से बी. एल. आत्रेय, टी.आर. व्ही.मूर्ति और एन.के. देवराज, इलाहाबाद से गंगानाथ झा, आर. डी. राणाडे एवं ए.सी. मुकर्जी, लखनऊ से सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, दिल्ली से एन.व्ही. बनर्जी, अमलनेर से जी.आर. मलकानी, विश्वभारती से कालीदास भट्टाचार्य, पटना से हरिमोहन झा, जबलपुर से सी.डी. शर्मा, सागर से एस.के. सक्सेना, तिरुपति से वरदाचारी एवं ताताचार्य तथा भुवनेश्वर से जी. मिश्र के नामों का भी

उन्होंने उल्लेख किया है। जे. एन. मोहान्ती (कलकत्ता) के प्रदृश्यतावाद, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में लंबे समय तक अध्यापन करने वाले बसंत कुमार मल्लिक (देहान्त 1958) के विच्छिन्न एवं अविच्छिन्न तत्त्व–चिंतन और रामकृष्णन राव (आन्ध्र) के व्यावहारिक सत्यतावाद का भी उन्होंने यहाँ उल्लेख किया है।

यदि प्रो. मूर्त्ति द्वारा सम्पादित ग्रन्थ बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के समकालीन भारतीय चिंतन को प्रस्तुत करता है, तो वर्तमान शीर्षक से डॉ.अम्बिकादत्त द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ विगत शताब्दी के उत्तरार्द्ध के स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन को एक अवधारणात्मक योजना के साथ उपस्थापित करता है। इसकी एक विशिष्टता यह भी कही जा सकती है कि इसमें वैसे विचारक प्रमुखता प्राप्त किये हैं जिनके चिन्तन का गोत्र भारतीयता के जातीय अनुभव में मूलित है और न्यूनाधिक रूप से राष्ट्रभाषा के माध्यम से प्रवर्तित होता रहा है। यह सही है कि कोई भी ग्रन्थ किसी भाव–भूमि का समग्र प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, परन्तु अधिकाधिक सामग्री को एक अर्थवाही प्रारूप में समाहित करने का प्रयास इसमें अवश्य दिखाई पड़ता है। यदि इसमें रिक्तता या कमी किसी अध्येता को इस क्षेत्र में आगे कार्य करने को प्रेरित कर सकेगी, तो हम लोग अपने इस प्रयास तथा श्रम को सफल मानेंगे।

समसामयिक दार्शनिक चिन्तन को संसदीय रूप प्रदान करने वाले ऐसे प्रयासों को देखकर किसे प्रसन्नता नहीं होगी ! मुझे समकालीन भारतीय दर्शन पर कुछ लिखने के लिए अमरीकी मूल के मेरे एक मित्र ने प्रेरित किया था। जबलपुर स्थित लेनार्थ थियोलॉजिकल कॉलेज में धर्म–विज्ञान के प्रोफेसर डॉ. डेविड स्काट ने मुझसे समकालीन भारतीय दर्शन एवं दार्शनिकों पर दो आलेख माँगे, एक संगोष्ठी के लिये। मैंने उन्हें आश्वस्त किया और कुछ ही महीनों में दोनों आलेख तैयार कर डाले । 12 नवम्बर 1984 को आयोजित संगोष्ठी में चर्चा के दौरान उन लेखों को सराहा तो गया ही, कलकत्ता से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'द इण्डियन जर्नल ऑफ थियोलॉजी' के 1978 के जनवरी–मार्च तथा अप्रैल–जून के अंकों में वे क्रमशः रीसेन्ट ट्रेन्ड्स इन इण्डियन फिलॉसफी तथा थिन्कर्स ऑफ कन्टेम्पोरेरी इण्डिया शीर्षकों से प्रकाशित भी हुए। इनके प्रकाशन के पश्चात् अनेक टिप्पणियाँ आईं और हमें पर्याप्त प्रोत्साहन मिला, विशेष रूप में प्रो. नन्दकिशोर देवराज से। जिन विचारकों पर वहाँ चर्चा हुई थी उनमें से कई का सान्निध्य हमें आज भी प्राप्त है, यथा, प्रो. अनन्त गणेश जावडेकर, प्रो. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, प्रो. दयाकृष्ण, प्रो. राजेन्द्र प्रसाद तथा श्री यशदेव शल्य इत्यादि।

फरवरी 1980 में अहमदाबाद में परिषद् के रजत–जयंती अधिवेशन के अवसर पर 'भारतीय दर्शन के पच्चीस वर्ष' विषय पर आयोजित संगोष्ठी में कुछ महत्त्वपूर्ण आलेख प्रस्तुत किये गये थे। इस संगोष्ठी में प्रो. नन्दकिशोर देवराज ने अपने अति महत्त्वपूर्ण अध्यक्षीय वक्तव्य में हमें बताया था कि विश्वबोध एवं जीवनबोध की हमारी चेतना में 'संप्रतीति' नये दर्शन के निर्माण के लिये आवश्यक है। उन्होंने 1950 से लेकर 1975 तक की अवधि के भारतीय चिंतन की समीक्षा करते हुए बताया कि इसमें तीन प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं : प्रथम, संस्कृतज्ञों द्वारा प्राचीन दर्शनों का अध्ययन; द्वितीय, कुछ कम संस्कृत जानने वालों द्वारा आधुनिक तरीके का भारतीय दर्शन, विशेष रूप से श्री अरविन्द एवं गाँधी दर्शन पर शोध, तथा तृतीय, विश्वविद्यालयों से संबद्ध विद्वानों द्वारा स्वतंत्र चिंतन

के प्रयास। तृतीय वर्ग में देवराज ने कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, सुरेन्द्र बारलिंगे, डी.पी. चट्टोपाध्याय, जे. एन. मोहान्ती, कालिदास भट्टाचार्य तथा राजेन्द्र प्रसाद जैसे नामों का उल्लेख किया है। समकालीन भारतीय चिंतन या चिंतक जैसे शीर्षक से प्रकाशित कुछ ग्रन्थों–यथा मार्गरेट चटर्जी, के. एस. मूर्ति द्वारा संपादित– में समाविष्ट विचारकों से उन्होंने और अधिक गंभीर चिंतन करने एवं लिखने की अपील भी की। वह वक्तव्य भी यहाँ संग्रहीत किया गया है।

उस संगोष्ठी के मेरे एवं डॉ. हर्षनारायण के आलेख भी इस संकलन में समाविष्ट हैं। ये सब आज से 25 वर्ष पूर्व के समकालीन भारतीय चिंतन के गुण–सूत्रों के संकेतक हैं। परन्तु पच्चीस वर्षों के बाद भी देवराजकृत वह अपील यहाँ दुहरायी जानी चाहिए। इस संग्रह में सम्मिलित आलेखों के लेखक भविष्य में और गहन–गंभीर विचारक बनें एवं स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के सांगोपांग उद्घाटन में सक्रिय भूमिका निभायें । यह हमारी अपेक्षा है।

जबलपुर (सितम्बर 1984), भागलपुर (मार्च,1986) में समकालीन भारतीय चिंतन पर आयोजित संगोष्ठियों में भी मैंने अपने आलेखों के माध्यम से इन्हीं बिन्दुओं पर विचार करना जारी रखा।

भारतीय दार्शनिक महासभा (Indian Philosophical Congress) के 9 वर्षों तक (1979–88) संयुक्त–मंत्री के रूप में कार्य करने की अवधि में देश के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों से मेरा सीधा सम्पर्क हुआ। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा 'समकालीन भारतीय दर्शन की संरचना में भारतीय दार्शनिक महासभा का योगदान' विषय पर स्वीकृत की गई एक बृहद् परियोजना (1988–91) के अंतर्गत मैंने दार्शनिक महासभा के वार्षिक अधिवेशनों के साहित्य, विशेष रूप से प्रमुख अध्यक्षों के भाषणों, का संग्रह किया। भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् (Indian Council of Philosophical Research) ने उन्हें चार खण्डों में प्रकाशित किया। प्रो. दयाकृष्ण ने PHISPE- vol. X,- Development of Indian Philosophy from Eighteenth Century onwards- में इसकी बड़ी सराहना की है।

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के संयुक्त–मंत्री (1977–80), महामंत्री (1991–2000) एवं अध्यक्ष (2000–) के रूप में कार्य करते हुए मैंने परिषद् के अधिवेशनों के अध्यक्षीय भाषणों के प्रकाशन की योजना बनाई। इसे पटना की प्रो. विजयश्री तथा जोधपुर के डॉ. डी. आर. भण्डारी के सहयोग से क्रियान्वित किया गया तथा 'भारतीय दार्शनिक चिंतन' (दो खण्ड, 2000 तथा 2004) शीर्षक से उन्हें परिषद् द्वारा प्रकाशित कराया गया।

दिसम्बर, 2001 में जबलपुर में यूनेस्को (UNESCO) की अंतर्राष्ट्रीय दर्शन–परिषद् (International Council for Philosophy and Humanistic Studies), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् एवं रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय के आर्थिक सहयोग से 'भारतीय दर्शन के पचास वर्ष : हिन्दी एवं सहयोगी भाषाओं के माध्यम से' एक त्रिदिवसीय अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन हुआ जिसमें लगभग 30 विद्वानों ने भाग लिया था। नर्मदा के पावन तटपर आयोजित वही संगोष्ठी इस ग्रन्थ का संकल्प प्रस्थान रहा है जिसने कई सोपानों से गुजरते हुए आज इस स्वरूप को प्राप्त किया है।

सेन्ट फ्रांसिस जेवियर विश्वविद्यालय, एन्टिगोनिश, कनाडा के दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर डॉ. विलियम स्वीट अगस्त, 2002 में जब समकालीन भारतीय दार्शनिक चिंतन पर मुझसे चर्चा करने जबलपुर आये तो मैंने उन्हें अंग्रेजी में उपलब्ध साहित्य के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में किये गये चिंतन की ओर संकेत किया और प्रो. व्ही. एम. बेडेकर द्वारा संपादित तथा पुणे से कंटीनेन्टल प्रकाशन द्वारा 1979 में प्रकाशित पुस्तक Philosophy in Fifteen Modern Indian Languages के बारे में बताया। इसमें असमिया, बंगला, अंग्रेजी, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, सिन्धी, तमिल, तेलगु और उर्दू में लिखे गये दार्शनिक साहित्य का संक्षेप में परिचय दिया गया है। मैंने उन्हें विशेष रूप से डॉ. गजानन एन. जोशी, पुणे की मराठी में तथा प्रो. चिमनलाल वल्लभराम रावल, अहमदाबाद की गुजराती में दर्शन की पुस्तकों के बारे में भी बताया।

उपरोक्त ग्रन्थ से डॉ. एस.पी. श्रीवास्तव का आलेख "हिन्दी माध्यम से भारतीय दर्शन का विकास" (डॉ. ज्योतिस्वरूप दुबे कृत हिन्दी अनुवाद) यहाँ समाहित है। इसमें मध्य युग से लेकर बीसवीं शताब्दी के तृतीय चरण तक के भारतीय दर्शन के विकास का संक्षिप्त सिंहावलोकन किया गया है।

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् ने 25 से 27 सितम्बर 2001 तक दिल्ली में एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया था 'भारतीय भाषाओं में दार्शनिक परम्पराएँ' विषय पर। मैंने भी इस संगोष्ठी में भाग लिया था एवं 'कबीर के दर्शन' पर एक आलेख प्रस्तुत किया था। इस संगोष्ठी के अधिकांश आलेख 2002 में परिषद की शोध–पत्रिका जे.आई. सी.पी.आर. के विशेष अंक में प्रकाशित हुए हैं। इसमें यदि मराठी के ज्ञानेश्वर तथा बंगला के टैगोर जैसे विचारकों पर आलेख हैं तो हिन्दी की तंत्र–परम्परा, गुजराती के एकेश्वरवादी चिंतन, उड़िया में शून्यवादी विचार तथा कन्नड़ में वीरशैव–दर्शन जैसे विषयों पर महत्त्वपूर्ण निबन्ध भी हैं।

अहमदाबाद में परिषद् की स्वर्ण–जयंती के अवसर पर 24 नवम्बर, 2004 को 'भारतीय दर्शन के पचास वर्ष' विषय पर डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा के संयोजकत्व में एक परिचर्चा आयोजित की गयी। इसमें आमंत्रित तो कई लोग हुए थे लेकिन दिल्ली से प्रो. सिद्धेश्वर भट्ट, भागलपुर से प्रो. रामजी सिंह, जबलपुर से प्रो. एस.पी. दुबे, गोरखपुर से प्रो. सभाजीत मिश्र एवं वाराणसी से डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल ने भाग लिया। परिचर्चा को सम्पादित कर परिशिष्ट के रूप में यहाँ सम्मिलित किया जाना एतद्विषयक दृगांकन जैसा है। परिशिष्ट में एक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री–स्वनामधन्य आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के "स्वराज इन आइडियाज़" नामक विचारोत्तेजक व्याख्यान का हिन्दी रूपान्तर भी प्रस्तुत किया गया है, जिसे उन्होंने 1929 में हुगली कॉलेज में दिया था।

मेरी यह मान्यता है कि परिषद् के विभिन्न अधिवेशनों के प्रमुख अध्यक्षों ने अपने अध्यक्षीय भाषणों में समसामयिक दार्शनिक परिवेश को वे जिस भाँति समझे हैं उसको अधिकाधिक श्रेष्ठ रूप में प्रस्तुत किया है। अद्यतन सभी उपलब्ध भाषणों को परिषद् ने दो खण्डों में 'भारतीय दार्शनिक चिंतन" शीर्षक से क्रमशः 2000 तथा 2004 में प्रकाशित किया है। ये खण्ड मोटे तौर पर भारतीय दार्शनिक चिंतन के पिछले पचास वर्षों का एक विहंगम चित्र प्रस्तुत करते हैं।

ऐसे ही डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण सीरीज के ही अन्तर्गत 'समेकित दार्शनिक विमर्श' एवं 'समेकित अद्वैत विमर्श'' शीर्षक से सम्पादित एवं विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर से प्रकाशित दोनों उल्लेखनीय पुस्तकें बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के भारतीय दार्शनिक अनुशीलन की प्रामाणिक प्रस्तुति हैं।

तुलनात्मक दर्शन आधुनिक भारतीय चिंतन की एक विशिष्ट विधा है। 1980 से प्रारम्भ स्वामी प्रणवानन्द तुलनात्मक व्याख्यानमाला के अंतर्गत परिषद् के मंच से दिये गये व्याख्यानों का 2004 में परिषद् द्वारा प्रकाशन इस क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। इस विषय पर संभवतः हिन्दी में यह प्रथम एवं स्तरीय प्रकाशन है।

धर्म–दर्शन (धर्म का दार्शनिक अध्ययन व विवेचन) समग्र भारतीय चिंतनधारा का अनुपम प्रवाह रहा है। बुद्ध से लेकर आज तक इस क्षेत्र में अनेक सर्जनात्मक कार्य हुए हैं। एकाध अपवाद को छोड़कर भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय धर्म–दर्शन कहे जा सकते हैं। इस क्षेत्र में भी परिषद् के तत्त्वावधान में परमहंस योगानन्द तुलनात्मक धर्म–दर्शन व्याख्यान 1979 से प्रतिवर्ष आयोजित होता आया है। सभी उपलब्ध व्याख्यानों का परिषद् द्वारा ग्रन्थाकार प्रकाशन किया ही जाने वाला है। परिषद् के वर्तमान संयुक्त मंत्री डॉ. अविनाश श्रीवास्तव ने यह जिम्मेवारी ली है।

भारतीय दर्शन की आत्मा भक्ति से ओत–प्रोत रही है। मधुसूदन सरस्वती तथा श्री अरविन्द जैसे अद्वैत वेदान्ती भी भक्ति के कायल रहे हैं। इस भक्ति का परम आस्पद है भगवान्। 1980 से प्रारम्भ स्वामिनारायण सेश्वर वेदान्त व्याख्यानमाला के अंतर्गत परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों में दिये गये विभिन्न विद्वानों के व्याख्यानों का संग्रह भी हम शीघ्र ही प्रकाशित कर रहे हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि परिषद् अपने उद्देश्य के अनुरूप कार्य करने में सफल हो रहा है। श्री यशदेव शल्य (संस्थापक) के परोक्ष–अपरोक्ष नेतृत्व में परिषद् ने बहुत पहले ऐसे ही कार्यों को करना प्रारंभ किया था। उसके पश्चात् परिषद् को किन्हीं कारणों से उतना सशक्त नेतृत्व नहीं मिला और इस कारण ऐसे कार्य स्थगितप्राय हो गये थे। ईसवी 2000 से मैंने पुनः उस प्रक्रिया को नये सिरे से प्रारंभ किया है। आज उसके परिणामों को देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। हमारे युवा सहयोगियों ने जिस उत्साह एवं परिषद् के प्रति निष्ठा का जैसा परिचय दिया है, उसकी जितनी सराहना की जाय, वह कम ही होगी। विशेष रूप से डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा ने स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण सीरीज के अन्तर्गत पूर्व के दो खण्डों एवं 'भारतीय दर्शन के 50 वर्ष' शीर्षक से इस तीसरे खण्ड को सम्पादित करने में अपनी लगनशीलता, उद्यमिता एवं निष्ठावान होने का जो परिचय दिया है, वह उनके अधिति बोधाच्चरण प्रचारैः की सारस्वत् धृति, उत्साह एवं समन्वय का भी द्योतक है। हम उनसे और भी अधिक आशा कर सकते हैं। मेरी आशाओं पर वे ऐसे ही खरे उतरें, मेरा आशीर्वाद सदैव उनके साथ है।

जबलपुर, 6 अगस्त 2005

श्रीप्रकाश दुबे
अध्यक्ष, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

आभार

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्–स्वर्ण जयन्ती महोत्सव–2006 के उपलक्ष्य में स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण के इस तीसरे भाग का सम्पादन एवं प्रकाशन करते हुए मुझे पहले की अपेक्षा अधिक हर्ष हो रहा है। इससे पूर्व के दो भागों –**"समेकित दार्शनिक विमर्श"** और **"समेकित अद्वैत विमर्श"** को भारत के दार्शनिक जगत् में इतने आदरभाव के साथ स्वीकार किया गया कि हम भी उन दोनों ग्रन्थों की स्वायत्तता को आज अपनी सम्पादन कर्तृता से निरपेक्ष रूप में ही देख पाते हैं। वास्तव में 'उपरति' ही आत्मचेतन कर्म की गति होती है और यही उपरति पुनः 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते' में परिणत होकर एक नवारम्भ को जन्म देती है। अतएव इस तीसरे भाग की यद्यपि कोई पूर्व चिन्तित योजना नहीं बनायी गई थी, तथापि पूर्वकृत्य की लोकमान्यता और प्रो. श्रीप्रकाश दुबे की बलवती प्रेरणा के फलस्वरूप ही इस कार्य की निर्मिति और सम्पादन इतने कम समय में सम्भव हो सका।

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण के अन्तर्गत 2005 में प्रकाशित इसके प्रथम और द्वितीय भाग में हमने स्वातंत्र्योत्तर युग के गणमान्य दर्शन विदों के कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रकीर्ण निबन्धों का चयन कर उनके प्राज्ञ व्यक्तित्त्व का एक 'प्रकरणात्मक विग्रह' बनाने का प्रयास किया था। वैचारिक स्वराज के भाषीय राजपथ की पहचान उस प्रयास का व्यापक लक्ष्य था लेकिन उसका एक अनुषंगी उद्देश्य यह भी रहा कि वर्तमान पीढ़ी को स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक सर्जना से परिचित कराते हुए उस दिशा में उन्हें उन्मुख किया जा सके। इस तीसरे भाग **"भारतीय दर्शन के 50 वर्ष"** में हमने स्वातंत्र्योत्तर काल के कुछ विशिष्ट दार्शनिकों के मौलिक चिन्तन को स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन की अवधारणात्मक रूप–रेखा में दर्शाने का प्रयास किया है। द्रष्टव्य है कि इस उपक्रम में सम्मिलित किये गये दार्शनिकों के संसदीय और असंसदीय वैचारिक योगदान में ही स्वातंत्र्योत्तर भारतीयदर्शन निःशेष नहीं हो जाता, अपितु इसके विस्तार की अपार सम्भावनायें शेष ही हैं। अतएव कृत प्रयास की न्यूनता को यथोपलब्धि न्याय से मान्यता प्रदान करते हुए उसे अकृत की अवश्य करणीयता के निमित्त ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

एक व्यक्ति की अपेक्षा 'समाज' और एक समाज की अपेक्षा 'इतिहास' अधिक आत्मचेतन होता है। इस दृष्टि से व्यक्ति की समाज और इतिहास से जुड़ने की सार्थकता परम्परा के प्रति अधिकाधिक आत्मचेतन होने में निहित होती है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के प्रति आत्मचेतन होने के इस उपक्रम में जिन लोगों ने अपना योगदान दिया, उन

सब के प्रति हम हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। आचार्य यशदेव शल्य, जिन पर स्वातंत्र्योत्तर भारत का दार्शनिक जगत् गर्व कर सकता है, उन्होंने दयाकृष्ण जी के समाज दार्शनिक विमर्श पर लिखा और प्रो. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय ने आचार्य गोविन्द चन्द्र पाण्डे के संस्कृति दर्शन की विस्तार से समीक्षा की तथा प्रो. बलिराम शुक्ल ने 20 वीं शताब्दी के महान नैयायिक आचार्य बदरीनाथ शुक्ल के देहात्मवाद जैसे दुरूह विषय को उद्घाटित किया, इसके लिए हम तीनों मनीषियों के प्रति यथायोग्य अपनी श्रृद्धा अर्पित करते हैं। साथ ही साथ स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण के इस तृतीय भाग के सम्मानार्ह प्रधान–सम्पादक प्रो. श्रीप्रकाश दुबे एवं पूर्व के दो खण्डों के प्रधान सम्पादक प्रो. एस. एस. नेगी तथा स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक परिवेश के विदग्ध चित्रकार प्रो. अशोक बोहरा के प्रति भी उनके विशेष स्नेह एवं सौहार्द्र के लिए हृदय से आभार प्रकट करता हूँ। इसके अतिरिक्त इस सम्पादन में स्वकीय लेखन के माध्यम से योगदान करने वाले अपने वरिष्ठ मित्रों एवं सहचरों यथा डॉ. विजयकान्त दुबे, डॉ. बी. कामेश्वर राव, डॉ. प्रियव्रत शुक्ल, डॉ. अविनाश श्रीवास्तव, डॉ. आलोक टंडन, डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल, डॉ. संजय कुमार शुक्ला, डॉ. रमाकान्त पाण्डेय, डॉ. सरोज कुमार वर्मा, डॉ. मुकेश चन्द्र डिमरी और डॉ. ज्योति स्वरूप दुबे के प्रति भी हम 'शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोधः' की सारस्वत् शुभकामना करते हैं।

इस अवसर पर अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के समस्त पदाधिकारियों के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने परिषद् के स्वर्ण जयन्ती वर्ष में इस प्रकाशन योजना को क्रियान्वित किया और सम्पादन का गुरुतर दायित्त्व मुझे सौंपा। इस कार्य की पूर्णाहुति पर अपने गुरुमुखेन् भ्रातृवर्यों – प्रो. राकेश मिश्र (जम्मु), डॉ. अरुण कुमार सिंह (कानपुर), डॉ. दलसिंगार सिंह (जौनपुर), डॉ. आनन्द मिश्र (वाराणसी) डॉ. विष्णुदत्त पाण्डेय (सीतापुर) एवं डॉ. सुरेश कुमार पाण्डेय (वाराणसी) के प्रति अपना सहयात्री भाव और अपने प्रिय अन्तेवासियों में डॉ. शत्रुघ्न चतुर्वेदी, डॉ. मिथिलेश चौबे, डॉ. अल्पना जैन तथा डॉ. राजेश चौरसिया के प्रति अहर्निश शुभानुध्यान सम्प्रेषित करता हूँ।

अन्त में विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर के उदीयमान प्रोपराइटर श्री राजेश केशरवानी जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में इतनी रुचि दिखाई और श्री अजय जैन, प्रोपराइटर एक्टिव कम्प्यूटर्स ने अक्षर संयोजन का कार्य इतने मनोयोग से किया; इसके लिए दोनों को साधुवाद प्रदान करते हुए उनके अपने–अपने क्षेत्र में उत्तरोत्तर प्रगति की शुभकामना करता हूँ।

इस ग्रन्थ को सम्पादित करते हुए मुझे स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के प्रति जितना आत्मचेतन होने का अवसर प्राप्त हुआ, इसके पाठकों में भी वैसी ही आत्मचेतना द्विगुणित होकर अभिव्यक्ति पाये। इसी सारस्वत् कामना के साथ अपनी ज्ञात–अज्ञात भूलों के लिए पुनः समवेत विनय।

अम्बिकादत्त शर्मा

सागर, 15 अगस्त, 2005



परिषद् जिनके लिए मात्र संस्था नहीं, सांस्कृतिक क्रान्ति है

प्रो. रामजी सिंह

जन्म : 20 दिसम्बर 1931, जमालपुर

"अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना के पीछे दो महान् उद्देश्य थे– एक, देश में सृजनात्मक दार्शनिक चिन्तन–मनन की अभिवृद्धि हो और दूसरा, चिन्तन एवं लेखन का माध्यम राष्ट्रभाषा बने। इस प्रकार परिषद् सांस्कृतिक और राष्ट्रीय जागरण एवं उसकी अस्मिता का प्रतीक है। दुर्भाग्य से स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस अर्द्धशती में परिषद् के इन मूल्यों की दार्शनिकों ने उपेक्षा की है। यही कारण है कि समकालीन भारतीय दार्शनिक चिन्तन–जगत् में किसी शंकर, दिङ्नाग और हरिभद्र का उदय तो नहीं ही हो सका, किसी अरविन्द, रवीन्द्र और भट्टाचार्य तथा राधाकृष्णन् का भी प्रादुर्भाव नहीं हो पाया है। हमारा मानना है कि हम जब तक अपनी सांस्कृतिक विरासत और अपनी भाषा के माध्यम से चिन्तन करने में हीनता का भाव महसूस करते रहेंगे, दर्शन के क्षेत्र में कोई बड़ी मौलिक देन नहीं दे सकते। परिषद् को मैं मात्र संस्था नहीं, एक सांस्कृतिक क्रान्ति मानता हूँ। यों परिषद् तो मेरी माँ है – माता परिषद् पुत्रोऽहं परिषदः।" अखिल भारतीय दर्शन परिषद् , पचमढ़ी अधिवेशन (1994) के अध्यक्ष पद से सम्बोधित करते हुए परिषद् के प्रति ऐसी भावना को साझा करने वाले प्रसिद्ध गाँधीवादी विचारक प्रो. रामजी सिंह को यह ग्रन्थ सादर समर्पित है।

⁂

प्रस्तावना

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के मूलभूत अर्थ-सन्दर्भ

राष्ट्र–राज्य की आधुनिक संकल्पना की दृष्टि से भारत को एक अखण्ड सांस्कृतिक देश तो हजारों वर्ष पहले से माना जा सकता है लेकिन उसकी कोई एकात्मक राजनीतिक अस्मिता भी थी, ऐसा कहना कठिन है। यद्यपि मनु, कौटिल्य, भीष्म एवं शुक्र इत्यादि के चिंतन में राज्य, राज और शासन सम्बन्धी आधारभूत विचार–सूत्र मिलते हैं। महाकवि कालिदास ने कुमार सम्भव और मेघदूत में "उत्तरस्यांदिशि" तथा "सप्तद्विपा वसुन्धरा" कहते हुए जिस देश के धार्मिक एवं प्राकृतिक वैभव के भूगोल का चित्रण किया है वह सांस्कृतिक चेतना के एकात्मक गुण–सूत्रों से ही परिभाषित होने वाला देश था। भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद पहली बार हम भारतीयों में राजनैतिक चेतना का उदय हुआ और इसी के साथ भारत को राजनीतिक अस्मिता प्रदान किये जाने के प्रयास भी आरम्भ हुए। हमारा स्वतंत्रता आन्दोलन न्यूनाधिक रूप में इसी प्रयास का परिणाम था। इस प्रयास के फलस्वरूप 1947 की विषम परिस्थितियों में भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई और उस 'भारत' ने राजनीतिक अस्मिता प्राप्त की जो बहुत पहले से ही एक समृद्ध सांस्कृतिक अस्मिता वाला देश था।

वर्तमान युग में किसी देश की स्वतंत्रता का अर्थ प्रायशः राष्ट्र–राज्य की राजनीतिक स्वतंत्रता से ही लिया जाता है। परन्तु एक सांस्कृतिक राष्ट्र–राज्य के लिए स्वतंत्रता का अर्थ केवल राजनीतिक स्वतंत्रता ही नहीं हो सकती। इस दृष्टि से राजनीतिक स्वतंत्रता की अवधारणा एक मौलिक न्यूनता से ग्रसित अवधारणा है। 19 वीं–20 वीं शताब्दी में ऐसे बहुत से छोटे–बड़े देशों को उदाहरण बनाया जा सकता है जिनकी कोई सांस्कृतिक परम्परा नहीं रही फिर भी राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होने के पश्चात् उनमें एक सांस्कृतिक चेतना का विकास हुआ। वास्तव में कोई देश राजनीतिक स्वतंत्रता को सांस्कृतिक चेतना के धरातल पर आत्मसात् करते हुए ही अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित हो पाता है। जहाँ तक भारत का प्रश्न है तो कहा जा सकता है कि एक राजनीतिक राष्ट्र–राज्य का दर्जा प्राप्त कर भी 'स्वतंत्र भारत' का सत्व उसके सांस्कृतिक राष्ट्र–राज्य होने में ही निहित है। महात्मा गाँधी ने "स्वतंत्र भारत" के इस अमृतनाभ को स्वतंत्रता से पूर्व ही पहचान लिया था और इसके मार्ग में आने वाली सम्भावित बाधाओं को भाँपते हुए उन्होंने गोरों के बाद भूरे साहिबों से सावधान रहने का आह्वान किया था। इस सम्भावित बाधा को उन्होंने राजनीति और संस्कृति के पार्थक्य में पलते हुए एक खतरे के रूप में देखा था। जबकि गाँधी जी की

एतद्विषयक सम्यक्–दृष्टि दोनों की एकीकृत दृष्टि थी। इसीलिए उनका हिन्द स्वराज, वास्तव में, एक ऐसे व्यक्ति का युद्ध–घोष था जिसने राजनीतिक संकट को भी सांस्कृतिक संकट के ही अंश के रूप में देखा था।

अब यदि उपर्युक्त पृष्ठभूमि में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के समारम्भ एवं उसके मूलभूत अर्थ–सन्दर्भों पर विचार करें तो कहा जा सकता है कि 15 अगस्त 1947 को मिली भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता जैसे सांस्कृतिक आत्मप्रतिष्ठा की दृष्टि से अतिशय महत्त्वपूर्ण घटना थी; वैसे ही भारतीय दर्शन की स्वतंत्रता की दृष्टि से 1954 का वर्ष बहुत महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है जब अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना हुई। यद्यपि दर्शन अथवा दार्शनिक चिन्तन की परम्परा के साथ स्वतंत्रता एवं परतंत्रता जैसे विशेषण आपाततः उचित प्रतीत नहीं होते, क्योंकि पराधीनता के बाह्य बन्धनों एवं वर्जनाओं को बलात् रूप में सहते हुए भी आत्मचेतन स्तर पर स्वतंत्र रहा जा सकता है। स्वतंत्रता का बोध जब तक इस स्तर पर बना रहता है तभी तक पराधीनता की प्रतिरोधी क्षमता भी जीवित रहती है। परन्तु पराधीनता के बाह्य प्रारूप की प्रवृत्ति शनैः शनैः आन्तरिक जीवन में उतरने की होती है और धीरे–धीरे यह व्यक्ति, समाज और उसके पूरे इतिहास को व्याप्त कर लेती है। यह स्थिति सम्पूर्ण रूप से सांस्कृतिक आत्मविस्मृति की स्थिति होती है और इस स्तर पर पराधीनता अचेतन प्रकार में परिणत हो जाती है। सच पूछा जाये तो वास्तव में दासता का प्रारम्भ यहीं से होता है कि जब किसी देश की संस्कृति, समाज और इतिहास, यहाँ तक कि उसका साहित्य और दर्शन भी एक अचेतन प्रकार की दासता के शिकार हो जाते हैं। अतएव दार्शनिक चिन्तन के साथ भी परतंत्रता जैसे अपविशेषण के प्रयुक्त होने की स्थिति बहुत गहरे अर्थों में बनती ही है। इस दृष्टि से देखा जाये तो ऐसा भी नहीं कि भारतीय दर्शन को परतंत्र करने की कोशिशें न की गई हों। भाषा से लेकर विचार तक उसे अवरुद्ध करने तथा उसके स्वरूप को विद्रूप बनाने की अनेक साजिशें की गईं, लेकिन यह बात अलग है कि उसकी स्वतंत्रताग्नि पूरे तौर से कभी बुझी नहीं। यही कारण है कि परतंत्रता की लम्बी त्रासदी के दिनों में भी 'दर्शन' ही भारतीय परम्परा और जनमानस को गुलामी की भस्मीभूत कर देने वाली लूम–लपट से बचाता रहा। अतीत में बहुत पीछे न भी जायें तो मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन को इसका ज्वलंत प्रमाण माना जा सकता है और वैसे ही स्वतंत्रता आन्दोलन में भारतीय दर्शन की भूमिका को भी। परन्तु 1947 में राजनीतिक स्वतंत्रता मिलने के बाद परिस्थिति ने ऐसी करवट ली कि स्वाधीन भारत ने स्वयं ही अपने ऊपर एक स्वातंत्र्योत्तर दासता को ओढ़ लिया। इस दासता से मुक्ति पाने के लिए किसी बाह्य शत्रु के विरुद्ध तलवार उठाने की जरूरत नहीं है बल्कि उस बाह्य और संक्रामक विचार से निजात पाने की जरूरत है जिसने एक प्रेत की तरह हम भारतीयों को चारों तरफ से अपने वश में कर लिया है। प्रो. के.सी. भट्टाचार्य ने इसी मुक्ति को 'स्वराज इन आइडियाज़' कहा है। 1954 में अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना को महत्त्वपूर्ण कहने से हमारा अभिप्राय इसे इस वैचारिक स्वराज के प्रयत्न के नवारम्भ के रूप में देखने से ही है।

अवधेय है कि किसी भी महान लक्ष्य को साध्यभूत करने हेतु जितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है, उसे बनाये रखने के लिए उतने ही अत्युच्च स्तर की आत्मचेतना भी अपेक्षित होती है। ये दोनों बातें जहाँ एकाश्रय पाती हैं वहीं से एक नये युग का शुभारम्भ होता है, और जिसमें एकाश्रय पाती हैं, वहीं निरहंकार युग–चेता साध्य–पुरुष जन्म पाता है। इस अर्थ में प्राप्त की गई भारत की स्वतंत्रता केवल गाने –बजाने और भोगने की वस्तु नहीं थी अपितु उसका आत्मचेतन बोध एक निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर द्वितीयावर्त्तन की नवसर्जनात्मक गति का प्रेरणास्रोत भी था। इस गति का स्पन्दन उस काल में कई एक महामनाओं के हृदय की धड़कन थी और उसका उत्साह स्वतंत्रता के तत्काल बाद चारों तरफ देखा गया – विभाजन के विप्लव के बावजूद, लेकिन उसका निर्दिष्ट लक्ष्य क्या था और कैसे उसे फलीभूत होना चाहिए था, यह किन्हीं कारणों से अभी तक पूरे तौर से स्पष्ट नहीं हो सका है बल्कि अभी तक अकादमिक स्तर पर विवाद का ही विषय बना हुआ है। वास्तव में सम्यक् रूप से इस प्रकार के निर्दिष्ट लक्ष्य का एकबारगी निर्धारण कोई आसान कार्य नहीं, बल्कि गहन–गम्भीर दायित्त्व होता है। ऐसे लक्ष्य के विधि–निषेध की रूप–रेखा बनाने और उसे सम्यक्तया क्रियान्वित करने के लिए अतीत का मंथन और वर्तमान के मर्म के बीच ताल–मेल बैठाकर भविष्य की ओर सूझ–बूझ के साथ कदम बढ़ाने की जरूरत होती है। यह बात स्वातंत्र्योत्तर भारत में राष्ट्रनिर्माण और स्वातंत्र्योत्तर कालीन दार्शनिक कर्म दोनों के प्रति कही जा सकती है। यहाँ हमारा प्रयोजन दार्शनिक कर्त्तव्याकर्त्तव्य से है। अतएव यहाँ हम राष्ट्रनिर्मायक नीतियों की चर्चा नहीं करेंगे, जबकि दोनों आधारभूत और यहाँ तक कि परस्पर समवायी भी हैं।

यहाँ हमारे इस प्रतिपादन का प्रतिवाद करते हुए कहा जा सकता है कि भारत की स्वतंत्रता तो अपने आप में महत्त्वपूर्ण घटना है लेकिन उसकी तुलना में अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना कोई ऐसी बड़ी घटना नहीं कही जा सकती। वह भी इस आशय से कि उसकी स्थापना को स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन जैसे किसी प्रस्थान का द्योतक कहा जाये। द्रष्टव्य है कि हम स्वातंत्र्योत्तर पद का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में कर रहे हैं क्योंकि स्वातंत्र्योत्तर दर्शन, साहित्य और इतिहास का प्रयोग वैसी दृष्टि रखने वाले भी करते हैं जिन्हें भारत के अतीत और विरासत से कोई लेना–देना नहीं है। उनके लिए 1947 के बाद का भारत ही सबकुछ है। मानो स्वतंत्र रूप में भारत का पुनर्जन्म नहीं बल्कि जन्म ही हुआ हो और जोड़–तोड़ कर बनाये गये संविधान के रूप में उसकी जन्मपत्री के आधार पर उसके निर्माण का इतिहास लिखा जाना हो। इस खेमे के लोग स्वातंत्र्योत्तर भारत की नियति को आधुनिक यूरोप अथवा सोवियत रूस में देखते हैं। इसके ठीक विपरीत 'स्वातंत्र्योत्तर' पद से हमारा तात्पर्य पारम्परिक और पूर्वापर की दृष्टि से है और इस दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर भारत अतीत के पुनर्निर्माण की योजना अर्थात् भारतीय संस्कृति का उन्नयन, एकीकरण और प्रसारण है। स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर पद के दोनों प्रयोगों का अर्थ–सन्दर्भ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। पहले के लिए स्वातंत्र्योत्तर पद 'समकालीन' जैसा, किसी ऐतिहासिक अर्थ–सन्दर्भ से रहित, कालिक संज्ञा मात्र है। यदि खींच–तान

कर उसका कोई अर्थ–सन्दर्भ बनता भी है तो महज राजनीतिक। दूसरे अर्थ में स्वातंत्र्योत्तर पद कालिक संज्ञा नहीं बल्कि स्वतंत्रता के व्यापक अर्थ–सन्दर्भ में सांस्कृतिक–राजनीतिक अर्थ का ही विशेषण है। अब जहाँ तक अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना से स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के आरम्भ का प्रश्न है, तो कोई घटना अपने आप में छोटी–बड़ी नहीं होती। उस घटना का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और परा–ऐतिहासिक साध्य ही उसे महत्त्वपूर्ण बनाता है। इस दृष्टि से न केवल परिषद् की स्थापना बल्कि बापू सदृश उसके संस्थापक को भी इतना महत्त्व राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' को भीष्म संकल्प के साथ दार्शनिक चिन्तन की भाषा के रूप में आत्मार्पित किये जाने के कारण दिया जा सकता है। निज भाषा ही पूर्ण स्वराज की राजपथ होती है– इसमें दो राय नहीं। वास्तव में कहा जाय तो मनुष्य होने का अर्थ ही है भाषा में होना और अपनी भाषा में होने का अर्थ अपने आपको अपने सांस्कृतिक विश्व में पाना है। जो अपनी भाषा में नहीं, उसे अपने ही घर से बेघर कहा जा सकता है। अतएव अखिल भारतीय दर्शन परिषद् द्वारा राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' का स्वीकरण, अपनी सम्पूर्ण निष्पत्तियों के साथ वैचारिक स्वराज की घोषणा एवं भारत को उसकी आत्मा में प्रतिष्ठित करने के उपक्रम जैसा ही था।

पुनः यहाँ द्रष्टव्य है कि अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना के पूर्व 1925 में इण्डियन फिलॉसफ़िकल कांग्रेस और 1932 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की शाखा 'भारतीय दर्शन परिषद्' की स्थापना हो चुकी थी; लेकिन उन्हें स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के प्रस्थान बिन्दु होने का श्रेय नहीं दिया जा सकता। इसका सबसे बड़ा कारण इस रूप में हृदयंगमित किया जा सकता है कि उक्त दोनों संस्थायें चूँकि स्वतंत्रता के पूर्व ही अस्तित्व में आई थीं, इसलिए स्वतंत्रता की घटना का ऐतिहासिक सन्दर्भ और तज्जन्य मूल्य–बोध उनके उद्देश्य का स्वातंत्र्योत्तर साध्य–सन्दर्भ नहीं बनता है। ध्यातव्य है कि स्वतंत्रता का अर्थ–सन्दर्भ ही वह 'नव्यपरिच्छेद' है जो स्वातंत्र्योत्तर भारत में दार्शनिक पुनर्रचना के लिए आधारभूमि प्रदान करता है। पुनः इण्डियन फिलॉसफ़िकल काँग्रेस अपने चरित्र में ही अंग्रेजी माध्यम से दार्शनिक महासभा होने के कारण स्वतः ही इस श्रेय से वंचित हो जाती है और साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की दर्शन परिषद् हिन्दी की हिमायती होते हुए भी अनुषंगी संस्था एवं लक्ष्य की न्यूनता के कारण उस श्रेय से मण्डित नहीं हो सकती। यदि इन्हें स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन–प्रस्थान के श्रेय का भागी बनना है तो उन्हें अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अर्थ–सन्दर्भों में भागीदार होना पड़ेगा, अन्यथा वे समकालीन ही बने रहेंगे।

हमारी यह बात कि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन का जन्म अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के साथ हुआ था, इस परिषद् के अध्यक्षीय उद्बोधनों से सुतरां स्पष्ट हो सकता है। परिषद् के प्रथम आठ अधिवेशनों के अध्यक्षीय भाषण क्रमशः अनुकूल चन्द्र मुखर्जी, भीखनलाल आत्रेय, बलदेव उपाध्याय, पी.टी. राजू, इन्द्रसेन, बाबू सम्पूर्णानन्द, टी. एम. पी. महादेवन और एन.व्ही. बनर्जी के द्वारा दिये गये थे। इनमें से बलदेव उपाध्याय और टी. एम.पी. महादेवन का अध्यक्षीय अभिभाषण उपलब्ध नहीं है और शेष छहों भाषण भारतीय

दार्शनिक चिन्तन–खण्ड दो में परिषद् के द्वारा प्रकाशित किये गये हैं। उल्लेखनीय है कि सन्दर्भित छहों अध्यक्षीय भाषणों का केन्द्रीय विचार अलग–अलग शीर्षकों में लेकिन लगभग समवेत भाव–बोध के साथ राष्ट्रभाषा के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर भारत में दार्शनिक पुनर्रचना ही रहा है। इन अध्यक्षीय भाषणों से पूर्व 1952 में आचार्य धीरेन्द्र मोहन दत्त ने भारतीय दार्शनिक महासभा के अध्यक्षीय पद से "समकालीन भारतीय दर्शन की आवश्यकता और उसकी सामाजिक भूमिका" पर अपना भाषण केन्द्रित किया था। इस सम्बन्ध में स्मरणीय बात यह है कि उस समय दार्शनिक महासभा में आचार्य दत्त का यह अभिभाषण भर्त्सना का विषय बना था। अतएव प्रस्तुत प्रसंग में यहाँ अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रथम अध्यक्षीय उद्बोधन की प्रारम्भिक पंक्तियों का उल्लेख बड़ा ही समीचीन होगा–"अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का यह प्रथम अधिवेशन है। इस महान समारम्भ की उपयोगिता के सम्बन्ध में मैं संक्षेप में कुछ कहना चाहता हूँ। यह तो आप सबको ज्ञात ही है कि भारत का गौरव और सम्मान सदैव उसके दार्शनिक और धार्मिक दृष्टिकोण में निहित रहा है। बिना उसके दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण के पुनरुत्थान का प्रयास किये भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण की कल्पना तक कर सकना असम्भव है। वास्तव में यही विश्वास आज की बहुत सी दार्शनिक संस्थाओं और विशेषतः इण्डियन फिलॉसफीकल काँग्रेस के संगठन के मूल में भी है। उक्त संस्था आँग्ल भाषाविद् जनता तक सीमित रही है। किन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय दर्शन आज भी उन विद्वानों और पण्डितों के दार्शनिक विचार–विनिमय के रूप में जीवित है जो यद्यपि अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ हैं तथापि संस्कृति के पुनरुत्थान में संलग्न हैं। अतः आज इस बात की अत्याधिक आवश्यकता है कि समकालीन (स्वातंत्र्योत्तर) भारतीय दर्शन में इन पण्डितों का भी सहयोग हो। हिन्दी आज हमारी राष्ट्र भाषा है, अतः यह आवश्यक है कि समकालीन (स्वातंत्र्योत्तर) भारतीय दर्शन का मंच हिन्दी में ही हो। मुझे विश्वास है कि, आप भी मुझसे इस बात पर सहमत होंगे, यह परिषद् भारत के सांस्कृतिक जीवन में एक गम्भीर समस्या का समाधान प्रस्तुत कर सकती है। इस संस्था की उपयोगिता के प्रतिपादन के पक्ष में मेरा यही तर्क है।"[1]

यदि परिषद् के अध्यक्षीय भाषणों का यह षड़ंग–योग महज एक संयोग भी था, तब भी क्या इसे अवचेतन में ही सही स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन का संसदीय जन्म नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः उपर्युक्त अभिभाषण प्रकृत में हैं भी वैसे ही, इसलिए अपनी अन्तर्वस्तु में उन्हें अधिक से अधिक स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन का नाम संकीर्तन रूप प्रस्ताव मात्र ही कहा जा सकता है। वह भी अपने–अपने ढंग से और हाँ, ऐसे व्यक्तियों के द्वारा जो उस समय इस प्रकार की गवेषणा की पदवी भी रखते थे। आज अखिल भारतीय दर्शन परिषद् अपने 50 वर्ष पूरे कर चुका है और उस संस्थान में जन्म लिया स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन, यदि एक वानप्रस्थी की दृष्टि से पीछे मुड़कर देखे तो यही

1. *भारतीय दार्शनिक चिन्तन, सम्पा. डी.आर. भण्डारी, न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन, 2004, पृ. 1.*

कहा जायेगा कि जिस संस्थान में उसका जन्म हुआ था, वही इसका भरण–पोषण और प्रतिष्ठापन स्वस्थ एवं सचेतन रूप से नहीं कर पाया। परिषद् सचमुच में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन की आँख नहीं बन पायी। यह बात अलग है कि समंगी–संसर्गी रूप में इससे जुड़े व्यक्तियों के दार्शनिक कर्म में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन इधर–उधर से झांकते हुए प्रतीत होता है। कुल मिलाकर निचोड़ यही है कि राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' को केवल भाषा–व्यवहार और प्रचार तक सीमित रखते हुए उसे अपनाये रखना और उस भाषा में यथा–तथा दार्शनिक साहित्य को समृद्ध करना स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन का मार्गारम्भ जैसा तो है लेकिन इसे लक्ष्य अथवा साध्य नहीं माना जा सकता। यदि इतने भर को साध्य समझ लिया जाय तो स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन का परिच्छेद महज एक कालिक प्रत्यय बन कर रह जायेगा, जैसा कि परम्परागत भारतीय दर्शन को बहुतों के द्वारा एक भौगोलिक प्रत्यय के अर्थ में समझा जाता है। यदि हिन्दी माध्यम से दार्शनिक चिन्तन बहुत दिनों तक केवल भाषा–व्यवहार में ही फलित होता रहा तो दार्शनिक विचार को उसके जातीय अनुभव से च्युत होने का खतरा उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार यह प्रश्न स्पष्ट रूप से खड़ा होता है कि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन से क्या तात्पर्य समझा जाय? हम यहाँ जोर देकर कहना चाहेंगे कि एक 'नव्य परिच्छेद' के रूप में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के अर्थ एवं स्वरूप को निर्धारित करने के लिए हमें उसके प्रत्यय को उस 'परा–ऐतिहासिक' एवं 'ऐतिहासिक' अर्थ–सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में समझना होगा जिसमें भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई थी और जिसके चलते भारत की स्वतंत्रता को विश्व इतिहास में अतिविशिष्ट महत्त्व प्रदान किया जाता है। इसी व्यापक अर्थ–सन्दर्भ में जीवन्त रूप से स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के विधि–निषेध रूप कर्त्तव्याकर्त्तव्य को निर्धारित किया जा सकता है, अन्यथा उसका ग्रहण एक गोत्र विहीन कालिक प्रत्यय के रूप में ही सम्भव हो सकेगा। यहाँ यह टिप्पणी करना अनुचित नहीं होगा कि हम स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के अर्थ–सन्दर्भों के प्रति उतने सचेष्ट नहीं हैं जबकि स्वातंत्र्योत्तर पद का विजातीय अर्थ में प्रयोग करने वाला खेमा अपने अर्थ–सन्दर्भों को गढ़ने में अधिक सचेष्ट, संवेदनशील तथा मुखर प्रतीत होता है।

भारत की स्वतंत्रता के 'परा–ऐतिहासिक' अर्थ–सन्दर्भ से हमारा तात्पर्य संक्षेप में इतना ही है कि भारत की पराधीनता वास्तव में भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध एक देश की पराधीनता नहीं थी बल्कि एक सम्पूर्ण सभ्यता और संस्कृति की पराधीनता थी। वह भी ऐसी सभ्यता और संस्कृति जिसके लिए उन सभी मानव–प्रवृत्तियों से भी मुक्ति काम्य है जिसे अन्य सभ्यतायें न्यूनाधिक रूप में मानव–स्वभाव अथवा मनुष्य का सत्य समझती हैं। यूरोपीय सभ्यता मानव–सत्य के ऐसे ही दृष्टिकोण पर टिकी हुई सभ्यताओं में अग्रणी है और परतंत्र भारत इसी 'ऐन्द्रिक सभ्यता' की चपेट में चतुर्दिक रूप से ईसाइयत के सहकार के साथ, दमित हो रहा था। यह यूरोपीय सभ्यता सम्पूर्ण विश्व को ग्रास बना लेना अपना घोषित लक्ष्य मानती है। अतः भारत की स्वतंत्रता के मूल्यबोध को वैश्वीय परिप्रेक्ष्य में सभ्यता और संस्कृति विषयक भारतीय दृष्टिकोण की स्वाधीनता के रूप में समझा जाना

चाहिए, एक नेशन–स्टेट को किये गये सत्ता–हस्तानान्तरण के रूप में नहीं। मेरी दृष्टि में यही उसका 'परा–ऐतिहासिक' अर्थ–सन्दर्भ है। हमारा स्वतंत्रता आन्दोलन यदि दुनिया की सबसे शक्तिशाली साम्राज्य–सत्ता की जड़ों को हिला देने में समर्थ हुआ, तो इसलिए कि स्वतंत्रता का उसके लिए सिर्फ एक राजनीतिक मूल्य नहीं, एक वैकल्पिक सभ्यता बोध को अपने जीवन में प्रतिष्ठापित करने का आदर्श था। वह अपनी खोई हुई पहचान को पाने का अलख स्वप्न था।

ऐसे ही भारत की स्वतंत्रता के ऐतिहासिक अर्थ–सन्दर्भ से हमारा तात्पर्य उन तात्कालिक परिस्थितियों से है जिन परिस्थितियों में भारत का विभाजन हुआ था और तब भी शेष भारत की खण्डित स्वतंत्रता को स्वीकार करते हुए उसे हमने अपने तरीके से सम्पूर्ण अर्थवत्ता प्रदान किया था। यह स्वीकृति भारतीय स्वतंत्रता के अर्थ–सन्दर्भ को द्विगुण कर देती है, एक नये मूल्यबोध के साथ जो यद्यपि अपेक्षित नहीं था। परन्तु उस अनपेक्षित को स्वीकार करते हुए भारत ने अपने महान अतीत को वर्तमान बनाकर दुहराया था। सभ्यता और संस्कृतियों के इतिहास में परीक्षा की ऐसी घड़ी बिरले ही उत्पन्न होती है। वह इस प्रकार कि 1947 में हिन्दुओं के सब प्रयत्नों के बावजूद मुसलमानों ने अपने स्वरूप का परिचय देते हुए हिन्दुओं से अलग रहने का निर्णय लिया । परिणामतः उनके रहने के लिए पाकिस्तान का निर्माण हुआ। एक नये राष्ट्र के रूप में पाकिस्तान का निर्माण और कुछ नहीं मुसलमानों की ओर से धर्माधारित द्विराष्ट्र–सिद्धान्त की घोषणा ही कही जा सकती है। उनकी इस घोषणा या कहें प्रति–घोषणा के प्रतिबल से शेष भारत की भावी प्रतिष्ठा 'हिन्दूराष्ट्रवाद' की आधारशिला पर की जा सकती थी। किन्तु हिन्दुओं ने उस प्रतिबल–प्रस्ताव को आत्मबल न समझते हुए वैसा नहीं किया अर्थात् शेष भारत को हिन्दूराष्ट्र के रूप में स्वीकार नहीं किया। वास्तव में वे वैसा कर भी नहीं सकते थे क्योंकि तब वह उनकी आत्मा और सांस्कृतिक प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल होता। यदि वे वैसा ही करते तो अन्यों की तरह 'हिन्दू' एक धर्म का ही दर्जा पाता, एक 'हिन्दुत्व–संस्कृति' का नहीं जिसमें अनेक मतावलम्बी समान रूप से समादृत और भागीदार होते हैं। शेष भारत को हिन्दूराष्ट्र के रूप में स्वीकार किया जाना एक संस्कृति का धर्म–पंथ बन जाना होता और तब यह अंग्रेजों की सबसे बड़ी विजय होती और स्वतंत्र भारत की सबसे बड़ी पराजय।

यहाँ एक अहं प्रश्न खड़ा होता है कि उपर्युक्त ऐतिहासिक निर्णय को इस रूप में लेने का श्रेय किसे दिया जाये ? एक व्यक्ति, एक जाति अथवा एक संस्था में से यह निर्णय आखिर किसका था ? कहा जाता है कि लाल किला पर चढ़कर महात्मा गाँधी और मौलाना आजाद ने भारत छोड़कर जा रहे मुसलमानों को हाँक दिया था कि तुम तो इस देश को छोड़कर जा रहे हो लेकिन कब्र में गड़े पूर्वजों को किस तरह अपने साथ ले जाओगे! सचमुच यह देश भूगोल के नक्शे पर चिन्हित कोई भूखण्ड–प्रदेश नहीं बल्कि जातीय स्मृतियों का अजीबोगरीब, अपने अतीत के साथ जीने वाला, सांस्कृतिक प्रदेश है। ऐसे प्रदेश को भूगोल के अक्षांश–देशान्तर पर नापने के लिए नक्शे को भी उतना ही बड़ा बनाना

पड़ेगा और उसे जितना भी बड़ा बना दिया जाये संस्कृति की मनोभूमि उसमें किसी भी तरह से समायी नहीं जा सकती। यहाँ आदमी प्राकृतिक प्राणी के रूप में जन्म लेता है, सांस्कृतिक प्राणी के रूप में मरता है और इस तरह मर कर भी पूर्वज रूप से स्मृतियों में पहले से अधिक प्रभावी जीवन पाता है। नदी, झील, झरने और पहाड़ भी जन्म–जन्मान्तर से हमसे पौराणिक और कौटुम्बिक सम्बन्ध साधते हैं। वस्तुतः उपर्युक्त निर्णय के धारक का विचार गम्भीरता से करने पर विदित होता है वह 'हिन्दुत्व का हिन्दू निर्णय' था। इस पवित्र–पावन निर्णय को आजकल के तथाकथित कठमुल्लक हिन्दूओं का निर्णय समझकर उसे अपवित्र करने की भूल नहीं करनी चाहिए। "गर्व से कहो हम हिन्दू हैं" का नारा देने वाले सही अर्थों में "हिन्दुत्व" के प्रतिनिधि नहीं माने जा सकते। यहाँ पुनः एक प्रश्न उत्थापित होता है कि यद्यपि उस समय भारत की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग अहिन्दू था फिर भी इस ऐतिहासिक निर्णय को 'हिन्दुत्व का हिन्दू निर्णय' कहने का क्या औचित्य है ? इसका उत्तर आचार्य यशदेव शल्य[2] ने एक अवान्तर प्रसंग में बहुत सुन्दर ढंग से दिया है। वह यह कि "मुस्लिम भारत उस समय इस निर्णय में भागीदार होने का नैतिक अधिकार खो चुका था, ईसाई जनसंख्या नगण्य थी और जैन–बौद्ध एवं सिख इत्यादि तो उतने ही हिन्दुत्व परम्परा के अन्तर्गत आते हैं जितने की शैव, वैष्णव और शाक्त।" वास्तव में हिन्दुत्व के इस ऐतिहासिक निर्णय को '1947 का महाविमर्श' पद से अभिहित किया जाना चाहिए क्योंकि इस निर्णय में स्वयं उस भारत ने अपने को अपने सम्पूर्ण जातीय अनुभव के साथ प्रकट किया है जिसके चलते भारत को महान कहा जाता है। यदि थोड़ी देर के लिए भारत को उसके महान अतीत से अलग करके भी देखा जाय तो केवल इस ऐतिहासिक निर्णय की भावभूमि पर उसे उतना ही महान पाया जा सकता है। यह बात अलग है कि ऐसी महानता अकस्मात् उद्भूत नहीं होती बल्कि उसकी जड़ें विरासत के इतिहास की अतल गहराईयों में हुआ करती हैं। अतएव भारत विभाजन के समय लिया गया उपर्युक्त निर्णय भारत की महानता का 'नव्य–परिच्छेद' और उसकी स्वतंत्रता का अनुपम (लेकिन–सम्प्रति उतना ही विषम) अर्थ–सन्दर्भ भी है। यह स्वातंत्र्योत्तर भारत के लिए एक ऐसे मूलभूत धार्मिक मिथक के समान है जो उस धर्म के सम्पूर्ण भावी इतिहास को व्याप्त किये रहता है और तत्सम्बन्धी सभी निर्मितियों में अभिव्यक्ति पाता रहता है।

वास्तव में यदि देखा जाये तो भारत की स्वतंत्रता के यही दोनों मूलभूत अर्थ–सन्दर्भ व्यापक दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर भारत के निर्माण की आधारशिला जैसे हैं और वैसे ही स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के लिए अपने स्वरूप में अनेकों पूर्वपक्षों एवं उत्तरपक्षों को समेटे हुए दार्शनिक चिन्तन की दिशा और व्यापक भाष्यधर्मी भावी योजना प्रस्तुत करते हैं। यहाँ भाष्यधर्मी भावी योजना से तात्पर्य पुरातन के उच्छेद और नवीनता की आमूल उपस्थापना रूप विचारों के प्रवर्तन से नहीं बल्कि वर्तमान के व्यापक परिप्रेक्ष्य में पुरातन की पुनःरचना और इस प्रकार उसकी समीचीन प्रस्तुति है। किसी सभ्यता के धारक विचार–सूत्रों में, उनके

2. *समसामयिक चिन्ताएं, राका प्रकाशन, इंलाहाबाद–पृ. 127.*

मूलगामी स्वरूप में युगानुरूप समीचीन बनने की अद्भुत क्षमता होती है। इसीलिए सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के जीवनानुभव का सुदीर्घ इतिहास होता है। भारतीय संस्कृति के धारक विचार सूत्रों को तो इस अर्थ में विश्वतोमुख कहा जा सकता है। यही कारण है कि अन्य संस्कृतियों की तुलना में परिवर्तनों को आत्मसात् करते हुए आत्मप्रतिष्ठित बने रहने का इसका सर्वाधिक लम्बा इतिहास है।

अब यदि उपर्युक्त दोनों अर्थ–सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में स्वातंत्र्योत्तर भारत और उसमें दार्शनिक चिन्तन की प्रस्थिति के रूप–विरूप की जाँच–पड़ताल करें तो सबकुछ, अधिकांश में मूल से भटका हुआ, निर्दिष्ट लक्ष्य के प्रतिलोम जैसा प्रतीत होता है। ऐसा लगता है जैसे भारत का कोई स्वरूप बोध हममें था ही नहीं जो भारत के दार्शनिक चिन्तन में तदात्मरूप से बसता हो। हम यह भूल ही गये कि संस्कृति, साहित्य, इतिहास और दार्शनिक ज्ञान सम्पदाओं की दृष्टि से यह देश पहले से ही बहुत सम्पन्न गुण–सूत्रों वाला रहा है। इतिहास में अनेक बार इसने वैजात्य प्रहारों को सहा भी लेकिन इसकी आत्मा कभी उतनी मूर्छित नहीं हुई थी जितना कि स्वतंत्रता के बाद हमने स्वयं इस पर आत्मघात किया है। स्वातंत्र्योत्तर काल के एक गणमान्य भारतीय दार्शनिक प्रो. के. सच्चिदानन्द मूर्ति[3] 20 वीं शताब्दी में भारत में हुए दार्शनिक चिन्तन का अन्वीक्षण करते हुए संतोष व्यक्त करते हैं कि इस शताब्दी में इंग्लैण्ड, जर्मनी, तथा अमेरिका में भी कोई विशेष महत्त्व का दार्शनिक चिन्तन नहीं हुआ है एवं भारत के संसदीय और संसदेतर क्षेत्रों में जो चिन्तन हुआ है वह अन्य देशों के चिन्तन से कम नहीं है। अपने दार्शनिक चिन्तन की लम्बाई और मोटाई नापने का आत्महीनता से उपजा हुआ यह गजब का पैरामीटर है। भारतीय दर्शन के प्रति ऐसी ही दृष्टि रखने वाला व्यक्ति भारतीय दर्शन और दक्षिण भारतीय दर्शन का बटवारा कर सकता है जिसे उन्होंने कर दिखाया है, जब वे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के उपाध्यक्ष थे। सचमुच स्वातंत्र्योत्तर कालीन वैचारिक–दार्शनिक आत्मघात के लिए उत्तरदायी तो पूरे बुद्धिजीवी वर्ग को ठहराया जा सकता है लेकिन उसमें भी सर्वाधिक हैं पंडित जवाहर लाल नेहरू। एक स्वस्थ सोच–समझ वाला व्यक्ति अपनी संस्कृति और समाज–व्यवस्था का कटु आलोचक हो सकता है और उसे होना भी चाहिए, लेकिन क्या वह अपने देश को किसी दूसरे देश से किसी भी कीमत पर बदलना चाहेगा ! अपने इतिहास को किसी और के इतिहास में परिणत करना चाहेगा जिसे परम्परा की सनातन काल–यात्रा में योग–क्षेम के प्रतिज्ञाबद्ध उत्तराधिकार बोध के साथ पाया गया हो। यह सम्भव है कि हमारे प्रथम प्रधानमंत्री जिनकी काबिलियत पर, कहा जाता है, गाँधी जी भी फिदा रहते थे और हम सब आज भी उनपर गर्व करते हैं, उन्हें इस देश के जातीय अनुभव और सांस्कृतिक–अस्मिता के एकात्मक गुण–सूत्रों का ठीक–ठीक पता नहीं था। इससे भी बढ़कर यह कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति की वैश्वीय सम्भावनाओं की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। यदि उनका ध्यान उस ओर गया भी तो सभ्यता के विकल्प की ओर

---

3. *समकालीन भारतीय दर्शन, अखिल भारतीय दर्शन परिषद –1962, सम्पादकीय आलेख "आधुनिक भारतीय दर्शन : अन्वीक्षण" के अन्तर्गत।*

नहीं बल्कि ऐन्द्रिक सभ्यता की यांत्रिक शक्ति की ओर। कतिपय महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भों में तो वे इस शक्ति के लिए भारतीय सभ्यता के वास्तविक सत्व की राजनीति करते हुए दिखते हैं। आचार्य यशदेव शल्य[4] ने उनपर टिप्पणी करते हुए सटीक कहा है कि "पंडित नेहरू की दृष्टि आधुनिक पश्चिम से निर्धारित थी और सांस्कृतिक भारत उनके लिए सुदूर परदेश था। उनकी 'भारत की खोज' विदेशी पर्यटकों जैसी एक मनोरंजन यात्रा जैसी थी। वे भारत को उसी प्रकार, यद्यपि उससे भी कम, जानते थे जैसे विदेशी इतिहासज्ञ जानते हैं। अवश्य उन्हें देश से प्रेम था, किन्तु राजनीतिक देश से, सांस्कृतिक देश से नहीं। उनका सांस्कृतिक देश आधुनिक पश्चिम था–वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकी संस्कृति का पश्चिम।" यह बात नेहरू जी के सम्बन्ध में बहुत दूर तक सही प्रतीत होती है कि उनका व्यक्तित्व अपनी मूलाकृति में ही ऐसा था और कदाचित् वे स्वयं के प्रति आत्ममुग्ध भी थे, तभी उन्होंने स्वातंत्र्योत्तर भारत को अपने ही 'आवक्ष–विग्रह' रूप में गढ़ने का हर सम्भव प्रयास किया। स्वतंत्रता के पूर्व राजाराम मोहन राय तो हम भारतीयों को सुधारने के लिए अधिकाधिक ईसाई मिशनरियों को शिक्षक बना कर भारत आने का न्योता दे ही रहे थे लेकिन नेहरू जी ने सम्भावनावान् युवकों को पाश्चात्य ज्ञान–विधाओं में पारंगत करने के लिए यूरोपीय विश्वविद्यालयों में भेजना शुरु कर दिया और बचे भविष्णु अपने ही देश में मैकाले की शिक्षा नीति में दीक्षा पा ही रहे थे। इस तरह भारत में एक ऐसा बुद्धिजीवी वर्ग यहाँ का अभिजात्य वर्तमान बनकर उभरा जो अपने देश और अपनी संस्कृति से अधिक यूरोप को जानता था। उसकी दृष्टि में यदि कुछ भी अपनाने योग्य ज्ञान था तो वही जिसे यूरोप ने उपजाया हो। विडम्बना तो यह कही जायेगी कि यूरोप का अधिक ज्ञान अपने भारत को तुलनात्मक रूप में अधिकाधिक समझने के लिए उपयोगी हो सकता था, लेकिन हमारे बुद्धिजीवियों ने भारत को विस्मृत करने के लिए अपने यूरोपीय ज्ञान–कोश को फलित किया है। ऐसा भी नहीं कि उन दिनों, और आज भी कुछ लोग ऐसे नहीं हैं जो भारत की पारम्परिक विद्याओं का नैष्ठिक अभ्यास न करते हों लेकिन वैसे लोग भी संस्कारों की जड़ता में आबद्ध परम्परा के जातिस्मर जैसे ही रहे हैं। वस्तुतः इस पूरे प्रकरण को आधुनिक पश्चिम से आद्यन्त अभिभूतिकरण के रूप में देखा और समझा जा सकता है। अन्दर से देखने पर यह पश्चिम के समक्ष आत्महीनता भी प्रतीत होती है। अवधेय है कि इसका समाधान किसी भी अर्थ में अपने को पश्चिम बना लेना नहीं हो सकता है। परन्तु दुर्भाग्यवश हुआ यही और परिणामतः स्वातंत्र्योत्तर भारत एक घोर सांस्कृतिक संकट वाले देश में रूपान्तरित होता गया। भारत में पश्चिमीकरण के अधिवृतांत पर बहुत कुछ लिखा गया और लिखा जा रहा है। स्वयं को हम इस अधिवृतांत का भाष्यकार भी नहीं समझते परन्तु इसके विरोध में अपने को अपने से संवाद करता हुआ अवश्य पाते हैं। 1929 में स्वनामधन्य प्रो. के.सी. भट्टाचार्य ने 'स्वराज इन आइडियाज' शीर्षक से दिये गये व्याख्यान में पश्चिमीकरण के ओर–छोर का बड़ा ही सारगर्भित विवेचन किया था। उसका हिन्दी रूपान्तरण इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में हमने इसी विशेष उद्देश्य से प्रस्तुत किया है जो अवश्य द्रष्टव्य है।

---

4. *समसामयिक चिन्ताएं, राका प्रकाशन, इलाहाबाद–पृ. 72*

वस्तुतः भारतीय स्वतंत्रता के परा–ऐतिहासिक अर्थ–सन्दर्भ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पूर्वपक्ष भारत में पसरता हुआ, तन से मन तक, यही पश्चिमीकरण ही है। प्रायः हम इस प्रश्न पर चिन्ता प्रकट करते हुए अपने बचाव और सांस्कृतिक संरक्षण की बात करते हैं, लेकिन यह भूल जाते हैं कि पश्चिमीकरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया आज "सार्वभौमिक आधुनिकता" के आकार में विश्वसभ्यता का रूप ले चुकी है। उत्तर आधुनिकता के रूप में इसका पार्यन्तिक आकार क्या होगा, यह अभी निश्चित नहीं है। ऐसी स्थिति में बचाव का पक्ष कम पानी में धूप सेंकते हुए मगर को गुदगुदाने जैसा भी हो सकता है। प्रतिरक्षा की चेतना आक्रामक होकर ही विजयी होती है अन्यथा पराजय ही हाथ लगती है। विश्व इतिहास की गति के साथ पश्चिमीकरण के त्वरण पर दृष्टिपात करें तो वस्तुस्थिति और भी स्पष्टतर हो सकती है। पाँच सौ ईसापूर्व से पन्द्रह सौ ईसवी तक दुनिया में सभ्यता और संस्कृति के किसी एक केन्द्र का निर्णायक प्राधान्य नहीं था। इन दो हजार वर्ष तक मध्यपूर्व, भारत, यूनान और चीन की सभ्यतायें अपनी–अपनी विशिष्टताओं के साथ एक दूसरे की हमवजन थीं। पन्द्रहवीं शताब्दी के पश्चात् यूरोप की बढ़ती हुई शक्ति और समृद्धि तथा यहूदी–खीस्तियन विचारधारा से उसके अन्दर ही अन्दर ताल–मेल ने उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक आते–आते पूरी दुनिया को अपनी चपेट में ले लिया था। इसके बाद का विश्व इतिहास यूरोकेन्द्रित विश्व का इतिहास बनकर रह गया। सभ्यताओं के उत्थान–पतन के इतिहास–समीक्षकों का मानना है कि इस दौरान "यूनीवर्सल रीज़न" पर आधारित एक ऐसी विश्वसभ्यता का उदय हुआ जिसमें दुनिया भर की संस्कृतियाँ, जिनकी एक विशिष्ट पहचान थी, अपनी इयत्ता को समाप्त कर इस तरह अनुप्रविष्ट होने लगीं जैसे "ब्लेक होल" में सभी कुछ विलीन हो जाया करता है। यूरोकेन्द्रित इस विश्वसभ्यता को दार्शनिक आधार प्रदान करने वाला उसका मूर्धाभिषिक्त प्रवक्ता हेगल को माना जाता है। उसने "यूनीवर्सल रीज़न" का चूड़ान्त प्रत्ययन करते हुए एक ऐसा समग्र तंत्र प्रस्तुत किया जिसमें विश्व की आद्यन्त मानव निर्मितियाँ एक सुनिश्चित श्रेणीबद्धता एवं स्तरीकरण में समाहित हो जाती हैं। इसके माध्यम से हेगल ने यह प्रतिपादित किया है कि विश्व इतिहास की ऊर्ध्वाधर गति पूरब से पश्चिम की ओर है जिसमें चेतना का दीपक प्रथमतया पूर्वी देशों में जलता है लेकिन आत्मचेतना का सूर्य यूरोप में चमकता है। यहाँ चेतना के दीपक से तात्पर्य पूर्वी एशियाई देशों की अविकसित अवस्था है और आत्म–चेतना के सूर्य का तात्पर्य यूरोपीय समाज की, अपने मानदण्डों पर विकसित अवस्था है। इस तरह सम्पूर्ण विश्व की अनेक छोटी–बड़ी संस्कृतियाँ इसी पश्चिमी सूर्य के आलोक में अपने को जानने, पहचानने और अन्ततः होने के लिए विवश हैं। हेगल दर्शित विश्व इतिहास की इसी निर्दिष्ट नियति को ही यूरोकेन्द्रित मिशन कहा जाता है जिसका लक्ष्य सम्पूर्ण मानवता को पश्चिमी नेतृत्व प्रदान करना है।

अब यदि यूनीवर्सल रीज़न, विश्व इतिहास और पश्चिमीकरण की लयतालबद्धता से जैसा 'इतिहास–दर्शन' उभरकर सामने आता है, उसके परिप्रेक्ष्य में भारतीय सभ्यता–बोध की भूमिका पर विचार किया जाय तो उसे एक गुरूतर दार्शनिक दायित्त्व से अधिकृत

किया जा सकता है। वह यह कि भारत की स्वतंत्रता का मूल्य इस बात में निहित है कि वह सम्पूर्ण विश्व के अप्रतिहत यूरोपीयकरण का विकल्प बने। सभ्यता और संस्कृतियों के बहुध्रुवीय विश्व में भारत आधा ग्लोब है। यह बात इस तथ्य से और भी स्पष्ट हो जाती है कि जितना विरोध एशिया और यूरोप के बीच नहीं, उससे कहीं अधिक उग्र विरोध भारत और शेष विश्व के बीच है। यह विरोध भारत के वैकल्पिक सभ्यता–बोध के कारण ही है और सच पूछा जाय तो यही विरोध भारत को विश्व के निर्बाध यूरोपीयकरण का विकल्प बनने का सामर्थ्य प्रदान करता है। गाँधी जी के द्वारा "हिन्द–स्वराज" में यूरोपीय यांत्रिक सभ्यता जो मनुष्य की ऐन्द्रिक शक्ति को बेशुमार बढ़ाने का दानवी उपक्रम है, उसे उसके प्रत्यय में ही अपूर्ण ठहराते हुए अस्वीकार करने का निहितार्थ ऐसा ही था। इसीलिए वे भारत की सच्ची स्वतंत्रता में मानवमात्र की स्वतंत्रता को साध्यभूत मानते थे। अतएव स्वातंत्र्योत्तर काल में भारत का दार्शनिक चिन्तन अपने भाष्यधर्मी अभियान में यदि इस ओर अग्रसर होता तो मानवता को पश्चिमीकरण का एक सशक्त ही नहीं उद्धारक विकल्प प्राप्त हो सकता था। उद्धारक इस अर्थ में कि विश्व के लौकिकीकरण के बदले विश्व के आध्यात्मीकरण का विकल्प प्रस्तुत किया जा सकता था। यंत्रकेन्द्रित सभ्यता का विकास चाहे जितना भी हो, उससे मनुष्य की ऐन्द्रिक शक्ति का ही विस्तार होगा और इस विकास की उच्चतम अवस्था में भी मनुष्य जैव स्तर पर ही प्रतिष्ठित हो सकेगा। ऐसा मनुष्य अपनी शक्ति और समृद्धि में या तो क्रूरतम होगा या गर्वस्फीत भाव से अनाप–सनाप चैरिटी करेगा। आज यह सब कुछ विश्वसभ्यता का ताण्डव अमरीकी क्रियाकलापों में देखा जा सकता है। इस सभ्यता बोध में सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा और इन सबसे ऊपर आत्मैक्यता जैसे मूल्यों के लिए स्थान ही नहीं हो सकता है। यहाँ द्रष्टव्य है कि पश्चिमीकरण की विश्वव्यापी प्रक्रिया केवल भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही आलोच्य नहीं बल्कि उसी परम्परा के भीतर से भी नीत्शे, हाइडेगर, और हुसर्ल जैसे सभ्यता–समीक्षकों ने इसकी भर्त्सना करते हुए क्रमशः –"पृथ्वी पर उगता हुआ मरुस्थल"–"दुनिया से दैवीय दीप्ति का उड़ जाना"–"मानव का घर से बेघर हो जाना" कहा है।

वास्तव में भारतीय दर्शन का सभ्यता बोध पश्चिमी सभ्यता के विरुद्ध एक वैकल्पिक सभ्यता की स्वायत्तता ही है। भारतीय अध्यात्मवादी चिन्तन में न केवल इसके बीज बल्कि पल्लवित रूप देखे जा सकते हैं। ऐसा भी नहीं कि भारतीय चिन्तन धारा को इस ओर इसी परिप्रेक्ष्य में उन्मुख करने की कोशिश न की गई हो। श्री अरविन्द का दार्शनिक योगदान इसी दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि उन्होंने डार्विन के विकासवाद और "सेक्युलरायजेशन ऑफ वर्ल्ड" के पश्चिमी अभियान के विरुद्ध विश्व के दिव्यीकरण के वैदिक अभियान का युगीन संस्करण प्रस्तुत किया है। पर स्वातंत्र्योत्तर काल में इसे आगे बढ़ाने के बजाय हमने इसको शंकर, रामानुज और वल्लभ के साम्प्रदायिक झगड़ों में उलझा कर रख दिया। ऐसे ही अन्यान्य दार्शनिक कर्त्तव्यों और अपेक्षाओं के प्रति कहा जा सकता है जिसे स्वातंत्र्योत्तर काल में एक अभियान की तरह संचालित करना चाहिए था लेकिन नहीं किया गया। हम स्वतंत्र होने के पश्चात् भी अपने दार्शनिक कर्त्तव्यों के प्रति

विमूढ़ावस्था में ही बने रहे। हम स्वतंत्रता के परा–ऐतिहासिक अर्थ–सन्दर्भ के पूर्वपक्षों एवं उत्तरपक्षों को समझे बिना पश्चिमीकरण को ही विकास के नाम पर अपनी नियति समझ बैठे हैं।

अब यदि भारत की स्वतंत्रता के ऐतिहासिक अर्थ–सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में स्वातंत्र्योत्तर भारत के सौष्ठव और दार्शनिक कर्त्तव्याकर्त्तव्य पर विचार करें तो हमारी अदूरदर्शिता का कोई पारावार नहीं रह जाता है। जहाँ तक राष्ट्र के सौष्ठव का प्रश्न है तो समूचे देश को हिन्दू–मुस्लिम समस्या के विकृत बोध को स्वतंत्र भारत की आधारिक संरचना मानकर उसमें झोंक दिया गया। दार्शनिक कर्त्तव्याकर्त्तव्य की दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर भारत के आन्तरिक सौष्ठव के लिए कोई नई तत्त्वमीमांसा तो उतनी आवश्यक नहीं थी लेकिन भारतीय संस्कृति के एकात्मक गुण–सूत्रों को लेकर एक सामाजिक ज्ञानमीमांसा विकसित करने की महती आवश्यकता थी। परन्तु ऐसा कुछ करने के बजाय स्वातंत्र्योत्तर काल में आज जो समाज–दर्शन विकसित हो रहा है वह अपने आधारभूत सूत्रों को ओरियेण्टलिज़्म की साजिशों में पाता रहा और उन्हीं को उभार कर, भारत के सामाजिक व्याकरण में बोये गये विष–बीजों को पल्लवित करने में अपनी दार्शनिक जिज्ञासा और बौद्धिक सक्रियता को प्रतिपादित करता है। हम यह भूल जाते हैं कि ओरियेण्टलिस्ट अध्ययनों के द्वारा हमारे वाङ्मयी ताने–बाने को न केवल छिन्न–भिन्न बल्कि गहरी सूझ–बूझ के साथ उसे विकृत रूप में प्रस्तुत किये जाने के प्रयास होते रहे हैं। आनन्द कुमार स्वामी[5] ने उचित ही जताया है कि ''पिछले सौ वर्षों में यूरोपीय भाषाविद् और भारतीय विद्वान जो यूरोप की आधुनिक विकासवादी धारा में दीक्षित हैं–इन सबने भारतीय परम्परा और इतिहास के सम्बन्ध में जो अपने विचार, मन्तव्य और निर्धारण प्रकट किये हैं, उनमें से अधिकांश को नकार कर ही इस परम्परा की सही व्याख्या हो सकती है।''

ऐसे ही हिन्दू–मुस्लिम समस्या भी भारत में अंग्रेजों की ही देन है। यह बात अलग है कि किसी अन्य की अपेक्षा उन्हें मुसलमानों को सिरफिरा बनाने में आसानी हुई। इसीलिए बंग–भंग आन्दोलन की ताकत देखकर 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना करवाने में अंग्रेजों ने कोई देर नहीं की थी। खैर, भारत में इस्लाम की राष्ट्रीय भावना का चाहे जो भी इतिहास रहा हो, विभाजनोपरान्त शेष भारत में उनकी अस्मिता के लिए उन सभी अच्छे–बुरे सन्दर्भों का कोई औचित्य नहीं रह जाता है। शेष भारत की स्वतंत्रता को : पाकिस्तान बनने के बाद : भारतीयता की जिस भाव भूमि पर स्वीकार किया गया था और मुसलमानों का वह भाग जिसने पूर्वज–बोध की ताबीर पर एक तरह से पाकिस्तान को नकारा था–उस स्वातंत्र्योत्तर भारत की सरजमी पर उग्र हिन्दू और कट्टर मुसलमान के लिए कोई स्थान ही नहीं है। यहाँ उग्र हिन्दू होने का मतलब संस्कृति को रूढ़ अर्थ में धर्म बना देना और कट्टर मुसलमान होने का मत्लब अपने ही बाउसूल से हटकर बेउसूल होना है। विभाजित भारत में मुसलमान, वास्तव में, इस्लाम का एक 'नव्य–परिच्छेद' था और इस नव्य–परिच्छेद में अपनी अस्मिता को, अपने अहमीयत का मिशाल कायम करने के लिए

5. *हिन्दुइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म, पृ. 57.*

उन्हें कुछ ऐसा करना चाहिए था कि वे 1947 के ऐतिहासिक निर्णय में भागीदार बन सकें। भारत में मुसलमानों की सबसे बड़ी और आधारभूत समस्या उनकी मज़हबी आचार–संहिता नहीं है बल्कि 1947 के उस ऐतिहासिक निर्णय में उनका अब तक भागीदार नहीं बन पाना है। उनकी मजहबी कट्टरता का भाजक अन्य कोई राष्ट्र या धर्म भले हो लेकिन भारत, विभाजनोपरान्त भारत, कैसे हो सकता है ? चूँकि उस समय का मुस्लिम भारत उस ऐतिहासिक निर्णय में भागीदार होने का नैतिक अधिकार ही खो चुका था, इसलिए बाद में उसे उस अधिकार को प्राप्त करने के लिए अर्थात् उस निर्णय का सहभागी बनने के लिए स्वयं के कुछ 'प्रतिकर्त्तव्यों' को आत्मचेतना के धरातल पर स्वीकार करना चाहिए था। जब तक भारत का मुसलमान 1947 के ऐतिहासिक निर्णय का सच्चे मन से भागीदार अपने को नहीं बनायेगा तब तक वह अपनी संख्यात्मक विशालता को चाहे जितना बढ़ा ले, और भारत के कुटिल राजनीतिज्ञों से चाहे जितना तुष्टिकृत हो जाये–अपनी निजता में वह अपने को अलग–थलग ही पायेगा। दूसरी ओर भारत में जो लोग हिन्दू होने का गर्व करते हैं उन्हें हिन्दुत्व के उस ऐतिहासिक निर्णय पर गर्व करना चाहिए और साथ ही साथ इस गौरव बोध से जुड़े हुए अधिकार और कर्त्तव्यों के प्रति भी उन्हें आत्मचेतन होना चाहिए। सम्प्रति भारत में हिन्दूवादी चेतना की जैसी लहर बह रही है वह अपने आप में मौलिक नहीं है बल्कि यह कहना ज्यादा उचित होगा कि उसकी जन्मस्थली राजनीतिक इस्लाम है और इस कारण वह हिन्दुत्व के कर्त्तव्य बोध की आत्मचेतना से न केवल च्युत बल्कि अधिकार बोध से भी रहित है। उसी प्रकार भारत में यदा–कदा कट्टर मुस्लिम चेतना जो उद्भूत होती हुई दिखाई पड़ती है वह धार्मिक रूप से तो मौलिक है लेकिन उसकी जन्मभूमि अन्तर्राष्ट्रीय इस्लाम है। हमारी यह बात तथाकथित हिन्दुओं एवं मुसलमानों को बुरी लग सकती है लेकिन यही वास्तविकता स्वातंत्र्योत्तर भारत का सत्व है। हम अपने मन्तव्य को एक अवान्तर उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करते हुए कह सकते हैं कि जैसे खान अब्दुल गफ्फार खाँ, डॉ. जाकिर हुसैन, शेख अब्दुल्ला, मौलाना आजाद, मोहम्मद इकबाल और ए.पी.जे. अब्दुल कलाम को भारत में मुस्लिम मानस का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता[6] वैसे ही महाराणा प्रताप और शिवाजी को अर्यमा मानने वालों को हिन्दुत्व का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता है।

अब जहाँ तक भारतीय मुसलमानों का 1947 के ऐतिहासिक निर्णय में भागीदार बनने के लिए प्रतिकर्त्तव्यों का प्रश्न हैं तो इसका निर्धारण एक कठिन कार्य है। इसके लिए उनको तो स्वयं ही आगे आना होगा क्योंकि यह उनका ही देय है और साथ–ही–साथ हिन्दुओं को भी अपनी सांस्कृतिक उदारता दिखानी होगी। यह द्विधारी प्रक्रिया राजनीतिक धरातल पर सम्भव नहीं बल्कि केवल और केवल सांस्कृतिक–दार्शनिक धरातल पर ही सम्भव है। क्या यह सम्भव नहीं कि मुसलमान अपने कुरान को भारतीय संस्कृति के हाथों

6. *हमारे वर्तमान राष्ट्रपति का यह वाक्य इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है, —— "...Let me go to dust as a proud citizen of India, to rise again and rejoice in its glory". Ignited Minds, Page-189, Penguin Books.*

में सौंप दें और हिन्दू उसे अपने वाङ्मय का उसी तरह अंग बना लें जैसे गीता, रामायण, महाभारत, त्रिपिटक और जैनागम इत्यादि हमारे वाङ्मय के अन्तर्गत हैं। क्या यह सम्भव नहीं है कि भारतीय घरों में एक साथ गीता और कुरान मिलें और दोनों के समर्थक एक ही घर में उसी तरीके से वाद–विवाद करें जैसे कुमारिल और धर्मकीर्ति मामा–भांजा होते हुए भी एक मीमांसक और दूसरा बौद्ध होकर एक दूसरे का खण्डन–मण्डन किया करते थे। आस्था–प्रणाली के रूप में 'धर्म' के प्रति निर्वैयक्तिक अभिनिवेश भारतीय परम्परा की अनुपम विशेषता है और इसी कारण यहाँ विभिन्न आस्थाप्रणालियाँ एक ही सांस्कृतिक औचित्य–विधान के अन्तर्गत सहावस्थानी होतीं हैं। यहाँ वैदिक ऋषियों को धूर्त, भाण्ड, पिशाच कहने वाला चार्वाक भी अद्यतन पूर्वपक्षी के रूप में सम्मान पाता है। वस्तुतः हिन्दुत्व की भारतीय परम्परा में ही यह सम्भव है कि 'प्रतिज्ञा' और 'प्रतिप्रतिज्ञा' दोनों ही परम्परा के अंगभूत होते हैं। अतएव हिन्दुत्व की सांस्कृतिक प्रकृति में यह कोई ताज्जुब की बात नहीं होगी कि वह इस्लाम को भी एक उपासना पद्धति के रूप में अपनी संस्कृति में स्थान दे, जैसा कि विभिन्न उपासना पद्धतियाँ इसके सांस्कृतिक अंग पहले से हैं, लेकिन इस्लाम के लिए यह अवश्य ताज्जुब की बात हो सकती है कि वह अपनी आस्था–प्रणाली रूप मज़हबी निजता में हिन्दुत्व के सांस्कृतिक औचित्य–विधान को मान्य करे। भारतीय मुसलमान जब तक इस ताज्जुब को हकीकत में नहीं बदलेंगे तब तक उन्हें भारत में होने का स्वाभिमान प्राप्त नहीं हो सकता। 1947 के ऐतिहासिक निर्णय में भागीदार होने के लिए उन्हें भारतीय परम्परा में वाङ्मय के धरातल पर मिलना होगा। यह उनके पक्ष का एक ऐतिहासिक प्रदेय है, जिसका भुगतान अभी बाकी है। भारतीय संस्कृति कोई सामासिक–कम्पोजिट संस्कृति नहीं कि उसे विभिन्न मतमतान्तरों का समुदाय समझ लिया जाये। यह एक अवयवी अथवा अंशी के स्वरूप का है और इसके सभी अंग–प्रत्यंग उसके भाग या अंश होते हैं, फिर भी उनकी स्वायत्तता अक्षुण्ण ही रहती है। भारतीय संस्कृति पर सामासिकता की मुहर ओरियेण्टलिस्ट विद्वानों ने लगाई है जो वास्तव में 'एकात्मक सांस्कृतिक धारा' का अर्थ समझने और उस धारा को भारतीय परम्परा में देख पाने में असमर्थ ही रहे हैं। उनकी इस अन्ध दृष्टि का खुलासा तब हो जाता है जब वे एक यूरोपीय संस्कृति की बात करते हैं। यूरोप अनेक राज्यों, राजनीतिक प्रदेशों का समूह रहा है और भारत ऐसा कभी नहीं रहा। तब भी वे इन देशों की अलग–अलग संस्कृतियों की बात नहीं करते बल्कि यूरोपीय देशों की रुचि–प्रवृत्ति, हाव–भाव और यहाँ तक कि भाषायी विभिन्नता के बावजूद 'यूरोपीय संस्कृति' की ही बात करते हैं। भारतीय संस्कृति का चूडान्त प्रत्यायन ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में देखा जा सकता है कि 'पुरुष' एक ही है जिसके सहस्र सिर, सहस्र पैर और सहस्र अक्ष हैं। इसी की परवर्ती अभिव्यक्ति 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' और ''यो यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'' के रूप में हुई है। स्वतंत्रता के पश्चात् हमें संस्कृति–चिन्तन और समाज–दर्शन तथा साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से एकता का वाङ्मयी आधार निर्मित करना चाहिए था, लेकिन हमने धर्मनिरपेक्षता का

खोखला एवं बनावटी रास्ता अपनाया और अल्पसंख्यक पैदा करते रहे। और भी बहुत कुछ हमने किया है लेकिन सबकुछ यहाँ नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के द्वारा हमने एक उपक्रम को साधते हुए भारत की स्वतंत्रता को केन्द्र में रखकर स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के कुछ मूलभूत अर्थ–सन्दर्भों को रेखांकित करने का प्रयास किया है। वस्तुतः ये अर्थ–सन्दर्भ अपनी प्रकृति में व्यापक हैं और इस कारण अन्यान्य प्रकार के चिन्तनों के भी वैसे ही अर्थ–सन्दर्भ बनते हैं जैसे कि दार्शनिक चिन्तन के निमित्त। यदि स्वातंत्र्योत्तर भारत का दार्शनिक विमर्श इन्हीं अर्थ–सन्दर्भों पर सवार होकर अग्रसारित हुआ होता तो बहुत जीवन्त और सार्थक ही नहीं बल्कि सही अर्थों में राष्ट्र निर्मायक हो सकता था। आज स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दार्शनिक चिन्तन एक विचित्र प्रकार के विपर्यास का शिकार हो गया है। उसे पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की पहचान ही नहीं रह गई है। फिर भी कुछ ऐसे सृजनधर्मी 'आत्मकेन्द्र' आज भी बचे हुए हैं जिसके माध्यम से भारतीय दार्शनिक चिन्तन अपने जातीय अनुभव में प्रतिष्ठित हो रहा है। आवश्यकता है उन्हें पहचानने की और उनके भाष्यधर्मी अभियान में धृति, उत्साह और समन्वय की योग्यता के साथ शामिल होने की। हमारा यह सम्पादन कर्म इसी रूप में वर्तमान पीढ़ी के अध्येताओं, शिक्षकों एवं विद्यार्थियों में फलित हो, इसी कामना के साथ हम इस ग्रन्थ को लोकार्पित करते हैं।

स्वतंत्रता दिवस : 15 अगस्त, 2005

अम्बिकादत्त शर्मा

परिच्छेद : एक

स्वातंत्र्योत्तर भारत में दार्शनिक चिन्तन का भाषायी माध्यम

भारतरत्न डॉ. भगवानदास ने "दर्शन का प्रयोजन" नाम से एक पुस्तक लिखी थी जिसका प्रथम संस्करण सं. 1997, द्वितीय संस्करण सं. 2005 और तृतीय संस्करण सं. 2010 में उत्तरप्रदेश की हिन्दुस्तानी ऐकेडमी से प्रकाशित हुई थी। इस ग्रन्थ का कुछ हिस्सा भारत विभाजन के पूर्व लिखा गया था और कुछ विभाजनोपरान्त। ग्रन्थ का वह भाग जो विभाजनोपरान्त लिखा गया है, उसके आरम्भ में ही पृष्ठ 257 पर डॉ. भगवानदास ने एक फुटनोट लिखा है। वह फुटनोट बड़ा ही ऐतिहासिक और अर्थगर्भित है जो इस परिच्छेद की अवधारणात्मक योजना के अभिप्राय को उचित रूप से न केवल उजागर बल्कि प्रमाणित भी करता है - "पाठक सज्जनों को इस अध्याय की और पूर्वगत अध्यायों की भाषा में कुछ भेद प्रतीत होगा। कारण यह है कि जब तक भारत देश अखंड था तब तक मेरा मत निश्चित था कि इसकी राष्ट्रभाषा हिन्दी उर्दू मिश्रित 'हिन्दुस्तानी' होनी चाहिए। परन्तु अब, जब कुछ अदूरदर्शी मुस्लिम नेताओं के अहंकारोन्माद ने हमारी जन्मदात्री भारत माता के, जीते जी, तड़पते हुए दो खण्ड कर ही डाले, तब मेरा वैसा ही निश्चित मत अब है कि हमारी राष्ट्रभाषा संस्कृताश्रित हिन्दी ही, और लिपि नागरी ही होनी चाहिए, और ये ही दोनों प्रान्तीय मातृभाषा के साथ सब लड़की-लड़कों को, क्या हिन्दू क्या मुसलमान क्या ईसाई आदि, अवश्य ही स्कूल कॉलेजों में सिखाना चाहिए और न्यायालयों तथा अन्य कार्यालयों में प्रयोग करना चाहिए। मुसलमान लड़के-लड़की भले ही अपने घरों के भीतर उर्दू भाषा और लिपि अपने माँ-बाप के व्यय से सीखें। पाकिस्तान में सबको, हिन्दू मुसलमान को, उर्दू भाषा और लिपि का प्रयोग करने के लिए विवश किया गया है। अथ किं, पच्छिम पाकिस्तान में तो हिन्दू प्राय: मिटा ही दिये गये हैं - इसका उत्तर यही है। इसके अतिरिक्त यह भी सर्व-सम्मत निर्विवाद नितान्त सत्य है कि नागरी वर्णमाला ही शुद्ध वैज्ञानिक है, जैसी कोई अन्य अक्षरावली पृथ्वीतल पर नहीं है; इसमें लिखे किसी भाषा के शब्दों को यदि उक्त भाषा का अनजान उच्चस्वर से पढ़ें तो उसका जानकार झठ समझ जावेगा; यह गुण किसी अन्य लिपि को प्राप्त नहीं है। साथ ही इसका, यह भी कहना है कि हमको अंग्रेजी शब्दों और लिपि से द्वेष करने का कोई कारण नहीं है; उनको, प्रयोजनानुसार अपनाना ही चाहिए। एवं, अरबी-फारसी के भी उन शब्दों को जो हिन्दी में सर्वथा घुल मिल गये हैं, यहाँ तक गाँवों की और नगरों की हिन्दू स्त्रियाँ भी जो विशुद्धतम हिन्दी बोलती हैं, उनका प्रयोग करती हैं, और जिनके ठीक तुल्यार्थ पर्याय हिन्दी में अथवा संस्कृत में सहज में मिलते भी नहीं, यथा 'सिफारिश' (सुपारिस), 'शिकायत' (सिकाइत), चुगली (चुग्ली) आदि। तथा 'रोमण' लिपि में नागरी से भी अधिक गुण यह है कि आज-कल पृथ्वी के दो सौ कोटि मनुष्यों में से प्राय: एक सौ कोटि उसे पढ़-लिख सकते हैं; इसलिए, अन्य देशों के विद्वानों से सम्पर्क बनाये रहने के लिये और उनके उपज्ञों से भारत जनता को अनुवाद द्वारा लाभ पहुँचाने के लिए, अंग्रेजी भाषा और रोमण लिपि का भी ज्ञान हमारे विद्वानों के लिए परम आवश्यक है।"

⁕

डॉ. भगवानदास, दर्शन का प्रयोजन, पृ. 257, बनारस, ज्ञानमण्डल लिमिटेड से साभार।

भारत में भारतीय भाषाओं का औचित्य

यशदेव शल्य

भारत में भारतीय भाषाओं के औचित्य विषयक प्रश्नों पर प्रारम्भ में मेरी दृष्टि सुस्पष्ट नहीं थी। इस प्रश्न की मूलगामिता का जब मुझे बोध हुआ तब मैंने 'उन्मीलन' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। यह आलेख एक तरह से उस "बोध" का ही उपोद्घात है। इससे पहले मैंने दार्शनिक त्रैमासिक, तत्त्वचिन्तन तथा दर्शन–समीक्षा पत्रिकाओं का क्रमशः 1954, 1968 तथा 1971 में प्रकाशन–सम्पादन आरम्भ किया था। 'दर्शन–समीक्षा' एक सरकारी पत्रिका थी और वह चार वर्ष बाद सरकारी कुतंत्र के ही बलि चढ़ गई, 'तत्त्वचिन्तन' तीन वर्ष बाद कुछ व्यावहारिक कारणों से बन्द कर दी गई। दार्शनिक त्रैमासिक देर तक चली, जिसका सम्पादन–कार्य मैंने अन्तिम रूप से 1978 में छोड़ा। इन तीनों पत्रिकाओं में मेरा एकमात्र उद्देश्य हिन्दी भाषा का उत्कर्ष करना, उसे राष्ट्रभाषा होने के योग्य बनाना था। किन्तु प्रश्न हो सकता है, केवल हिन्दी–भाषा के उत्कर्ष से ही क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? क्या यह अपने–आप में प्रयोजन होने,साध्य होने, के लिए पर्याप्त है? इस पर तब न मैंने कभी विचार किया था और न दूसरे सहयोगियों ने जो अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के निर्माण में मेरे साथ सम्मिलित हुए थे। किन्तु आज लगता है कि यह स्वयं में उद्देश्य होने योग्य बात नहीं है। यह एक व्यापक उद्देश्य का अंग मात्र, अथवा कहें उसका एक चरण मात्र, हो सकती है। उन्मीलन, जिसका यहाँ अभीष्ट अर्थ है 'चित्त–दृगों का भीतर की ओर खुलना', का आरम्भ 'हिन्दी का उत्कर्ष' पद में निहित गम्भीर और व्यापक तात्पर्य के सम्यक् मनन के साथ किया गया था। यद्यपि इस मनन से उपलब्ध अर्थ में कोई नयी बात नहीं है, यह अर्थ वही है जो हिन्दी को राष्ट्र भाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने में गाँधी जी का था : भारत को उसकी अपनी आत्मा में, अपने स्वरूप में, प्रतिष्ठित करना। किन्तु दार्शनिक त्रैमासिक के प्रकाशन और साथ ही साथ अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना में वह अर्थ भुला दिया गया था। उनमें यह मान लिया गया था जैसे हिन्दी भाषा का प्रचलन ही अपने–आप में उद्देश्य होने के लिए पर्याप्त है। उसमें क्या लिखा जाता है, इससे जैसे कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह भूल इसके बावजूद थी कि 'हिन्दी–प्रेम' जैसे शब्द उस समय भी मेरे लिए उपहासास्पद थे। वास्तव में मैंने स्वयं उस समय हिन्दी में 'दार्शनिक विश्लेषण' पुस्तक तथा अन्य बहुत कुछ लिखकर इसका स्पष्टतम उदाहरण प्रस्तुत कर दिया था कि मैं और दूसरे अधिकांश लोग 'हिन्दी के उत्कर्ष'

के वास्तविक अर्थ के सम्बन्ध में कितने भ्रांत हैं। (किसी भारतवासी द्वारा पाश्चात्य दर्शन पर परिचयात्मक या आलोचनात्मक पुस्तक लिखना एक बात है, उसके विचार–प्रवाह में एक वीचि बनने का प्रयत्न एक सर्वथा दूसरी बात है।)

किन्तु यह भ्रांति आकस्मिक और केवल मेरी, या कुछ लोगों की ही, नहीं थीं, इसके पीछे एक बहुत गहरी वस्तुस्थिति थी। वस्तुस्थिति यह थी कि स्वामी दयानन्द या महात्मा गाँधी ने जिन परिस्थितियों में हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया था उसका संदर्भ बिल्कुल बदल गया था : उन घोषणाओं के समय हम राजनीतिक पराधीनता में थे और दर्शन परिषद् के स्थापना–वर्ष (1954) में राजनीतिक स्वाधीनता पाने की स्मृति अभी ताजा थी और हम अपने भूतपूर्व स्वामियों की बराबरी पा लेने के लिए उतावले थे। यहाँ इस सर्वसम्मत वस्तुस्थिति की चर्चा का विस्तार नहीं कर हम इतना ही कहना चाहेंगे कि इसका मूल बहुत गहरी पैठी हीनता–ग्रंथि में था जो प्रायः–प्रायः अंग्रेजों द्वारा भारत–विजय के साथ ही भारतीय मानस में घर कर गई थी और जो राजनीतिक स्वाधीनता–प्राप्ति के बाद और अधिक व्यापक और गहरी हुई थी, घटी नहीं थी।

किन्तु यहाँ कहा जा सकता है कि 'अंग्रेजों के आने तक भारतीय संस्कृति भी कोई जीवित मानसिकता नहीं रही थी, यह बहुत कुछ मृत परम्परा हो चुकी थी। यूरोपीय संस्कृति की चुनौती ने भारतीय समाज को झकझोर कर नयी चेतना ही दी थी जिसके परिणामस्वरूप इस देश में वैचारिक, सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों का सूत्रपात हुआ। उसी प्रक्रिया में आज भी हम हैं। यदि इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप हम आगे पाश्चात्य मानसिकता को अधिकाधिक अपना लेते हैं और तथाक़थित भारतीय मानसिकता को छोड़ देते हैं तो इसमें बुराई भी क्या है?'

मैं समझता हूँ कि यह मूल प्रश्न है जो जाने–अनजाने उन लोगों के चेतन–अवचेतन में विद्यमान है जो भारतीय परम्परा को उससे बड़े खतरे के रूप में देखते हैं जितना बड़ा खतरा उनके विचार में हमें विदेशी सांस्कृतिक दासता से है। यहाँ पहले 'अपनी परम्परा की दासता के खतरे' का प्रश्न लेना उपयुक्त होगा। इसका पहला उत्तर है कि जब कोई भारतीय परम्परा से सम्बन्धित रहने की बात करता है तब अधिकांशतः उसका आशय उस परम्परा से नहीं होता जिसकी दासता से खतरे की बात ये लोग करते हैं। इसका प्रमाण वे सब सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आंदोलन हैं जो भारतीय चैतना को जागृत करने के लिए पिछली शताब्दी में हुए। इन आंदोलनों के प्रवर्तकों में से किसी ने भी अपने को उस परम्परा से नहीं जोड़ा जो उस समय विचार और व्यवहार में थी और इस प्रकार जिससे सहज रूप में वे जुड़े हुए थे : उन्होंने उसे सड़ा हुआ पाया था और उसी के विरुद्ध आवाज उठायी थी : उन्होंने उस परम्परा से अपने को जोड़ा था जो शताब्दियों पहले लुप्त हो चुकी थी और परिणामस्वरूप जिसके देह से (बाहरी व्यवहार से) नहीं बल्कि केवल आत्मा से सृजनात्मक कल्पना के द्वारा ही सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता था। अपने सांस्कृतिक आत्मतत्त्व से सृजनात्मक कल्पना के द्वारा इस प्रकार सम्बन्ध की स्थापना बहुत कुछ उसी प्रकार का कर्म है जिस प्रकार का कर्म व्यक्ति अपने अविचारित जीवन–क्रम में किसी ठेस

से जागकर अपने स्वरूप से, अपनी सच्ची निजता से, अपनी ऑथेंटिक बींग से, सम्बन्धित होने के रूप में करता है : जैसा बुद्ध ने रोग और मृत्यु के 'साक्षात्कार' से उदबुद्ध होकर किया था, अथवा स्वामी दयानन्द ने देव–मूर्ति पर चढ़े चूहे के 'दर्शन' से जागकर किया था, या महात्मा गाँधी ने रेलगाड़ी में एक अंग्रेज रेल–गार्ड से पिटने पर 'अपमान' से जागकर किया था। एक दूसरे प्रकार के जागरण का उदाहरण अपने एक लेख में प्रोफेसर राजेन्द्र प्रसाद ने आनन्दमूर्ति लिखित एक नाटक 'संस्कार' के नायक प्राणेशाचार्य के उदाहरण द्वारा दिया है।[1] वह वास्तव में बहुत अच्छा प्रति–उदाहरण है जो उस मानसिकता को प्रकट करता है जो आज के दृष्टिविहीन परम्परा–त्याग के मूल में निहित है। प्राणेशाचार्य अपनी शुद्ध कामुकता के सुख को निर्विघ्न भोगने के लिए अपनी शास्त्र द्वारा बन्द दृष्टि को अब कामुकता द्वारा बन्द करता है । इस प्रकार यह आवरण का हटना नहीं है बल्कि एक दूसरे और कहीं अधिक भयानक आवरण का पड़ना है, क्योंकि पहले आवरण में केवल जड़ता थी, दूसरे में सक्रिय अन्धता है। हमारे देश में वास्तव में यही हुआ है : आदर्शविहीन चतुर वर्ग ने विदेशी स्वामियों से पुरस्कार पाने और देशी लोगों पर रौब जमाने के लिए देशी शास्त्र छोड़ कर विदेशी शास्त्र उसी मनोवृत्ति से अपनाया है जिससे प्राणेशाचार्य ने चन्द्री को।[2]

यहाँ अवान्तरतः इसका उत्तर भी दिया गया कि कौन सी भारतीय संस्कृति अभीप्स्य है। वास्तव में 'भारतीय संस्कृति' का अर्थ आज सामान्यतः उस मृत परम्परा को मान लिया गया है जिसका प्रतिनिधित्व गाँठ बँधी चोटी, ढोरों द्वारा चरे गए घास जैसी दाढ़ी, और घुटनों तक उठी मैली धोती वाले वे पण्डित करते हैं जो पुराने ग्रंथों के पाठ से आगे कुछ नहीं जानते। इस प्रकार 'भारतीय दर्शन' का अर्थ हो गया है, जो कुछ शताब्दियों पहले लिखा गया था। इसका अर्थ हो जाता है कि हम आज भारतीय संस्कृति से प्राणेशाचार्य की तरह ही सम्बन्धित हो सकते हैं और परिणामतः जिससे मुक्ति उससे भी अधिक आवश्यक है जितनी विदेशी पराधीनता से। किन्तु यह संस्कृति नहीं है। संस्कृति परम्परा अवश्य होती है किन्तु केवल भविष्योन्मुख, सृजनात्मक परम्परा ही; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार प्राणी वही होता है जो बीज से और जातिता के सहित उत्पन्न होता है किन्तु साथ ही जो स्वयं उत्पादन–समर्थ और विशिष्ट व्यष्टि भी होती है। इस प्रकार कालिदास, शंकर या भरतमुनि के ग्रंथों में अभिव्यक्त काव्य, विचार या विधिशास्त्र तभी सांस्कृतिक परम्परा के अंग हैं यदि वे आज मेरे सर्जनात्मक कर्म में खाद का काम कर सकते हैं। इस प्रकार अपनी सांस्कृतिक परम्परा से सम्बन्धित होने का अर्थ है एक जीवित समाज की मानसिकता में, जीवित मूल्यों के सनातन बोध में, प्रतिष्ठित होना। और सौभाग्यवश अभी काफी लोग इसे देश में हैं जो इस प्रकार परम्परा में प्रतिष्ठित हैं। काव्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रसाद, निराला, महादेवी, अज्ञेय आदि जितने नाम चाहें, दर्शन में श्री अरविन्द, भगवान दास, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, गोविन्दचन्द्र पांडे, और कुछ दूसरे यद्यपि बहुत कम लोग, जो विदेशी विचार–परम्परा से स्वतंत्र दार्शनिक चिन्तन करते हैं। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में तो बहुत से नाम हैं, और कुछ ऐसे जिन पर कोई भी समाज गर्व कर सकता है।

ऐतिहासिक रूप से एक सांस्कृतिक मानसिकता प्रायः अभ्यस्त सरणियों में गतानुगतिक रूप में प्रवाहित रहती है, जब तक कि अनुगतिकता प्रवाह से बहुत विसंगत होकर बहुत अखरने नहीं लगती। तब कोई क्रांत–चेता प्रकट होता है जो परम्परा का नवसर्जन करता है। यह सांस्कृतिक नेता इतना नया होता है कि उसके समकालीन प्रायः ही उसे अधर्मी, अनैतिक आदि के रूप में देखते हैं, किन्तु साथ ही वह इतना परंपरानुसारी होता है कि बाद वालों को उसमें प्राचीन से कुछ भी भिन्न दिखायी नहीं देता। महात्मा बुद्ध की उपनिषदों से अनुरूपता और शंकर की महायान दार्शनिकों से अनुरूपता सर्वविदित है। वास्तव में क्रान्तदर्शियों में ये दोनों पक्ष ठीक ही देखे जाते हैं। किन्तु उनमें प्राचीन से अनुरूपता में एक बहुत महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है और वह यह कि उनका प्राचीन परंपरागत नहीं होकर वह मूल होता है जिससे सांप्रतिक परंपरा उद्गत तो हुई होती है किन्तु जिसका अर्थ खोकर वह उसका आकार–शेष रह गई होती है। वह मूल साक्षात्कारात्मक होता है जबकि परंपरा उपाधिभूत होती है। क्रान्त द्रष्टा उस मूल में अपने को सृजनात्मक कल्पना द्वारा पुनः प्रतिष्ठित करता है और नयी परंपरा के लिए नयी उपाधियों का आविष्कार करता है। यह दृष्टि–परम्परा ही सनातन सांस्कृतिक परंपरा होती है, वह नहीं जो दृष्टि–विहीन गतानुगतिकता में प्राप्त होती है। इसमें बाहर के प्रभाव भी आते हैं, कभी चुनौती के रूप में और कभी पूरक के रूप में, कभी–कभी सांस्कृतिक अस्मिता के विनाशक के रूप में भी– 'यूनानो मिश्र रोमा सब मिट गए जहाँ से' किन्तु सभी समाज इन आक्रमणों से अपनी संस्कृति या अस्मिता की रक्षा के लिए भरसक जूझते हैं।

अब यहाँ प्रश्न है : जो प्रश्न हमने आरंभ में उठाया था : कि सांस्कृतिक अस्मिता को बचाना क्या अपने–आप में मूल्य है या कि संस्कृति विशेष के मूल्यवान् होने से ही सांस्कृतिक अस्मिता मूल्यवान् या रक्षणीय होती है ? इसका उतने संक्षेप में उत्तर नहीं दिया जा सकता जितने के लिए यहाँ स्थान है, यद्यपि सब प्राणि–जातियों और आदिम जीवन विधियों को अक्षुण्ण बनाये रखने को अपने–आप में मूल्यवान् मानने वाले इस युग में इसका उत्तर एक ही वाक्य में देने में कोई दुविधा महसूस नहीं करते। किन्तु जहाँ तक भारतीय अस्मिता की रक्षा का प्रश्न है, इसका उत्तर सहज है। यह उत्तर है कि कोई समाज किसी संस्कृति से ही परिभाषित होता है और वही उसे अस्मिता के रूप में धारण करता है। जहाँ तक यह अस्मिता जीवन्त और सप्राण होती है वहीं तक वह समाज अन्तर्गठित और अन्तर्व्यवस्थित होता है और जहाँ तक यह क्षीण होती है वहीं तक वह गठन और व्यवस्था से रहित होता है। इस प्रकार भारतीय अस्मिता की रक्षा इसलिए अपेक्षित नहीं है कि भारतीय संस्कृति अन्य संस्कृतियों से श्रेष्ठ है, ऐसी बात का कोई अर्थ नहीं है। जैसे मेरी व्यक्तिगत अस्मिता इसलिए रक्षणीय नहीं है कि मैं अन्य सब से श्रेष्ठतर हूँ, बल्कि इसलिए रक्षणीय है कि मैं अन्य के अनुकरण से केवल अपने को खो सकता हूँ, अन्य की श्रेष्ठता को नहीं पा सकता। और श्रेष्ठता प्रत्येक अस्मिता की अपनी संभावनाओं के क्रियान्वयन में ही होती है, जो संभावनाएँ किसी अन्य अस्मितागत संभावनाओं से न्यूनतर नहीं होती।

भारत की वर्तमान स्थिति यह है कि इसमें अभी भी एक उच्च सांस्कृतिक परंपरा

जीवित है और इसने बाहरी सांस्कृतिक चुनौतियों का सामना करने की सामर्थ्य भी दिखायी है। इस संस्कृति को कोई दूसरी संस्कृति विस्थापित कर सकेगी, ऐसा समाजवैज्ञानिक रूप से संभव प्रतीत नहीं होता। तुर्की जैसे सरल, छोटे और प्रसुप्त समाज में भी, और मुस्तफा कमाल जैसा प्रभावशाली शासक भी, यह नहीं कर सका, भारत तो फिर बहुत जटिल, बहुत विशाल, और सांस्कृतिक रूप से पर्याप्त बद्धमूल समाज है। किन्तु हम इसकी अस्मिता को, इसकी चेतनाधारा को, इसके चिन्तन को घपला अवश्य सकते हैं, इसके मार्ग को विषम–कुटिल अवश्य बना सकते हैं, अथवा विषम बने मार्ग को पुनः सरल भी बना सकते हैं। यह अकार्य और कार्य दोनों किसी समाज के अग्रणी ही कर सकते हैं। हमारे देश में अंग्रेजी राज्य ने शिक्षा–पद्धति द्वारा ऐसी व्यवस्था कर दी थी कि अग्रणी पैदा ही अकार्य करने के लिए हों। अवश्य उनकी इस व्यवस्था का तत्कालीन भारत ने कुछ प्रतिरोध भी किया था : महात्मा गाँधी ने आध्यात्मिक और बौद्धिक सब स्तरों पर स्वदेशी के स्वीकार और विदेशी के बहिष्कार का आह्वान किया था। किन्तु स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद गाँधी जी और उनकी दृष्टि दोनों का गला घोट दिया गया और यूरोपीय संस्कृति के बजाय अमरीकी अपसंस्कृति की बाढ़ सी आ गई। संस्कार नाटक का प्राणेशाचार्य हमारे मानस में उतर कर छा रही इस अपसंस्कृति का बहुत सटीक प्रतीक है।

यहाँ महात्मा गाँधी के स्वदेशी–आन्दोलन की मूल दृष्टि का स्मरण स्थाने होगा। गाँधीजी से अधिक सार्वभौम व्यक्ति इस युग ने कोई दूसरा उत्पन्न नहीं किया होगा। किन्तु सार्वभौमता का तत्त्व व्यक्तित्त्व–हीनता नहीं है, निरहंकारता है। दुर्भाग्यवश हमारे तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीयतावादी लोग व्यक्तित्त्व–हीनता, आत्म–शून्यता को ही सर्वभौमता समझते हैं। खैर, स्वदेशी–आंदोलन उस गाँधी ने चलाया था जिसके लिए वास्तव में स्वदेश–परदेश का कोई भेद नहीं था। इसलिए उस आंदोलन का उद्देश्य न स्वदेशाहंकार था और न स्वार्थ, बल्कि उस व्यष्टि को व्यक्तित्त्व देना, उसकी अस्मिता को लौटाना था जिसकी अस्मिता और व्यक्तित्व पददलित कर दिये गए थे। व्यक्तित्त्व–विहीन, अस्मिता–विहीन व्यक्ति जहाँ एक ओर अपने को उपयुक्त रूप से बुद्धि–बलहीन समझता है वहीं दूसरे के बुद्धि–बल को अपार रूप से बढ़ा कर भी आँकता है। यही हम पहले भी कर रहे थे और आज भी कर रहे हैं। हम अंग्रेजी में लिखने–बोलने मात्र से किसी बात और व्यक्ति को किसी भारतीय भाषा में लिखी–बोली बात और उसके लेखक–वक्ता से उत्कृष्टतर मान लेते हैं, और यदि वह बात लिखी–कही भी किसी यूरोपीय द्वारा गई हो तब तो बात ही क्या है। इसके लिए कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। जिसमें अपने भीतर झाँक कर देखने का साहस हो वह यह आसानी से देख सकता है। आज हम इस साहस में कितने क्षीण हो चुके हैं इसका कुछ अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि इंडियन फिलॉसफिकल क्वार्टर्ली के 'स्वराज इन आइडियाज' विशेषांक में डॉ. सत्यपाल गौतम के अतिरिक्त किसी ने यह नहीं लिखा कि वैचारिक स्वराज के लिए भाषिक स्वराज अनिवार्य है। कृष्णचंद भट्टाचार्य ने यह कहा अवश्य, किन्तु बहुत झिझक के साथ, अन्यथा उन्होंने प्रत्ययात्मक स्वराज (स्वराज इन कॉसेप्ट्स) की ही बात की है, मानो प्रत्यय भाषा से असम्बद्ध हों। तब भी,

उन्होंने वैचारिक स्वराज के संदर्भ में भाषा के सम्बन्ध में जो कहा है वह भी उनके बंगला या हिन्दी में नहीं लिखने की जवाबदेही के लिए पर्याप्त है। किन्तु उनका इस जवाबदेही से बचने का प्रयत्न स्पष्ट है, और उससे कहीं अधिक प्रगल्भ इस अंक के अन्य लेखकों का इस पर मौन है जिन्होंने भट्टाचार्य के लेख को आधार बनाकर लिखा है।

स्वतंत्रता के बाद अंग्रेजी भाषा को यह कहकर रखा गया था कि यह अन्तर्राष्ट्रीय खिड़की है। किन्तु यह खिड़की रखने का परिणाम यह हुआ कि हम इस पर ही आकर खड़े हो गए और भीतर देखना बन्द ही कर दिया। और फिर बाहर के लिए भी खिड़की एक ही क्यों हो? चीनी, रूसी, जर्मन, फ्रेंच तथा अरबी ये भाषाएँ कम से कम हैं जिन्हें हमें खिड़कियाँ बनाना चाहिए था। इसका यह अर्थ नहीं है कि सब लोग सब भाषाएँ सीखें। इसका अर्थ है कि भिन्न–भिन्न लोग भिन्न–भिन्न भाषाएँ सीखें और यह सीखना लिखने–बोलने के लिए नहीं, बल्कि पढ़ने के लिए ही वांछनीय है। किन्तु हमने अंगेजी को ही खिड़की बनाकर जहाँ भीतर देखना बन्द किया वहाँ बाहर भी वही देखा जो इस खिड़की से दीख सकता था, और इस पर यह और कि यह भी माना कि 'यही है, जो सब है'। किसी जाति द्वारा अपना दिमाग गहने रखने का इससे बड़ा सौदा शायद दूसरा नहीं हुआ होगा। यही कारण है कि हम 'प्रत्यक्ष–सम्मत' या 'विज्ञान–सम्मत' या 'लोक–बुद्धि सम्मत' जैसे इंगलैंड या अमरीका में प्रचलित तात्कालिक वैचारिक फैशनों को विचार के विश्व–इतिहास पर अमिट छाप समझते हैं और वहाँ के घटिया से घटिया लेखक को विचारणीय और अनुकरणीय मानते हैं।

आज हमारा उद्‌देश्य, कम से कम स्वातंत्र्योत्तर काल में, इस मनोवृत्ति को आमूल रूप से बदलना होना चाहिए। यद्यपि इस मनोवृत्ति की आरोपित जड़ें विगत 50 वर्ष में बहुत गहरे में चली गई हैं और हम जानते हैं कि इसके लिए किये गये प्रयत्न समय की दिशा के विरुद्ध होंगे और परिणामतः इसकी थोड़ी भी सफलता पर संदेह किया जा सकता है। किन्तु औचित्य, युक्तता या मूल्य की कसौटी समयानुकूलता नहीं होती : आज आत्म–संयम, प्रेम, मैत्री, सम्बन्धों में सच्चाई और सादगी आदि की बात भी समय की दिशा के विपरीत है और इनकी रक्षा के प्रयत्नों की असफलता प्रायः निश्चित है, किन्तु इसी से इनकी युक्तता संदिग्ध नहीं हो जाती और न इनके लिए प्रयत्न अकरणीय हो जाता है। इन शब्दों के साथ हम दार्शनिक बन्धुओं का इस प्रयत्न में सम्मिलित होने के लिए और आगामी पीढ़ी को इसका भागीदार बनाने के लिए आह्वान करते हैं।

***

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

1. द्रष्टव्य इण्डियन फिलासफीकल क्वाटरली, वर्ष 11, अंक 4, "स्वराज इन आइडियाज" विशेषांक में डॉ. राजेन्द्रप्रसाद का लेख। यह लेख बहुत विचारपूर्ण और सुन्दर लिखित है।

2. डॉ. राजेन्द्रप्रसाद भी अपनी दार्शनिक निष्ठा में इसी दृष्टि के अनुयायी हैं।

हिन्दी के उन्नयन का अर्थ एवं सम्भावनाएँ

यशदेव शल्य

कोई भाषा विश्व–भाषा अधिकांशतः उस भाषा के बोलने वालों के राजनैतिक–सैनिक विस्तार के द्वारा बनती है। कभी–कभी कोई भाषा उसमें रचे गए वाङ्.मय की समृद्धि के आधार पर भी विश्वभाषा बन सकती है, परन्तु अधिकांशतः ऐसा होता नहीं है। उदाहरणतः बौद्ध धर्म और दर्शन से समृद्ध संस्कृत भाषा से चीनियों और तिब्बतियों ने उस वाङ्.मय का अनुवाद अपनी भाषाओं में कर लिया किन्तु संस्कृत कभी उनकी भाषा नहीं बनी। इसी प्रकार रूसी उपन्यासों और जर्मनी के दर्शन–ग्रन्थों या काव्य–ग्रन्थों के दूसरी भाषाओं में अनुवाद ही हुए, ये भाषाएँ अन्य भाषा–भाषियों की भाषाएँ नहीं बनीं। आज अंग्रेजी विश्वभाषा है, उससे कुछ कम फ्रांसीसी है, ये दोनों इनके बोलने वालों के साम्राज्यों के कारण विश्वभाषाएँ बनी हैं। अन्यथा वाङ्.मय की दृष्टि से ये दोनों भाषाएँ, विशेषतः अंग्रेजी, 18 वीं शताब्दी तक कोई सर्वाधिक समृद्ध भाषाएँ नहीं थी, इससे जर्मन भाषा कहीं अधिक समृद्ध थी। इंग्लैंड द्वारा भारत–विजय के बाद यूरोप के लोगों का संस्कृत की ओर भी ध्यान गया क्योंकि यह भाषा वाङ्.मय की दृष्टि से बहुत समृद्ध थी, उनके कुछ विद्वानों ने यह सीखी और इसमें पारंगत भी हुए,किन्तु उन्होंने न तो इसे अपनी भाषा के रूप में अपनाया और न इसके वाङ्.मय को अपने वाङ्.मय के रूप में अपनाया। इसके वाङ्.मय को उन्होंने भारत–विद्या (इंडोलॉजी) के नाम से अन्य के वाङ्.मय के रूप में ही देखा। इसके विपरीत इंग्लैंड और फ्रांस के उपनिवेशों के वासियों ने इनकी भाषाओं को अपनी भाषाओं के रूप में ही अपनाया और इनके वाङ्.मय को आत्मसात् करने, या उससे तत्सात् होने को अपना आदर्श बनाया। इतना ही नहीं, उन्होंने उनकी वेश–भूषा और रंग–ढंग आदि को भी अपनाने का प्रयत्न किया। इससे भारतीय भाषाएँ भारत के प्रतिष्ठित वर्ग की भाषाएँ होने से रह गई और इनमें साहित्यिक लेखन के अतिरिक्त अन्य प्रकार के वाङ्.मय की रचना नहीं हो पायी। यों इससे पहले की कुछ शताब्दियों से, सम्भवतः मुस्लिम शासन के कारण, भारत में सामान्यतः ही साहित्येतर वाङ्.मय की रचना बहुत कम हो रही थी, किन्तु तब भी जो रचना हो रही थी वह संस्कृत में ही हो रही थी, जन–भाषाओं में नहीं हो रही थी। अंग्रेजी शासन काल में संस्कृत का स्थान अंग्रेजी ने ले लिया । संस्कृत से अंग्रेजी की ओर संक्रमण केवल भाषा तक ही सीमित नहीं रहा, यह संक्रमण वाङ्.मय में भी हुआ। अब अध्ययन और लेखन का विषय पाश्चात्य विचार हो गया। स्वतन्त्रता–संग्राम–काल में

राष्ट्रीयता की अवधारणा के उदय के साथ भारत की राष्ट्रभाषा की अवधारणा भी बनी और इस रूप में हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया गया किन्तु गाँधी जी और कुछ अन्य इने–गिने नेताओं के अतिरिक्त किसी भी राजनीतिक नेता ने पूरे मन से हिन्दी को 'आर्यजन' की भाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया, 'पृथग्जन' की भाषा के रूप में ही स्वीकार किया। राज्य की ओर से विश्वविद्यालयों की भाषा और राज–काज की भाषा अंग्रेजी बनायी गयी और हमारे पृथग्जन और आर्यजन दोनों के मन में प्रकट रूप से या अप्रकट रूप से अंग्रेजी और अंग्रेजियत की श्रेष्ठता का भाव घर कर गया। ऐसे में हमारे लिए भाषा ही आयातित नहीं हुई, विचार भी हुआ। हमारे सुधीजन पाश्चात्य विचारों में पाण्डित्य सिद्ध कर स्वयं विचार करने की सामर्थ्य खो रहे थे। इस प्रकार हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में काव्य–लेखन के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं लिखा जा रहा था। इस प्रकार हमारी भाषाएँ, हिन्दी सहित, अपने ही देश की भाषा के रूप में कभी स्वीकृत नहीं हुई। इस मानसिकता के कारण ही स्वतन्त्रता के बाद भी भारतीय भाषाएँ कभी अपनायी नहीं गई। प्रधानमंत्री के रूप में पं. नेहरू ने लोकसभा में जो प्रथम भाषण दिया वह अंग्रेजी में ही दिया। हमारा संविधान जो बना वह यूरोप के संविधानों के आधार पर ही बना, इतना ही नहीं, स्वतन्त्रता के बाद सरकार ने अध्यापकों को अध्यापन में उत्कृष्ट बनाने के लिए केवल विज्ञान–विषयों में ही नहीं मानविकी और समाजशास्त्रीय विषयों में भी यूरोप के विचारों में कौशल प्राप्त करने के लिए भिजवाया। यह एक ऐसा सांस्कृतिक आत्मघाती कृत्य था जिससे बड़े सांस्कृतिक आत्मघाती कृत्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसे समझने के लिए निम्न तीन प्रश्न देखें–1. कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है ? 2. समाज क्या है और व्यक्ति क्या है और इनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? 3. मन क्या है? ये तीन क्रमशः दर्शन, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के आरम्भिक प्रश्न कहे जा सकते हैं। अब इनके उत्तर क्या संस्कृति–निरपेक्ष हो सकते हैं? उदाहरणतः तीसरे प्रश्न के उत्तर के रूप में पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुरूप हमारे विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है कि–'मन शरीर–व्यवहार है।' अब यह परिभाषा एक पूरी तत्त्वमीमांसा को पूर्वगृहीत करती है, जो तत्त्वमीमांसा आधुनिक पश्चिम के सांस्कृतिक इतिहास में मूलित है। अब इस उत्तर को स्वीकार करने का अर्थ अपनी सांस्कृतिक परम्परा से उन्मूलित होना। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद हमने स्वयं ही इस उन्मूलन को अपने लिए चुना। हमारे अध्यापक पश्चिम की ओर दौड़ाये गये कि वे वहाँ से यह सब सीख कर आयें और स्वयं उन्मूलित होकर विद्यार्थियों को भी उन्मूलित करें।

मैं जब 1952 में साहित्य का क्षेत्र छोड़कर दर्शन के क्षेत्र में आया तो मैंने पाया कि हिन्दी में दर्शन की कोई पत्रिका ही नहीं है और न हिन्दी में कोई इस विषय की पुस्तकें हैं। उस समय मेरे में यह सांस्कृतिक विवेक तो नहीं था जिसकी चर्चा अभी मैंने ऊपर की है, किन्तु यह समझ तब मेरे में जगी कि हिन्दी ऐसे राष्ट्र की राष्ट्रभाषा कैसे हो सकती है जो संस्कृति और सभ्यता में मूर्धन्य होने की बात करता है। तब मैंने इस सम्बन्ध में राजकमल प्रकाशन की विज्ञापन पत्रिका 'प्रकाशन समाचार' में एक लेख लिखा और उसके

बाद इस स्थिति को बदलने के लिए प्रयत्न आरम्भ किया। किन्तु तब मैंने पाया कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए निरन्तर संघर्षरत राजनीतिक और सांस्कृतिक नेताओं में इसका कोई बोध ही नहीं है। इस पर मैंने लिखा कि हिन्दी की सब संस्थाओं को साहित्य की बात छोड़ कर अन्य विषयों में वाङ्.मय रचना की ओर ही ध्यान देना चाहिए, क्योंकि हिन्दी साहित्य–रचना तो स्वतः ही हो रही है। किन्तु मेरी इस बात की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। तब मैंने अकेले ही दार्शनिक पत्रिका और दर्शन परिषद् स्थापित करने का बीड़ा उठाया। इस पर डॉ. सम्पूर्णानन्द जी ने मुझे चेताया कि मेरा यह प्रयत्न सफल होना असम्भव है, क्योंकि वे समाजशास्त्रीय पत्रिका 'समाज' का प्रकाशन आरम्भ कर उसे दो बार बंद करने को बाध्य हुए थे। किन्तु उनकी चेतावनी के बाद भी मैंने वह पत्रिका और परिषद् आरम्भ कर दी और उसमें सफल रहा, यह एक अलग किस्सा है, किन्तु इससे देश की चेतना में कोई अन्तर नहीं पड़ा। पीछे 1960 के बाद जब लोकसभा में भारतीय भाषाओं को विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए दबाव बढ़ा तो सब को यही पता चला कि इन भाषाओं में तो किसी विषय की कोई पुस्तकें ही नहीं हैं। तब इन विषयों में अंग्रेजी से पुस्तकें अनुवाद करने की योजना बनायी गयी, पारिभाषिक शब्दावली आयोग की स्थापना की गई और सांस्कृतिक आत्मघात की पूरी व्यवस्था कर ली गई। तब यह प्रश्न होगा कि ऐसी अवस्था में और किया भी क्या जा सकता था? इस पर मेरा उत्तर है कि हमें अपने अध्यापकों से कहना चाहिए था कि वे अपनी भाषाएँ सीखें और विभिन्न विषयों में लिखने के लिए अपनी परम्परा को और अपने अनुभव को देखें। अवश्य यह लेखन आरम्भ में अनगढ़ होता किन्तु ऐसे सुघड़ लेखन का क्या अर्थ जो अपने अनुभव के ही निषेध पर प्रतिष्ठित हो? किन्तु इस सुघड़ लेखन के पीछे हमने अनुवादों के कारखाने खोल दिये, जिनमें हमारे विद्यार्थियों के लिए अप्रासंगिक विचार अबूझ शब्दावली में प्रस्तुत किये गये। यह शब्दावली अबूझ इसलिए थी क्योंकि इन शब्दों का हमारी अपनी भाषा में कोई प्रयोग नहीं था, वे उन विदेशी शब्दों के पर्यायवाची मात्र थे जिनके अर्थ उन शब्दों से ही जुड़े थे जिनके अर्थ बताने के लिए ये शब्द गढे गए थे। इससे यह आशा की गई थी कि इन अनुवादों के द्वारा यह ज्ञान–भण्डार हिन्दी में आ जाने पर क्रमशः हिन्दी में मौलिक लेखन भी होने लगेगा। किन्तु दूसरों के विचारों के उपजीवी होकर मौलिक लेखक होने की आशा से बड़ी दुराशा क्या हो सकती थी? यही कारण है कि हमारे देश में विचार के क्षेत्र में मौलिक लेखन हिन्दी में या अन्य भारतीय भाषाओं में ही नहीं, अंग्रेजी में भी नहीं हो रहा है, सिवाय ऐसे कुछ अपवादों के जिन्होंने हठ ठाना है कि वे किसी की नकल नहीं ही करेंगे। ऐसी परिस्थिति में हम दूसरों के लिए सम्मानीय नहीं हो सकते। दूसरों के लिए सम्माननीय होने के लिए पहली पूर्वापेक्षा आत्मसम्मान का होना है जो हममें नहीं है। स्वतन्त्रता से पहले हम इसकी रक्षा का कुछ प्रयत्न करते थे, बाद में हमें इसकी रक्षा की भी आवश्यकता नहीं रही और यह हममें निरन्तर घट ही रहा है, बढ़ नहीं रहा है। उदाहरण के लिए साहित्यिक क्षेत्र को ही सन्दर्भ बनाना समीचीन होगा। इस क्षेत्र को मैं लगभग 1948 से देख रहा हूँ। इस क्षेत्र के लोग जैसे फ्रायड, एडलर, मार्क्स–एंजल्स, सार्त्र आदि के नाम लेकर एक दूसरे पर रौब डालने का प्रयत्न करते रहे हैं, यह हम सबको पता ही

है। आज उनके स्थान पर दूसरे नाम आ गए हैं। पीछे किसी संस्था ने देरिदा को आमन्त्रित किया (वे आज हमारे नये देवता हैं) तो दूर–दूर से हमारे साहित्यिक उनके दर्शन और श्रवण के लिए दिल्ली पहुँचे। इस मानसिकता के बहुत से और उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। इस मानसिकता के रहते हिन्दी के विश्वभाषा होने की बात सोचना हास्यास्पद ही लगता है, क्योंकि इस मानसिकता के रहते तो यह हमारे देश की भाषा भी नहीं बन सकती।

किन्तु हिन्दी को विश्वभाषा बनाने की अभिलाषा का औचित्य भी हमें समझ में नहीं आया। यह अभिलाषा दूसरों पर आरोपित होने की है। कोई व्यक्ति दो प्रकार से दूसरों पर प्रभाव स्थापित कर सकता है। एक तो भौतिक बल से दूसरों पर अपनी प्रभुता स्थापित करके और दूसरे इतनी सुदृढ़ता से आत्मप्रतिष्ठ होकर कि दूसरे स्वयं उसकी ओर आकर्षित हों। अब जैसा कि हमने पीछे कहा, कोई भाषा विश्वभाषा बलात् आरोपण से ही बनती है। हाँ, उसमें यदि वाड्.मय उत्कृष्ट हो तो उसके ग्रन्थों का लोग अपनी भाषाओं में अनुवाद करने को स्वयं प्रेरित होते हैं। किन्तु हमारे पास न तो बल है और न वाड्.मय। स्वतन्त्रता के पहले पी. एल. 480 योजना के अन्तर्गत अमरीका के साथ अध्यापकों की एक तथाकथित विनिमय की व्यवस्था बनी थी। तब एक बड़े वरिष्ठ अध्यापक ने बताया कि वे उसके अन्तर्गत अमरीका जा रहे हैं। इस पर मैंने उन्हें कहा कि इसमें विनिमय की बात कहाँ है? यहाँ से अध्यापक सीखने जाते हैं और वहाँ से सिखाने आते हैं। इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं था। यही बात अनुवाद की है। भारतीय लेखक स्वयं अपने ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद करते या करवाते हैं। अंग्रेज तो हमारे ग्रन्थों का अनुवाद नहीं करते। वे केवल हमारे प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद करते हैं। कुछेक बार मुझे भी कहा गया कि मेरे ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद होना चाहिए। मैंने उत्तर दिया, मुझे इसमें कोई रुचि नहीं है। यदि कभी अंग्रेजों को होगी तो वे स्वयं कर लेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय एक 'हिन्दी' नामक पत्रिका अंग्रेजी में प्रकाशित करती है। यह हमारे आत्म–अप्रतिष्ठ होने का द्योतक है। हमें आवश्यकता आत्मप्रतिष्ठ होने की है जो परापेक्षी होने के विपरीत भाव है। विश्व–विजय की अभिलाषा में भी एक प्रकार की परापेक्षा ही है। वह कोई वांछनीय स्थिति नहीं है। सहज स्थिति आत्म–प्रतिष्ठा की है और हमें वही अर्जित करनी चाहिए। हिन्दी को दूसरों पर थोप कर हमें क्या मिलेगा? किन्तु खैर, हमारे पास यह सामर्थ्य कभी आने वाली नहीं है कि हम दूसरों पर अपनी भाषा थोप सकें। इसलिए भाषा द्वारा विश्व–विजय की यह आकांक्षा केवल झूठी दुराशा पालने की बात ही है।

किन्तु एक बात है जो करने की है और हमें करनी चाहिए। वह है विदेशों में रहने वाले भारतीयों को हिन्दी पढ़ने के लिए प्रेरित करना। किन्तु अभी तो हम भारत में ही भारतवासियों को हिन्दी पढ़ने के लिए प्रेरित नहीं कर पा रहे हैं। हिन्दी में साहित्येतर विषयों की उत्कृष्ट पुस्तकों की 500 प्रतियाँ भी बरसों तक नहीं बिकतीं, इसलिए उन्हें कोई प्रकाशक प्रकाशित नहीं करना चाहता। पुस्तकालय भी पहले अंग्रेजी की पुस्तकें ही खरीदते हैं। कम से कम हिन्दी–क्षेत्र में यह स्थिति है। कहते हैं बंगाल, तमिल, आदि में स्थिति उतनी बुरी नहीं है। तो यदि हिन्दी के लिए कुछ करना है तो पहले हिन्दी–भाषियों की मानसिकता बदलें, पीछे अपने शेष देश की।

***

हिन्दी माध्यम से भारतीय दर्शन का विकास *

सूर्यप्रकाश श्रीवास्तव

भारतवर्ष में हिन्दी माध्यम से दार्शनिक चिन्तन का विकासक्रम जानने हेतु दो बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करना समीचीन होगा। प्रथम– भारत में स्वयं दर्शन का क्रमिक विकास एवं द्वितीय – हिन्दी भाषा के विकास का इतिहास।

1 :– पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में दर्शन का तात्पर्य बौद्धिक विकास है जिसके द्वारा मानवमात्र परमसत् से संबंधित अनन्त प्रश्नों का समाधान चाहता है। भारतीय दार्शनिक परम्परा इससे कुछ विलग है। यह परम्परा स्वानुभूति के द्वारा परमसत् को मान्य करती है जो जीवन के व्यावहारिक स्वरूप से अंतः – संबद्ध है यद्यपि विमर्शात्मक एवं व्यावहारिक, कोटिभेद से पौर्वात्य तथा पाश्चात्य परम्पराओं में स्पष्ट विभेद करना आवश्यक नहीं है क्योंकि सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों परस्पराश्रित हैं। दर्शन के कुछ सम्प्रदायों के कठोरतावाद या रूढ़िवाद ने बौद्धिक चिन्तन के धरातल को संकुचित किया है। इसके चलते उसे वृहद् परिप्रेक्ष्य में देखने में कठिनाई महसूस होती है। इसी प्रकार, भारत में दार्शनिक चिन्तन परम्परा को चिन्हित करना आवश्यक है। विशिष्ट समस्याओं से आबद्ध कतिपय दार्शनिक प्रणालियाँ, स्थानीय एवं ऐतिहासिक, विशिष्ट परिस्थितियों में विकसित हुई हैं। इसलिए भारत में दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप स्पष्ट करते समय विश्वव्यापी परिप्रेक्ष्य में उनके विशिष्ट स्वरूप को दृष्टिगत रखना होगा।

2 :– 'हिन्दी' भाषासमूह की भाषा के रूप में पुष्पित–पल्लवित हुई है। अपने विकासक्रम में, इसे सर्वदा अभिजात्य वर्ग की भाषा से संघर्ष करना पड़ा है। समाज के सुसंस्कृत वर्ग एवं सरकारी अधिकारियों द्वारा इसे सर्वदा हेय समझा गया। पहले हिन्दी ने संस्कृत एवं फारसी भाषाओं से लड़ाई लड़ी फिर अंग्रेजी से युद्ध करना पड़ा। गत कुछ दशकों में इसे आदरसूचक संप्रेषणीय भाषा के रूप में स्थान प्राप्त हुआ है। इसके बावजूद भी इसे अंग्रेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं से सामंजस्य बिठाने में मुश्किलों का सामना करना पड़ा है। इस प्रकार हिन्दी भाषा के उत्थान, संघर्ष एवं विकास के सोपानों से होकर हम यहाँ हिन्दी भाषा के माध्यम से दार्शनिक चिन्तन् का सर्वेक्षण करेंगे। यह भी देखने का प्रयास किया जाएगा कि पूर्वकृत संघर्ष एवं पश्चात् प्राप्त समन्वय में कैसे इसने स्थापित भाषाओं एवं दर्शन–परम्पराओं से व्यवस्था बनाई है।

अनु.– ज्योतिस्वरूप दुबे, जबलपुर

3. **उत्थानकाल** – बौद्ध दर्शन के अवसान काल के तांत्रिकों के दोहों एवं चौपाइयों के रूप में हिन्दी भाषा के उत्थान काल का इतिहास उपलब्ध होता है। भाषायी दृष्टि से, तत्कालीन उच्च वर्ग की स्वीकृत भाषा संस्कृत के विपरीत यह भाषा, जनसाधारण की भाषा 'अपभ्रंश' के रूप में अभिव्यक्त, होती थी। बौद्ध भिक्षु एवं साध्वियों के संघ, महायान के शून्यवाद एवं विज्ञानवादी सदृश अतिबौद्धिक विचारधाराओं के विरुद्ध आम लोगों द्वारा गृहीत, इस भाषा को पर्याप्त कष्ट उठाने पड़े।

पारंपरिक रूप में तंत्रसिद्ध आचार्यों की संख्या 84 बताई जाती है। उपलब्ध साहित्य में, दोहाकोश और अन्य विधाओं जैसे छंद और कन्हप, तिलोप और सरहपा के गीत, कन्हय, कुक्कुरिया, भुषुकुपा, लुईया, सवरपा और सरहपा इत्यादि की चौपाईयाँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस विचार संप्रदाय की साहित्यिक शैली प्रतीकात्मक है जिसका लक्ष्य वाममार्गी जीवन–दर्शन है। दक्षिणपंथी नैतिकता जिसमें अनुशासन, नियंत्रण एवं शम, दम पर बल दिया जाता था, इस विचारधारा द्वारा स्वीकार्य नहीं था। आध्यात्मिक पूर्णता, यहाँ तक कि परमानन्द की प्राप्ति भी वासनाओं के प्राकृतिक स्वरूप द्वारा, गुरु के मार्गदर्शन में मुद्रा, खाना, पीना, मौज करना, पुस्तकीय ज्ञान को पाखण्ड समझना, मानववादी सहज धर्म द्वारा आत्म–साक्षात्कार करना इस तंत्र परम्परा के उद्देश्य एवं मूल आधार थे। कुछ विशिष्ट संदर्भों में, इस संत–साहित्य का तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय एवं तार्किक चिन्तन नैतिक, रहस्यात्मक एवं आध्यात्मिक समस्याओं के समाधान में सहयोगी मात्र था।

तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में सहजयानी सिद्ध अवर्णनीय ब्रह्माण्डीय चेतना को परमसत् के रूप में स्वीकार करते हैं, इस सृष्टि को प्रत्ययमात्र मानते हैं एवं भ्रम की आंतरिक एवं बाह्य स्थितियों में स्पष्ट विभेद करते हैं। जगत् की प्रत्ययवादी व्याख्या विज्ञानवादी बौद्धों का अनुसरण करती है। पंचस्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान) का संगठन एवं विघटन इस संसार का हेतु है, जिसे आलय–विज्ञान कहते हैं। चक्षु, कर्ण, जिह्वा, नासिका, त्वचा एवं मानस् छः इंद्रियाँ हैं। उसी प्रकार, देखना, सुनना इत्यादि छः प्रकार के विज्ञान हैं। उपरिवर्णित छः इंद्रियों को इंद्रियायतन कहते हैं जबकि रूप, शब्द, रस, गंध, स्पर्श इत्यादि विषयायतन कहे जाते हैं। ये छः विज्ञान और द्वादशायतन ब्रह्माण्ड के सारभूत अठारह धातुओं का निर्माण करते हैं। पंचमहाभूत, जो भव के हेतु हैं, बाह्येन्द्रियों एवं उनके विषयों से संबद्ध हैं। आकाश शून्य का स्वरूप होने के कारण महत्त्वपूर्ण है। सरहपा सम्प्रदाय के अनुयायी आकाश को महाभूत नहीं मानते क्योंकि वे इसे नैरात्म स्वीकार करते हैं। सर्वोच्च नैतिक आदर्श 'निर्वाण' की व्याख्या करते समय शून्यवादियों ने शून्य का अतिसुन्दर प्रयोग किया है। विज्ञानवादी निर्वाण की सकारात्मक व्याख्या 'तथता' के रूप में करते हैं जो परमतत्त्व के रूप में स्थित है। सिद्धों के दर्शन में निर्वाण स्थित मन (Mind-Settled in Nirvana) 'शून्य' एवं 'तथता' दोनों रूपों में वर्णित है, पर वे उसे 'सहज' नाम से स्वीकारते हैं। इसीलिए उनके सम्प्रदाय को 'सहजयान' कहा जाता है। वे इसका

सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दर्शन में प्रभूत उपयोग करते हैं। सहज तत्त्व, सहज ज्ञान, सहज स्वरूप, सहज सुख, सहज समाधि, सहज काया, सहज पथ, सहज संवर और सहज सुन्दरी प्रभृति शब्दों का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। जब सक्रिय मन या चेतना का संघात (जिसे उपाय, वज्र, कुलिष या मणि भी कहा जाता है) प्रविष्ट होता है और निष्क्रिय मन या संघात–चेतना (जिसे प्रज्ञा, शून्य, कमल या पद्म भी कहते हैं) के साथ समरूप हो जाता है तो 'अद्वय सहज' कहलाता है। सिद्धों ने नर–नारी के रूप में इन दो तत्त्वों को ग्रहण कर अपनी साधना का व्यावहारिक विकास किया है जो कमोबेश तंत्र के समस्त संप्रदायों में द्रष्टव्य है।

3:1. नाथ पंथ का दर्शन – परवर्ती बौद्ध तंत्र में शुद्धता एवं प्राचीनता प्रमाणित करने हेतु इसे वेदानुसारी सिद्ध किया गया और नाथ–सम्प्रदाय की अध्यात्म–साधना को उन्नत किया गया। शैवागम–तंत्र के देशव्यापी उन्नयन में इस सम्प्रदाय का अप्रतिम योगदान है। नाथ सम्प्रदाय के मूल में बौद्ध परम्परा के वज्रयान एवं सहजयान, तथा कौल एवं कापालिक वाममार्गियों का समन्वय है। यद्यपि हिन्दू साधना पद्धति एवं पातंजल हठयोग तथा राजयोग को यह स्वीकार्य नहीं हैं।

नाथ सम्प्रदाय के योगियों की संख्या 09 है जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं विख्यात गोरखनाथ थे, जिन्हें 84 सिद्धों की सूची में 'गोरक्षपा' के रूप में स्थान प्राप्त है। मत्स्येन्द्र नाथ (मीनानाथ या मच्छेन्द्रनाथ के रूप में भी ख्यात) पहले गोरखनाथ के प्रतिद्वंद्वी थे, बाद में गुरु हुए, वामाचारी कौल साधना के प्रधान गुरु थे। इनका प्रभाव क्षेत्र नेपाल था। गोरखनाथ को मत्स्येन्द्रनाथ का वामाचारी प्रभाव समाप्त करने हेतु कठोर श्रम करना पड़ा। आदिनाथ (शिव के अवतार, मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु) को नाथ–सम्प्रदाय का प्रथम गुरु (आदि गुरु) माना जाता है। गोरखनाथ के शिष्यों में गहिनी नाथ, चर्पट नाथ, गौरांगी नाथ (पुरान भगत), ज्वालेन्द्रनाथ, भर्तृनाथ (भर्तृहरि) और गोपीचन्द्र नाथ (ज्वालेन्द्रनाथ के शिष्य) प्रमुख हैं। गोरखनाथ एवं अन्य नाथ आचार्यों के संदर्भ में अनेक दंतकथायें प्रचलित हैं, जैसे उनके शरीर ऐतिहासिक की बजाय पौराणिक अधिक दिखते हैं। गोरखनाथ का व्यक्तित्त्व अत्यन्त प्रभावशाली था। उनके बारे में आधिकारिक ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव में भी भारतीय दर्शन, धर्म एवं तंत्र की चर्चा के क्रम में उनको विस्मृत नहीं किया जा सकता। 'ज्ञानेश्वरी' के रचयिता 'संत ज्ञानेश्वर' के गुरु के रूप में भी उनका नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। राजस्थान में उन्हें गुग्ग, जहरपीर, और बागदवीर नामों से भी जाना जाता है। गोरखनाथ का कार्यक्षेत्र मुख्य रूप से नेपाल और उत्तरप्रदेश के गोरखपुर जिले के आसपास था। विद्वानों में उनके जीवनकाल को लेकर मतभेद है। फिर भी उन्हें 8वीं शती से 13वीं शती के मध्य का माना जाता है।

गोरखनाथ के कुछ कार्य संस्कृत में हैं। 'गोरखवाणी' के रूप में डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल की पुस्तक हिन्दी में प्राप्य है। विद्वानों ने कुछ अन्य ग्रन्थों जैसे, गोरखसार, योगेश्वरसाखी, गोरखनाथ जी के पद, विराट्पुराण, दत्त–गोरख संवाद को भी मान्यता

प्रदान की है। नाथ सम्प्रदाय के कुछ अन्य आचार्यों जैसे मच्छेन्द्रनाथ, गौरांगीनाथ, भरथरी एवं गोपीचंद के छंद एवं दंतकथायें आम जनता में प्रचलित हैं परन्तु उनका हिन्दी में विधिवत क्रमिक विकास अप्राप्य है। 'काफिरबोध' एवं 'अवाली सालुक' नामक दो ग्रंथ गोरखनाथ के शिष्यों के कहे जाते हैं। गोरखनाथ के शिष्यों से जुड़े कई कार्य केवल प्रचारार्थ हैं यद्यपि वे मुस्लिमों से हिन्दुओं के संघर्ष के समय के सामाजिक सरोकारों से संबद्ध हैं। एक दंतकथा के अनुसार, स्वयं गोरखनाथ, मुहम्मद गोरी से संघर्ष करते समय सपरिवार मार डाले गये थे।

नाथ सम्प्रदाय की मुख्य दार्शनिक समस्या तत्त्वमीमांसीय नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक एवं नैतिक अभ्यासों से जुड़ी है। नाथ सम्प्रदाय के सिद्धान्त का आधार शैवागम के शिव–शक्ति एवं बौद्ध तंत्र के शून्य–सहज का समन्वय करना है। नाथ सम्प्रदाय में भी तांत्रिक साधना में गुरु के महत्त्व पर बल दिया गया है। उल्लेखनीय बिन्दु यह है कि गोरखनाथ का सहजमार्ग, सिद्धों की सहज साधना के विपरीत अधिक सरल है। विषयेन्द्रियों से विरक्ति के पश्चात्, योग्य गुरु की प्राप्ति द्वारा षट्चक्रभेदन की प्रक्रिया में योगियों के लिए नाड़ी–शुद्धि, कुण्डलिनी जागरण, प्राणायाम एवं मानस साधना का विधान है। कतिपय रासायनिक उपलब्धियों–जैसे– काया–कल्प द्वारा भी षट्चक्रभेदन संभव है। षट्चक्रभेदन, अजपाजप एवं सुरतिशब्दयोग द्वारा शून्य अवस्था की प्राप्ति की एक विधि या कड़ी है। शून्य–स्थित मनस् शिवशक्ति समन्वय की शुद्धता में विलीन हो जाता है। इस प्रकार असंप्रज्ञात समाधि, जो साधना का लक्ष्य है, परमतत्त्व के सौन्दर्य का दर्शन करता है, कैवल्य की प्राप्ति करता है और मुक्त हो जाता है। इस प्रकार नाथ पंथ में तत्कालीन सामाजिक सरोकारों के साथ समकालीन तांत्रिक साधनाओं एवं दार्शनिक प्रवृत्तियों का हम अद्भुत समन्वय पाते हैं। इसका दक्षिण भारत के शैव सम्प्रदायों से कोई तादात्म्य नहीं दीखता। कठोर संन्यासमार्गी तथा सहिष्णु नाथ सम्प्रदाय के सिद्धान्तों पर बौद्ध तंत्र साधना, जैन धर्म, षड्दर्शनों की सांख्ययोग परम्परा एवं असम से राजस्थान तक विस्तीर्ण योग एवं तंत्र परम्परा का अद्भुत प्रभाव दिखता है।

3:2. जैन श्रमण दर्शन – 8वीं शताब्दी से 14वीं शताब्दी के मध्य जैन मुनियों एवं आचार्यों ने आरम्भिक काल संबंधी अनेक ग्रन्थों का हिन्दी में प्रणयन किया। इनमें से अनेक ग्रन्थ चरित ग्रन्थ हैं जबकि कुछ अन्य ग्रन्थों में व्याकरण, अलंकार इत्यादि का वर्णन है। इन चरित ग्रन्थों में दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का द्वैतियक स्थान है। दर्शन से संबद्ध कतिपय ग्रन्थों को साधना भाग के रूप में मान्यता दी जा सकती है। इस कोटि में गणना किए जाने वाले प्रमुख ग्रन्थ दर्शन–सार, सावय धम्म दोहा और नयचक्र (आचार्य देवसेन), आचार्य पुष्पदंत का महापुराण, मुनिराम सिंह का पाहुद दोहा, श्रीचन्द्रमुनि का पुराणसार, योगचन्द्रमुनि का योगसार एवं आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र इत्यादि हैं। दार्शनिक तत्त्वों को समाविष्ट करने वाले अन्य आत्मकथात्मक काव्यों में कुछ मुख्य–पउमचरिउ (जैन रामायण–पद्मचरित), रित्तनेमि चरिउ (अरिष्ट नेमिचरित्र) और स्वयंभू देव का पंचमी

चरिउ, पुष्पदंत का नयकुमार चरिउ, एवं जसहरा चरिउ (यशोधरा चरित्र), धनपाल का भविष्यदत्तकहा (भविष्यदत्त कथा), नयनादिमुनि का सुदस्सनचरिउ (सुदर्शन चरित्र), आचार्य हेमचंद्र का कुमारपाल चरित्र, हरिभद्रसूरि का नेमिनाथ चरिउ (नेमिनाथ चरित्र), विनय चन्द्र सूरि का मल्लिनाथ महाकाव्य, पार्श्वनाथ चरित्र एवं नेमिनाथ चौपाई, मेरुतुंग की प्रबंधचिंतामणि, एवं राजशेखरसूरि का नेमिनाथ फाग है।

प्राचीन हिन्दी में जैन ग्रन्थों के प्रणयन का मुख्य उद्देश्य जनमानस में धर्म का प्रचार करना था। परिणामतः दार्शनिक दृष्टिकोण से यह साहित्य जनसाधारण की भाषा द्वारा जैन सिद्धान्त एवं नैतिक, आध्यात्मिक साधना का प्रचार–प्रसार करता था। इसके प्रमुख प्रतिपाद्य विषय निम्नलिखित हैं –

3:2:1. जीव एवं अजीव तत्त्व के मध्य अंतर, फलतः बद्ध एवं मुक्त जीवों में विभेद का सम्यक् दर्शन (तत्त्वमीमांसा)।

3:2:2. व्यावहारिक एवं सहिष्णु अनेकान्तवादी एवं वस्तुवादी स्याद्वादी दृष्टिकोण का सम्यक् ज्ञान । (तर्कशास्त्र)

3:2:3. कषायात्मक बन्धों के आस्रव का निरोध करके संवर एवं निर्जरा पथ पर अग्रसर होकर चौदह गुणस्थानों को पार कर केवली की स्थिति प्राप्त करने का सम्यक् चरित्र जिसमें जीव भव एवं कर्म से मुक्त हो जाता है। (आचारशास्त्र)

जैन दर्शन के यही मुख्य बिन्दु हैं जो प्रारंभ से ही हिन्दी भाषा में उपलब्ध हैं। इस काल का जैन–दर्शन बौद्ध एवं शैव तंत्र–दर्शनों के विरुद्ध अधिक संन्यासमार्गी तथा रहस्यवादी प्रवृत्तियों से प्रायः मुक्त है। सिद्धों एवं नाथों की भांति, जैन भिक्षुओं में साधनागत दुरूहताओं को दूर करने एवं व्यावहारिक जीवन में जनसामान्य हेतु ग्राह्य प्रवृत्तियाँ प्रभूत मात्रा में हैं। जातिवाद एवं पारम्परिक कट्टरताओं का निषेध तथा अंतरानुशासन अर्थात् साधना पर बल, हिन्दी के उत्थानकाल की प्रायः समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों की सामान्य विशेषता है। इस काल में दिगम्बर जैनियों ने अपने भाषा– साहित्य के प्रचार–प्रसार के लिए अपभ्रंश हिन्दी को माध्यम चुना तो श्वेताम्बर जैनियों ने इसी कार्य हेतु गुजराती का सहारा लिया।

4. संघर्षकाल – 14वीं शताब्दी तक हिन्दी भाषा ने अन्य भाषाओं के साथ समानता प्राप्त कर ली एवं सभ्य समाज द्वारा स्वीकार्य हो गई। लगभग पाँच शताब्दियों तक हिन्दी भाषा का अन्य भाषाओं के साथ संघर्ष एवं क्रिया–प्रतिक्रिया के विकास–क्रम को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है – प्रारंभिक काल एवं उत्तरकाल

4:1 – प्रारंभिक काल – भारत में मुस्लिम–काल के दौरान फारसी भाषा को राजभाषा के रूप में मान्यता मिली जबकि संस्कृत एवं अरबी, विद्वता हेतु शास्त्रीय भाषाओं के रूप में मान्य हुई। परन्तु प्रारंभिक काल में इन भाषाओं के माध्यम से भाष्य एवं वार्त्तिक के रूप में दर्शन का विमर्शात्मक स्वरूप विकसित हुआ, न कि मौलिक–चिन्तन। वस्तुतः बौद्ध धर्म के उत्थान के शतकों में वैदिक दर्शन पर लगभग संपूर्ण भारत में जोर दिया गया

और उपनिषद्, गीता और यहाँ तक कि ब्रह्मसूत्र पर अद्‌भुत भाष्य रचे गये जो दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ थे। ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति और उनका परस्पर संबंध चिन्तन के प्रमुख बिन्दु थे। द्वैत–अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा शुद्धाद्वैत मतों का विकास हुआ। निर्गुण ब्रह्मवाद एवं सूफीवाद रूपी इस्लामी प्रभाव वाली साधना पद्धति ने भी तत्कालीन भारतीय संस्कृति पर प्रभाव डाला। इस्लाम में भी, हजरत मोहम्मद के वचनों को अंतिम सत्य मान लिया गया तथा अंतिम पैगम्बर एवं उनके सिद्धान्तों को स्वीकार करने पर जोर दिया गया। प्राचीन वैष्णवधर्म भी इस्लाम की प्रतिक्रिया में विकसित हुआ। इस सम्प्रदाय में, सैद्धान्तिक रूप से बौद्ध एवं शैव–तन्त्रों तथा वेदान्त की तार्किक कठोरता के विरुद्ध उन्नत एवं समृद्ध भागवत्–धर्म को सत्य रूप में स्वीकार किया। यह व्यावहारिक स्तर पर, विदेशी इस्लाम द्वारा प्रताड़ित एवं पराजित, जनसाधारण की मूल संस्कृति को अक्षुण्ण रखने का सार्थक प्रयास था। सांस्कृतिक सम्प्रदाय एवं दार्शनिक प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में, तत्कालीन हिन्दी भाषा द्वारा, प्रायः समानान्तर, दो दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ जिसे 'संत–दर्शन' एवं 'शिष्य दर्शन' कहा जाता है इसे ही 'निर्गुण साधना' एवं 'सगुण साधना' नाम से भी अभिहित किया जाता है।

4:2 संत–दर्शन – यह सम्प्रदाय परमतत्त्व की निर्गुण साधना पर जोर देता है। इसके विकासक्रम पर प्रथमतः प्रच्छन्न बौद्ध एवं वेदान्त की निर्गुण शाखा के समर्थक शंकराचार्य का स्पष्ट प्रभाव दीखता है, तो दूसरी ओर इस्लामी एकदेववाद का भी प्रभाव है। सगुण विचारधारा वैष्णव मत से प्रभावित थी जिसने सर्वोच्च सत्य को स्वरूप एवं गुणों से अभिहित किया था। परन्तु इन दोनों ही सम्प्रदायों में अंतिम लक्ष्य की अनुभूति के संदर्भ में प्रायः कोई मत वैभिन्य नहीं था। ये दोनों ही सम्प्रदाय ईश्वरानुभूति के लिए भक्ति को सर्वोच्च साधन मानते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे इस्लाम में सूफियों को स्वीकार्य है। सूफी साहित्य प्रायः अरबी एवं फारसी में विकसित हुआ, बाद में उर्दू में भी। निर्गुण संतों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय धर्म एवं इससे संबंधित सामाजिक सुधार थे। दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में संत कबीर एवं गुरुनानक का महत्त्वपूर्ण अवदान है। उसमें से भी सिखों के पंचम गुरु, गुरु अर्जुन देव ने सिखों के पवित्र ग्रंथ 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में प्रमुख संतों की वाणी का संकलन किया। इसमें कबीर और गुरु नानक की वाणी के अलावा संत मत के अनेक सम्प्रदायों के संस्थापकों, समर्थकों की वाणियाँ भी संग्रहीत हैं। 'नाभा दास' के भक्ति माल में निर्गुण एवं सगुण परम्पराओं के अनेक साधुओं का उल्लेख है। कुछ अन्य 'सन्तों की वाणियाँ' ग्रन्थ भी अभी उपलब्ध हैं। जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, परमानन्द, सदन, बेनी, रामानन्द इत्यादि ने संत–परम्परा द्वारा हिन्दी में भी निर्गुण–धारा के प्रेरक रूप में भूमिका का निर्वाह किया। श्री रामानुजाचार्य की शिष्य–परम्परा में चौथे स्थान पर कबीर के गुरु रामानंद हैं जिन्होंने हिन्दी में सूत्र–भाष्य लिखा। कबीर के अलावा रामानंद के अनेक शिष्य हैं जैसे– धन, पीपा सेन, रैदास इत्यादि। कबीर के प्रमुख शिष्य धर्मदास हैं। दादूदयाल भी कबीर की ही शिष्य–परम्परा के हैं पर उन्होंने अलग मत स्थापित कर लिया। अपना स्वतंत्र मत स्थापित

करने वाले अन्य प्रमुख निर्गुण संत गुरु नानक, मलूक दास, वीरभान, लालदास, हरिदास, प्राणनाथ, दरियासाहेब (बिहार), दरिया साहेब (मारवाड़) दूलनदास, चरणदास, भीखा साहेब, गरीब दास, रामचरण, पालतूदास, सहजानंद, तुलसी साहेब (हाथरस) स्वामी नारायण एवं जगजीवन दास हैं। अपना स्वतंत्र सम्प्रदाय स्थापित न करने वाले कुछ अन्य प्रमुख संत भी उल्लेखनीय हैं– जैसे– शेख–फरीद, उनके उत्तरवर्ती शेख–इब्राहीम (फरीद सानी–द्वितीय), मलूकदास के शिष्य सुधरदास, रज्जब, सुन्दरदास, बुल्ला साहेब, एवं उनके शिष्य गुलाब साहेब, उनके शिष्य भीखा साहेब जिन्होंने भीखा पंथ स्थापित किया। इसके अतिरिक्त चरणदास के शिष्य रामरूप, बालकृष्ण नायक, दयाबाई एवं सहजोबाई, इत्यादि भी उल्लेखनीय हैं तथा कुछ ऐसे नाम भी हैं जिन्होंने स्वतंत्र इयत्ता रखी जैसे– धरणीदास, अक्षर अनन्य एवं गाजीदास इत्यादि।

सिद्धों एवं नाथों की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए निर्गुण संतों का दर्शन नैरन्तर्य दर्शाता है।

वेदान्त दर्शन का पुनरुद्धार एवं सूफी–साहित्य–दर्शन का प्रभाव, विदेशी इस्लाम धर्म के काल में भी, हिन्दी सन्तों पर स्पष्ट द्रष्टव्य है। निर्गुण सन्तों के दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिनिधि कबीर हैं। अन्य संतों की वाणियों का संग्रह भी उनकी पुनरावृत्ति मात्र लगता है। कबीर के नाम से संबद्ध लगभग 60 संग्रह हैं जिनमें दार्शनिक स्थापना की दृष्टि से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं– अनुरागसागर, अमरमूल, उग्रगीता, कबीर वाणी, साखी, बीजक, रेखता, विचारमाला, विवेक सागर, ज्ञानसागर, इत्यादि। कुछ अन्य प्रमुख सन्तों के पदों एवं वाणियों से संबंधित अन्य संग्रह निम्नलिखित हैं– धर्मदास का सुखनिधान; मलूकदास का ज्ञानबोध; धरणिदास का प्रेमप्रकाश एवं सत्यप्रकाश, सुन्दरदास का ज्ञान समुद्र एवं सुन्दर विलास; दरियासाहेब (बिहार) का दरियासागर एवं ज्ञानदीपक; चरणदास का अमरलोक, ज्ञान सरोदय एवं शबद; अक्षर अनन्य का राजयोग, विज्ञान योग, ध्यानयोग, सिद्धान्तबोध, विवेक दीपिका, ब्रह्मज्ञान एवं अनन्य प्रकाश; देशवादास का अभिघुंटा, जगजीवन दास का ज्ञानप्रकाश, महाप्रलाप एवं प्रथम ग्रन्थ निश्चलदास का विचारसागर, दयाबाई का दयाबोध; तुलसीसाहेब (हाथरस) का घट रामायण, शब्दावली एवं रत्नसागर इत्यादि।

कबीर एवं इस परम्परा के अन्य संत परमतत्त्व को निर्गुण–निराकार एवं एक मानते हैं। परमतत्त्व का साक्षात्कार ही मानव–जीवन का परम–पुरुषार्थ है। तर्क एवं भाषा के स्तर पर इसका स्वरूप निषेधात्मक है। इसीलिए परमतत्त्व का निर्वचन एवं इसकी अनुभूति की प्रक्रिया–निर्धारण में अनेक संत सामान्य रूप से तथा कबीर विशिष्ट रूप से व्याघाती कथनों का उलटबांसियों के रूप में प्रभूत प्रयोग करते हैं। परमतत्त्व की अनुभूति को यौगिक प्रक्रिया के रूप में व्यवहृत किया गया है जैसा सिद्ध–नाथ परम्परा में है। इस प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कबीर एवं अन्य निर्गुण सन्त रहस्यात्मक प्रतीकों से समृद्ध भाषा का उपयोग करते हैं। कट्टरवाद का एक रूप दण्डात्मक–शुचिता हिन्दुओं एवं मुसलमानों में

परमसत्ता की अनुभूति का एक माध्यम था एवं निर्गुण संत–परम्परा की प्रमुख विशेषता है। अनुभूति की प्रक्रिया में भक्ति–साधना के व्यवहार पर अधिक बल दिया जाता है। निर्गुण सन्त–परम्परा का यह दर्शन भागवत वैष्णव दर्शन एवं सूफी परम्परा के प्रभावस्वरूप पुष्पित–पल्लवित हुआ, बजाय सिद्ध नाथ–परम्परा के दर्शन के। परमतत्त्व के अद्वैत–दर्शन हेतु एकनिष्ठ होकर गुरु की कृपा पर अधिक बल दिया गया है। गुरु को परमात्मतत्त्व से भी उच्च स्थान प्राप्त है, बशर्ते गुरु ने परमतत्त्व के साथ स्वयं को एकाकार कर लिया हो। भारतीय दर्शन की समस्त व्यावहारिक परम्पराओं में गुरु का यह सार्वभौम रूप प्राप्तव्य है। विद्वत्ता एवं पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा स्वानुभूति द्वारा परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार भी इस परम्परा का वैशिष्ट्य है। योग्य गुरु, जिसने स्वयं अनुभव किया हो, की सहायता से साक्षात् अनुभूति अपेक्षाकृत सरल है। सामूहिक प्रार्थना, कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद के स्थान पर निर्गुण संतों ने हृदय की शुचिता एवं शुद्धता द्वारा मस्तिष्क की जागृति एवं ग्राह्यता पर जोर दिया है।

कबीर निर्गुण संतों के दर्शन के पूर्ण प्रतिनिधि हैं। पर इस धारा के अंतर्गत सिख गुरुओं का उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा। कबीर, दादू एवं अन्य निर्गुण संतों की भाँति गुरु नानक भी मानव जीवन का परमलक्ष्य निर्गुण, निराकार की अनुभूति मानते हैं। अनुभूति के मार्ग में सत्य स्वरूप परमात्मा के रूप में सर्वोच्च सत् के हुकुम का पालन वे आवश्यक मानते हैं। प्रपत्ति–भावना का यह तत्त्व नानक की विशेषता है जो सगुण भक्तों के दर्शन से निःसृत है। मूर्तिपूजा, अवतारवाद, गुरु का स्थान, ईश्वरभजन, इत्यादि विशेषताओं को देखकर उनका रुझान सगुण भक्ति की तरफ दिखता है। गुरु नानक के पश्चात् नौ अन्य गुरु हैं जिनमें चतुर्थ गुरु अर्जुन देव एवं अंतिम दो गुरु तेगबहादुर एवं गुरु गोविन्द सिंह विख्यात हैं। परन्तु दार्शनिक परम्परा के अवदान के लिए केवल गुरु गोविन्द सिंह को श्रेय दिया जाता है, अन्य सभी, सिख सम्प्रदाय के संगठन एवं प्रचार–प्रसार के लिए जाने जाते हैं। सिखों का प्रमुख धर्मग्रन्थ 'गुरु ग्रन्थ साहिब' निर्गुण संतों की वाणियों, उपदेशों का अपूर्व संकलन है जिसे गुरु अर्जुन देव ने संग्रहीत किया।

4:3 भक्त–दर्शन – निर्गुण साधना का भक्ति–दर्शन जिसमें गुणरहित, आकाररहित एवं अतिवैयक्तिक ईश्वर के व्यवहार पर बल दिया गया था, के समानान्तर वैष्णवों का दर्शन विकसित हुआ जिसमें आकार एवं गुणयुक्त वैयक्तिक ईश्वर की वकालत की गई। यह आन्दोलन भी विष्णु के संरक्षक रूप में वैष्णव भक्ति की देशव्यापी परम्परा का अंश था। ऐसा प्रतीत होता है कि आक्रान्ता, विदेशी मुस्लिमों की निर्गुण निराकार भावना के विरुद्ध बुतपरस्ती की यह व्यापक प्रतिक्रिया थी। इस राष्ट्रव्यापी आन्दोलन का मुख्य अवदान, सम्पूर्ण सृष्टि के पालनहार भगवान विष्णु के अनेक रूपों में समर्पण के साथ विदेशी मुस्लिम आक्रान्ताओं से निजात पाना था। शैव–साधना के रहस्यवाद एवं निर्गुण सन्त परम्परा की कठिन जीवन–शैली के बजाय वैष्णव भक्तिधारा असहायों, दुःखियों की आवाज बन गई। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन एवं संस्कृति में ऐसी भावना अभी तक अप्राप्य थी। इसलिए इसे

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा पर अत्याचार के विरुद्ध देशव्यापी प्रतिक्रिया समझा जा सकता है। हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृतियों द्वारा वैष्णव एवं सूफी स्वदेशी सांस्कृतिक परम्परा पर प्रभाव से भी इनकार नहीं किया जा सकता। इन दोनों सांस्कृतिक परम्पराओं में समन्वय स्थापित करने के प्रयास लगातार होते रहे। इसके ज्वलंत प्रमाण सम्राट अकबर द्वारा प्रवर्तित दीन–ए–इलाही एवं दारा शिकोह द्वारा लिखित ग्रन्थ 'मजमा–उल–बहरीन (समुद्र संगम) हैं।

हिन्दी माध्यम से भारतव्यापी वैष्णव आन्दोलन का दो प्रमुख धाराओं में विकास हुआ – रामभक्तिधारा एवं कृष्णभक्तिधारा। प्रथम धारा में लगभग 50 लेखकों द्वारा रचित रामभक्तिधारा है जिसमें राम का जीवन एवं उनकी लीलाओं का वर्णन है। दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना के दृष्टिकोण से भगवत् दास का 'भेद भास्कर', तुलसीदास की 'विनय–पत्रिका' एवं 'रामचरितमानस', रीवा नरेश विश्वनाथ सिंह द्वारा 'कबीर–बीजक' की टीका, दुर्गेश का 'द्वैताद्वैतवाद' और बाणदास का 'आत्मबोध' विशेष उल्लेखनीय हैं। इन कृतियों में वैयक्तिक ईश्वर की उपासना एवं विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की गई है। इस श्रेणी के संतों में दर्शन के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान तुलसीदास का है जिनके द्वारा रचित 20 ग्रन्थों में से लगभग एक दर्जन हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

दार्शनिक सिद्धान्तों के संदर्भ में तत्त्वमीमांसीय एवं धार्मिक कर्मकाण्ड संबंधी विवादास्पद विषयों में समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के कारण तुलसीदास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परमतत्त्व के स्वरूप में विश्वास करते हुए वे विश्व में ईश्वर के वास्तविक अवतार को स्वीकार करते हैं और वैयक्तिक अतिमानवीय ईश्वर में विश्वास करने के साथ ही आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मवाद में भी उनकी आस्था है। परन्तु ब्रह्म–जीव संबंध की व्याख्या करते समय अध्यात्म, भक्ति एवं समर्पण द्वारा परमतत्त्व की प्राप्ति इत्यादि के संबंध में तुलसीदास का रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद की ओर झुकाव दिखाई देता है। उनका माया एवं आत्मा का अज्ञानाबद्ध होना शंकर से सामीप्य दर्शाता है। इस प्रकार यद्यपि उनका कोई मौलिक दर्शन नहीं है फिर भी वेदान्त दर्शन को जनसामान्य तक पहुँचाने के कारण हिन्दी भाषी क्षेत्रों में उनका अप्रतिम स्थान है। तुलसीदास का अन्य वैशिष्ट्य ज्ञान, भक्ति तथा कर्म में संश्लेषण, निर्गुण एवं सगुण पूजा पद्धति, तथा वैष्णव एवं शैव दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित करना है। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' इतना प्रचलित हुआ कि इसे भारतीय धर्म–दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ मान लिया गया।

वैष्णववाद के श्री वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य एवं चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से विकसित कृष्णमार्गी भक्ति–परम्परा में कामभावना का भी थोड़ा पुट था। श्री वल्लभाचार्य ने विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत–वेदान्त के आधार पर पुष्टि–मार्ग का प्रवर्तन किया। वल्लभ के पुत्र विट्ठलदास, पौत्र गोकुलदास और 'अष्टछापसम्प्रदाय' से प्रचलित उनके आठ शिष्यों ने इस भक्तिधारा का प्रचार किया। रामभक्ति में जहाँ दुःखी, आर्त्त, असहाय होकर समर्पण

का भाव था, वहाँ कृष्णभक्ति में दैवी भक्ति हेतु सांसारिक प्रेम का माध्यम चुना गया। इस सम्प्रदाय द्वारा हिन्दी भाषा एवं साहित्य के माध्यम से उत्कृष्ट संन्यास एवं प्रभावी निष्पादन अन्य भाषायी परम्पराओं के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकता है। भक्ति सम्प्रदाय वस्तुतः निर्गुण संतों की कठोर संन्यासवादी परम्परा एवं रीतिकालीन परम्परा का समन्वय है, जिसमें ऐन्द्रिक सुख का प्राधान्य रामभक्ति में आकर संन्यासवाद में परिणत हो जाता है और कृष्णभक्ति तक आते–आते इसका विस्तार पुनः रीति परम्परा का रूप ले लेता है। दार्शनिक पद्धति के रूप में, भक्ति सम्प्रदाय महत्त्वपूर्ण इसलिए हो जाता है क्योंकि हृदय की पवित्रता द्वारा आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है और सूफी रहस्यवाद के परमतत्त्व के प्रेमरस में रंगा जा सकता है।

कृष्णभक्ति से संबंधित हिन्दी में लगभग 50 रचनाएँ हैं जिनमें कुछ महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित हैं–

विद्यापति की पदावली, सूरदास का सूरसागर, नंददास का भंवरगीता एवं रास–पंचाध्यायी, मीराबाई का सोरठा एवं विभिन्न पद, हित हरिवंश का हित चौरासी, नरोत्तमदास का सुदामाचरित, रसखान की प्रेमवाटिका एवं सुजान रसखान। इनके अलावा कृष्णदास, परमानन्द, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, सूरदास, मदनमोहन, स्वामी हरिदास, श्रीभट्ट, व्यासजी, बालभद्रमिश्र, मुबारक अहमद, ध्रुवदास, और सुखदेव मिश्र भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। गद्य–साहित्य में विट्ठलदास की 'श्रृंगाररस मंडल' तथा 'नवरत्न सतिका' भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी गोकुलदास की 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता'। दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना के रूप में हिन्दी साहित्य में सूरदास एवं मीराबाई की गणना महत्त्वपूर्ण है। वल्लभ–सम्प्रदाय में कृष्ण को वैयक्तिक ईश्वर माना गया और साख्यभाव पर जोर दिया गया। चैतन्य सम्प्रदाय एवं हितहरिवंश की 'राधावल्लभी' सम्प्रदाय में राधा का विशेष स्थान है। सम्पूर्ण कृष्णभक्ति परम्परा का वस्तुतः एक दार्शनिक दृष्टिकोण है। अन्य परम्पराओं की तुलना में यह धारा कोई विशेष अमूर्त दार्शनिक पद्धति की स्थापना नहीं करती। यह धारा बौद्धिक दार्शनिकता एवं अतीन्द्रिय आध्यात्मिकता के द्वारा वास्तविक सामीप्य के अनुभव पर जोर देती है। इस सम्प्रदाय ने ऐसे दर्शन का बीजारोपण किया जो बौद्धिकता के बजाय संवेदना को महत्त्व देता था, जिसके बीज भारतीय परम्परा के भागवत धर्म में उपलब्ध हैं। कालान्तर में यही अरब एवं फारस में सूफी परम्परा के रूप में पुष्पित–पल्लवित हुआ।

पुष्टिमार्ग में कृष्ण का सर्वोच्च व्यक्तित्त्व 'सत् चित् आनंद' के रूप में व्यक्त हुआ है जिसकी कृपा से बंधनयुक्त आत्मा को मोक्ष प्राप्त होता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी गोपियों को आदर्श मानते हैं और मानव जीवन का चरम एवं अंतिम लक्ष्य कृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण तथा उसके साथ तदाकारता को मानते हैं। सूरदास एवं वल्लभ सम्प्रदाय के कुछ अन्य सन्त निर्विशेष ब्रह्म का विरोध करते हुए पुष्टिमार्ग को कलात्मक अभिव्यक्ति देते हुए इसका प्रचार–प्रसार करते हैं। मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य एवं चैतन्य महाप्रभु तथा

जीवगोस्वामी के विशिष्टि प्रभाव तथा हरिवंश, स्वामी हरिदास, श्रीभट्ट तथा गंधारभट्ट जैसे कम प्रभावशाली भी समर्पण भावना को महत्त्व देते हैं तथा अल्प परिवर्तन के साथ पूजा की विषयवस्तु राधा को मानते हैं। मीराबाई स्वयं किसी सम्प्रदायविशेष से संलग्न नहीं रही। परन्तु सम्पूर्ण समर्पण एवं दैवीतत्त्व की प्रधानता के कारण इन भक्तों में राधारानी का विशिष्ट स्थान है। कतिपय विद्वानों के अनुसार, मीराबाई भी समकालीन सूफीवाद के प्रभाव में आ गई थी।

सूफी सम्प्रदाय परमतत्त्व की अभिव्यक्ति निर्गुण रूप में करता है और प्रेम को परमतत्त्व की प्राप्ति का साधन बताता है। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि भक्ति सम्प्रदाय के समस्त अनुयायी, चाहे वे निर्गुण हों या सगुण, किसी न किसी रूप में सूफी दर्शन एवं व्यवहार से प्रभावित हैं। बहरहाल, सूफी प्रभाव वाले इस हिन्दी साहित्य के विकासक्रम में प्रेम के लोकगीत, जो संकेतों एवं प्रतिमानों से परिपूर्ण हैं, समाहित हैं। यहाँ हम इस परम्परा के कतिपय प्रतिनिधि ग्रन्थों का उल्लेख करना चाहेंगे यथा—कुतुबन की मृगावती, मंझन की मधुमालती, मलिक मोहम्मद जायसी का पद्मावत, उस्मान की चित्रावली, शेख नबी का ज्ञानदीप, कासिम शाह का हंस जवाहिर, नूर मोहम्मद का इन्द्रावती एवं अनुरागबंसरी। इनमें जायसी के पद्मावत का विशिष्ट एवं प्रसिद्ध स्थान है। उनकी दो अन्य रचनाएँ 'अखरावट' एवं 'आखिरी कलाम' ईश्वर, आनुभविक आत्मा, सृष्टि एवं ईश्वरप्रेम संबंधी सूफीवादी विचारधारा का वर्णन करती हैं। वे अपनी अभिव्यक्ति कहानी के रूप में नहीं करते हैं। इस सम्प्रदाय के लेखक या तो इस्लामी सूफी सन्त थे या उनके अनुयायी। इनका मुख्य उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति में प्रेम के स्थान को प्रचलित कहानियों द्वारा कलात्मक रूप में प्रस्तुत करना था।

इस संदर्भ में दक्षिण (Deccan) में हिन्दी माध्यम से सूफी विचारों के प्रचार का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। हिन्दी का यह स्वरूप दिल्ली के आसपास की कौरवी हिन्दी एवं फारस की हिन्दी का मिश्रण था। महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश एवं मैसूर के सैनिक अधिकारियों एवं प्रशासकों द्वारा यह भाषा प्रचलन में आई। इसके विकास का प्रमुख केन्द्र हैदराबाद था। सूफी विचारों का गद्य एवं पद्य रचनाओं द्वारा उपदेश दिया जाने लगा। वे भी लोक कहानियों का सहारा लेते थे। इस संदर्भ में कुछ रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं—ख्वाजा बन्दा नवाज गेसूदराज का 'चक्कीनामा', 'मेराजनामा' और शहयारे शाह मिराज का खुशनामा, खुशनबाज, शहादत–उल–हकीकत, एवं 'सबरस', बुरहानुद्दीन जानम का सुख–सुहेला, और इरशदनामा, शहाली का 'जवाहर–उल–इसरारे–अल्ला', वजाही का 'सबरस' और 'कुतुब–मुस्तरी', आमिन का 'बहराम' और 'हुस्न बानो', गोवासी का 'सैफुमुल्लोक' एवं 'बड़ी उजमल', मुकीमी का 'तूतीनामा', 'चन्द्रबदन' और 'महियार', कुतुबी का 'पुस्तक तुन्नस्सयाह', मिराजी खुदानामा का 'चक्कीनामा उरफान' एवं 'वजूदिया', तबाई का 'बहरामो गुलन्दम', मो. अमीन का 'यूसुफ–जुलेखा', वज्दी का 'तोहफाए आशिका' एवं 'पंछीनामा'। इनका आकर्षक तत्त्व वे प्रेमकथाएँ हैं जो सूफीमत को प्रत्यक्षतः या आंतरिक

रूप में परिभाषित करती हैं। सूफी साहित्य की इस परम्परा का काल 14वीं शती के मध्य से 18वीं शती के अंत तक है। ऐतिहासिक रूप से हिन्दी एवं उर्दू के लिए दक्कनी हिन्दी महत्त्वपूर्ण है।

5: उत्तर–संघर्ष काल – सूफी सिद्धान्तों एवं कृष्णभक्ति का विकास करने वाली प्रचलित प्रेमकथाओं के पश्चात् हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ जिसे 'रीतिकाल' कहते हैं। रचनाओं एवं कलात्मक वैभव की दृष्टि से यह काल पर्याप्त समृद्ध रहा है। परन्तु सत्रहवीं शती की समाप्ति से लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक का यह कालखण्ड सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास में दार्शनिक विचार एवं विकास की दृष्टि से प्रायः कमजोर है। इनकी पृष्ठभूमि सूफीवाद एवं कृष्णभक्ति की परम्परा में पहले ही तैयार हो गई थी। दूसरी तरफ, कुछ ऐसे लेखक भी थे जो विदेशी धर्म–संस्कृति तथा शासकों के विरुद्ध हिन्दू प्रतिक्रिया की आवाज मुखर कर रहे थे। ऐसी परिस्थितियों में एक भोगवादी दर्शन–संस्कृति ने अपना स्थान बनाया। परन्तु इस प्रवृत्ति का भारतीय दार्शनिक परम्परा द्वारा सर्वथा विरोध होता रहा। दूसरी ओर, ऐसी परिस्थितियों ने अपने वर्ग एवं संस्कृति को अपने–अपने प्रतीकों, बिम्बों के माध्यम से सतत् चिन्तन का अवसर दिया। परन्तु इस प्रकार के दर्शन को कभी गंभीर रूप में मान्यता नहीं मिली।

इस अंध–युग में भी संक्रमण काल का एक प्रभाव दिखता है जिसके फलस्वरूप पारंपरिक चिन्तन पद्धति क्रमशः समाप्त हुई और उसका स्थान क्रमिक रूप से प्रवहमान नवीन विचारधाराओं ने लिया जिसने कालान्तर में स्पष्ट रूप धारण किया। भारत में अठारहवीं शताब्दी और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में राजनैतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में तेजी से यूरोपीय प्रभुत्व स्थापित हुआ। अतः यह स्वाभाविक था कि देश के क्रियाकलापों एवं चिन्तन की यह शैली अंग्रेजी प्रभुत्व के साथ स्पष्ट हुई और लगभग सौ वर्षों तक फलती–फूलती रही।

यूरोपीय प्रभुत्व के इस चिन्तन–काल में भारतीय दार्शनिक विचार अपेक्षाकृत स्पष्ट हुए और उनकी बौद्धिक सर्जना पर जोर दिया गया। फलस्वरूप, ध्यान–योग एवं रहस्यवादी अनुभव वाले राष्ट्रों को गंभीर दर्शन–चिन्तन के क्षेत्र में अतिकालिक (obsolete) करार दिया गया। भारतीय दर्शन एवं संस्कृति की निन्दा करना तथा उसे सारहीन एवं अनुपयोगी बताना इस काल का फैशन सा हो गया। पाश्चात्य विचारों के आदर्श तथा पद्धतियाँ भारतीय लोगों को मुक्तिमार्ग के रूप में बताई जाने लगीं। इन परिस्थितियों में तीन प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों का उदय हुआ।

5:1. स्वदेशी आन्दोलन – ब्रिटिश साम्राज्यवाद की सम्पूर्ण शक्ति के प्रभाव से भारतीय संस्कृति के विविध आयामों को निन्दित–कलंकित करने के विरुद्ध राष्ट्रभक्त विद्वानों ने कठोर संघर्ष किया। उनके आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य भारतीय धर्म तथा दर्शन की अस्मिता को बचाए रखना था। इन आन्दोलनों ने यह प्रचारित करने का प्रयास किया कि भारत के प्राचीन दर्शन एवं धर्म तार्किक रूप से कितने समरूप तथा बौद्धिकरूप से कितने

प्रखर थे। परन्तु दार्शनिक तर्कणाओं में यूरोपीय पद्धति की स्वीकार्यता से यह आन्दोलन लम्बे समय तक नहीं चल सका। इस आन्दोलन के दार्शनिकों में आर्य–समाज, विवेकानंद एवं तिलक इत्यादि का नाम प्रमुख है।

5:2. समन्वय एवं संश्लेषण–परक आन्दोलन – भारतीय एवं पाश्चात्य विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् कुछ चिन्तकों ने माना कि इन दोनों के समन्वय से इनकार नहीं किया जा सकता। इसका कारण केवल यह था कि एक नवीन एवं संश्लेषणात्मक विचार–पद्धति का प्रयोग किया जा सके। थियोसॉफिकल आन्दोलन, महात्मा गाँधी के कार्य तथा अरविन्द घोष का नाम इसमें लिया जा सकता है।

5:3. पश्चिमोन्मुखी समाज–सुधारक – भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृति और चिन्तन परम्परा के तुलनात्मक अध्ययन के परिणामस्वरूप कुछ चिन्तकों को लगा कि पाश्चात्य मान्यताओं का विलयन करके ही भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रखा जा सकता है। ऐसा सोचना केवल संभव ही नहीं बल्कि आवश्यक भी था। भारत के दार्शनिक विकास में ऐसे प्रयास ब्रह्म समाज, मानवेन्द्रनाथ राय एवं राहुल सांकृत्यायन द्वारा किए गए।

इन विभिन्न प्रवृत्तियों को परस्पर विरोधी कहना उचित नहीं होगा। यह संभव है कि एक ही काल में विभिन्न स्थानों पर समान चिन्तन विद्यमान हो। यहाँ यह उल्लेखनीय है, कि इन प्रवृत्तियों के विचारकों के अनुभव एवं प्रस्तुतियाँ किसी मूल्यांकन की अपेक्षा नहीं रखते। प्रायः सभी पद्धतियों ने गंभीर दार्शनिक चिन्तन के स्रोत का स्वरूप लिया है।

इस संघर्षोत्तर काल में –ब्रिटिश साम्राज्य के प्रारंभ में हिन्दी को अंग्रेजी और यहाँ तक कि उर्दू के साथ भी प्रतियोगिता करनी पड़ी। तत्कालीन समाज में गंभीर एवं सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक चिन्तन की भाषा अंग्रेजी थी जबकि उर्दू न्यायालय की भाषा बनी रही। ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के अनुसार हिन्दी को स्थापित परम्पराओं के विरुद्ध एक प्रकार की बगावत करनी पड़ी। दर्शन के अध्ययन का स्पष्ट माध्यम अंग्रेजी बन गई। दर्शन के लेखकों ने अंग्रेजी भाषा में लिखना पसन्द किया। भारतीय एवं विदेशी विद्वानों ने संस्कृत एवं पालि के ग्रन्थों को अमूल्य निधि माना। कुछ ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद भी हुआ परन्तु तत्कालीन भारत में दार्शनिकता के विकास में कोई विशिष्ट योगदान नहीं है। यहाँ स्वतंत्र रूप से विकसित हिन्दी में दार्शनिक चिन्तन पर प्रकाश डालना उचित होगा। कतिपय हिन्दी लेखकों ने भी अंग्रेजी भाषा में लेखन कार्य किया। हिन्दी भाषा में दार्शनिक विकास की दृष्टि से ऐसे कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अतः निम्नलिखित सम्प्रदायों एवं व्यक्तियों के दार्शनिक प्रयासों का उल्लेख किया जाना समीचीन होगा।

5:3:1 आर्य समाज – इस संस्था के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अंग्रेजी के विरुद्ध हिन्दी भाषा के पुनरुज्जीवन का दृढ़ एवं सशक्त प्रयास किया। उन्होंने भारतीय वैदिक संस्कृति एवं सभ्यता के माध्यम से स्वाभिमान कायम रखने हेतु इस्लामी एवं यूरोपीय संस्कृतियों के प्रभाव के विरुद्ध भी मुखरता दिखाई। उन्होंने धार्मिक मान्यताओं को बौद्धिक धरातल पर स्थापित कर प्राचीन वैदिक संस्कृति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की। पश्चातवर्ती

आर्यसमाजी लेखकों ने भी भारतीय संस्कृति की मूल मान्यताओं के बौद्धिक प्रचार–प्रसार में यह परम्परा कायम रखी। स्वामी दयानन्द ने जीवन का वैदिक आधार यज्ञकर्मों को माना। परमसत्ता के स्वरूप की संतोषजनक व्याख्या करते हुए ईश्वर, जीव एवं जगत् नामक तीन स्वतंत्र सत्ता की स्थापना की और 'त्रिक' की मान्यता दी। वैदिक संहिताओं की नैतिक–धार्मिक महत्त्व की व्याख्याएँ सिरे से खारिज कर दी गईं और वेदों की सायणाचार्य द्वारा बहुदेववादी व्याख्या, रूढ़िवादी मीमांसकों की कर्मकाण्डीय व्याख्या मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों की प्रकृति पूजा विषयक सिद्धान्त की स्थापना हुई। संक्षेप में, आर्य समाज ने तीन बातों पर जोर दिया जैसे – अद्वैतवाद की बौद्धिक व्याख्या, कार्य–कारणवाद का सिद्धान्त, क्रियाशीलता का सिद्धान्त। आर्य–समाज के इन सिद्धान्तों का आलोचनात्मक स्वरूप प्रस्तुत करने हेतु कतिपय ग्रन्थों एवं रचनाओं का उल्लेख आवश्यक होगा– स्वामी दयानन्द का 'सत्यार्थप्रकाश' एवं 'ऋग्वेदादि–भाष्य–भूमिका', स्वामी दर्शनानन्द का –उपनिषत्प्रकाश' एवं 'दर्शनों पर भाष्य', स्वामी आत्मानन्द का 'गीताभाष्य', नारायणस्वामी का 'उपनिषद्–भाष्य', और 'अमृतवर्षा', तुलसीराम स्वामी का 'दर्शन–गीता और सामवेद पर भाष्य और व्याख्या', गंगाप्रसाद उपाध्याय का 'आस्तिकवाद', शांकरभाष्य–लोचन', 'शंकर, रामानुज और दयानन्द', 'सर्वदर्शन', एवं 'वैदिकवाणी', आनन्द स्वामी सरस्वती का 'उपनिषदों का संदेश', 'शंकर और दयानन्द' एवं 'महामन्त्र', इत्यादि। रघुनन्दन शर्मा की 'वैदिक सम्पत्ति', और लाला दीवानचन्द का 'वेद आदेश', 'गीता–दिग्दर्शन', 'उपनिषद्–दिग्दर्शन एवं 'ऋषि–दर्शन', इत्यादि।

5:3:2 राधास्वामी सम्प्रदाय – मध्यकाल के सन्तों एवं सूफियों की विरासत द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में यह सम्प्रदाय आगरा में विकसित हुआ। प्रथम गुरु श्री शिवदयालसिन्हा (स्वामीजी महाराज) एवं उनकी पत्नी नारायणीदेवी (राधाजी) द्वारा यह सम्प्रदाय प्रारंभ हुआ। इस सम्प्रदाय का नामकरण दोनों के उपनामों को मिश्रित करके हुआ। द्वितीय गुरु रायबहादुर सालिकराम माथुर (हुजूर साहिब) और तृतीय गुरु श्री ब्रह्मशंकर मिश्रा (महाराज साहिब) ने अत्यन्त उत्साह से इसे आगे बढ़ाया। तृतीय गुरु के पश्चात् यह सम्प्रदाय दो भागों में विभक्त हो गया। प्रथम शाखा स्वामी बाग में स्थापित हुई। द्वितीय शाखा स्थान–स्थान पर भटकते हुए अंततः 1915 ई. में स्वामी बाग के समीप दयालबाग में स्थापित हुई। श्री आनन्द स्वरूप (साहेबजी महाराज) इसके संस्थापक हैं। अब यह काफी विस्तृत हो चुका है। इस सम्प्रदाय में सर्वोच्च सत्ता का नाम 'राधास्वामी' है। स्वामी 'सत्' का सागर है और राधा उसकी प्रथम प्रतिकृति है। मानवीय स्वरूप में गुरु और कुछ नहीं बल्कि परमसत्ता की सांसारिक अभिव्यक्ति है जिसके समक्ष सभी को नतमस्तक होना चाहिए। गुरु के प्रति सम्पूर्ण समर्पण एवं सतत् सान्निध्य से आत्मा 'सत्' की शक्ति ग्रहण कर सकती है और पिण्डदेश, ब्रह्माण्डदेश तथा दयात्मदेश की विभिन्न भूमियों पर विचरण करते हुए राधास्वामी के सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति करता है। मानव जीवन की पूर्णता प्राप्त करता है। इस आध्यात्मिक अनुशासन को 'सुरत शब्दयोग' के रूप में प्रायः

समस्त संत–परम्परा ने स्वीकार किया है। इस सम्प्रदाय का साहित्य उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी, पंजाबी, गुजराती, बंगाली और मराठी में उपलब्ध है। हिन्दी में इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का वर्णन करने वाली कुछ पुस्तकें निम्नलिखित हैं– प्रथम गुरु के 'सार–वचन', द्वितीय गुरु की 'प्रेम–वाणी' और 'राधास्वामी मत– प्रकाश', एवं दयालबाग शाखा के प्रवर्तक आनन्दस्वरूप का –'यथार्थप्रकाश'।

5:3:3 गाँधी दर्शन – आधुनिक भारत के बहुमुखी विकास में गाँधीजी के अवदान के संदर्भ में किसी को कोई शंका नहीं है। उनकी प्रमुख रचनाएँ प्रायः अंग्रेजी एवं गुजराती में हैं। उन सभी का हिन्दी में अनुवाद हो चुका है। इसके अलावा हिन्दी में लिखी उनकी समस्त रचनाओं का संग्रह कर 'बापू की कलम से' शीर्षक से प्रकाशित किया गया है। गाँधी जी ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की वकालत की। बाद में हिन्दी एवं उर्दू के सम्मिश्रण से एक सरल 'हिन्दुस्थानी' भाषा विकसित करने का प्रयास किया। गाँधीजी का प्रमुख योगदान नीतिशास्त्र एवं आर्थिक–राजनैतिक दर्शन के क्षेत्र में है। व्यक्तिगत नैतिकता के क्षेत्र में उन्होंने मानव–जीवन मे प्रचलित पारम्परिक मूल्यों को माना। उनके अनुसार नैतिकता का आधार धार्मिक अनुभव हैं, परन्तु उनका यह मत अभी तक अधिक स्पष्ट नहीं हो सका है। उन्होंने मानवीय जीवन का सर्वोच्च मूल्य सत्य को माना। प्रेम एवं अहिंसा उसके साक्षात्कार के साधनमात्र हैं। भारत के लिए गाँधीजी का आर्थिक–राजनैतिक दर्शन, जिनमें पारम्परिक मूल्य समाहित हों, सफल एवं अद्वितीय योगदान था। इसका आधार दबंगों द्वारा कमजोरों के शोषण का गाँधी प्रदत्त अहिंसक विरोध था। यह सिद्धान्त उनके अन्य सिद्धान्तों जैसे असहयोग, सत्याग्रह व्रत, अछूतोद्धार एवं हस्तनिर्मित खादी इत्यादि का आधार था। यह उनके आन्दोलनों का मूल है जिसके द्वारा वे आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक विषमताओं का हल निकालना चाहते थे। उन्होंने समाज की समाजवादी संरचना को स्वीकार किया परन्तु इसकी स्थापना हेतु उग्र हिंसक तरीकों का प्रयोग निरपेक्ष रूप से अस्वीकार कर दिया। गाँधीवाद एवं मार्क्सवाद के मध्य विभेद का यही केन्द्रबिन्दु है। गाँधीवादी विचारधारा ने धीमी किन्तु निश्चित गति से अंतर्राष्ट्रीय सहयोग एवं मैत्री, विश्वशान्ति, निःशस्त्रीकरण, एवं सहअस्तित्त्व के क्षेत्र में जड़ें जमा लीं। गाँधी दर्शन को स्पष्ट करने के लिए उनकी कुछ कृतियों का उल्लेख आवश्यक है– 'अहिंसक समाजवाद की ओर', 'सत्य के प्रयोग', 'गीता का संदेश', 'मेरा समाजवाद', 'मेरा धर्म', 'विश्वशान्ति का अहिंसक मार्ग', 'सर्वोदय एवं साम्यवादी विचारधाराएँ'।

5:3:4 समाजवादी दर्शन – रूस में बोल्शेविक क्रान्ति सफल हुई और वहाँ जनता की सरकार की स्थापना हुई। इससे कम्युनिस्ट विचारधारा के प्रति सम्पूर्ण विश्व में उत्साहजनक बौद्धिक वातावरण निर्मित हुआ एवं समाज के नूतन आर्थिक–राजनैतिक ढाँचे की स्थापना संबंधी निराशावाद समाप्त हो गया। भारत में भी अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ राजनीतिक आन्दोलनों की एक कड़ी के रूप में बुद्धिवादी समाजवादी पार्टी (Radical Socialist Party) एवं लोकतांत्रिक समाजवादी पार्टी का उदय हुआ। समाजवादी आन्दोलन

का मौलिक दर्शन विभिन्न दिशाओं में विकसित हुआ। उनमें से एक दिशा मार्क्सवादी विचारधारा, सिद्धान्तों एवं प्रयोगों का प्रचार–प्रसार करना था। इसका प्रतिनिधित्व सर्वप्रथम मानवेन्द्रनाथ राय ने किया और पश्चात्वर्ती लेखकों द्वारा भी निरन्तर जारी रहा, विशेषतः उनके समाजवादी आन्दोलन से विधिवत् अलग होने के बाद। हिन्दी भाषा में यशपाल द्वारा सम्पादित पत्रिका 'विप्लव' ने विशेष योगदान किया। किसी न किसी रूप में यह भी प्रचार का एक तरीका था। हिन्दी भाषी लोगों के तथाकथित परम्परागत मार्क्सवाद का निर्बाध विकास एवं समाजवादी पार्टी की नीतियों से सम्पूर्ण विलगाव से भारत में यशपाल की चिन्तनधारा अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं कर पाई। यशपाल राजनीतिक दार्शनिक के बजाए उपन्यासकार के रूप में अधिक विख्यात हैं।

गाँधीवाद के आवरण में पनप रही समाजवादी चिन्तन की दूसरी धारा का वर्णन पहले ही हो चुका है। गाँधी के समर्थकों द्वारा इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया गया जिनमें प्रमुख नाम के.जी. मशरूवाला, जे.सी. कुमारप्पा एवं गुलजारी लाल नन्दा हैं। मशरूवाला की पुस्तक 'गाँधी और साम्यवाद' सर्वविदित है। विस्तृत वर्णन के साथ विनोबाभावे के अमूल्य योगदान भी उल्लेखनीय हैं।

भारत में समाजवादी दर्शन की तीसरी चिन्तनधारा ने प्राचीन हिन्दू संस्कृति एवं सामाजिक संरचना के परिप्रेक्ष्य में समाजवादी सिद्धान्तों के अध्ययन एवं मूल्यांकन के रूप में प्रयास किया। यह धारा भारत में आर्य जीवनशैली के साथ आधुनिक समाजवाद के विकास का समर्थन करती है। डॉ. सम्पूर्णानन्द अपनी पुस्तक 'समाजवाद' में इस प्रवृत्ति की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या करते हैं। हिन्दूवाद पर बल देते हुए कतिपय चिन्तकों ने समाजवाद की मार्क्सवादी विचारधारा की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। इनमें हिन्दू सभा के संस्थापक वीर सावरकर, आर.एस.एस. के संस्थापक डॉ. हेडगेवार, आर.एस.एस. के कार्यवाह श्री गोलवरकर, और कुछ हद तक भारतीय विद्या भवन के संस्थापक श्री के.एम. मुंशी का नाम लिया जा सकता है। इन विभूतियों का कृतित्व राजदर्शन के बजाय राजनीतिक क्षेत्र में अधिक रहा है।

समाजवादी चिन्तनधारा का चौथा प्रकार (हिन्दी साहित्य में उपलब्ध) अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यहाँ पश्चिम के पूँजीवादी लोकतंत्र एवं बौद्धिक मार्क्सवादी समाजवाद के समन्वय पर बल दिया गया है। समाजवादी चेतना तो सार्वजनिक है, पर समाजवादी पद्धति को विकसित करने वाले तत्त्व देशकाल सापेक्ष रहे हैं। फलतः न तो यह रूढ़िवादी सांस्कृतिक स्वरूप का अंधसमर्थक रहा, न ही बिलकुल असम्पृक्त। अब 'बहुजनसुखाय' को आधार मानकर लोकतांत्रिक जीवन–पद्धति एवं धर्मनिरपेक्ष समाज इसका आदर्श बन गया। यह ऐसा समाज है जहाँ सभी को विकास के समान अवसर तथा जीवन–यापन हेतु न्यूनतम आवश्यकताएँ उपलब्ध थीं। इस चिन्तन के सबसे प्रखर समर्थक आचार्य नरेन्द्रदेव थे। इस संदर्भ में उनकी रचनाओं का संग्रह 'राष्ट्रीयता और समाजवाद' अत्यधिक प्रसिद्ध है। 'संघर्ष' एवं 'जनवाणी' नामक दो पत्रिकाओं द्वारा इसका प्रचार–प्रसार किया गया। अपने अनेक भाषणों एवं लेखों द्वरा जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, अशोक मेहता,

अच्युत पटवर्धन, मीनू मसानी, और कुछ हद तक आचार्य कृपलानी ने इस विचारों के प्रसारण में योगदान दिया। परन्तु दार्शनिक चिन्तन के अवदान की दृष्टि से जयप्रकाश नारायण एवं राममनोहर लोहिया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पं. जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में देश में समाजवादी लोकतंत्र की स्थापना के समय संगठनात्मक खेमे (Wing) को थोड़ी कठिनाई हुई। यह कहा जा सकता है कि इस आन्दोलन के मूलभूत सिद्धान्तों की व्यापक स्वीकृति ही इसकी सफलता का प्रमाण है। लोकतांत्रिक समाजवाद के विकास में जवाहरलाल नेहरू का योगदान महत्त्वपूर्ण है। उनके अधिकतर लेख एवं भाषण अंग्रेजी में हैं यद्यपि उनमें से अधिकांश का हिन्दी में अनुवाद हो चुका है।

5:3:5 दर्शनविषयक विद्वत्ता – उत्तर–संघर्ष काल में विभिन्न संस्थाओं में कार्यरत विद्वानों के दार्शनिक चिन्तन का क्षेत्र सीमित एवं सामाजिक–राजनैतिक– धार्मिक आन्दोलनों से अलग था। कृष्णचंद्र भट्टाचार्य, राधाकृष्णन, गंगानाथ झा एवं विश्वविद्यालयों तथा शैक्षणिक संस्थाओं से संबद्ध अनेक लोगों ने अंग्रेजी माध्यम से प्रगतिवादी तात्त्विक (Substantial) चिन्तन किया। हिन्दी माध्यम से प्राचीन शास्त्रों पर टिप्पणियाँ, भाष्य तथा व्याख्याओं का प्रकाशन हुआ, जैसे महर्षि सातवलेकर द्वारा संस्कृत कृतियों पर गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित हिन्दी टीका। राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौशल्यायन एवं भिक्षु जगदीश कश्यप प्रभृति विद्वानों द्वारा हिन्दी माध्यम से बौद्ध–दर्शन के ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। हिन्दी में वास्तविक दार्शनिक चिन्तन की दिशा में मुख्य प्रयास संघर्षकाल के उत्तरार्द्ध में हुआ।

6. परम्परागत भारतीय दर्शन का ज्ञान – इस समय कतिपय ऐसे विद्वान थे जो वेदान्त, योग एवं तंत्र प्रभृति पारम्परिक पद्धतियों का अध्ययन कर उसे समृद्धि प्रदान करना चाहते थे। उदाहरण के तौर पर, डॉ. सम्पूर्णानन्द ने अपनी पुस्तक 'चिद्विलास' में योग एवं वेदान्त की रहस्यानुभूतियों का, विज्ञान के आधुनिकतम विकास के प्रकाश में विस्तृत एवं श्लाघनीय चित्रण प्रस्तुत किया है। साधु शांतिनाथ ने अपनी –'प्राच्य–दर्शन–समीक्षा' में आध्यात्मिक अनुभवों का निरपेक्ष वर्णन एवं मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। यह दार्शनिक प्रयास भारतीय तत्त्वमीमांसा के निश्चित दिशा में प्रगति का सूचक है। डॉ. सम्पूर्णानन्द की अन्य अनेक पुस्तकें भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों पर प्रकाश डालती हैं। उनकी कृति 'आर्यों का आदि देश' उल्लेखनीय है। आचार्य नरेन्द्र देव ने अपनी पुस्तक 'बौद्ध धर्मदर्शन' में बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों का सिलसिलेवार प्रतिवाद किया है। बौद्ध धर्म एवं दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का स्पष्ट चित्रण करने वाली यह अद्भुत पुस्तक है। अनेक बौद्ध सम्प्रदायों की समीक्षा एवं तटस्थ चित्रण करते हुए उनकी पुस्तक 'महायान बोधिसत्व' पर विशेष जोर देती है, जिसका अवतार स्वयं नरेन्द्रदेव को माना जाता है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज की कृतियों का संग्रह 'भारतीय संस्कृति और साधना' शीर्षक से किया गया जिसमें योग एवं तंत्र की अमूल्य विद्याओं का संग्रह है और तंत्र की गुह्य–विद्या से हमारा परिचय कराती है। कविराज की यह कृतियाँ विश्वकोशीय

स्वरूप के होने के कारण उल्लेखनीय हैं क्योंकि इसमें समस्त भारतीय पद्धतियों की आध्यात्मिक साधना का तलस्पर्शी वर्णन है। उन्होंने अंग्रेजी एवं बांग्ला में भी लिखा है। हिन्दी के उपरोक्त ग्रन्थ के अलावा उनका उल्लेखनीय कार्य–तांत्रिक वाङ.मय में 'शाक्त दृष्टि' है। यद्यपि उन्होंने समान आदर के साथ अन्य अनेक मार्गों का उल्लेख किया है, परन्तु उनका व्यक्तिगत झुकाव 'शाक्त–साधना' की ओर था। डॉ. फतेहसिंह ने अपने 'वैदिक–दर्शन' में वेदों में वर्णित विभिन्न तकनीकी शब्दों एवं बृहत्तर विषयवस्तु की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है। डॉ. बी.एल. आत्रेय ने अंग्रेजी में 'योग वशिष्ठ' लिखी। बाद में उन्होंने हिन्दी एवं अंग्रेजी में अनेक कृतियों द्वारा योग एवं योगवशिष्ठ की वर्तमान काल में उपादेयता सिद्ध की। भारतीय मनोविज्ञान के क्षेत्र में दिव्यात्माओं के ज्ञान विषयक शोध को प्रोत्साहित करने के कारण डॉ. आत्रेय आदरणीय रहे हैं।

6:1 विभिन्न पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन – वस्तुतः जान– बूझकर या अज्ञानतावश पूर्वी एवं पश्चिमी दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन ने इस काल के सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को आवृत्त कर लिया। परन्तु इस प्रकार की तुलनात्मक दृष्टि के लिए कुछ विशेष प्रयास भी हुए। हिन्दी में, राहुल सांकृत्यायन का 'दर्शन–दिग्दर्शन' सर्वाधिक विशिष्ट योगदान है। अपनी इस कृति में राहुल सांकृत्यायन ने विश्व–दर्शनों, विशेषतः प्रगतिशील समकालीन मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से, के संदर्भ में भारतीय चिन्तन को रेखांकित किया है। डॉ. देवराज ने 'पूर्वी एवं पश्चिमी दर्शन' में पाश्चात्य एवं पौर्वात्य तत्त्वमीमांसीय पद्धतियों का गुणदोष पूर्वक सम्यक् विवेचना एवं मूल्यांकन किया है। डॉ. देवराज ने भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन के इतिहास पर पृथक् से एक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। डॉ. भगवानदास की 'सब धर्मों की बुनियादी एकता' उनके आंग्ल ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद है। उनके विचार भारत में थियोसॉफी आन्दोलन से अत्यधिक प्रभावित हैं। मानवीय धर्म की स्थापना में धर्म में रहस्यात्मक तत्त्वों के साथ नैतिक अभ्यास की एकता पर थियोसॉफी बल देती है। संक्षेप में, डॉ. भगवानदास 'प्रणववाद' के रूप में 'अहम् एतत् न' सिद्धान्त की स्थापना कर इसका प्रभाव न केवल वैयक्तिक आध्यात्मिकता एवं नैतिकता पर दिखाते हैं बल्कि इसके परे सामाजिक– राजनीतिक क्षेत्र में भी दिखता है।

6:2 विकास–काल – स्वतंत्रता के पश्चात्, भारतीय दर्शन को भारतीयों की जीवन–पद्धति का आधार मानकर हिन्दी भाषा के विकास के नये युग के सूत्रपात हेतु प्रयास हुए। इस युग का प्रारंभ भारतीय मनीषा की स्थापना एवं बहुमुखी चेतना के प्राकट्य के साथ हुआ। यहाँ यह कहा जा सकता है कि समग्र विश्व के प्ररिप्रेक्ष्य में चिन्तकों ने दर्शन की मुख्य धाराओं पर विचार केन्द्रित कर ऐसा चिन्तन प्रारंभ किया जिससे जनसामान्य को लाभ मिल सके। इस प्रकार, पश्चिम की अंध भक्ति की हीनता–ग्रन्थि के स्थान पर भारतीय मनीषा का आत्मगौरव एवं आत्माभिमान स्थापित होने लगा। अनेक स्वरूपों एवं आयामों द्वारा यह प्रयास लगातार होता रहा। विगत चालीस वर्षों में, हिन्दी माध्यम से चार अलग–अलग किन्तु महत्त्वपूर्ण दिशाओं में एक नवीन युग का प्रारंभ हुआ। वे हैं –

6:2:1 पाठ्यपुस्तक संरचना – कुछ विश्वविद्यालयों ने हिन्दी को माध्यम बनाया, फलतः हिन्दी में पाठ्यपुस्तकों की माँग बढ़ी। माँग की प्रतिपूर्ति हेतु पाठ्यक्रमानुसार दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों एवं विषयों पर पुस्तकें लिखी जानी थीं। इससे लेखकों को मौलिक प्रतिभा–प्रदर्शन का अवसर मिला। तुलनात्मक अध्ययन एवं विभिन्न विचारधाराओं के मूल्यांकन के क्षेत्र में दर्शन के लेखकों ने स्वतंत्र रूप से कार्य किया। इनका महत्त्व इसलिए भी है कि आनेवाली पीढ़ियों के स्वतंत्र चिन्तन का प्रारंभ हुआ एवं आधार तैयार हुआ। इस आन्दोलन की सीमाएँ भी क्रमशः समाप्त हो गईं।

6:2:2 विद्वतापूर्ण–साहित्य – हिन्दी में प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों की विषयवस्तु प्रस्तुतीकरण के उद्देश्य से उनका अध्ययन वस्तुतः उत्तर–संघर्ष काल से प्रारंभ हुआ और विकास काल तक चला। उत्तर–संघर्ष काल के कतिपय पूर्ववर्णित कार्यों के अलावा निम्नलिखित कार्यों की भी उस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका है– वेदों, महाभारत एवं योगसंबंधी पंडित सातवलेकर की पुस्तकें, सम्पूर्णानन्द का 'व्रत्यकाण्ड', गोपीनाथ कविराज का 'वेदान्त दर्शन', पंडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का 'गीता–प्रवचन' एवं 'गीता व्याख्यानमाला', पंडित उदयवीरशास्त्री का 'सांख्य तत्त्वदर्शन का इतिहास', सर्वानन्द पाठक का 'चार्वाक दर्शन का आलोचनात्मक अनुशीलन', भूपेन्द्रनाथ सान्याल की 'अध्यात्म दीपिका' पर हिन्दी टीका, स्वामी सहजानन्द का 'गीता हृदय', धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का 'भारतीय दर्शन शास्त्र (न्यायवैशेषिक)', हरिमोहन झा की 'भारतीय दर्शन परिचय (न्याय वैशेषिक)', महेन्द्र कुमार जैन का 'जैन–दर्शन', पंडित सुखलाल संघवी का 'दर्शन और चिन्तन', भीखनलाल आत्रेय का 'भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास', शांतिप्रकाश आत्रेय का 'योग–मनोविज्ञान', भदन्त आनन्द कौशल्यायन, जगदीश कश्यप, राहुल सांकृत्यायन, एवं चन्द्रधर शर्मा द्वारा बौद्ध दर्शन पर भाष्य, नागेन्द्रनाथ उपाध्याय का 'तांत्रिक बौद्ध साधना एवं साहित्य', श्रीराम शर्मा का 'गायत्री महाविज्ञान' एवं गायत्री पर अन्य साहित्य, मुनि श्रृंगराज का 'जैन दर्शन एवं आधुनिक विज्ञान', तंत्र पर गोपीनाथ कविराज की कृतियाँ, रामदास गौड़ की 'हिन्दुत्व' और 'वैज्ञानिक अद्वैतवाद', डॉ. दीवानचन्द्र का 'दर्शन संग्रह', जगदीशचन्द्र जैन का 'दार्शनिक चिन्तन', बलदेव उपाध्याय का 'भागवत् सम्प्रदाय' और रामानन्द तिवारी कृत 'शंकराचार्य का नैतिक दर्शन'।

6:2:3 रचनात्मक कार्य – स्वतंत्रता पश्चात् की प्रेरणा से अभिभूत भारतीय मनीषा ने सांस्कृतिक पुनरुद्धार एवं भारत की दार्शनिक विरासत की पुनर्स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। किसी न किसी रूप में ये समस्त मौलिक चिन्तक समकालीन पाश्चात्य दर्शन के तत्त्वों में रुचि रखते थे। पूर्व वर्णित प्रयासों के अलावा स्वतंत्र चिन्तन का प्रयास पुनः उल्लेखनीय होगा। दर्शन के ऐसे शोध अध्येताओं को आकृष्ट करने में अखिल भारतीय दर्शन–परिषद् (स्था. 1954) का स्पृहणीय योगदान है। इस संस्था द्वारा हिन्दी माध्यम से दार्शनिक चिन्तन को बढ़ावा देने का प्रयास ठोस एवं श्लाघनीय है।

ऐसे मौलिक कार्य विभिन्न श्रेणियों में हुए। प्रथम श्रेणी के विचारकों में वे हैं जो

परम्परागत भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों से ऊब चुके थे और नवीनता की तलाश में पश्चिमी समकालीन विचारधारा जैसे– तार्किक भाववाद एवं अस्तित्त्ववाद की ओर उन्मुख हुए। इनमें यशदेव शल्य, राजेन्द्र प्रसाद, दयाकृष्ण एवं अजित कुमार सिन्हा ने भाषा–विज्ञान एवं वैज्ञानिक विश्लेषण पर जोर दिया। यशदेव शल्य की 'दार्शनिक विश्लेषण' एवं 'मनस्तत्व' उल्लेखनीय हैं तथा 'अनुभववाद' एवं 'नृतत्व तथा समाजदर्शन' उनके द्वारा सम्पादित विशिष्ट पुस्तकें हैं। बसन्त कुमार लाल का रुझान अस्तित्त्ववाद की मान्यताओं की स्थापना पर था। डॉ. देवराज की चहुँमुखी प्रतिभा प्रदर्शित हुई। भारतीय चिन्तन परम्परा से आत्मिक रूप से सम्बद्ध होकर भी वे श्वाइट्जर तथा शित्कर मानववाद के प्रति आकृष्ट हुए। उनकी महत्त्वाकांक्षा अपनी कृति 'संस्कृति के दार्शनिक विवेचन' पर आधारित 'सृजनात्मक मानववाद' नामक चिन्तन–सम्प्रदाय की स्थापना की थी।

वर्तमान प्रवृत्ति सांस्कृतिक इतिहास पर आधारित दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना करने की है। परन्तु अभी इसका प्रारंभ नहीं हो सका है। भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृतियों के अनेक इतिहास लिखे गए, परन्तु वे सभी एकपक्षीय व्याख्या मात्र रह गए। अभी भी कोई दार्शनिक प्रवृत्ति उपलब्ध नहीं है। इस श्रेणी की पुस्तकों में बी.पी. सिन्हा का 'विश्व सभ्यता का संक्षिप्त इतिहास', गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का 'वैदिक विज्ञान एवं भारतीय संस्कृति', आचार्य चतुरसेन का 'भारतीय संस्कृति का इतिहास', राजेन्द्र प्रसाद का 'संस्कृत और संस्कृति', दिनकर का 'संस्कृति के चार अध्याय', हैं। इसमें अंतिम पुस्तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें समन्वयी संस्कृति की प्रस्तुति है।

दूसरी श्रेणी ऐसे स्वतंत्र चिन्तकों की है जिन्हें भारत की दार्शनिक विरासत पर गर्व है और प्राचीन मान्यताओं को वे समकालीन विश्व–दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करना चाहते हैं। इनमें सम्पूर्णानन्द, नारायणशास्त्री द्रविड़, हरिमोहन झा, राममाधव चिंगले, वरदपाण्डे, के सच्चिदानंद मूर्ति, भीखनलाल आत्रेय, रामानन्द तिवारी, पी.एस. शास्त्री, रामशंकर भट्टाचार्य, हजारी लाल माहेश्वरी और अनन्तगणेश जावड़ेकर के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों ने भारतीय दर्शन के विभिन्न पक्षों पर विमर्श किया है तथा अपना मत भी प्रस्तुत किया है। द्रविड़ भारतीय तर्कशास्त्र एवं वेदान्त के सिद्धपुरुष हैं। उनके द्वारा सम्पादित पुस्तक 'भारतीय ज्ञानमीमांसा' एवं 'भारतीय मनोविज्ञान' उल्लेखनीय हैं। धार्मिक अनुभूतियों का विश्लेषण करते समय मूर्ति की मौलिकता की तीव्रता स्पष्ट होती है। वे भारतीय दार्शनिकता की समग्र समीक्षा के लिए भी उत्सुक दिखते हैं। उनके द्वारा सम्पादित 'समकालीन भारतीय दर्शन' विशिष्ट रचना है। जावड़ेकर की विशिष्टता मूल्यात्मक एवं रचनात्मक ज्ञान की समीक्षा है। उन्होंने हिन्दी में अनेक लेख लिखे हैं। इस श्रेणी में धर्मदर्शन के अध्ययन में प्रतिबद्ध लोगों की भी गणना होती है। उदाहरणार्थ – मधुसूदन प्रसाद, सी. पी. ब्रह्मो, इशरत हुसैन अनवर एवं मंगलदेव शास्त्री इस क्षेत्र के प्रमुख विचारक हैं।

तीसरी श्रेणी उन्मुक्त दार्शनिक दृष्टिकोण वाले विचारकों की है। प्राच्य एवं पाश्चात्य विचारों में उनकी रुचि समान है फिर भी उनका विशेष योगदान प्राचीनता का

अध्ययन कर नवीन दृष्टिकोण/प्रवृत्तियाँ विकसित करना है। ऐसे चिन्तकों में याकुब मसीह, संगमलाल पाण्डेय, रामचन्द्र पाण्डेय, रामनाथ कौल, ब्रज गोपाल तिवारी और एन. बी. जोशी है।

चतुर्थ श्रेणी उन चिन्तकों की है जिन्होंने गंभीर दार्शनिक चिन्तन को अंग्रेजी माध्यम से अनेक कृतियों में व्यक्त किया है। ऐसे चिन्तकों ने यदा–कदा हिन्दी में लेखन भी किया है। इन उल्लेखनीय विभूतियों में धीरेन्द्र मोहन दत्त, रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, सतीशचन्द्र चटर्जी, अनुकूल चन्द्र मुखर्जी, पी.टी. राजू और निकुंज बिहारी बनर्जी हैं।

6:2:4 विकासात्मक कार्य – कुछ ऐसी विभूतियाँ भी हुईं जिन्होंने अपना कार्यक्षेत्र केवल दार्शनिक चिन्तन तक सीमित नहीं रखा बल्कि इससे इतर भी हिन्दी में कार्य किया। अर्वाचीन एवं अधुनातन ज्ञान का सामन्जस्य करके हिन्दी प्रेमियों को संस्कृति संबंधी कुछ विशिष्ट ज्ञान उपलब्ध कराया।

ऐसे प्रयास, विशेषतः सामाजिक – आर्थिक दर्शन के क्षेत्र में सर्वप्रथम आचार्य विनोबा भावे प्रवर्तित 'सर्वोदय' आन्दोलन का उल्लेख परमावश्यक है। सर्वोदयी नेताओं ने संस्कृति के पारम्परिक भारतीय सिद्धान्त एवं राष्ट्रीय सम्पत्ति के बँटवारे की न्यायिक व्याख्या प्रस्तुत की जिससे सामाजिक विषमताएँ दूर हो सकें। सर्वोदय आन्दोलन तार्किक आधारों पर ऐसे सर्वस्वीकृत सहयोग की चर्चा करता है जिसमें सभी को विकास के समान अवसर उपलब्ध हों। समाज में इस प्रणाली की स्थापना त्याग, दान एवं न्यासी सिद्धान्त द्वारा संभव है। इसे गांधीवादी आदर्श की अभिस्वीकृति के रूप में स्थान मिला। यद्यपि इस आन्दोलन का साहित्य हिन्दी एवं मराठी में उपलब्ध है, तथापि अन्य भारतीय भाषाओं में भी इसका प्रकाशन हुआ है। सर्वोदय आन्दोलन का दार्शनिक आधार आचार्य विनोबा भावे के भाषण एवं उनकी रचनाएँ हैं जिनका संग्रहण निम्नलिखित शीर्षकों से पुस्तकाकार में प्रकाशित हुआ है– 'भूदान यज्ञ', 'धर्मचक्रप्रवर्तन','स्थितप्रज्ञ–दर्शन', 'गीता–प्रवचन', 'ग्रामधर्म', 'तीसरी शक्ति', 'भक्ति, ज्ञान और कर्म', इत्यादि। इस आन्दोलन से संबंधित कतिपय अन्य पुस्तकें उल्लेखनीय हैं– दादा धर्माधिकारी की 'मानवीय क्रान्ति' और 'सर्वोदय दर्शन', जयप्रकाश नारायण का 'भूदान–यज्ञ', और 'समाजवाद तथा जीवनदान', शंकरराव देव की 'भूदान यज्ञ की भूमिका', इत्यादि और 'सर्वोदय का इतिहास और विज्ञान', धीरेन्द्र मजूमदार का 'शासन–निरपेक्ष समाज', 'युग की महान चुनौती–भूदान', और 'भूदान की सही भूमिका', इत्यादि। कुछ अन्य ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं– सुरेश राम भाई का 'विनोबा और भूदान', और 'विनोबा का सन्देश', भगवान दास केला का 'सर्वोदय अर्थशास्त्र', और 'भूदान, श्रमदान, जीवनदान', श्रीकृष्णदास जाजू का 'सम्पत्तिदान यज्ञ', जलालुद्दीन तुर्का का 'विनोबा दर्शन', तरुण भाई का 'विनोबा जीवन–दर्शन', और नरहर भाई पारिख का 'भूदान में उठाए जाने वाले कुछ प्रश्न और उत्तर',।

परम्परागत संस्कृति, धर्म एवं आध्यात्मिक दर्शन के क्षेत्र में कुछ महान विभूतियों यथा– रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि रमण, श्री अरविन्द एवं प्रो. आर.डी.

रानाडे इत्यादि ने विकास काल के पश्चात् उत्तर संघर्ष काल में भी हिन्दी की अलख जगाए रखी। हिन्दी भाषा में इस परम्परा का ज्ञान एवं विकास 'सहजमार्ग' के रूप में हुआ और रामकृष्ण मिशन के संसाधनों द्वारा इस योग–परम्परा को पुष्ट किया गया। शाहजहाँपुर (उ.प्र) में इस मिशन का केन्द्र था तथा सम्पूर्ण भारत में इसकी शाखाएँ थीं। भारतीय दर्शन में संग्रहीत रूढ़िवादी विधियों के सहज स्वरूप का यह मिशन बोध कराता है। योग्य गुरु की सहायता से इस विधि में प्राणाहुति पर बल दिया गया है। अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से इस आन्दोलन का विशेष महत्त्व है। इस आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित शीर्षक से प्रकाशित हैं– 'अनन्त की ओर', 'सत्योदय'।

इस संस्था द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक 'सहजमार्ग' के लेख भी विशेष उल्लेखनीय हैं। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक महात्मा रामचन्द्रजी के अविकल प्रकाशित लेखों को 'योग विद्या' नामक पुस्तक में संग्रहीत किया गया है जिसमें इस आन्दोलन के दर्शन का स्पष्ट विवेचन है।

विश्वविद्यालयों में दार्शनिक शोध के परिणामस्वरूप यह आशा जगी कि अब चिन्तक नव्य–न्याय के पारम्परिक सिद्धान्त तथा भाषा– विश्लेषण की आधुनिक विधि के संश्लेषण की ओर प्रवृत्त होंगे। इस दिशा में मौलिक चिन्तक डॉ. वी.एस. नरवणे का समकालीन भारतीय दर्शन संबंधी पूर्णतः मौलिक प्रकाशन वस्तुतः उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में अनेक प्रतिभा–सम्पन्न व्यक्ति हैं जो प्राच्य–पाश्चात्य सांस्कृतिक परम्पराओं का व्यवस्थित अध्ययन तथा दार्शनिक धाराओं का अव्यवहित ज्ञान, उनकी ज्ञानसमृद्धि एवं प्रस्तुतीकरण में लगे हुए हैं। इसे देखते हुए अपेक्षा की जा सकती है कि भारत में एक नवीन दार्शनिक सम्प्रदाय के विकास में उनका अमूल्य योगदान होगा।

अंत में, हिन्दी में दर्शन संबंधी कुछ बातों का संकेत कहना आवश्यक प्रतीत होता है। हिन्दी अब राष्ट्रभाषा बन चुकी है और किसी प्रान्त की सम्पत्ति नहीं है। स्वभावतः, अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के साथ भारत में दार्शनिक चिन्तन एवं शोध का माध्यम हिन्दी को भी बनाया जाएगा और इस प्रकार संघ की भाषा के रूप में यह स्थान बनाएगी। इस प्रकार हिन्दी न केवल अन्य भारतीय भाषाओं के चिन्तन की कुंजी होगी बल्कि भारत में उनका प्रतिनिधित्व भी करेगी। इससे अन्य भारतीय भाषाओं का भी सशक्तीकरण होगा।

***

संस्कृत माध्यम से दार्शनिक चिन्तन की अर्द्धशती

रजनीश कुमार शुक्ल

भारतीय दर्शन की चर्चा मात्र से संस्कृत की अपरिहार्यता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। संस्कृत भारत में चिन्तन की सर्वस्वीकृत भाषा रही है किन्तु 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही संस्कृत के माध्यम से दार्शनिक क्षेत्र में पदावली के निर्माण के अतिरिक्त, ग्रन्थ लेखन विशेषतः नवीन दार्शनिक चिन्तन के उन्मेष का प्रायः अभाव दिखता है। विगत् पचास वर्ष तो इस दृष्टि से और भी विचारणीय हैं क्योंकि जून 1984 की स्थिति तक भारत में दर्शन की परंपरा, अध्यापन और शोध पर प्रकाशित अपनी सर्वेक्षणात्मक पुस्तक में प्रो. के. सच्चिदानन्द मूर्ति[1] भारतीय दर्शन के समकालीन चिन्तन में संस्कृतज्ञों के योगदान की चर्चा तो अवश्य करते हैं किन्तु संस्कृत भाषा में निबद्ध नूतन ग्रन्थों और संस्कृत के माध्यम से चिन्तन के अभिनवीकरण के प्रयासों की कहीं चर्चा नहीं करते हैं। किन्तु विगत पचास वर्षों में संस्कृतज्ञों ने भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा को अपना अमूल्य योगदान समर्पित किया है। इन पचास वर्षों में भारतीय दर्शन के समस्त निकायों में चिन्तन के विविध आयामों के विस्तार के अनेक प्रयास तो दृष्टिगोचर होते ही हैं, संस्कृत भाषा में नवीन दार्शनिक परंपराओं की स्थापना तथा चिन्तन के उन अनछुए आयामों का विस्तार भी दृष्टिगोचर होता है, जो सामान्यतः अन्य भारतीय भाषाओं तथा काफी हद तक अंग्रेजी में भी नहीं दिखायी देता है। जहाँ वैदिक दर्शन के क्षेत्र में स्वामी करपात्री जी ने वेदों के भाष्य के प्रयास किये और वेदार्थपारिजात की भूमिका के रूप में वेद के स्वतः प्रामाण्य की स्वीकृति के लिए नवीन तर्कों को प्रस्तुत किया, वहीं आचार्य बदरीनाथ शुक्ल ने नव्यदेहात्मवाद नामक नवीन दार्शनिक सिद्धान्त को प्रतिस्थापित करने का प्रयास किया है। आधुनिक विचारपद्धति के प्रतिनिधि चिन्तक माने जाने वाले प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने सौन्दर्यशास्त्र नामक नवीन विद्यास्थान की स्थापना का प्रयास किया है, तो भक्ति के दार्शनिक पक्षों के उन्मेष हेतु म. म. गोपीनाथ कविराज, स्वामी करपात्रीजी और प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय का अलग–अलग दृष्टिकोण के साथ किया गया विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

भारतीय भाषादर्शन के क्षेत्र में भी इन वर्षों में कई महनीय .कृतियाँ, जिनमें पं. रघुनाथ शर्मा द्वारा 'वाक्यपदीयम्' की अम्बाकर्त्री टीका तथा पं. राम प्रसाद त्रिपाठी की 'पाणिनीयव्याकरणे प्रमाणसमीक्षा' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस क्षेत्र में पं. रामाज्ञा पाण्डेय का भी उल्लेखनीय योगदान है।

संक्षेपतः कहा जाय तो इस काल खण्ड में भी भारतीय दर्शन के विविध क्षेत्रों में

संस्कृतज्ञों का महनीय योगदान है, जिसका विस्तृत विवेचन एक पत्र की सीमा में कर सकना संभव नहीं है। अतः भारतीय दर्शन में उनके योगदान की दृष्टि से मैं मुख्यतः संस्कृत चिन्तन की मुख्य प्रवृत्तियों की ही चर्चा करना चाहूँगा। अतः इस आलेख को तीन प्रमुख प्रवृत्तियों पर केन्द्रित करते हुए कुछ प्रमुख बिन्दुओं पर सीमित किया गया है।

(1) प्रमाणशास्त्र

(2) तत्त्वशास्त्र

(3) नवीन दार्शनिक चिन्तन

I

प्रमाणशास्त्र भारतीय दार्शनिक चिन्तन का महत्त्वपूर्ण आयाम है। 20वीं शताब्दी के उत्तरवर्ती पचास वर्षों के चिन्तन में भी इस क्षेत्र में व्यापक विचार हुआ है। संस्कृत भाषा के माध्यम से हुआ प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन, प्रमाणशास्त्र के सबसे महत्त्वपूर्ण एवं क्लिष्ट अंश प्रामाण्यवाद पर केन्द्रित दिखाई देता है। इस दिशा में स्वामी करपात्रीजी ने जहाँ वेदों के स्वतः प्रामाण्य की वैदिक परंपरा को पुनर्स्थापित किया है, वहीं प्रो. सातकड़ि मुखोपाध्याय ने बौद्ध प्रामाण्यवाद का सबल एवं सशक्त प्रतिपादन प्रस्तुत किया। जिसका प्रतिवाद करते हुए पं. केदारनाथ ओझा ने प्रामाण्यवाद पर पं. सातकड़ि मुखोपाध्याय के साथ एक ऐसी संवाद परंपरा का विकास किया जो प्राचीन एवं मध्यकालीन दार्शनिक चिन्तन की खण्डन–मण्डन की शास्त्रार्थ शैली का उद्भावन करती है। पण्डित केदारनाथ ओझा के द्वारा प्रामाण्यवाद के एक विस्मृत पक्ष स्वतः प्रामाण्याप्रामाण्यवाद पर चिन्तन किया गया है और मीमांसा की परंपरा में सांख्यों के सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत इस मत का विस्तृत विवेचन किया गया है।[2] इसके अतिरिक्त पं. राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ एवं पं. बदरीनाथ शुक्ल के द्वारा प्रमाणशास्त्र विशेषतः नैयायिक सिद्धान्तों के कुछ नये परिष्कार भी दृष्टिगोचर होते हैं। पं. रामप्रसाद त्रिपाठी विरचित 'पाणिनीयव्याकरणे प्रमाणसमीक्षा' एक ऐसा ग्रन्थ है जो आधुनिक अनुसंधान शैली तथा प्राचीन विचार विधि दोनों का प्रयोग करते हुए व्याकरणदर्शन की दृष्टि से प्रमाण–सिद्धान्त को प्रतिस्थापित करता है।

स्वामी करपात्री जी ने वेदों के स्वतः प्रामाण्यवाद पर विस्तृत चर्चा करते हुऐ, लम्बे समय से वेद पर विभिन्न व्याख्याओं द्वारा पक्ष–विपक्ष पूर्वक हुए विचार परंपरा को सन्दर्भित किया है। करपात्री जी मानते हैं कि वेदों की व्याख्या यास्क से भी पुरानी है, यास्क के पूर्ववर्ती व्याख्याकारों का उल्लेख निरूक्त के दैवत काण्ड में उपलब्ध होता है। यास्क एवं सायण के बीच विधिवत् व्याख्यान में एक लम्बा व्यवधान दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि स्कन्दस्वामी जैसे कुछ विचारक यत्र–तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इसके अतिरिक्त श्रौतमार्ग के विरोधी सम्प्रदायों का उत्थान एवं तिरोधान होता रहा जिनसे वैचारिक संघर्षों में वेदों की व्याख्या तथा उसके प्रामाण्य पर शास्त्रार्थ चर्चा चलती रही। इन सब पर विचार करते हुए स्वामी करपात्री जी ने इन्हें छः भागों में विभाजित किया है –

(1) श्रौत–स्मार्त मान्यता को ध्यान में रख कर सायणमार्गीय आस्तिक धारा,

(2) आर्यसमाजी व्याख्या,

(3) भाषावैज्ञानिक दृष्टि से पाश्चात्य व्याख्या,
(4) भारतीय विज्ञान (वेदविज्ञान) की जयपुर धारा,
(5) आनन्दकुमारस्वामी की प्रतीकवादी व्याख्या,
(6) महर्षि अरविन्द की व्याख्याविधि।

स्वामी करपात्री जी ने इन सभी व्याख्याओं पर विस्तृत विचार सायण की व्याख्या को परंपरा क्रम में सर्वथा स्वीकार्य मानते हुए और उसी पद्धति का अनुसरण करते हुए वेद के स्वरूप तथा वेदों के स्वतः प्रामाण्यवाद की गंभीर चर्चा की है।[3]

प्रामाण्यवाद के संबंध में पं. सातकड़ि मुखोपाध्याय तथा पं. केदारनाथ ओझा के बीच वर्ष 1961 और 62 में शास्त्रार्थ की परंपरा से भारतीय दर्शनों में प्रामाण्यवाद की समस्या पर नये सिरे से विमर्श प्रारंभ हुआ और दुरूह समझे जाने वाले प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त पर कुछ गहन गंभीर लेख लिखे गये। इसका किंचित अंश में दिग्निर्देश पं. केदारनाथ ओझा के निबन्ध संग्रह विद्यावैजयन्तीनिबन्धमाला से प्राप्त किया जा सकता है।

प्रामाण्यवाद पर इस चर्चा का प्रारंभ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में 1961 में आयोजित बौद्धदर्शन परिषद् अधिवेशन में प्रो. सातकड़ि मुखोपाध्याय के व्याख्यान से हुआ। पं. मुखोपाध्याय ने श्लोकवार्त्तिक, सर्वदर्शनसंग्रह इत्यादि ग्रन्थों में स्वीकृत बौद्धों के परतः प्रामाण्य और स्वतः अप्रामाण्य के विरुद्ध मत प्रकट करते हुए स्वतः प्रामाण्य तथा परतः अप्रामाण्य के मत को शास्त्रसम्मत मानते हुए बौद्ध सिद्धान्त सम्मत बताया। प्रो. मुखोपाध्याय की यह मान्यता है कि बौद्धमतानुसार प्रामाण्य प्रमाता व्यक्ति से भिन्न नहीं है, इसलिए उसकी उत्पत्ति में विरोध नहीं आता है। स्थित प्रामाण्य सभी जगह स्वतः निश्चित नहीं होता, ऐसा बौद्ध पक्ष को समझना चाहिए। प्रामाण्य रहने पर भी उसका होना निश्चित किया जाता है। उसमें नवीन प्रमाणत्व नहीं उत्पन्न किया जाता है। अतः बौद्ध सिद्धान्त का प्रामाण्यवाद के सम्बन्ध में विचार करते समय उत्पत्ति में स्वतस्त्व और ज्ञप्ति में परतस्त्व ही ग्रहण करना उचित होगा।[4]

इसी प्रकार प्रो. मुखोपाध्याय न्यायपरंपरा में स्वीकृत बौद्धों के स्वतः अप्रामाण्यवाद के सिद्धान्त को बौद्ध मत का दूषण प्रतिपादन स्वीकार करते हैं। इस संबंध में तत्त्वसंग्रह को सन्दर्भित करते हुए वे कहते हैं कि जिस वस्तु में जिससे जिस स्वरूप का निश्चय होता है, उससे विपरीत शंका की उसी से निवृत्ति होती है। इस कथन से यह स्पष्ट है कि जहाँ जिसका निश्चय है वहाँ उसके अभाव की व्यावृत्ति स्वाभाविक है, घट का निश्चय होने पर घट भिन्न की शंका नहीं होती, प्रामाण्य निश्चय हो जाने पर अप्रामाण्य शंका का पर्युदास स्वतः सिद्ध है, उसके लिये दूसरे यत्नों की आवश्यकता नहीं है। सर्वदर्शनसंग्रहकार के द्वारा बौद्ध मत की दृष्टि से अप्रामाण्य का स्वतस्त्व जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है वह सिद्धान्तानुकूल न होकर भ्रामक है। यदि ज्ञान का स्वाभाविक प्रामाण्य अनुभूत होता तो प्रामाण्य के खोज में प्रवृत्ति ही कैसे होती। अप्रामाण्य पर विचार करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि अप्रामाण्य ज्ञानसामग्री मात्र से नहीं पैदा होता है, अपितु दोष रूप दूसरे कारण के समवधान से पैदा होता है। इसलिये अप्रामाण्य का परतस्त्व है।[5]

पं. केदारनाथ ओझा, प्रो. मुखोपाध्याय के द्वारा परंपरा में ग्रहीत सिद्धान्त के विरुद्ध नयी मान्यता की स्थापना के प्रयास पर अपनी आपत्ति दर्ज करते हुए लिखते हैं कि सर्वदर्शनसंग्रह, विवरणप्रमेयसंग्रह और न्यायवार्त्तिक तात्पर्यटीका में वर्णित बौद्धसिद्धान्त शास्त्रशुद्ध हैं। नैयायिकों का दोष प्रयोज्य अप्रामाण्य परतः है क्योंकि न्यायमतानुसार भ्रम स्थल में दूरस्थ रजत का किंचित प्रकार से भान होता है, किन्तु बौद्ध मतानुसार सर्वदा सन्निहित बुद्धिस्थ रजत का भान होता है। सभी साकार विज्ञानों में समनन्तर प्रत्यय और आलम्बन प्रत्यय अपेक्षित हैं। समनन्तर और आलम्बन प्रत्यय ज्ञानजन्य सामग्री है। अतः सामान्यज्ञानसामग्री से ग्राह्य होने के कारण अप्रामाण्य का स्वतः उत्पाद स्वीकार किया जा सकता है।[6]

इसी प्रकार प्रामाण्य का परतः ग्रहण ही बौद्धसिद्धान्त सम्मत है इसको प्रतिपादित करते हुए पं. ओझा जी कहते हैं कि यदि इस व्याख्या को कि बौद्धों में भी प्रमा का प्रामाण्य स्वतोग्राह्य स्वीकार किया गया है, मान लें तो यह बौद्धों की मूल प्रतिस्थापनाओं को ही नष्ट कर देगा और प्रो. मुखोपाध्याय का समस्त व्यायाम निरर्थक सिद्ध हो जायेगा। वे प्रामाण्य के स्वतस्त्व का परिष्कार करते हुए कहते हैं कि ज्ञान ग्राहक से ग्राह्य होता है। यदि इस लक्षण को स्वीकार किया जाय तो सभी स्थलों, सिद्धान्तों में ग्राहक से ग्रहीत सामान्य पक्ष है, तब ऐसी स्थिति में कोई भी प्रामाण्य परतोग्राह्य नहीं बचता है; और अप्रामाण्य भी स्वतोग्राह्य ही हो जायेगा, अतः इसको नहीं स्वीकार किया जा सकता है।[7]

प्रामाण्य सम्बन्धी उपर्युक्त शास्त्रार्थ–संवाद इस दिशा का दिग्निर्देश करता है कि विगत बीस वर्षों में संस्कृतज्ञ किस प्रकार से भारतीय दर्शनों में साम्प्रदायिक निष्ठा को स्वीकार करते हुए अपने–अपने सिद्धान्तों के अनुकूल प्रमाण विषयक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के परिष्कार के प्रयास करते रहे हैं। इस आशा में पं. राजराजेश्वर शास्त्री द्राविड़, पं. बदरीनाथ शुक्ल, पं. हरेराम शुक्ल इत्यादि श्रेष्ठ आचार्यों द्वारा विविध स्थलों पर परिष्कार के प्रयास हुए हैं। समवाय, व्याप्ति तथा सामान्यतोदृष्ट अनुमान आदि कुछ ऐसे आकार स्थल हैं, जिन स्थलों के परिष्कार की एक प्रकृष्ट एवं जीवन्त परम्परा इन विद्वानों के द्वारा प्रवर्तित हुई है ।

II

तत्त्वशास्त्र विषयक चिन्तन में विगत पचास वर्षों का मूल्यांकन किया जाय तो संस्कृत भाषा में हुए दार्शनिक चिन्तन की दृष्टि से नहीं अपितु समस्त भारतीय भाषाओं में हुए चिन्तन की दृष्टि से दो दार्शनिक महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज तथा पं. बदरीनाथ शुक्ल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं अप्रतिम स्थान रखते हैं। कविराज जी भारतीय चिन्तन में आगम और निगम की दो शाश्वत एवं समानान्तर धाराओं को समन्वित करते हैं और अपने साधनात्मक अनुभवों को रूपायित करते हुए एक ऐसी नवीन दृष्टि का उन्मेष करते हैं जो भारतीय दर्शन को सिद्धान्त से ऊपर उठाकर व्यवहार की भूमि तक प्रतिष्ठित करने में सहायक है। वहीं पं. बदरीनाथ शुक्ल नव्यदेहात्मवाद नामक एक ऐसे सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं जो भारतीय दर्शन में भौतिकवादी दृष्टि से आत्मा को प्रस्तुत करने का एक अद्भुत प्रयास है। जहाँ म.म. गोपीनाथ कविराज के चिन्तन में साधना का बल है, वहीं पं.

शुक्ल जी न्याय दर्शन के अगाध पांडित्य से युक्त अपनी प्रतिभा का अत्यन्त कौतुकपूर्वक प्रयोग करते हुए तर्क एवं युक्ति से पुष्ट दार्शनिक चिन्तन का प्रतिनिधित्व करते हैं।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज की यह मान्यता है– तत्त्वचिन्तन विचारशील मनुष्य का स्वभाव है। मैं कौन हूँ ? मेरा गन्तव्य क्या है ? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ? इत्यादि प्रश्न विचारशील मनुष्य की मूल आकांक्षा के अन्तर्गत आते हैं। अन्तर्दृष्टि के उन्मेष की पृष्ठभूमिका के रूप में ही अपने को जानने की आकांक्षा जागृत होती है। यद्यपि जो 'मैं' हूँ, वह देहादि से पृथक् है, यह ज्ञान होते हुए भी 'मैं' यथार्थ में क्या हूँ इसको जानने का प्रयास अनवरत चलता रहता है।[8]

यदि स्वीकार किया जाय कि मैं वही हूँ अर्थात 'सोऽहम्' तो वह या 'वही क्या है जो मैं हूँ। उसी वह या वही के साथ तादात्म्य हो जाना ही मुझे मेरे स्वरूप की अवगति करा देता है, मुझे मेरे स्वरूप में अवस्थित कर देता है। अर्थात 'वह' जो दूसरा लगता है क्या उसी को पहचानना, पाना वास्तव में अपने को पहचानना, अपने को पाना है। किन्तु मूल पर विचार का प्रारंभ करते ही निज तथा पर कहाँ बना रहता है। वहाँ तो द्वैत नहीं हो सकता, अद्वैत भी नहीं है। सत्, असत् इत्यादि विकल्पों का प्रयोग भी संभव नहीं है। वह विश्वातीत और विश्वात्मक, एक साथ दोनों अथवा दोनों नहीं है। यह निगूढ़तम अव्यक्त स्थिति योगियों के समाज में परमसाम्य रूप में, ज्ञानियों के समाज में पूर्ण ब्रह्म के रूप में तथा रसिक मण्डल में रस के रूप में वर्णित है।[9]

किन्तु गोपीनाथ कविराज के परमसत्ता के इस विवेचन को बहुश्रुत शास्त्रज्ञ के द्वारा समन्वय के प्रयास के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। क्योंकि कविराज जी एक स्थान पर स्पष्टतः कहते हैं कि बहुत से शास्त्रों को पढ़कर अथवा सुनकर उनका समन्वय न कर पाने के कारण जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं वह यथार्थ प्रश्न नहीं है। समन्वयपूर्वक प्राप्त होने वाला उत्तर भी यथार्थ उत्तर नहीं है। समन्वयमूलक प्रश्न शास्त्रीय विचार सभा में पूर्व पक्ष की स्थापना के लिये यथेष्ट रूप में उपयोगी हो सकते हैं परन्तु उनको यथार्थ प्रश्न नहीं कहा जा सकता है। सृष्टि प्रक्रिया को अनुभवगम्य बताते हुए वे कहते हैं कि इस अद्वय तत्त्व में एक स्पन्द उठता है। यह स्पन्द प्रणव का उल्लास है, यह विशुद्ध सत्वमय महामाया का उन्मेष है, यह नित्य–सिद्ध अवस्था है, पर बुद्धि क्षेत्र में चरम परम दशा के परक्षणवर्ती के रूप में प्रतिभासमान होती है। सच्चिदानन्दमय पूर्ण अद्वय स्थिति के ऊपर स्पन्दन के उदय या प्रणव के प्रकाश से एक ओर चित् दूसरी ओर सत् अनादि सिद्ध रूप से ही फूट पड़ते हैं। यह विरुद्ध भाव के प्रथम स्फुरण की पृष्ठभूमि है।[10] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गोपीनाथ कविराज ने वैदिक एवं आगमिक धारा के चिन्तन को साधना और साधनालभ्य अनुभव के आधार पर एकीकृत करने का मौलिक प्रयास किया है।

कविराज जी मुक्ति के स्वरूप और रहस्य को उद्घाटित करते हुए कहते हैं कि केवल ज्ञान के उदय में ही जीवन मुक्ति नहीं होती है। मुक्ति के आस्वादन के लिये उदित ज्ञान का बौद्धिक अनुभव भी आवश्यक है। ज्ञान का उदय केवल आवरण निवृत्ति के रूप में ही पहले प्रकट होता है। उसके बाद बुद्धि के द्वारा उसकी अनुभूति होती है। यहीं

जीवन्मुक्ति की अवस्था है तथा विक्षेप शक्ति के पूर्ण तिरोधान अर्थात् प्रारब्ध के अवसान में तदुत्पन्न देह का परिहार होने पर शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिति होती है।[11]

यदि तत्त्वशास्त्र के क्षेत्र में पं. राजराजेश्वरशास्त्री द्राविड़, पं. केदारनाथ ओझा तथा पं. हरेराम शुक्ल के बीच सम्पन्न शास्त्रार्थ–पद्धति से लेखन की संवाद–परंपरा का उल्लेख न किया जाय तो विगत 50 वर्षों में विकसित हुई परम्परा को ठीक से नहीं समझा जा सकता है। न्याय–कुसुमांजलि में ईश्वर सिद्धि की आवश्यकता तथा पृष्ठभूमि की व्यापक चर्चा तथा ईश्वर सिद्धि के हेतुओं के परिष्कार से परिपूर्ण, पं. राजराजेश्वरशास्त्री द्राविड़ द्वारा लिखित 'न्यायकुसुमांजलिः' नामक निबन्ध से प्रारंभ हुई चर्चा, जिसमें पण्डितराज ने आयुर्वेद और भौतिक विज्ञान से प्रारंभ कर भूततत्त्व, भूपरिणाम तथा ईश्वर पर व्यापक विचार करते हुए उपादान विषयक अपरोक्ष ज्ञान, चिकीर्षा और कृतियों की समष्टि रूप ईश्वर तत्त्व का पर्यवसान इस प्रस्थापना के साथ किया है कि समष्टि ईश्वर तत्त्व सबको अभिप्रेत है। वे कहते हैं कि चार्वाक सम्मत जड़ भूतों का परिणामवाद स्वभाववाद को जन्म देता है। अतः एक नित्य और स्वभाव विषयक अहन्ता रूप ईश्वर को स्वीकार करना होगा। किन्तु इस पर बौद्ध पक्ष से आपत्ति आती है कि सर्वज्ञत्व योगज धर्म से जन्य होने के कारण अनित्य होगा, अतः ईश्वरत्व नहीं आ सकता। जड़कर्मों का परिणाम ही यह सृष्टि है, ऐसा पूर्वमीमांसा का पक्ष है। इन तीनों पक्षों के निराकरण पूर्वक–वह कारणभूत ईश्वर नित्य ज्ञान रूप है, ऐसा न्याय, वेदान्त, तन्त्रादि दर्शनों का मत है।[12]

इस प्रकार पं. राजराजेश्वरशास्त्री द्राविड़ यह मान्यता प्रस्तुत करते हैं कि सभी दर्शनों का अद्वैत में ही उपसंहार है और एकवाक्यता का यह एक पक्ष पहले से ही चला आता है। दीधितिकार, खण्डनखण्डखाद्यकार आदि ने इस पक्ष को प्रायशः पुष्ट किया है। द्वितीय पक्ष भेदवादियों का भी है जो दर्शनों की एकवाक्यता नहीं मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक दर्शन भिन्न–भिन्न भूमिकाओं में ही मोक्ष–मार्ग के प्रदर्शक हैं। न्यायकुसुमांजलिकार के मत का नवीन दृष्टि से व्याख्यान करते हुए पं. द्राविड़ जी इसे वेदान्त के अविरोधी ईश्वर तत्त्व के प्रतिपादक मत के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने नैयायिक, तान्त्रिक, वेदान्तियों के मत को भी एक पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है।

किन्तु इस व्याख्या को सिद्धान्त पक्ष में दोष का आपादन मानते हुए पं. केदारनाथ ओझा की यह कठोर आपत्ति है कि वेदान्त मत में चैतन्य और चेतन एक है, जबकि नैयायिकों का चैतन्य ज्ञान तथा चेतन ज्ञान वाला भिन्न है। नैयायिकों के ज्ञान वाले ईश्वर में कर्तृत्व के उपयोगी ज्ञान–इच्छा, कृति वास्तविक नहीं है। इस प्रकार न्याय के ईश्वर का कर्तृत्व वास्तविक तथा वेदान्त का मिथ्या है। ये अत्यन्त विरुद्ध हैं, अतः दोनों एक नहीं हो सकते हैं और एतदर्थ दोनों का अविरुद्ध एक ईश्वर तत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है।[13]

पण्डित राजराजेश्वरशास्त्री द्राविड़ की प्रस्थापना पर पं. केदारनाथ ओझा की आपत्ति का परिहार प्रस्तुत करते हुये, पं. हरेराम शुक्ल कहते हैं कि पं. राजराजेश्वर शास्त्री द्वारा प्रतिपादित पक्ष को परंपरा का बल प्राप्त है। दीधितिकार तथा मुक्तावलिकार भी यह

मानते हैं कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि अभेद बोधक वाक्य अभेद भावना के यत्न का उपदेश करते हैं। इसी प्रकार वेदान्त में भी निर्विकल्पक ब्रह्म से भिन्न भेद को सिद्ध करने वाली वस्तुओं में वेदान्तियों का अभिनिवेश नहीं है, अतः व्यावहारिक स्तर पर नैयायिकों के अनुमोदन में कोई हानि नहीं है। न्याय प्रतिपादित ईश्वर का भी तात्पर्य दर्शनों की एकवाक्यता दृढ़ करने में है।[14]

इस प्रकार ईश्वर विचार को केन्द्र में रख कर सभी भारतीय दर्शनों को भूमि भेद से समन्वित करने का प्रयास किया गया जिसकी परिणति अन्त में आठवें, नवें दशक में इस विचार के साथ हुई कि भारतीय दर्शनों का पुनर्वर्गीकरण आवश्यक है। इस दिशा में भी व्यापक चर्चा–क्रम प्रारंभ हुआ।

पं. बदरीनाथ शुक्ल ने मौलिक रूप से देहात्मवाद नामक सिद्धान्त की स्थापना की। यद्यपि देहात्मवाद, अनात्मवाद एक दार्शनिक पूर्वपक्ष के रूप में प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में विवेचित है। तथापि आचार्य बदरीनाथ शुक्ल ने उक्त दोनों वादों से पृथक् एक नये वाद की परिकल्पना प्रस्तुत की है जिसे समकालीन दर्शन जगत् में नव्य देहात्मवाद की संज्ञा दी गयी। उनके अनुसार आत्मा द्वारा निवर्तनीय समस्त कार्य देह और मन के द्वारा ही संपादित किया जा सकता है। देहात्मवाद सर्वमतसम्मत एवं क्लृप्त तत्त्व है, अतः अतिरिक्त आत्मा की परिकल्पना अनावश्यक है। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा के विशेष गुणों को दो भागों में विभक्त किया गया है। दृश्य गुण–बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष – इन पाँच दृश्य गुणों को शरीर गुण एवं अदृश्य गुण–धर्म–अधर्म तथा संस्कार – इनको मनोगुण के रूप में स्वीकृत किया गया। इसके पीछे कारण यह है कि बुद्धि, सुख–दुःखादि गुणों को भी मन के गुण मान लिया जाय तो उनकी अदृश्यता की आपत्ति हो जायेगी। क्योंकि न्यायमतानुसार मन अणु है तथा अणु गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता। आचार्य शुक्ल ने पूर्ण प्रयास किया है कि इस स्थापना में न्याय सिद्धान्तों का कहीं भी उल्लंघन न हो। इसी प्रकार यदि धर्माधर्म आदि अदृश्य गुणों को शरीर का गुण मान लिया जाय तो शरीर का प्रतिक्षण उपचय–अपचय होने के कारण तथा अनित्यता के कारण फलभोगवाद सिद्धान्त का विरोध हो जायेगा। इसी दृष्टि से गुणों का उक्त विभाजन किया गया है। इस सिद्धांत की एक और विशेषता है कि इसमें ज्ञानादि को शरीर का विशेष गुण न मानकर सामान्य गुण माना गया है। इस सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल ने विशेष गुण का एक नवीन लक्षण प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार रूप या रस विशेष गुण न हो कर पाकज, अपाकज, नीलादि रूपों, मधुरादि रसों को विशेष गुण माना गया है। लक्षण निम्न प्रकार हैं–द्रव्य विभाजकोपा–धिविशिष्ट – जातिमद्गुणत्वम्।

देहात्मवाद पर शास्त्र–प्रतिपादित मुख्य आक्षेप यह है कि अनुभव एवं संस्कार, कार्यकारणभाव सर्वसिद्धान्त सम्मत हैं किन्तु यदि ज्ञान को, अनुभव को, शरीर का गुण माना जायेगा तो कालान्तर में शरीर के नष्ट होने पर स्मरण की अनुपपत्ति हो जायेगी, कार्यकारणभाव का समानाधिकरण होना आवश्यक है। इस आपत्ति का निराकरण आचार्य शुक्ल अत्यन्त कुशलता से करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि– 'यन्मनोधिष्ठितेन शरीरेणकर्म

तन्मनोधिष्ठितेन शरीरेण भोगः' अतः कार्यकारण भाव के समानाधिकरण्य का निर्वाह भी हो जाता है। अतः मनःशरीरातिरिक्त किसी अन्य आत्मा को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।[15] इस प्रकार वे अतिरिक्त आत्मा को हटा सकने की तार्किक संभावना का द्वार खोलते हैं। इस विचार की विशिष्टता यह है कि इसमें आत्मा को स्वीकार करने की अपेक्षा लाघव है क्योकि यह न्याय की अपेक्षा कम तत्त्वों को स्वीकार करते हुए भी न्याय सम्मत निष्कर्ष तक पहुँचता है।

III

अवधेय है कि विगत पचास वर्षों में संस्कृत के माध्यम से हुए चिन्तन में, विविध दार्शनिक निकायों की तत्त्वमीमांसीय एवं प्रमाणमीमांसीय समस्याओं का परिष्कार मात्र ही नहीं हुआ है अपितु नीतिशास्त्र, राजनीति–दर्शन, सौन्दर्यशास्त्र जैसे ऐसे नूतन दार्शनिक प्रस्थानों पर भी व्यापक विचार हुआ है जहाँ स्वामी करपात्री जी, पण्डित राजराजेश्वरशास्त्री द्राविड़ आदि विचारकों ने राजनीति–दर्शन और नीतिशास्त्र जैसे नूतन प्रस्थानों का भारतीय सन्दर्भों में विकास तथा भारत में परंपरा से प्राप्त विचारों की व्याख्या समकालीन सन्दर्भों में की है वहीं प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने भारतीय परंपरा में स्वीकृत विद्यास्थानों की समुचित विवेचना करते हुए सौन्दर्यशास्त्र नामक नूतन विद्यास्थान का मार्ग प्रशस्त किया है। इस संबंध में स्वामी करपात्रीजी की यह मान्यता उल्लेखनीय है कि "यद्यपि भारत में नये दर्शन के प्रादुर्भाव की जरूरत नहीं है किन्तु समस्त समकालीन समस्याओं का समाधान हो सके इसके लिए उन तत्त्वों की पुनर्व्याख्या अपेक्षित है।" स्वामी करपात्रीजी ने स्वयं इस पर विचार करते हुए राजनैतिक व्यवस्था के दार्शनिक आधारों की व्यापक चर्चा भी की है और उनकी मान्यता है कि धर्म, अर्थ काम, मोक्ष पर आधारित समाज व्यवस्था त्रयी, वार्ता और दण्ड नीति का अनुसरण करते हुए सम्यक् रूप से व्यवस्थित की जा सकती है। राज्य की उत्पत्ति के भारतीय सिद्धान्तों का पल्लवन करते हुए कहते हैं कि जगत् के प्रारंभ में न तो राज्य था न राजा, न दण्ड, न दाण्डिक किन्तु कालक्रम के कारण के साथ मनुष्यों में मोह की उत्पत्ति हुई। मोह ने विवेकशून्यता और लोभ को जन्म दिया। फलतः राग की उत्पत्ति हुई और इस राग ने कार्याकार्यविवेक को नष्ट किया। महाभारत के शान्तिपर्व में उद्धृत इस सिद्धान्त को पुनर्व्याख्यायित करते हुए वे कहते हैं कि यह राज्यविहीन स्थिति ऊपर से मार्क्सवाद में वर्णित साम्य समूह के समान तो दिखाई देती है किन्तु राज्यविहीन समता की उस स्थिति में भी कर्तव्याकर्तव्य, गम्यागम्य, वाच्यावाच्य, भक्ष्याभक्ष्य, दोषादोष, विषयक शास्त्रोक्त विवेक स्वाभाविक रूप से थे। विवेक के विषयों के संबंध में पश्चिम में समता के सर्वोत्तम सिद्धान्त मार्क्सवाद में भी विचार नहीं प्राप्त होता है। उनके अनुसार भारतीय राजनीति–दर्शन की दृष्टि से इस विवेकसम्मत समता में रागजन्य दोषों के आगमन के साथ ही नीति के कार्यान्वयन के लिए दण्डशक्ति की आवश्यकता पड़ी, जिसने राज्य को जन्म दिया। दण्डशक्ति, दण्डनीति के आधार पर वर्णाश्रम–धर्म की व्यवस्था के अनुरूप मानव समाज के नियंत्रण के लिए जिम्मेदार थी। यह व्यवस्था पश्चिम के अधिकार केन्द्रित राज्यव्यवस्था के विपरीत कर्त्तव्य पर आधारित थी। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण जो सर्वश्रेष्ठ था, उसकी श्रेष्ठता शीलवृत्ति, उन्छवृत्ति पर

आधारित थी अर्थात् अधिकतम त्याग और न्यूनतम उपभोग ही समाज में नीति का आधार था। इस नीति को राजनीतिदर्शन विधायी आधार प्रदान करता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राज्य की केन्द्रीभूत सत्ता की प्राप्ति का अधिकार केवल क्षत्रिय या ब्राह्मण के पास सुरक्षित है। इसका उदाहरण महाभारत में, श्रीमद्देवीभागवत में बहुशः प्राप्त होता है। वस्तुतः भारतीय समाज की सकल समस्याओं का समाधान या समस्याओं का कारणमात्र दर्शन के साम्प्रदायिक ग्रन्थों में देखने वाले लोग, मनुष्य के संबंध में विचार की मूल दार्शनिक अवधारणा, जो पुरुषार्थ चतुष्टय पर आधारित है, उससे ठीक से परिचित नहीं है। भारतीय परंपरा में चतुर्विध पुरुषार्थ और उनकी पूर्ति के लिए चतुर्विधशास्त्र उपदिष्ट हैं। सब प्रकार की समस्या के लिए दूसरे प्रकार के शास्त्र के उपयोग से ही समस्या उत्पन्न होती है। अतः भौतिक जगत् की समस्या के समाधान के लिए धर्म, अर्थ, काम के शास्त्रों का ही उपयोग होना चाहिए न कि मोक्षशास्त्र का। आन्वीक्षिकी या दर्शन मोक्षशास्त्र है, अतः उससे सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए व्याख्यान कठिनाई उत्पन्न करेगा। इस संबंध में स्वामी करपात्रीजी की पुस्तक राजनीतिदर्शन बिन्दु द्रष्टव्य है।[16]

सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने 'सौन्दर्यदर्शनविमर्शः' नामक एक ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसमें उनका प्रस्ताव है कि कला और प्रकृति दोनों के रमणीय तत्त्वों के अनुशीलन हेतु सौन्दर्यशास्त्र नामक नवीन विद्यास्थान की आवश्यकता है। यद्यपि प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के पूर्व प्रो. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अंग्रेजी में कम्परेटिव एस्थेटिक्स नामक ग्रन्थ में कलाशास्त्र को केन्द्रित कर सौन्दर्यशास्त्रीय समस्याओं पर विचार किया किन्तु प्रो. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने सौन्दर्यशास्त्र को कलादर्शन या कलाशास्त्र की परिधि में रखते हुए इसमें दर्शन और विज्ञान दोनों ही प्रविधियों की प्रयोजनीयता को स्वीकार किया। इस प्रकार से सौन्दर्यशास्त्र पद्धतिगत विमर्श की दृष्टि से न तो अन्वेषणमूलक विज्ञानों की श्रेणी में रखा जा सकता है, न तो उसे शुद्ध दार्शनिक अनुचिन्तन के शास्त्र के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु स्वातंत्र्योत्तर भारत की दार्शनिक परम्परा में प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ऐसे स्वतंत्र चिंतक हैं जो सौन्दर्यशास्त्र को स्पष्टतः सांस्कृतिक विद्या मानते हैं। वे इसे विज्ञान नहीं मानते, उनके अनुसार मनुष्यों द्वारा शब्दादि से अनुविद्ध अभिप्रायनिवेदन, लोकचेतना पर अवलम्बित होकर के शब्दादि से, अर्थ के विभिन्न जगत् का निर्माण करता है, अतः यह संस्कृति विद्या ही है।[17]

इस संबंध में यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि आचार्य पाण्डेय अपने पूर्ववर्ती सौन्दर्यशास्त्रियों की तरह से खींचतान कर भारत में सौन्दर्यशास्त्र की किसी परंपरा की सिद्धि का प्रयास नहीं करते, अपितु इन्होंने स्पष्टतः यह स्वीकार किया है कि शब्दतः सौन्दर्यशास्त्र से जिस प्रकार का चिन्तन ग्रहण होता है वह भारतीय परंपरा में प्राप्त नहीं है। उनकी यह भी मान्यता है कि इस अप्राप्ति का कारण विद्यास्थान के गणना या निर्धारण की विधि का अन्तर है न कि विद्या का अभाव। यही कारण है कि भारतीय परंपरा में सौन्दर्यशास्त्र नामक किसी स्वतंत्र विद्यास्थान की प्राप्ति नहीं होती। उनकी यह मान्यता है कि सौन्दर्यशास्त्र नामक विद्यास्थान वर्तमान भारतीय चिन्तन की आवश्यकता है। किन्तु विद्यास्थान या शास्त्र के रूप में नई परंपरा का उद्भावन् कुछ शर्तों के अधीन ही हो सकता

है। यदि शास्त्रोपदेश के लिए आवश्यक शर्तों या विधियों का पालन नहीं किया जाय तो शास्त्र उपदिष्ट नहीं होता है या शास्त्रत्व की व्यर्थता सिद्ध होती है, वे इसके लिए आवश्यक शर्तों की गणना करते हुए प्रयोजनात्मक अपेक्षा तथा भूमिभेद को अनिवार्य मानते हैं।[18]

इन शर्तों को पूरा करने वाला विषय निबन्धन अलग शास्त्र के रूप में समझा जा सकता है। अर्थात् "विषयैकत्वे सति शास्त्रैकत्वम्" इस नियम के आधार पर विषयभेद से अनेक शास्त्र संभव स्वीकार किये जा सकते हैं। फलतः आधुनिक युग में स्वीकृत सौन्दर्यशास्त्र नामक विद्यास्थान प्रकृति एवं कलादि में रमणीय तत्त्व के परीक्षण का साधन होने के नाते एक नवीन शास्त्र के रूप में भारत में भी स्वीकार किये जाने के सर्वथा योग्य है।

किसी विषय पर कृत चिन्तन या विचारणा को शास्त्र के रूप में स्वीकार किये जाने के लिए प्रयोजन एक आवश्यक शर्त है क्योंकि निष्प्रयोजन होने पर शास्त्रत्व सिद्ध नहीं होता है। इस पर विचार करते हुए आचार्य गोविन्द चन्द्र पाण्डेय यह प्रश्न उपस्थापित करते हैं कि संगीत, शिल्प, नाट्य इत्यादि अपने–अपने लक्ष्यों के प्रतिपादक हैं, इनके द्वारा पुरुष को प्राप्त होने वाले बोध भी अलग–अलग हैं। अतः सौन्दर्यशास्त्र नामक सर्वसमावेशीशास्त्र का विशिष्ट रूप में साध्य 'अर्थ' क्या है इस पर विचार अपेक्षित है। यह वह बिन्दु है जहाँ आचार्य गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, सौन्दर्यशास्त्र को कलाशास्त्र से अलग करते हुए उसे आस्वाद–शास्त्र के रूप में प्रतिस्थापित करते हैं।

जहाँ तक सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में मौलिक अवदान का संबंध है, आचार्य पाण्डेय ने ज्ञानमीमांसा या सौन्दर्यानुभव के संज्ञानात्मक पक्ष को विधिपूर्वक विवेचित किया है। यदि सौन्दर्यशास्त्र पुरुषार्थ बोध की अन्वीक्षा है तो यह कार्य–कारण संबंध पर आश्रित बाह्यार्थ तथा ज्ञानावलम्बी आकारात्मक पदार्थ दोनों ही नहीं हो सकता। अतः इसे आत्मबोध वृत्तिविशेष ही स्वीकार करना होगा और आत्मबोध की ज्ञानात्मकता भी माननी ही होगी। यह ज्ञानात्मकता त्रिस्तरीय है–

सौन्दर्यबुद्धि प्रथम जायतेऽथ परीक्ष्यते।
अन्वीक्ष्यते यो न्यायात् त्रिपर्वा ज्ञानपद्धतिः।।

अर्थात् सौन्दर्यशास्त्र का विषय प्रथमतः प्रतिभा का उन्मेष करने वाली प्रत्यक्ष बुद्धि है। जैसे मेघ के दर्शन से, युवती के दर्शन से, अहो मेघः! अहो युवती! इत्यादि जो अभिव्यक्ति होती है यह प्रथम स्तर है और इसका जब व्यक्त, स्फुट बिम्ब प्रादुर्भूत होता है तो कवि कह उठता हैः 'कुसुमिव लोभनीय यौवनमङ्गेषु सन्नद्ध, यहाँ अर्थदर्शन के पश्चात् उसमें जनित आस्वाद का विकल्पन करके स्वविकल्पित आकार को दूसरों के लिए संप्रेषित करने का व्यापार सम्पन्न हुआ है। यही समीक्षा–बुद्धि भी है। इसकी परीक्षा उसी अविच्छिन्न धारा में होती , जिसमें व्यावृत्ति प्रधान बुद्धि के द्वारा लक्षणों को अध्यवसित करके सम्बद्धशास्त्र के संबंध में हुई प्रवृत्ति को प्रस्तुत किया जाता है और इस अनुभूति की व्यापक तत्त्वान्वीक्षा ही दार्शनिक कर्म हैं तथा इसे सौन्दर्यमीमांसा कहा जा सकता है। इस

प्रकार आचार्य पाण्डेय कलासृजन, कला समीक्षा और सौन्दर्यमीमांसा इन तीनों को अलग–अलग करते हुए सौन्दर्यशास्त्र को सुन्दर तत्त्व की आलोचना के शास्त्र के रूप में प्रस्तावित करते हैं। इस प्रकार से सौन्दर्य बोध तथा तद्जनित प्रक्रिया की ज्ञानात्मकता भले ही न हो, उस संशय और अनुभव की अन्वीक्षा ज्ञानात्मक ही होगी।[19]

इस संबंध में ध्यातव्य है कि पश्चिम की सौन्दर्यशास्त्रीय परंपरा में सौन्दर्यानुभूति की ज्ञानात्मकता को स्वीकार नहीं किया गया है। काण्ट एवं परवर्ती प्रत्यक्षवादी दार्शनिक इसके प्रबल विरोधी हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि ज्ञान वही है जिसे सत्य या असत्य निर्धारित किया जा सकता है। किन्तु सौन्दर्यबोध में कल्पना और आवेग का प्राधान्य होने के कारण ऐसा किया जाना संभव नहीं है।

यदि सौन्दर्यशास्त्र तत्त्वनिर्णय का शास्त्र है तो उस तन्त्र के अन्तर्गत ज्ञान स्वरूप की विवेचना अपेक्षित है। यही वह स्थल है जहाँ आचार्य गोविन्द चन्द्र पाण्डेय द्वारा प्रतिपादित सौन्दर्यशास्त्र विषयक चिन्तन उसे भारत की शास्त्रीय परंपरा से जोड़ता है। इसे पुष्ट करते हुए सौन्दर्यदर्शनविमर्श में उन्होंने भारतीय दर्शन की विविध ज्ञानप्रणालियों की समीक्षा करते हुए सौत्रान्तिक बौद्धों के द्वारा प्रतिपादित विकल्पितार्थवाद को युक्ततर मानते हुए इसकी ज्ञान प्रणाली को विवेचित किया है।[20]

भक्ति पर दार्शनिक दृष्टि से गहन विचार इस काल की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। यद्यपि वैष्णव दर्शनों के उदय के साथ ही भारतीय दर्शन में भक्ति केन्द्रित दार्शनिक विचारों का प्राधान्य दिखाई देता है किन्तु इन सबके होते हुए भी जिस तार्किक और युक्तियुक्त प्रतिपादन की दार्शनिक विवेचना में अपेक्षा होती है, उसका उस काल में अभाव है। भक्ति भाव है, या रस है इसको लेकर प्राप्त होने वाली प्राचीन विवेचना को पण्डित गोपीनाथ कविराज और स्वामी करपात्रीजी ने शास्त्रसम्मत और तर्कयुक्त विधि से प्रतिपादित किया है। जहाँ करपात्री जी ने भक्ति को एक रस के रूप में प्रतिस्थापित किया[21], वहीं गोपीनाथ कविराज इसे भाव मानते हैं।[22] स्वामी करपात्री जी ने इसे पंचम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया है और वे कहते हैं कि जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से विरक्त है उसके लिए भी भक्ति अर्थवान् है। भाववाद का पोषण करते हुए गोपीनाथ कविराज यह कहते हैं कि भक्ति आह्लादनी शक्ति की एक विशेष वृत्ति है। आह्लादनी शक्ति महाभावरूपा है अतः भक्ति भी भावरूप है इसमें कोई संदेह नहीं है।[23] इसी आधार को प्रस्तुत करते हुए स्वामी करपात्री जी कहते हैं कि यद्यपि भक्ति आह्लादनी शक्तिरूपा, नित्य तथा विभु है किन्तु यह कथासारश्रवण जनित– चित्तवृत्ति में ही अभिव्यंजित होती है जिससे रसिकों के हृदय में भगवद्गुणश्रवणादि से भावराज्य और उसके विभाव का जन्म होता है, भावनाबल से विभावादि का साधारणीकरण होता है। इन दोनों दृष्टियों का समन्वय समीक्षात्मक और पद्धति आधारित अपनी पुस्तक 'भक्तिदर्शनविमर्शः' में पण्डित गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने किया है।

उपर्यक्त प्रमुख प्रवृत्तियों के अतिरिक्त संस्कृत भाषा के माध्यम से हुए चिन्तन में तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से अनुभववाद, बुद्धिवाद इत्यादि पाश्चात्य दार्शनिक

परंपराओं, रसेल के तार्किक अणुवाद जैसे विशिष्ट सिद्धान्तों पर भी व्यापक विचार होता दिखाई देता है। किन्तु एक आलेख की सीमा में इन सभी विषयों का समावेश कर सकना संभव नहीं है। अतः मैंने कुछ प्रतिनिधि विचारकों और प्रवृत्तियों की ही चर्चा करना उचित समझा है।

***

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

1. *के. सच्चिदान्द मूर्ति, फिलासफी इन इण्डिया, आइ.सी.पी.आर. एवं मोतीलाल बनारसीदास–1991*
2. *केदारनाथ ओझा, विद्यावैजयन्ती निबन्धमाला, मुमुक्षु भवन 1978 पृष्ठ– 696*
3. *स्वामी करपात्रीजी, वेदार्थपारिजात्*
4. *सं. सातकड़ि मुखोपाध्याय, बौद्ध–न्यायप्रामाण्यविमर्शः, सारस्वती सुषमा, वर्ष 15 अंक 1–4, पृष्ठ– 1–17*
5. *पं. सातकड़ि मुखोपाध्याय– प्रत्युत्तर–विद्यावैजयन्ती निबन्धमाला– पृष्ठ 769*
6. *पं. केदारनाथ ओझा, विद्यावैजयन्तीनिबन्धमाला, मुमुक्षु भवन, 1978 पृष्ठ–797*
7. *पं. केदारनाथ ओझा, विद्यावैजयन्तीनिबन्धमाला, मुमुक्षु भवन, 1978 पृष्ठ–801*
8. *कविराज प्रतिभा, सं.सं.वि.वि. 1987, पृष्ठ– 130*
9. *कविराज प्रतिभा, सं.सं.वि.वि. 1987, पृष्ठ–131*
10. *तथैव*
11. *कविराज प्रतिभा, सं.सं.वि.वि. 1987, पृष्ठ 190*
12. *पं. राजराजेश्वरशास्त्री द्रविड़– न्याय कुसुमांजलिः, संस्कृतं, अयोध्या वर्ष 28, अंक–25*
13. *केदारनाथ ओझा–विद्यावैजयन्ती निबन्धमाला भाग, पृष्ठ–549*
14. *केदारनाथ ओझा–विद्यावैजयन्ती निबन्धमाला भाग, पृष्ठ–861*
15. *पं. बदरीनाथशुक्ल– देहात्मवाद, उन्मीलन, वर्ष 14 अंक–2*
16. *दर्शनबिन्दुसङ्ग्रह, प्रथम भाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी–प्रथम संस्करण*
17. *गोविन्द चन्द्र पाण्डेय– सौन्दर्यदर्शनविमर्श, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1995 पृष्ठ– 3 एवं 11*
18. *गोविन्द चन्द्र पाण्डेय– सौन्दर्यदर्शनविमर्शः, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1995 पृष्ठ– 3,4 एवं 7*
19. *गोविन्द चन्द्र पाण्डेय–सौन्दर्यदर्शनविमर्शः, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1995 पृष्ठ–14 एवं 24*
20. *गोविन्द चन्द्र पाण्डेय–सौन्दर्यदर्शनविमर्शः, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1995 पृष्ठ–14 एवं 21*
21. *दर्शनबिन्दुसंग्रहः – प्रथम भाग पृष्ठ–259 सं सं वि.वि., वाराणसी*
22. *गोपीनाथ कविराज, भक्तिमीमांसा 1/1/3, सरस्वती भवन स्टडीज, टवस. 2 ए पृष्ठ– 65*
23. *तदैव पृष्ठ– 81*
24. *दर्शनबिन्दुसंग्रहः, प्रथम भाग – पृष्ठ– 258*

परिच्छेद : दो

भूत और भाव्य के बीच स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन

कुछ ऐतिहासिक कारणों और सांस्कृतिक कारणों से इस समय समूचा देश अपने को समकालीन पश्चिम के साँचे में ढालना चाहता है। इसी प्रवाह के अन्तर्गत अनेक दार्शनिक कहते हैं कि हमें दर्शन के स्वरूप, विधि, प्रश्न और लक्ष्य में नये अवधारण अपनाने चाहिए, तभी मौलिक और मूल्यवान रचनाओं के द्वारा दर्शन की प्रगति सिद्ध होगी। मुझे ऐसा लगता है कि ये नवीन दार्शनिक अवधारण दार्शनिक प्रगति के निश्चित सूचक न होकर केवल विचार के सांस्कृतिक सन्दर्भ बदलने की समकालीन प्रेरणा से उत्पन्न है। परम्परागत धर्म के इस ऐहिक और आभ्युदयिक दृष्टि के विकास, एवं वैज्ञानिक और शैल्पिक प्रगति से प्रेरित होकर पश्चिमी सांस्कृतिक सन्दर्भ में दार्शनिक चिन्तन का एक नवावधारण प्रस्तुत हो रहा है जो कि हमारे राष्ट्रीय आधुनिकीकरण के प्रयास के साथ केवल प्रवाह-पतित रूप में हमारे लिए स्वीकार्य होता जा रहा है। इस नये अवधारण की दार्शनिक अनिवार्यता और उसके मूल्य सन्दर्भ और ज्ञान सन्दर्भ की उपादेयता हमारे लिए नितान्त विचारणीय है।

* * *

प्राय: विश्वविद्यालयों में भारतीय दर्शन का अत्यन्त संक्षिप्त और सामान्य परिचय दिया जाता है और अनेक नवीन पाठ्यक्रमों में वह भी वैकल्पिक अथवा विलुप्त होता जा रहा है। 'दार्शनिक विधि' अथवा 'दार्शनिक समस्यायें' 'नीतिशास्त्र' अथवा 'तर्कशास्त्र' इस प्रकार के नामांकित पाठ्यक्रमों को देखने से लगता है कि दर्शन में शायद चिर अभीप्सित अकालिकता अथवा विज्ञानोपम प्रगतिशील समकालिकता का ही सार्वभौम पद पर यथारुचि मूर्धाभिषेक है। आवश्यक यह है कि भारतीय दार्शनिक अपनी अतुल विरासत को आत्मसात् कर भारतीय सन्दर्भ में आधुनिकता और मौलिकता का लाभ करें। इस प्रकार परम्परा से अविच्छिन्न किन्तु परिवर्तित परिवेश की ओर सजग दर्शन ही सही अर्थ में प्रगतिशील हो सकता है और अपनी विशिष्टता के कारण ही वह वास्तविक विश्वसनीयता प्राप्त कर सकता है जिसका अर्थ सर्वस्वीकार्यता है न कि संस्कृति निरपेक्षता है, क्योंकि यह असम्भव है, अपितु मूल्याभिसम्बद्ध गंभीर और मार्मिक दृष्टि की तार्किक कल्पना के सर्व गोचर स्तर पर व्यवस्थित अभिव्यक्ति है। जहाँ तक दर्शन का विशिष्ट रस तार्किक है, उसकी सार्वभौमिकता सहज सिद्ध है, किन्तु दर्शन का उत्कर्ष केवल इस विशिष्टता के उत्कर्ष से सिद्ध नहीं होता। केवल तर्क-स्वाद गणितादि में और अधिक देखा जा सकता है। दर्शन की विशिष्टता के लिए मूल्याभिसम्बन्ध या मानवीय सार्थकता उतनी ही आवश्यक है जितनी तार्किकता। इनमें से केवल एक पक्ष के आग्रह से दर्शन लंगड़ाने लगता है।

※

गोविन्द चन्द्र पांडे : *अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के बड़ौदा अधिवेशन (1967) के अध्यक्षीय भाषण से साभार*

भारतीय दर्शन : सिंहावलोकन एवं भविष्यबोध

सुरेन्द्र बारलिंगे

भारतीय दर्शन का तात्पर्य सामान्य रूप में हम लोग प्रायः भारतीय मूल और अभिजात दर्शन को समझते हैं। उसमें इस्लामी, ईसाई, यहूदी और पारसी विचार–पद्धति को सम्मिलित नहीं करते। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस देश के चिन्तकों ने इस्लाम या ईसाई विचार–पद्धति पर कुछ लिखा नहीं था। हिन्दू–दर्शन की आलोचना किसी तीसरे व्यक्ति के दृष्टिकोण से नहीं की थी। किन्तु उनके विचारों को समकालीन स्थितियों में हिन्दुओं से दूर रखने के प्रयत्न हुए हैं। आपसी सद्भाव तथा दूसरों के विचारों को प्रेषणीयता की दृष्टि से स्पष्ट करना आवश्यक माना गया। भारतीय दर्शन को महत्त्व न देने के कारण यह सब हुआ है। प्राचीन काल में, आरम्भ में स्थिति कुछ और ही थी। जब वराहमिहिर ने खगोल–विज्ञान पर लिखा तो उन्होंने यवनाचार्य का अभिवादन किया था। खगोल–विज्ञान के तथा गणित ज्योतिष के ये चिन्तक संभवतः ग्रीक थे और ग्रीस,पेलेस्टाइन, इजिप्त और क्रेट में आवास करते थे। मेगास्थनिज के संस्मरणों से जो हमें मैक क्रिण्डल (Mc Crindle) से मालूम हुए हैं; हमें ज्ञान होता है कि दण्डमिज (Dandmis) नामक चिन्तक हुआ जिसका चिन्तन वेदान्त के अद्वैत सदृश रहा है। इसी तरह स्पिनोजा के उस पत्र से भी, जो उसने अपने छात्रों को लिखा था, उससे भी कुछ जानकारी मिलती है। उन छात्रों ने, स्पिनोजा के धार्मिक समुदाय के साथ हुए वाद–विवाद में प्रमुख रूप से भाग लिया था। उस वाद–विवाद में स्पिनोजा हिन्दू दर्शन को उद्धृत करता है और सुझाव देता है कि यूरोपवासियों को पूर्वाग्रहों का त्याग करना चाहिए; संकुचित दृष्टिकोण से मुक्ति पाकर हिन्दू दंर्शन पढ़ना चाहिए। गणित की तरह संभवतः उपनिषदों का चिन्तन भी वहाँ से यूरोप में मोरक्को और स्पेन होते हुए उन लोगों के द्वारा मध्यकाल में पहुँचा है। बौद्ध दर्शन निश्चित ही भारत से बाहर फैल गया था। भारत से वह दर्शन श्रीलंका, थाइलैण्ड, कम्पूचिया, वियतनाम, मलाया, मंगोलिया, मंचूरिया, तिब्बत, चीन तथा जापान तक पहुँच गया था। संभवतः महमूद गजनवी के दरबार में रहने वाले विद्वान् इतिहासकार अलबरुनी भारतीय विद्याओं के ज्ञाता थे। इसी तरह जैनों की विचार–पद्धति भी भारत से बाहर जैन व्यापारियों के माध्यम से पहुँची है।

किन्तु मध्यकाल में व्यापक दृष्टिकोण के अभाव में औरों के साथ संवाद बनाए रखने की स्थिति का ह्रास हुआ है। भारतीयों के सामाजिक तथा सांस्कृतिक विचार प्रायः संकुचित

होते गये। इसके कारण भारतीयों ने विदेशी भाषाओं को सीखना बन्द कर दिया। यहाँ तक कि हिन्दुओं ने स्वयं अपने मूल दार्शनिक ग्रंथों को पढ़ना बन्द कर दिया। कुछ धार्मिक सम्प्रदायों ने गोपनीयता रखनी शुरू की। वे अपनी साधना–पद्धतियों और उनसे संबंधित विचारों को पूरी तरह से उजागर नहीं करते थे। उदाहरण के लिए महानुभाव पंथी इसी प्रकार का है। महानुभाव–पंथ को मानने वालों ने अपने वाङ्मय को सुरक्षित रखने के लिए अलग प्रकार की कूट या गुप्त लिपि का विकास किया। पारम्परिक हिन्दू दार्शनिकों में, कहिए जो न्याय के आचार्य थे, उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि हम अपने से बाहर की किसी विचारधारा को स्वीकार न करें–भले ही वह विचारधारा कितनी ही अच्छी हो, उपयोगी हो या बुद्धि को जँचती हो। जैसे हम कुत्ते की खोपड़ी में डाले हुए शुद्ध दूध को स्वीकार नहीं करते, वैसे ही बाहरी विचारों को भी स्वीकार नहीं करते। इस तरह भारतीय दर्शन एक प्रकार से साम्प्रदायिक हो गया।

यह सब कहने का तात्पर्य यह नहीं कि वाद–विवाद तथा संवाद के कोई प्रयत्न हुए ही नहीं। किसी–न–किसी तरह इस प्रकार की जड़ता को दूर करने के लिए आलोचनाएँ हुई हैं। छल और वितण्डावाद भी इससे बढ़ा है। रामानुज और मध्वाचार्य ने शंकर के विरोध में आलोचनाएँ की हैं। उनके तर्कों को उदाहरण स्वरूप समझा जा सकता है। कुछ और भी प्रसंग हैं। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें विभिन्न सम्प्रदायों में आपस में वाद–विवाद हुआ है। इस प्रकार की चर्चाओं और वाद–विवादों से भारतीय दर्शन के सिद्धान्त और भी समृद्ध होते गए हैं। किसी–न–किसी रूप में इनका विकास ही हुआ है। इस तरह इनमें अलगाव भी आया और सामंजस्य भी हुआ। वास्तव में, वेदान्त दर्शन इसी तरह आगे बढ़ा है। उसने समवाय पद्धति अपनाई है। अलग–अलग दार्शनिक विचारों के साथ उसके विवाद हुए और इस आधार पर उसने अपने पद्धति को समनुरूप किया। कुछ काल के उपरान्त उनकी विचारधारा में संश्लेषण के अलग ही रूप उजागर हुए। उदाहरण के लिए–न्याय की महत्ता उसकी तर्क पद्धति के कारण मानी गई। न्यायवादियों ने प्रधान रूप से वैशेषिकों की तात्त्विक पद्धति को अपनाया है। किन्तु पूर्वमीमांसा ने दूसरे ही प्रकार की विचारधारा की पद्धति अपनाई है और उत्तर–मीमांसा ने नव्यन्याय की शैली अपनाई है। इस तरह से पूर्व–मीमांसा और वेदान्त खण्डन–खण्ड खाद्य की तरह और अद्वैतसिद्धि नव्यन्याय की शैली में लिखे गये। इसी तरह पूर्व–मीमांसा के विधि–विधान और आगे बढ़ गये। उसे उन लोगों ने भी अपनाया जो अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखते थे। यहाँ पर इस बात की ओर संकेत करना चाहूँगा कि भारत में दर्शन के वर्गीकरण का स्वरूप कुछ अलग ही था। आज उनका वर्गीकरण जिस तरह किया जाता है, वैसा नहीं था। शुद्ध तत्त्वज्ञान या शुद्ध तर्कवाद या शुद्ध नीतिशास्त्र जैसे लक्ष्य पहले नहीं थे और चूँकि वर्गीकरण प्राकृतिक नहीं है और वह सिद्धान्तों पर आधारित, जिसे सम्प्रदाय विशेष मानते रहे हैं। अतः उसे पाश्चिमात्य पद्धति के अनुरूप मानने की आवश्यकता नहीं। वास्तव में, यदि किसी को भारतीय विचार–पद्धति को समझना हो तो वह उसकी भिन्न–भिन्न प्रणालियों को जानने का प्रयत्न करें। पाश्चिमात्य पद्धति से भारतीय विचारों को नहीं समझा जा सकता।

भारतीय चिन्तन प्रणाली में ज्ञान को अधिक महत्त्व दिया जाता है। और वास्तव में ज्ञान का अर्थ नालेज (Knowledge) से अधिक व्यापक है। यह उचित नहीं कि हम लोग ज्ञान का पर्याय नालेज मान लेते हैं।

भारतीय दर्शन, जैसे कि कहा गया है, हमारे अपनी जिज्ञासाओं का परिणाम है। इसीलिए भाषिक विश्लेषण को हमारे यहाँ स्वतंत्र मान्यता नहीं मिली है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस ओर बिल्कुल ध्यान ही नहीं दिया गया। उदाहरण के लिए–विश्लेषण की अवधारणा है। यह कहना भी संभवतः गलत होगा कि उन्होंने अपने भाष्यों में भाषिक विश्लेषण की दृष्टि से विचार नहीं किया। सामान्य रूप से दार्शनिकों ने और विशेष रूप से काश्मीर के शैव दार्शनिकों ने चार प्रकार की भाषाएँ बतलाई हैं। यह ठीक है कि उन्होंने जो कुछ कहा है, उसे मैं स्पष्ट रूप से समझ नहीं सका हूँ। और ऐसे बहुत से आज दार्शनिक भी हैं जो दर्शन को प्रचलित मुहावरों में व्यक्त करते हैं। काश्मीरी शैववाद का 'परात्रिंशिका' परा भाषा पर लिखा हुआ ग्रंथ है। उसे समझना आज तो हमारे लिए दुष्कर है। और लोग उसे रहस्यपूर्ण समझ सकते हैं। 'स्पन्दकारिका' की स्थिति भी इसी प्रकार की है। तंत्र–दर्शन को भी दूसरी दृष्टि से देखना चाहिए। संभवतः इनमें से किसी को रहस्यपूर्ण मानने की आवश्यकता नहीं। आज, जैसे कि उसे समझा जा रहा है। वह तो एक प्रकार से इच्छा से सम्बन्धित दर्शन है। चार प्रकार की भाषाएँ इस प्रकार हैं– परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। वैखरी वह भाषा, जिसे हम बोलते और लिखते हैं। वह साधारण भाषा है और उस भाषा का दर्शन ही दार्शनिक व्याकरण में परिणत हुआ है, विशेष रूप से पतंजलि और भर्तृहरि ने उस प्रकार का व्याकरण लिखा है। न्यायविदों एवं मीमांसकों ने इन्हीं विचारकों का उपयोग किया, उनकी आलोचनाएँ की और पल्लवन भी किया। साधारण भाषा में शब्द और अर्थ की जो अवधारणा होती है उससे कुछ भिन्न रूप में ही इनका उपयोग किया गया। यह सब उन्होंने कला और कविता से सम्बन्धित दार्शनिक ग्रन्थों में किया है। प्रधान रूप से उन्होंने भाषा को माध्यम मानकर यह सब किया है। कलाओं में संगीत और नृत्य में जो तत्त्व होते हैं उनका प्रतिपादन करने के लिए 'ताल' और 'लय' की अवधारणा के साथ स्पन्द को भी देखा गया है। कलात्मक भाषाओं और साधारण भाषा में कुछ सामान्य तत्त्व होने ही चाहिए। सभी प्रकार की भाषाओं की पृष्ठभूमि में एक प्रकार की सार्वभौमिक भाषा का रूप होना चाहिए जिसे मानव प्राणी अपने में अपनाए हुए हैं। संभवतः जब वे 'परा' के सम्बन्ध में बोलने लगते हैं तो उनके मस्तिष्क में सार्वभौमिक भाषा ही रहती होगी। किन्तु इस बात को अब मान लेना चाहिए कि भारतीय दर्शन में साधारण भाषा मात्र को मूल रूप में अधिक महत्त्व नहीं दिया है।

दूसरी ओर हम अनुभव करते हैं कि पाश्चिमात्य मस्तिष्क को भारतीय दर्शन अधिक धार्मिक प्रतीत हुआ है और कुछ सीमा तक उन्होंने उसे सिद्धान्तवादी मान लिया। मैं ठीक–ठीक अर्थ में उसे सिद्धान्तवादी या मताग्रही नहीं मानता। क्योंकि भारतीयों में जिज्ञासा व्यक्त करने की वैज्ञानिक शैली रही है। वे ऐसा प्रश्न नहीं पूछेंगे कि 'इस लोक का निर्माण किसने किया?' इस लोक के मूल तत्त्व क्या हैं?' इसका तात्पर्य यह नहीं कि

जगत् की व्युत्पत्ति से सम्बन्धित प्रश्न की उन्होंने उपेक्षा ही कर दी। उदाहरण के लिए पुराणों में जगत् की उत्पत्ति से सम्बन्धित प्रश्न भी पूछे गये हैं और उसका उत्तर भी दिया गया है। कहते हैं कि विधाता क्षीरसागर में शेषशय्या पर सो रहा था। उसकी नाभि से कमल के फूल की व्यूत्पत्ति हुई। और उस कमल के फूल पर ब्रह्मा बैठे हुए थे जिन्होंने आज के इस लोक की सृष्टि की। इस लोक की व्यूत्पत्ति का ऐसा ही संदर्भ शंकराचार्य में भी मिल जाएगा। किन्तु व्यूत्पत्ति के इस कथानक में भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व नहीं पाए जाते। इससे हमें केवल इतना ज्ञात होता है कि प्राचीन और मध्यकालीन भारतीयों ने, आज के दार्शनिक जिन समस्याओं पर विचार करते हैं, उस तरह से विचार नहीं करते थे। इसका तात्पर्य यह भी न समझा जाए कि वे इन समस्याओं के बारे में सोचते ही नहीं थे। आज भी एक भौतिकशास्त्री इस बात की बिल्कुल चिन्ता नहीं करता कि पुरातत्त्व या भाषाविज्ञान या नीतिशास्त्र या इतिहास की समस्याएँ क्या हैं? इसलिए यह कहना ठीक नहीं होगा कि प्राचीन चिन्तकों ने समस्याओं का हल खोजने के लिए आज के दार्शनिकों की तरह विचार नहीं किया। इस प्रकार से कहने और उनकी आलोचना करने की जरूरत नहीं है।

भारत में ब्रिटिश सत्ता के आगमन के बाद प्राचीन विचारों को नई समस्याओं का सामना करना पड़ा है। मैकाले की शिक्षा–पद्धति का आरम्भ होने के बाद बहुत बड़ी संख्या में लोगों ने, जो पहले भारतीय दर्शन, कला, कविता, आयुर्वेद आदि पढ़ते रहे, उसे उन्होंने छोड़ दिया ओर उसके स्थान पर ब्रिटिश विचार–पद्धति को सीखना आरम्भ किया। ये लोग पारम्परिक विचारों को भूल गये और उन्होंने पश्चिमी दर्शन पढ़ना शुरू किया। वे पश्चिमी पद्धति से शिक्षा पाने लगे। प्लेटो, अरस्तू और ब्रिटेन के अनुभववादी और सामान्य रूप से कांट, हेगेल, बर्कले, मिल, विलियम जेम्स, हर्बर्ट स्पेन्सर, आदि को विशेष रूप से पढ़ना शुरू किया। भारतीय तो पश्चिमी दर्शन पढ़ने लगे किन्तु विदेशी विद्वान् विलियम जेम्स के बाद से संस्कृत की कुछ श्रेष्ठ रचनाओं का अंग्रेजी में अनुवाद करने लगे। अनुवादों का यह क्रम आगे बढ़ता गया। इनमें फिर जेकोबी, मैक्समूलर, कीथ, श्चेर्वात्स्की (Stcherbatsky) आदि के नाम भी जुड़ते गये। भारतीय ग्रंथों की एक धारा 'पूर्व की पवित्र पुस्तकें' (Sacred Books of the East) के नाम से मैक्समूलर ने सम्पादित की है। यह तो एक उदाहरण है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के श्री गंगानाथ झा ने भी इसी प्रकार का प्रयत्न किया। अब भी कुछ पण्डित ऐसे थे जो अपने ढंग से व्याकरण, न्याय, वेदान्त आदि का अध्ययन करते थे। किन्तु अब तो विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले नये विद्वानों का एक दल तैयार हो गया जो संस्कृत भाषा पढ़ने लगे और वे भी व्याकरण, मीमांसा और वेदान्त के विशेषज्ञ होने लगे। पाश्चिमात्य विद्वान् शोध कार्य में अपने ढंग से निपुण थे किन्तु वे भी जहाँ तक भारतीय विद्या सीखने की बात थी, संभ्रम में ही रहे। इस तरह से अलग–अलग दो दल उभर गये। एक दल में संस्कृत के पण्डित थे– पौर्वात्य और पाश्चिमात्य– जिनका भारतीय और पाश्चिमात्य पद्धति के अनुसार दर्शन का सामान्य प्रशिक्षण हुआ था। वे संस्कृत तथा उससे सम्बद्ध भाषाओं के जानकार थे। इन्हें प्राच्यविद्याविद् (Orients) कहा गया। दूसरे

दल में वे दार्शनिक थे जिन्होंने पाश्चिमात्य दर्शन का अध्ययन किया था। वे पौर्वात्य दर्शन से अनभिज्ञ थे। इन दोनों दलों को जोड़ने के प्रयास दीर्घ काल तक नहीं हुए–प्राच्यविद्याविदों और पाश्चिमात्य पद्धति के विचारकों का मेल बैठ नहीं पाया।

एक तीसरा दल भी जो पाश्चिमात्य विचारों से प्रभावित था और इस बात के लिए भी उत्सुक था कि भारतीय विचार पद्धति का पुनर्मूल्यांकन हो। उनमें क्या जीवित है और क्या मृत है, उसकी खोज की जाए। इस प्रकार के विद्वानों के समूह को पुनरुत्थानवादी कहा गया। इस प्रकार की ज्योति जगानेवालों में बंगाल में राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर हुए। महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले, राजमहर्षि भागवत, न्यायमूर्ति गोविन्द राणाडे, श्री नीलकण्ठशास्त्री गोरे (जो बाद में रेवरण्ड गोरे हो गए) आदि इसी समूह के हैं। वास्तव में स्वामी विवेकानन्द को भी इसी समूह में ही रखना चाहिए। श्री आगरकर और श्री कृष्णाजी केशव दामले (उपनाम केशवसुत) भी इसी समूह के थे।वास्तव में, डांगे जैसे कम्यूनिस्ट विचारक तथा डी.डी. कौसाम्बी और देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय भी इसी समूह में रखे जा सकते हैं। ये सभी प्रकार से सुधारवादी थे और भारत में ज्ञान की नई ज्योति जगानेवाले थे। मेरे विचार से, वे लोग विशेष रूप से दो बातों से प्रभावित थे। एक तो उनमें पुनरुत्थान की भावना थी। इसका कारण औद्योगिक क्रान्ति है और साथ ही वह भावना भी है जिसमें पाश्चिमात्य जगत् में विज्ञान की प्रगति हुई है। दूसरा कारण है, भारतीय विचार–पद्धति में सामान्य रूप से रिक्तता का अनुभव करना। यह सोचना कि जगत् माया है (भ्रम या मिथ्या है)। क्या इस बात पर बिना सोचे या विचार किये ऐसा मान लेना ठीक है? उसकी पृष्ठभूमि में जो ठीक बात कही गई है, उसे पहले जान लेना होगा। श्री गोरे शास्त्री जो ईश्वर में विश्वास रखते थे और मेरे विचार से उनका चिन्तन ठीक था कि अद्वैत पद्धति ईश्वरवादी नहीं है, वह तो नास्तिक पद्धति है। इसलिए उन्होंने ईसाई धर्म को स्वीकार करना ठीक समझा और वे ईसाई धर्मगुरु बन गये। महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज और बंगाल में ब्राह्मो समाज की स्थितियों का इस संदर्भ में अध्ययन करना चाहिए। उनके ठीक–ठीक आकलन की आवश्यकता है। हम लोग 'ब्राह्मो' शब्द के कारणं भ्रमित हो जाते है। वस्तुतः वह शब्द 'ब्रह्म' है। ब्रह्मन् के सम्बन्ध में विचार किया गया कि वह गुणरहित और आकाररहित है (निर्गुण और निराकार है)। 'ब्राह्मो' के सम्बन्ध में विचार कर देखा गया कि उसमें न तो हिन्दू विधि–विधान है और न देवता का कोई आकार है, जो हमें उसकी वास्तविक प्रकृति बतला सके। किसी धर्म या दर्शन की शक्ति या उसमें निहित गुण न तो उसके कर्मकाण्ड या विधि–विधान में रहते हैं और न ही मूर्ति पूजा में। हमें यह सोचना चाहिए कि ब्रह्माण्ड के इस सत्व का वर्णन किसी भी प्रकार की शब्दावली में नहीं किया जा सकता। इसी तरह देवताओं के अवतार या उनके पुनर्जन्म या जातियों के धर्मतंत्र के सम्बन्ध में भी निर्णय की बात नहीं कही जा सकती। कुरान तथा बाइबल का अध्ययन करने वाले राजा राममोहन राय स्वयं इसी निर्णय पर पहुँचे थे और उन्होंने अपने विचारों को ब्राह्मो समाज में प्रस्तुत करते समय पारम्परिक भारतीय चिन्तन से अलग अपनी पहचान स्थापित की। एक प्रकार से यह उपनिषदों की ओर लौटना था। अपने आप

में वह वास्तविक 'हिन्दूवाद' की मूल भावना से युक्त विचारधारा थी। उसे नया 'हिन्दूवाद' कहना चाहिए। उन्होंने उस समाज में प्रार्थना के लिए स्थान दिया। उसे कबीर, चैतन्य आदि के भक्ति–आन्दोलन का प्रभाव कहना चाहिए। किन्तु उसमें इस्लाम और ईसाइयों का प्रभाव भी है। ठीक इसी तरह महाराष्ट्र में भी प्रार्थना समाज बना है। इन दोनों में भले ही हिन्दू समाज को रूढ़िवादी तथा रूढ़िवाद से मुक्त समूहों में बाँट दिया था। किन्तु मैं तो यह कहूँगा कि ये दोनों ही भारतीय दर्शन की चिन्तन–प्रणाली से उपजे हुए हैं। इसी काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना की। ब्राह्मोसमाज ने जैसे उपनिषदों के चिन्तन को अपनाया ठीक वैसे ही स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू–चिन्तन को बदलते हुए वैदिक संहिताओं से उसे जोड़ने का प्रयास किया। वेदों की ओर मुड़ना उन्होंने ठीक माना।

ऊपर निवेदित पृष्ठभूमि को देखते हुए किसी को विवेकानन्द के कार्य को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। उन्होंने अनुभव किया कि मुख्य धारा से हटना किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं है और इसीलिए उन्होंने अपने चिन्तन को हिन्दू–चिन्तन कहा। किन्तु सच्चाई यह है कि उनके चिन्तनात्मक उपदेश ब्राह्मो समाज के विचारों से सामान्य रूप में बहुत अलग नहीं हैं। वे जातिवाद में विश्वास नहीं करते थे। उनके लिए भारत का लौकिक उत्थान उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना कि आत्मा की समृद्धि। इसीलिए उन्होंने ईश्वर का दर्शन गरीबों में किया, सामान्य जन में किया। वे मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते थे। किन्तु यह भी सत्य है कि उन्होंने मूर्ति–पूजा का विरोध नहीं किया। उनके लिए 'ब्रह्मन्' मूल वास्तविकता है। या उनके चिन्तन की पद्धति ब्राह्मो समाज से बहुत भिन्न नहीं थी। हमें यह याद रखना चाहिए कि आरम्भ में उनके विचार नास्तिक = आस्थाहीन रहे हैं और ब्राह्मो समाज के उपदेश उन्हें अपने विचारों के अनुकूल लगते रहे हैं। इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि कुछ वर्षों तक वे श्री केशवचन्द्र सेन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते रहे और वे तो ब्राह्मोसमाज के प्रवर्तकों में थे। इसीलिए भले ही ठीक अर्थ में वे हिन्दू दर्शन की बात करते रहे हैं, किन्तु उनके दर्शन को 'नया ब्राह्मो' कहना चाहिए। हिन्दू शब्द को स्वीकार करने के कारण वे मुख्य धारा से जुड़े रहे हैं। साथ ही "ब्राह्मो समाज' के नये सिद्धान्तों को भी उन्होंने आत्मसात् कर लिया है।

चाहे जो हो, तथाकथित पुनरुत्थान का विकास भारत में, बाद में, दार्शनिकों में सूक्ष्म विभाजन का आधार हो गया। इस विभाजन में एक ओर दार्शनिक हो गये और दूसरी ओर धार्मिक विचारों के समर्थक नेता हो गये। धार्मिक विचारों के फिर और दो दल हो गये। उनमें एक के अन्तर्गत तत्त्वज्ञान, रहस्यवाद, विधि–विधान और पारम्परिक विचारों का मिश्रण रहा है और दूसरे में भाष्य करने वाले, प्राच्यविद्याविदों ने धार्मिक तात्त्विक विचारों को प्रस्तुत किया है। इस तरह दर्शन, यूरोप के दर्शन मात्र तक सीमित हो गया। और भारतीय दर्शन एक प्रकार से भारतीय धर्म पर अधिकार रखने वाले आचार्यों का दर्शन हो गया। ये संस्कृत पण्डितों और पाश्चात्य प्राच्यविदों का विभाजन हुआ। इसका तात्पर्य यह कहना नहीं है कि सांख्य, न्याय–वैशेषिक, नव्य–न्याय, मीमांसा और वेदान्त का अध्ययन

भारत में नहीं होता था। किन्तु जो लोग उनका अध्ययन करते थे, उनका सम्पर्क पाश्चिमात्य दार्शनिकों से प्रायः नहीं रहता था और पाश्चिमात्य प्राच्यविद्याविदों में भारतीय दर्शन का अध्ययन अपने ढंग से करते हैं। वे लोग अपने विचारों को भारतीय विचारों में प्रच्छन्न रूप से जोड़ देते हैं।

कुछ भारतीय और यूरोपीय अध्यापक भारत के मूल चिन्तन का अध्ययन करते हैं। किन्तु उनका यह अध्ययन स्वच्छन्द या स्वाध्याय हेतु होता है। छात्रों को प्रशिक्षित करना, उनका प्रयोजन नहीं रहता। जो भी हो, पाश्चिमात्य प्राच्यविद्याविदों ने भारतीय दर्शन का अध्ययन किया है और उन्होंने अनुभव किया है कि यूरोप के विज्ञानवादी विचारों से उनमें समानता है। स्पिनोजा, काण्ट, हेगेल, यहाँ तक कि बर्कले, ह्यूम और ब्रैडले जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण पाश्चिमात्य चिन्तकों के नाम हैं जिन्होंने भारतीय दर्शन में उपनिषदों और वेदान्त की विचार–पद्धति को समझने का प्रयत्न किया और उन्होंने उन विचारों को अपने अनुकूल माना। कुछ पाश्चिमात्य विद्वान् जिनमें मैक्समूलर, जेकोबी और कुछ अन्य के नाम लिये जा सकते हैं, जिन्होंने भारतीय–चिन्तन की भूरि–भूरि प्रशंसा की है। भारतीयों ने भी धार्मिक दृष्टि से भारतीय चिन्तन को मान्यता दी है– जैसे, शंकर, रामानुज और मध्व के नाम हैं। उन्होंने इस बात को स्वीकार कर लिया कि ये महान् भारतीय चिन्तक हैं। किन्तु उन्हें इस रूप में स्वीकार करने के लिए पाश्चिमात्य विद्वानों को प्रमाण मानना आवश्यक समझा गया। भारतीय चिन्तक में विशेष रूप से शंकराचार्य को महान् मानने का कारण यह रहा कि उनके चिन्तन को स्पिनोजा, काण्ट, हेगेल और ब्रैडले और अन्य कई पाश्चिमात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है। कोई भी इस बात को आसानी से समझ सकता है कि ये तर्क कितने भ्रान्त हैं। कुछ भारतीय विश्वविद्यालयों में भारतीय दर्शन पर पुनर्विचार हुआ है और बाहर भी। श्री के.सी. भट्टाचार्य और लोकमान्य तिलक आदि ने ऐसा कार्य किया है। किन्तु यह सच है कि भारतीय दर्शन का हाल–हाल तक गंभीर रूप से अध्ययन नहीं हुआ है।

श्री विद्याभूषण का भारतीय तर्कशास्त्र पर काम है। इस तरह श्री आठले का 'तर्कशास्त्र' है और श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री का भारतीय न्याय पर काम है। गंभीर रूप में किए गए ये कुछ प्रयत्न कहे जा सकते हैं। इन लोगों ने पाश्चिमात्य और भारतीय मूल को समझने और दोनों को जोड़ने का कार्य किया है। किन्तु वास्तव में, ठीक–ठीक कार्य प्रोफेसर दासगुप्ता और डॉ. राधाकृष्णन् ने किया है। दोनों प्रोफेसर के कार्य ने वास्तव में विश्व के विद्वानों के सम्मुख भारतीय दर्शन का भण्डार प्रस्तुत किया और डॉ. राधाकृष्णन् ने (जो समकालीन दार्शनिक मुहावरों से परिचित थे) लोगों को प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय परम्परा से अवगत किया। भारतीय दर्शन, भारतीय विश्वविद्यालयों में और महाविद्यालयों में पढ़ाना आरम्भ किया गया। यह काम दासगुप्ता और डॉ. राधाकृष्णन् की रचनाएँ प्रकाशित होने के बाद हुआ। अर्थात् इस शताब्दी के तीसरे दशक में यह कार्य हुआ। आज भारतीय विश्वविद्यालयों में भारतीय दर्शन पढ़ाया जा रहा है। किन्तु भारतीय दर्शन को पाठ्यक्रम में जगह देने का प्रयास अभी हाल–हाल का है। डॉ. राधाकृष्णन् जैसे भारतीय दर्शन के विद्वान् तो उनमें से हैं जिन्होंने सारे विश्व को भारतीय

दर्शन का परिचय दिया है। जबकि सच्चाई यह है कि स्वयं वे जब पढ़ते थे, उस समय उन्होंने भारतीय दर्शन या संस्कृत का अध्ययन नहीं किया था। गंगानाथ झा ने भारतीय दर्शन से सम्बद्ध अनेक रचनाओं का अंग्रेजी अनुवाद किया है। बाद में पण्डित गौरीनाथ शास्त्री, सत्कारी मुखर्जी और कुछ अन्यों ने भारतीय दर्शन पर लिखा। प्रोफेसर जेकोबी, मैक्समूलर, ए.बी.कीथ, और कई पाश्चिमात्य प्राच्यविद्याविदों ने भारतीय दर्शन पर लिखा है। किन्तु उस समय भारतीय दर्शन दीक्षा देने वाला दर्शन नहीं था और तब भी जब उसका प्रवेश भारतीय विश्वविद्यालयों में हुआ, उस समय भी, भारतीय दर्शन तथा पाश्चिमात्य दर्शन के अलग–अलग खेमों की स्वतंत्र पहचान बनी हुई थी। राधाकृष्णन् के कार्य ने दर्शन के पाश्चिमात्य विद्यार्थियों को भारतीय दर्शन गंभीर रूप से पढ़ने का अवसर दिया और भारतीय विद्वानों ने भी उसी तरह भारतीय दर्शन का अभ्यास करना आरम्भ कर दिया। ऐसे कुछ नाम ये हैं– आर.डी. राणाडे, टी.आर.वी. मूर्ति, रासबिहारी दास, शैलेश्वर सेन, कालीपद तर्काचार्य, सत्कारी मुखर्जी, जी.आर. मलकानी, टी. एम. पी. महादेवन्, गोपीनाथ भट्टाचार्य; और भी अनेक हैं। श्चर्वात्स्की (Stcherbatsky) और रेण्डल (Randle) दोनों ने कुछ काम बौद्धों और नव्य–न्याय पर किया है। अब फादर बोखेन्सकी (Father Bokhenski), जे. एफ. स्टाल (J.F. Staal), स्केयर (Schayer), कुन्सत् (Kunst), पॉटर (Potter) भी भारतीय दर्शन और तर्कशास्त्र का अध्ययन करने के लिए उद्यत हुए।

यह ठीक है कि पश्चिम में दर्शन और धर्म को बहुत लम्बे समय तक मिश्रित किया गया था किन्तु यूरोप और विशेष रूप में एंग्लो–सेक्सन जगत् में दर्शन को धर्मशास्त्र तथा धर्म से अलग किये कुछ समय हो गया है। किन्तु भारत में वे अभी भी एक दूसरे पर निर्भर हैं। दूसरी बात पर यह कि भारत में जब, विश्वविद्यालयों के भारतीय पाठ्यक्रम में दर्शनशस्त्र को स्थान दिया गया, उस समय, भारत के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में पश्चिमी दर्शन पढ़ाया जा रहा था। उस समय प्रत्ययवाद तथा आदर्शवाद का उत्कर्ष था। हेगेल, काण्ट, स्पिनोजा, ब्रैडले, ग्रीन और टेलर जैसे दार्शनिकों के नाम उस समय में प्रमुख थे। ये सभी प्रत्ययवादी थे। ऐसी बात नहीं कि और दार्शनिक नहीं थे। मिल (Mill), सिज़विक (Sidgwick), हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer), विलियम जेम्स (William James) आदि दार्शनिक भी थे किन्तु पुरानी पीढ़ी ने नई पीढ़ी की ओर ध्यान नहीं दिया। इसीलिए इस नई पीढ़ी का अध्ययन बाद में हुआ। बाद में उन लोगों का अध्ययन इस नाते भी हुआ कि इस आधार पर उनमें और प्रत्ययवादियों में विषमता दिखलाई जा सके।

भारतीय परम्परा के अनुसार केवल षट्–दर्शन बतलाए जाते हैं, और यह सोचा गया कि दर्शन के छः प्रकार के भिन्न–भिन्न वाद हैं और इसीलिए भारतीय दर्शन को समझने के लिए इन वादों को जानना आवश्यक है। ऐसा हेगेल के प्रभाव के कारण भी समझा गया। प्रोफेसर डी.एम.दत्त ने प्रणाली (system) शब्द का उपयोग भारतीय दर्शन के विविध रूपों को नाम देने से नहीं जोड़ा। उनकी दृष्टि से ये तो ज्ञान की छः पद्धतियाँ हैं। इसीलिए जब लोगों ने भारतीय दर्शन का अध्ययन करना शुरू किया तो उन्होंने प्रत्येक प्रणाली की संगति की छान–बीन करना आरम्भ कर दिया। इस संगति के आधार पर या

तो उस प्रणाली की पूरी विचार–पद्धति को स्वीकार किया जाये या उसे अस्वीकृत कर दी जाये। पुनः षट् प्रणालियों में वेदान्त से संबंधित प्रणालियों में अद्वैतवाद सैद्धान्तिक अध्ययन का प्रधान विषय हो गया और उसे आध्यात्मिक मान्यता मिली। वह एकात्मक है और 'आत्मन्' के सम्बन्ध में कहता है। वह स्वयं को या आत्मा को मान्यता देता है। पुनः वे यह भी अनुभव करते हैं कि 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' में एकता है। उनमें अद्वैत स्थिति है। पुनः वे इन सब प्रणालियों को जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरण के लिए, न्याय की प्रक्रिया, पूर्व–मीमांसा का विधि–विधान, योगाभ्यास और वैशेषिक पद्धति–इन सब को संभवतः व्यावहारिक सत्ता के रूप में पहचाना और माना गया है। अन्य प्रकार के दर्शनों में बौद्ध, चार्वाक और जैन हैं। ये सभी सनातनी और रूढ़िवादी नहीं हैं। ये सब पूर्व पक्ष पर विचार करते हैं और इनमें इस बात पर प्रश्न उपस्थित किया गया है कि क्या वेदान्त सारी समस्याओं का हल प्रस्तुत कर सकता है? दूसरी पद्धतियों ने इस तरह के प्रश्न पूछे हैं। यद्यपि लोगों ने व्याकरण का अध्ययन किया किन्तु उन्होंने व्याकरण की ओर इस दृष्टि से ध्यान ही नहीं दिया कि उसका अध्ययन भी दर्शन में अलग महत्त्व रखता है। चार्वाकों का सिद्धान्त अलग था। लोगों ने उसको भौतिकवादी दर्शन मानकर उसकी उपेक्षा कर दी। राइल (Ryle) ने एक बार कहा कि बीसवीं शताब्दी में प्रथमतः प्लेटो और अरस्तू के बाद में दर्शन आत्मचेतना से युक्त हुआ है और पूछने लगा है कि 'दर्शन क्या है?' चार्वाक के दर्शन पर विचार किए बिना ही मान लिया गया कि चार्वाक भौतिकवादी है। वास्तव में, मैंने इधर चार्वाक दर्शन पर विचार करना आरम्भ किया है। मैंने अनुभव किया है कि चार्वाक दर्शन और अन्य दर्शन जिन्हें सामान्य रूप में अध्यात्मवादी दर्शन कहा गया है, बहुत सी बातें सामान्य हैं। उदाहरण के लिए, उसने इस बात से इन्कार नहीं किया कि जिसे हम मनुष्य कहते हैं, उसमें चेतना का अंश नहीं है। यही नहीं, किसी भी जीवित प्राणी में चेतना होती है, इस बात को वे स्वीकार करते हैं। हाँ, वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि शरीर और आत्मा में द्वैत है। डेकार्ट की तरह, आधुनिक मुहावरों में उसने यह स्वीकार नहीं किया कि शरीर रूपी मशीन में भूत होता है। यदि जीवित शरीर को आत्मा से अलग नहीं किया जाता (केवल इसलिए कि शरीर और आत्मा की अलग अलग पहचान हो) तो मात्र इस आधार पर चार्वाक को जड़वादी या भौतिकवादी कहना कहाँ तक उचित है? वास्तव में उसके शरीर–आत्मवाद की स्थिति अद्वैत वेदान्त की तरह एकात्मवादी ही है। इन दोनों दर्शनों में वास्तव में भेद क्या है? मैंने इस पर विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अद्वैत जहाँ काल–प्रवाह की धारा में चेतना का अस्तित्व पूरे काल में बना रहेगा वहीं चार्वाक, लायड मार्गन या कार्ल मार्क्स की तरह कहेंगे कि उसका आगमन कुछ काल के लिए हुआ और बाद में उसका लोप भी हो गया। मुझे, ऐसा लगता है कि उस सिद्धान्त को भौतिकवाद के अन्तर्गत वर्गीकृत नहीं किया जा सकता। चार्वाक दर्शन के दूसरे परिप्रेक्ष्यों को भी देखना चाहिए। ऐसे और भी कारण हैं। मुझे लगा चार्वाक कठोर भारतीय परम्परावादियों को दिया हुआ पुष्ट सामान्य–बुद्धि का दर्शन है। ऐसी स्थिति में भारतीय विचारों को नये परिप्रेक्ष्य में पुनः देखने–परखने की आवश्यकता है। इसके लिए दो बातें

आवश्यक हैं। एक, तो मूल पाठ का अध्ययन हो। उसके अनुवादों और आधुनिक विवेचनों पर निर्भर रहना ठीक नहीं। ऐसे विवेचनों में विवरणकार के निजी प्रभाव व्याप्त रहते हैं और मूल लेखक तक हमारी पहुँच ठीक से नहीं हो पाती। इसी तरह किसी को भारतीय दर्शन को सुसंगत दार्शनिक पद्धति से भी देखने की आवश्यकता नहीं। बजाय इसके कि हमें इस दर्शन में देखना यह है कि हमारे लिए उपादेय क्या है और उपादेय क्या नहीं है? और इस तरह भारतीय चिन्तन की तेजस्विता का उपयोग करना चाहिए। सच तो यह है कि मेरी इन दोनों मान्यताओं के साथ एक और मान्यता यह भी है कि हमारे आप्त जन प्रामाणिक लोग थे और वे बड़े उत्साही भी थे। उनमें विचारों की सूझ–बूझ निश्चित ही थी और वे यथार्थ को जानने की जिज्ञासा रखते थे। वे प्रकृति के मूल्य को जानते थे और उसे खूब समझते थे। मुझे लगा है कि भारतीय दर्शन को नई दृष्टि से अनुप्राणित कर उसका समुचित अध्ययन होना चाहिए।

यह भी याद रखना चाहिए कि सामान्य रूप से दर्शन और विशेष रूप में भारतीय दर्शन की नई समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। प्रथम, तो यह कि सैद्धान्तिक और व्यावहारिक कारणों से छात्रगण इस समय विज्ञान की ओर अधिक आकृष्ट हैं। व्यावहारिक दृष्टि से सोचने पर और उपयुक्त नौकरियों के अवसर की दृष्टि से 'दर्शन' विषय को अधिक प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है। स्वतंत्रता के बाद भारत में औद्योगिक विकास हुआ है और उसके कारण छात्रगण 'दर्शन' में प्रायः रुचि नहीं लेते। यह तो अभी बहुत हाल की बात है। लोग अब पुनः सोचने लगे हैं कि औद्योगिक विकास के युग में भी शिक्षा में कुछ–न–कुछ मानवीय विद्याओं को पुनः जगह दी जानी चाहिए, क्योंकि इससे मानवीय समस्याओं पर नया प्रकाश पड़ेगा और तदनुसार मानवीय समस्याओं का समाधान भी खोजा जा सकेगा। इस प्रकार के चिन्तन के कारण नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान जैसे विषयों को कई इंजीनियरिंग कालेजों के पाठ्यक्रमों में जगह दी गई है। किन्तु ऐसा करते समय भी मनोविज्ञान और बाद में तर्कशास्त्र को दर्शन से अलगाया गया है। दर्शन की दृष्टि से सामान्य रूप में और भारतीय दर्शन की दृष्टि से विशेष रूप में इसे गतिरोध ही कहना चाहिए। इससे कैसे उबरेंगे? यह बड़ा प्रश्न हमारे सामने है। इस देश के भारतीय दर्शन के ज्ञाताओं के सामने भी यह बड़ा प्रश्न है। इसके साथ–साथ भारत के दार्शनिकों के सामने एक दूसरा प्रश्न भी है, जिसका उन्हें सामना करना है। मुझे आश्चर्य होगा,.... क्या भारतीय दार्शनिक अपनी प्रतिभा से दार्शनिक चरित्र में पुनः सम्पन्न होंगे ? क्योंकि कुछ उत्साहवर्द्धकतया दर्शन समय–समय पर सामने आते रहता है किन्तु अल्पकाल में ही वह रूढ़ हो जाता है, दोहराए जाने लगता है और पारम्परिक हो जाता है। भारतीय दर्शन को इस परम्परावाद, गतानुगतिकता से मुक्ति दिलाकर उसे सचेत रखने की आवश्यकता है।

मेरी दृष्टि में, इस प्रकार की समस्या पर विचार करते समय दो बिन्दु उभरते हैं, और वे हैं– संगठनात्मक और सैद्धान्तिक। संगठनात्मक समस्या को हल करने के लिए मैंने तीन दार्शनिक पत्रिकाएँ इंग्लिश, हिन्दी और मराठी में आरम्भ कीं। प्रयोजन था– एक ऐसे मंच की स्थापना, जिसके माध्यम से जो लोग अध्ययन करते हैं और लिखते हैं, उन्हें उपयुक्त

अवसर मिले। किन्तु प्रधान रूप से मुख्य समस्या सैद्धान्तिक है। मुझे लगा और अब भी सोचता हूँ कि हमें भारतीय दार्शनिकों और पाश्चिमात्य दार्शनिकों के बीच संवाद आरम्भ करना चाहिए। दोनों में सामंजस्य हो और सुचिन्तित निष्कर्ष की ओर बढ़ें। यह काम दो स्तरों पर किया जा सकता है। प्रथम, पण्डितों और पाश्चिमात्य दार्शनिकों के बीच संवाद आयोजित किए जाएँ। भारतीय दर्शन में, अब भी जो जीवित प्रतीत हो उसे स्वीकार किया जाये और जो मृत हो, उसे छोड़ दिया जाय। किन्तु ऐसा करते समय हमें इस बात को पूरी तरह से परखना होगा, टीकाकारों के मन्तव्यों को जानना होगा और जहाँ तक संभव हो मूल का अध्ययन कर उसे ठीक से समझ कर निर्णय करना होगा। हमें केवल भाष्य लिखनेवालों और टीकाकारों पर निर्भर रहना ठीक नहीं है। इसी प्रकार का दृष्टिकोण रखने के नाते मैंने कुछ संगोष्ठियाँ क्रमशः आयोजित की। मुझे प्रसन्नता है कि भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् उक्त कार्य प्रो. दयाकृष्ण के नेतृत्व में आगे बढ़ा रही है।

मैं अनुभव करता हूँ कि हमारे विश्वविद्यालयों का पाठ्यक्रम इस प्रकार बनाया जाये, जिसमें भारतीय दर्शन को अलगाया न जाए। उनको पाश्चिमात्य दर्शन के साथ क्रम में पढ़ाया जाये। जहाँ पर समस्याएँ समान न हों, वहाँ भी भारतीय दर्शन का अध्ययन कुछ नया प्रकाश डालने में सहायक होगा और इससे संभवतः सिद्धान्त और भी पुष्ट होंगे। मैंने इस दिशा में प्रयत्न किया भी है। संभवतः इन सारी बातों में पुनः विपर्यय हुआ है। भारतीय दर्शन को पुनः अलग जाति के रूप में अनुभव किया जा रहा है।

भारतीय दर्शन का परिदृश्य क्या है? मैं इसका उत्तर व्यवस्थित रूप में देने का प्रयत्न नहीं करूँगा। यह बात मैं विद्वानों पर छोड़ देता हूँ कि वे इस पर विचार करें। किन्तु मैं मानता हूँ कि भारत में दर्शन मरेगा नहीं। उसे आप विश्वविद्यालयों में स्थान दें या न दें। पाठ्यक्रम में उसे रखें या न रखें, छात्रगण दर्शन विषय पढ़े या न पढ़ें। सच तो यह है कि भारतीय दर्शन का स्वरूप विश्वविद्यालयों में नहीं बना है। श्री अरविन्द, तिलक, गांधी, विवेकानन्द या कृष्णमूर्ति ने इस बात की चिन्ता नहीं की कि विश्वविद्यालयों में क्या हो रहा है? उन्होंने दर्शन का विकास अपने ढंग से अपनी प्रतिभा के बल पर किया है।

यदि आज हम भारतीय दर्शन पर पुनः विचार करते हैं तो हमें दो प्रकार की समस्याओं से जूझना होगा। जब भी हम दर्शन के इतिहास को आज के दर्शन से सम्बद्ध करना चाहेंगे तो ऐसी स्थिति हमेशा बनी रहेगी। ऐसा ग्रीक दर्शन एवं यूरोप के मध्यकालीन दर्शन के सम्बन्ध में भी हुआ है। प्राचीन आचार्यों के दर्शन को तथा उनकी देन को आज भी हमें जीवित रखना है। लेकिन इस प्रकार की भावना को समकालीन दर्शन से सम्बद्ध कर और उनके सभी परिप्रेक्ष्यों पर विचार करके ही संभव है। सभी दर्शन के छात्रगण तो प्राचीन दर्शन के विद्वान् बन नहीं सकते किन्तु प्राचीन दर्शन की मुख्य धारा के परिचय का मार्ग सभी के लिए खुला रहना चाहिए। जो पढ़ना चाहता है, उसको सुविधा मिलनी चाहिए और उपयुक्त अवसर भी। वे लोग जब भी आवश्यक समझें प्राचीन दर्शन में सांस ले सकने में समर्थ हो सकें। इसीलिए प्राचीन भारतीय दर्शन का अध्ययन संस्कृत में, मूल वैदिक भाषा में, प्राकृतों में होना चाहिए। तदनुसार पाली, अर्द्धमागधी में भी होना चाहिए। और वह भी

उसके उस स्वरूप का परिचय प्राप्त करते हुए हो, जो उनके अपने काल का प्रचलित मुहावरा रहा हो, उसी में अध्ययन होना चाहिए। जैसे कि मैंने पहले ही कहा है, नव्य–न्याय की भाषा में ही उसका अध्ययन होना चाहिए। इन विद्वानों को चीनी, जापानी, तिब्बती, सिंहली में भी लिखित भारतीय दर्शन को पढ़ना होगा। मैक्समूलर, जैकोबी और श्चेर्वात्सकी (Stcherbatsky)जैसे आधुनिक यूरोप के विद्वानों के आलोचनात्मक विवेचनों को भी देखना होगा, किन्तु प्राचीन भारतीय दर्शन का यह उपयोग आधुनिक विचारों के साथ सम्बद्ध करके करना होगा। इस रूप में यह प्रश्न पूरी तरह से अलग है। यह एक प्रकार से दो नदियों का संगम है। एक बार संगम होने पर न कोई भारतीय रहेगा और न कोई पाश्चिमात्य। दर्शन, दर्शन मात्र रहेगा। इस प्रकार की उपलब्धि निश्चित ही कठिन है किन्तु हमें इस दिशा में प्रयत्न तो करना ही चाहिए।

***

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के प्रथम 25 वर्ष

नन्दकिशोर देवराज

भारतीय दर्शन का लम्बा इतिहास है, उसकी परम्परा विशेष समृद्ध भी रही है। किसी व्यक्ति या जाति का किसी भी क्षेत्र के सम्बन्ध में अन्वेषण तथा चिन्तन में गहरा लगाव तब उत्पन्न होता है, जब उसके साथ विशिष्ट, महत्त्वपूर्ण प्रयोजन और उससे सहचरित रागात्मक संसक्ति का योग हो जाता है। प्राचीन सभ्यताओं में भौतिक जगत् का ज्ञान और उस पर नियंत्रण नितान्त सीमित था। फलतः उस मनुष्य का जीवन आज से कहीं अधिक सरल था। बहुत थोड़े लोग सम्पत्तिवान थे और सम्पत्ति का विस्तार एवं प्रकार दोनों ही सीमित थे। अपने देश में भोजन–वस्त्र आदि की समस्या कठिन न थी, जिसके फलस्वरूप लोगों को दार्शनिक प्रश्नों तथा परलोक की चिन्ता करने का अवकाश उपलब्ध था। ऐसे परिवेश में भारतीय चिन्तकों ने मोक्ष नाम के परम एवं चरम पुरुषार्थ की कल्पना की और उसके स्वरूप एवं साधनों को लेकर विविध एवं गम्भीर चिन्तन किया। उपनिषद् काल में ही ज्ञान को मुक्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन तथा अविद्या या अज्ञान को बन्धन का हेतु स्वीकार कर लिया गया। परिणम यह हुआ कि यहाँ के चिन्तक और साधक क्रमशः गम्भीर दार्शनिक तथा प्रखर तर्कशास्त्री भी बन गये। धीरे–धीरे यह मान्यता प्रचलित हो गयी कि दार्शनिक अन्वेषण का आवश्यक आधार प्रमाणशास्त्र अथवा ज्ञानमीमांसा है। जिन चिन्तकों की मोक्ष की अपेक्षा तर्क करने में अधिक रूचि थी उन्होंने क्रमशः प्रमाणशास्त्र को दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग बना दिया। नतीजा यह कि श्रुति ग्रन्थों को माननेवाले विचारकों के लिए भी यह आवश्यक हो गया कि वे प्रमाणों, प्रमा, प्रामाण्य, तथा शब्दार्थ–सम्बन्ध जैसे विषयों पर गम्भीर दायित्व के साथ विचार करें। सौभाग्य से देश में आजीवक, जैन तथा बौद्ध कहलाने वाले ऐसे विचारक भी उत्पन्न हुए जो श्रुतिग्रन्थों के प्रामाण्य को नहीं मानते थे, किन्तु इनमें भी अनेक विचारक मोक्ष की धारणा को स्वीकार करते थे। इसका जहाँ एक परिणाम यह हुआ कि हमारे देश में संशयवादी तथा भौतिकवादी विचारधाराएँ न पनप सकीं, दूसरा परिणाम यह हुआ कि प्रमाणशास्त्र तथा बन्धन–मोक्ष की अवधाराणों को लेकर नितान्त विविध और जटिल मतवादों तथा सिद्धान्तों का निरूपण हुआ।

प्राचीन भारतीय दर्शन के बारे में, जिसका साहित्य बड़ा समृद्ध है, ऊपर की बातें याद रखना जरूरी है। इसके बिना हम भारतीय संस्कृति तथा दर्शन की साम्प्रातिक स्थिति

को नहीं समझ सकते। यह स्थिति साक्षात् रूप में दो हेतुओं से निर्धारित है, एक भारत के सांस्कृतिक पुनर्जागरण से जिसका काम–विस्तार राजा राममोहन राय (1772–1833) के युग से प्रारम्भ होकर स्वतंत्रता–पूर्व तक समझना चाहिए और दूसरे स्वतंत्रता–प्राप्ति की घटना से। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्वतत्रता के बाद भारतीय चिन्तन की दिशा एकाएक नहीं बदल गई, पहले के चिन्तन से वैसा विच्छेद और भिन्नता सम्भव भी न थी।

राजा राममोहन राय तथा उनके समकालीन अन्य धार्मिक–सामाजिक नेताओं में पश्चिमी संस्कृति और धर्म के प्रति भी विशेष आदर और प्रशंसा का भाव था। उनकी चिन्ता का मुख्य बिन्दु यह था कि विदेशियों द्वारा शासित भारतीय जनता में यह भावना उत्पन्न करें कि सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से हम पश्चिम के लोगों से पीछे नहीं है, अपितु उनके समकक्ष हैं। राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि ने उक्त उद्देश्य से प्रेरित होकर प्राचीन भारतीय धर्म तथा संस्कृति का पुनराख्यान करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में यह भी निहित था कि भारतीय धार्मिक संस्कृति की विकृतियों को नकारा जाय। इस मनोवृत्ति ने उन्हें अवतारवाद तथा मूर्ति–पूजा के विरोध की प्रेरणा दी। सामाजिक धरातल पर सती आदि कुप्रथाओं का विरोध इसी मनोवृत्ति का अंग था। यदि गहरी छानबीन की जाए तो यह देखा जा सकेगा कि राममोहन राय, केशवचन्द्रसेन आदि तत्कालीन हिन्दू धर्म को, उसकी विकृत्तियों के कारण ही सही, ईसाई धर्म से हीनतर समझते थे। इसलिए उस समय के हिन्दू धर्म, समाज व्यवस्था में सुधार करके वे हिन्दू धर्म और संस्कृति को ईसाई धर्म तथा पाश्चात्य संस्कृति की समानता के धरातल पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। ब्रह्म समाज की स्थापना के पीछे हिन्दू धर्म को नया रूप देने का आशय स्पष्ट था। ऐसा ही कुछ कार्य स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना द्वारा सम्पन्न किया। उन्होंने भी पौराणिक हिन्दू धर्म का, जिसमें अवतारवाद और मूर्ति–पूजा का विशेष स्थान है, विरोध या निषेध किया।

भारतीय पुनर्जागरण का, विशेषतः हिन्दू पुनर्जागरण का, दूसरा चरण स्वामी रामकृष्ण परमहंस और उनके प्रतिभाशाली शिष्य स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाओं के साथ हुआ। इन शिक्षकों ने हिन्दू धर्म को समग्रता में स्वीकार किया। हिन्दू संस्कृति को वेदान्त दर्शन की संपुष्ट नींव पर प्रतिष्ठित करते हुए उन्होंने उक्त दर्शन की समयोचित पुनर्व्याख्या की और कुछ हद तक उसे नया रूप भी दिया। इन दो सन्तों ने शिक्षित भारतीयों के मन में यह भावना पैदा की कि हिन्दू धर्म और दर्शन न केवल ईसाई धर्म और पश्चिमी दर्शन से हीनतर नहीं हैं, अपितु उनसे, कम से कम आध्यात्मिक क्षेत्र में श्रेष्ठतर है। इस मनोभाव के उदय में एक दूसरी स्थिति ने भी योग दिया। 19 वीं शदी में तथा उससे पहले भी पश्चिम के अनेक पण्डित एशिया की, विशेषतः भारत की प्राचीन संस्कृति का सतर्क अनुशीलन करने लगे थे। 19वीं शदी में अनेक पश्चिमी अन्वेषक भारतीय संस्कृति की प्रशंसा कर रहे थे। मैक्समूलर आदि अनेक विद्वानों ने वैदिक साहित्य का गहरा अनुशीलन किया और वैदिक वाङ्मय के महत्त्व की मुक्त कण्ठ से स्वीकृति और घोषणा की। इसी प्रकार दूसरे

पण्डित संस्कृत काव्य–साहित्य तथा दर्शन और पालि भाषा के बौद्ध धर्म तथा साहित्य का विस्तृत अध्ययन–अनुशीलन करते हुए उसके प्रति प्रशंसा भाव व्यक्त करने लगे। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, जहाँ उच्च कोटि के साधक और सन्त मात्र थे, वहाँ विवेकानन्द पश्चिमी जगत् की बौद्धिक हलचल से अच्छा परिचय रखते थे। यूरोपीय पण्डितों द्वारा की गयी भारतीय धर्म और संस्कृति की प्रशंसा ने उनकी तत्संबंधी गौरव–भावना को पुष्ट किया। स्वामी विवेकानन्द की मृत्यु 19वीं शदी के अन्त आते आते हो गयी, किन्तु बीसवीं शदी में लोकमान्यतिलक तथा सबसे अधिक, महात्मा गाँधी ने भारतीयों की इस भावना को बल दिया कि धर्म और आध्यात्म के क्षेत्र में हमारी संस्कृति पश्चिमी संस्कृति से ऊँची और महत्तर है। बीसवीं सदी में संस्कृत के दर्शन–ग्रन्थों का भी सूक्ष्म और गहरा अनुशीलन होने लगा था। अब स्वयं भारत के विद्वान् अपने प्राचीन दर्शनों को विश्व के सामने लाने का प्रयत्न करने लगे। जहाँ डॉ. राधाकृष्णन् और डॉ. दास गुप्त ने भारतीय दर्शन के बृहत् इतिहास प्रस्तुत किये, वहाँ रूसी विद्वान श्चेर्बात्स्की, फ्रांसीसी पंडित पूसे, राहुल सांकृत्यायन आदि ने बौद्ध दर्शन से सम्बन्धित ग्रन्थ–लेखन अथवा उसके लुप्त संस्कृत ग्रन्थों के चीनी–तिब्बती भाषाओं से अनुवाद एवं पुनरूद्धार के कार्य किये। यहाँ उक्त कार्यों का विस्तृत विवरण देने का अवसर नहीं है, किन्तु हमें जानना चाहिए कि भारतीय दर्शन का साहित्य बड़ा विशाल है। उस पर निरन्तर कार्य हो रहा है और अभी लम्बे अरसे तक काम होते रहने की सम्भावना है। भारतीय स्वतंत्रता की घटना ने इस प्रकार के कार्य की प्रगति को विशेष प्रभावित नहीं किया है। जहाँ भारतीय विद्याओं के अनुशीलन के प्रथम उत्थान में वैदिक वाङ्मय, पालि भाषा में ग्रथित बौद्ध धर्म और दर्शन तथा अद्वैत वेदान्त पर विशेष कार्य हुआ, वहाँ बीसवीं शदी के दूसरे चरण में हिन्दुओं के वेदान्तेतर दर्शनों एवं तंत्र साहित्य ने तथा बौद्धों के महायानी सम्प्रदायों ने अधिक ध्यान आकृष्ट किया है। अन्य हिन्दू दर्शनों ने, जैसे न्याय के प्राचीन ग्रन्थों तथा नव्य न्याय के बाद के साहित्य ने भी, विशेष ध्यानाकर्षण किया है। इधर तंत्र से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन और उसके विभिन्न पदों के अनुशीलन के प्रयत्न भी हुए हैं।

स्वतंत्रता से पूर्व के वर्षों में दर्शन के क्षेत्र में एक बड़ी घटना श्री अरविन्द की चिन्तन–पद्धति का ग्रथन था। नैतिक क्षेत्र में महात्मा गाँधी ने सूक्ष्म और जटिल चिन्तन किया था, किन्तु, स्वतंत्रता–संग्राम के दौरान में, उनके विचारक पक्ष पर उतना ध्यान नहीं दिया गया।

स्वतंत्र्योत्तर चिन्तन–प्रवृत्तियाँ

अब हम सीधे अपने विषय पर आते हैं। स्वतन्त्रता से पहले हमारी एक समस्या यह थी कि भारतीय जन में, विशेषतः यहाँ के बुद्धिजीवियों में, यह भावना बनाये रक्खें कि, सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से हमारा देश और उसका इतिहास पश्चिम की अपेक्षा हीन नहीं है और यह कि एक जाति के रूप में हम स्वतन्त्र एवं स्वशासित होने के सर्वथा योग्य हैं। दर्शन के क्षेत्र में हमारे प्रमुख विद्वान प्रायः यह कोशिश करते रहे कि भारतीय दर्शन को विश्व–दर्शन के, विशेषतः पाश्चात्य दर्शन के समान धरातल पर प्रतिष्ठित करें। इस

दृष्टि से हमारे दार्शनिक पुर्नजागरण का स्वर्ण युग तब था जब उन्नीसवीं शदी के अन्तिम चरण और बीसवीं के प्रथम चरण में पश्चिमी जगत् में प्रत्ययवादी दर्शनों तथा दार्शनिकों का बोलबाला था। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विचारक एफ.एच. ब्रैडले की मृत्यु सन् 1920 में हुई। अपने समय का वह सर्वाधिक प्रसिद्ध और तेजस्वी विचारक था। उसके जीवनकाल में मूर, रसेल, विलियम जेम्स आदि नये विचारक अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए निरन्तर संघर्षरत रहे। स्वयं हमारे देश में लगभग सन् 1940 तक हमारे विश्वविद्यालयों के अधिक प्रसिद्ध प्रोफेसर तथा आचार्य प्रायः प्रत्ययवादी थे; किन्तु धीरे धीरे इंग्लैण्ड और अमेरिका में वस्तुवाद, व्यवहारवाद, या उपयोगितावाद (Pragmatism) और सन् 1920 के बाद, तर्कनिष्ठ अणुवाद (Logical Atomism) तथा तर्कनिष्ठ अनुभववाद (Logical Empiricism) एवं भारतीय दर्शन का जोर बढ़ता गया। धीरे–धीरे इन मतवादों का प्रभाव यहाँ के दर्शन के विद्यार्थियों पर भी पड़ने लगा। चूँकि हमारे देश में न्याय–वैशेषिक आदि के रूप में वस्तुवादी दर्शन की परम्परा रही थी, इसलिए सन् 1940 से पहले पश्चिमी वस्तुवाद या अमेरिकी उपयोगितावाद भी यहाँ पहुँच चुके थे, किन्तु, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, तर्कनिष्ठ अणुवाद और तर्कनिष्ठ अनुभववाद के आन्दोलन, विशेषतः दूसरा–आन्दोलन अपने देश में, द्वितीय महायुद्ध के बाद ही विश्वविद्यालयों में प्रविष्ट हो पाया था। तथाकथित अस्तित्ववाद के आन्दोलन का प्रभाव भी लगभग उसी समय या उसके कुछ बाद में शुरू हुआ।

अब हम स्वतन्त्र भारत के गत 25 वर्षों की विभिन्न चिन्तन–प्रवृत्तियों का तीन शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णन करेंगे। प्रथमतः हम पाते हैं कि प्राचीन दर्शनों का अध्ययन–अनुशीलन किसी न किसी रूप में चलता रहा है। इस प्रकार का कार्य मुख्यतः संस्कृतज्ञ विद्वानों द्वारा होता रहा। इस दृष्टि से कहा जा सकता है, इधर हिन्दू दर्शनों में अद्वैत वेदान्त से इतर दर्शनों पर मुख्यतः न्याय वैशेषिक, रामानुज दर्शन आदि पर अधिक कार्य हुआ है। बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत जहाँ हिन्दी में पालि साहित्य पर काम प्रारम्भ हुआ और सर्वश्री राहुल–सांकृत्यायन, भिक्षु जगदीश कश्यप, भिक्षु धर्म रक्षित आदि ने अनेक पालि ग्रन्थों के अनुवाद प्रस्तुत किए; वहाँ, अंग्रेजी में, महायान बौद्ध दर्शन पर अधिक लिखा गया। इस संदर्भ में प्रो.टी.आर.वी. मूर्ति, श्री नलिनाक्षदत्त तथा श्री रमनम् के नाम उल्लेखनीय हैं। वारणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी प्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बौद्ध भारतीय ग्रन्थमाला–वाराणसी आदि से वसुबन्धु, धर्मकीर्ति आदि के अनेक संस्कृत ग्रंथ संपादित और प्रकाशित हुए हैं। न्याय–वैशेषिक के क्षेत्र में डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, डॉ. श्री नारायण मिश्र तथा डॉ. हर्षनारायण ने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। डॉ. मिश्र की पुस्तकें हिन्दी में हैं। जैन दर्शन के क्षेत्र में दर्शन से अधिक दर्शन–ग्रन्थों का प्रकाशन और उक्त दर्शन पर पंडित सुखलाल जी संघवी, श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री, डॉ. मोहनलाल मेहता आदि के प्रतिपादनपरक ग्रन्थों का प्रणयन इधर की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है? इसी प्रकार तन्त्र के क्षेत्र में डॉ. शशिभूषणदास गुप्त, और डॉ. चिन्ताहरण चक्रवर्ती की अंग्रेजी में तथा श्री नागेन्द्रनाथ उपाध्याय की ''तांत्रिक बौद्ध साधना' जैसी हिन्दी में पुस्तकें निकली। 'वाक्यपदीय' के कई संस्करण तथा भाष्य संस्कृत; हिन्दी और अंग्रेजी में प्रकाशित हुए, जिनमें प्रो. के.ए.एस. अय्यर की कृतियों

का विशेष महत्त्व है। शैवदर्शन के क्षेत्र में भी अनेक ग्रन्थ सम्पादित–प्रकाशित हुए। श्री कान्तिचन्द्र पाण्डेय, श्री बी.ए. देवसेन पंथी, डॉ. शिवरमन आदि की तत्सम्बन्धी पुस्तकें उल्लेखनीय हैं।

हमें यह जानना चाहिए कि प्राचीन दर्शन के प्रमाणमीमांसा तथा अर्थमीमांसा जैसे विषयों से सम्बन्धित विवादों की उपयोगिता और प्रेरकता आज भी अक्षुण्ण है। हाल ही में प्रस्तुत लेखक ने "मार्डन मास्टर्स सीरीज" में प्रसिद्ध भाषा दार्शनिक सास्योर (Saussure) पर एक पुस्तक पढ़ी। मुझे यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि यह विचारक दूर तक बौद्धों के अपोहवाद का समर्थन करता है। उसके कुछ वक्तव्य यहाँ उद्धरणीय हैं।

... the signifields of colour terms are nothing but the product or result of a system of distinctions..., the concepts are purely differential, not positively defined by the its content but negatively defined by their relations with other terms of the system. Their most precise characteristic is that they are what the others are not (P. 25-26. Jonathan culler, Fontana/Collins, 1976)

इसी प्रकार भर्तृहरि में प्रत्यवमर्श का तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन अथवा कश्मीरी शैवदर्शन में विमर्श का प्रत्यय दूर तक काण्ट एवं भाषा–दार्शनिक चॉम्स्की के मन्तव्यों के पूर्व रूप–सा जान पड़ते हैं। मेरा निवेदन यह है कि माध्यम की कठिनाई के बावजूद हममें से हर–एक को, अंग्रेजी अनुवादों की मदद से ही सही, प्राचीन भारतीय दर्शन के वाङ्मय से परिचित होने का प्रयत्न करना चाहिये। हमारे प्राचीन दार्शनिकों में जैसी गहन जिज्ञासा थी, वैसी ही प्रखर बौद्धिकता और काफी अवकाश रहने के कारण, चिन्तन की सुविधा और साधना भी थी। इसके विपरीत हम पाते हैं कि हमारे आज के स्कॉलर प्रायः एक–दो पुस्तकें या चार–छः निबन्ध लिखकर ही जरूरत से ज्यादा सन्तुष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार की सुलभ सन्तोष–भावना अक्षम्य है।

ऊपर के विवरण से जाहिर है कि भारत के प्राचीन दर्शनों पर निरन्तर कार्य होता रहा है। जो विद्वान् संस्कृत नहीं जानते हैं, वे प्रायः आधुनिक भारतीय दर्शन पर शोध कार्य करते रहे हैं। इस दृष्टि से सबसे अधिक चर्चा श्री अरविन्द के दर्शन तथा महात्मा गाँधी के नैतिक–धार्मिक चिन्तन की हुई है। गाँधीजी की संघर्ष–प्रणाली अर्थात् सत्याग्रह को लेकर भी विमर्श होता रहा है। वास्तव में गाँधीजी बीसवीं शदी के भारत के सबसे मौलिक और बुद्धिगम्य विचारक हैं, जिनका अनुभव की भूमि से सीधा सम्बन्ध है। उसके विपरीत श्री अरविन्द का दर्शन कल्पना–विलासी तत्त्व दर्शन की परम्परा में एक नयी कड़ी जोड़ता है। गाँधीजी के सैकड़ों जीवन–परिचय लिखे गये हैं। इन ग्रन्थों में प्राय गाँधीजी के विचारों का भी उल्लेख रहता है। गाँधी–चिन्तन के अनेक संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। गाँधीजी को शास्त्रीय अर्थ में दार्शनिक भले ही न माने, पर इसमें सन्देह नहीं कि नैतिक चिन्तन के क्षेत्र में जितने सूक्ष्म विभेद गाँधी–साहित्य में मिलेंगे उतने अन्यंत्र मिलना कठिन है। अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि प्राचीन अवधारणायें गाँधीजी के चिन्तन का स्पर्श पाकर नयी, तेजस्वी, अर्थछवियों से उद्भासित हो उठती हैं। वास्तव में गांधी का चिन्तन साहित्य

नैतिक–धार्मिक अन्तर्दृष्टियों का अक्षय भण्डार है जहाँ शास्त्रीय चिन्तन को प्रभूत नई सामग्री मिल सकती है। श्री विनोबा भावे और लोकनायक जयप्रकाश नारायण द्वारा पल्लवित एवं प्रचारित सर्वोदय की विचार–पद्धति बहुत कुछ गाँधी–दर्शन से प्रेरणा लेती हुई अग्रसर हुई हैं। राजनीति एवं समाज–दर्शन के क्षेत्र में इधर जो चिन्तन हुआ है उसमें गाँधीजी के बाद, डॉ. राममनोहर लोहिया, श्री अशोक मेहता, आचार्य नरेन्द्र देव और जयप्रकाश नारायण का उल्लेखनीय योगदान है। सर्वोदय–सम्बन्धी विचारों के गठन में आचार्य विनोबा भावे और जयप्रकाश नारायण के नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। जनतंत्रीय भावना से अनुप्राणित समाजवादी विचारधारा के क्षेत्र में स्वर्गीय नेहरुजी का अवदान महत्त्वपूर्ण है। नेहरूजी में प्रबुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि एवं आदर्शानुप्रणित अन्तर्राष्ट्रीय–भावना भी थी, चीन से युद्ध होने से पहले उनमें एशियायी देशों की एकता की भावना भी सक्रिय रही थी। इतिहास के सम्बन्ध में कोई सुचिन्तित, शास्त्रीय दृष्टि इधर बनती दिखाई नहीं देती। इस सम्बन्ध में थोड़ा–बहुत चिन्तन डॉ. लोहिया के निबन्धों में मिलता है।

अब हम उन दार्शनिकों की चर्चा करें जो देश के विश्वविद्यालयों से संबंधित रहे हैं, इनके अंतर्गत विविध क्षेत्रों के शोधी विद्वानों का न्यूनाधिक उल्लेख ऊपर आ चुका है। ऊपर हमने जान बूझकर अद्वैत–वेदान्त से संबंधित शोध कार्य का विशेष उल्लेख नहीं किया था। कारण यह है कि अद्वैत–वेदान्त स्वतंत्रता के पूर्व भी अनेक शोधार्थियों एवं व्याख्याताओं को आकृष्ट करता रहा था। प्रश्न है, उपरोक्त विविध शोधकार्य के अलावा हमारे दर्शन के शिक्षकों की विशेष उपलब्धि क्या मानी जा सकती है? इस कालावधि में स्वर्गीय कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की सम्पूर्ण कृतियों से विदित होता है कि वे अत्युच्चकोटि के विचारक तथा सूक्ष्म, विश्लेषणपरक चिन्तक थे। कुछ लोगों की राय में वे अपने समय के भारतीय दार्शनिकों में अद्वितीय चिन्तक थे? श्री भट्टाचार्य के विचारों पर शोध कार्य बहुत कम हुआ है, उनके मन्तव्यों का व्यवस्थित प्रतिपादन भी उपलब्ध नहीं रहा है। इसके लिए श्री भट्टाचार्य की जटिल एवं गहन शैली कुछ हद तक स्वयं जिम्मेदार है। दूसरा कारण उनका व्याख्या तथा मौलिक चिन्तन को मिश्रित कर देने का स्वभाव है। भट्टाचार्य भारतीय दर्शन के बड़े मौलिक व्याख्याता हैं। अपने उक्त स्वभाव के कारण अपनी नवीन अवधारणाओं को उपयुक्त विस्तार एवं शक्ति के साथ पल्लवित करके प्रस्तुत नहीं करते। सशक्त आलोचनात्मक चिन्तन के लिए यह भी जरूरी है कि हमारी मान्यताएँ कतिपय एतिहासिक दृष्टियों अथवा सिद्धान्तों से स्पष्ट रूप में अलग और भिन्न दिखाई दें। यह भी जरूरी है कि उन मान्यताओं का युग की विशिष्ट समस्याओं से स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित किया जाय। प्राचीन दर्शनों की व्याख्या में अधिक संलग्न होना, इसीलिए मौलिक चिन्तन में बाधक बन जाता है।

भारतीय दर्शनों के अलावा हमारे कुछ तरूण दर्शन–अध्येता पाश्चात्य दार्शनिकों के सम्बन्ध में भी लिखते–पढते रहे हैं। हमारी राय में जहाँ स्वदेश के दार्शनिकों पर शोध–कार्य करना परम्परा के संरक्षण के लिए महत्त्वपूर्ण है, वहाँ विदेशी विचारकों के संबंध में कार्य वहीं तक उपयोगी है जहाँ तक वह हमें दर्शन की नई समस्याओं से परिचित कराकर स्वतन्त्र चिन्तन की प्रेरणा देता है। तात्पर्य यह है कि पश्चिम के विचारक, अपनी व्याख्या

और संरक्षण के लिए, साक्षात् रूप में, हमारे अपेक्षी नहीं हैं। पश्चिमी देशों में दोनों कोटियों के प्रबुद्ध विद्वान् बड़ी संख्या में मौजूद हैं, वे जो ऐतिहासिक चिन्तकों के बारे में लिखते हैं और वे जो स्वतन्त्र चिन्तन में रूचि रखते हैं। कुछ विद्वान प्राचीन चिन्तकों की नये ढंग से व्याख्या और समयोचित मूल्यांकन भी करते हैं– जैसे राइल ने प्लेटो पर और स्ट्रासन ने कांट पर समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किए हैं; किन्तु उक्त दोनों लेखक मुख्यतया मौलिक चिन्तक हैं। स्वातंत्र्योत्तर कालावधि में हमारे यहाँ मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन बहुत कम हुआ। कुछ अध्यापक चिन्तकों ने चार–छः या दर्जन भर श्रेष्ठ निबन्ध अच्छी पत्रिकाओं में प्रकाशित किये– जैसे डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, सुश्री डॉ. रूपरेखा वर्मा, श्री शिवजीवन भट्टाचार्य, श्री धर्मेन्द्रकुमार, डॉ. ए.पी.राव, डॉ. प्रणवकुमार सेन आदि ने। डॉ. राव ने विटगेन्स्टाइन के शब्दार्थ दर्शन पर एक पुस्तक भी लिखी है। प्रो. श्रीमती मार्गेरेट चटर्जी, प्रोफेसर एस. बारलिगें तथा स्वर्गीय प्रयास जीवन चौधरी ने सौंदर्य शास्त्र से सम्बन्धित निबन्ध प्रकाशित किए। अन्तिम लेखक ने विज्ञान–दर्शन पर भी पुस्तक लिखी। इस विषय पर प्रोफेसर प्रदीपकुमार सेन गुप्त और प्रोफेसर अजित कुमार सिन्हा ने भी पुस्तकें लिखी। प्रो. एन.बी. बनर्जी, कालिदास भट्टाचार्य एवं जे.एन. मोहन्ती ने मौलिक निबन्धों के कई संग्रह प्रकाशित किये, किन्तु अभी तक इन महत्त्वपूर्ण विद्वानों ने अभिनव आख्या देते हुए किसी नई विचार–पद्धति के निर्माण का प्रयत्न किया है, ऐसा मुझे नहीं मालूम।

प्रश्न है, क्या हमारे देश में नवीन विचार–पद्धतियों के निर्माण की जरूरत और उसके लिए समुचित भूमि उपलब्ध है? हमें लगता है कि अभी तक हमारे दर्शन जगत् में, स्वतंत्रता के बाद, वह वातावरण सचेत रूप में तैयार नहीं किया जा सका है जिसमें नयी विचार–पद्धतियों का ऊँचे धरातल पर समुचित विकास हो सके। पिछले पन्द्रह वर्षों में प्रो. सच्चिदान्द मूर्ति, प्रो. मार्गेरेट चटर्जी एवं प्रस्तुत लेखक द्वारा सम्पादित तीन–चार निबन्ध–संग्रह इस दृष्टि से निकाले गये हैं कि हमारे दर्शन के विद्वानों में मौलिक चिन्तन की उमंग और साहस पैदा हो। देखना यह है कि उक्त संग्रहों द्वारा कहाँ तक मौलिक चिन्तन के लिए प्रेरणा व प्रोत्साहन मिलता है। होना यह चाहिये कि उक्त संग्रहों में जिन विद्वानों व चिन्तकों ने निबन्ध दिए हैं वे सब और दूसरे योग्य चिन्तक भी यह दायित्व महसूस करें कि उन्हें देश की दार्शनिक परम्परा को सचेत रूप में आगे बढ़ाना है। इस दृष्टि से प्रो. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने श्री अरविन्द की व्याख्या तथा मौलिक पुस्तकों एवं निबन्धों के रूप में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उनका चिन्तन और लेखन समुचित प्रोत्साहन एवं समीक्षात्मक टिप्पणियों की अपेक्षा रखता है।

हमारी समझ में वर्तमान भारतीय दर्शन की मौलिक प्रगति के लिए तीन चीजें जरूरी हैं। प्रथमतः हमारे चिन्तकों में इस अवगति के साथ कि हम एक नितान्त समृद्ध, वैविध्यपूर्ण दर्शन–परम्परा के वारिस हैं, मौलिक चिन्तन का उत्साह और साहस होना चाहिए। साहस–भावना का एक अंग यह भी है कि हम बौद्धिक हलचल का अनुभव करते हुए कुछ नितान्त नये प्रश्न उठाएँ और उन पर सृजनात्मक चिन्तन करें। पूछा जा सकता है कि ऐसे प्रश्न हमें कहाँ मिलेंगे? उत्तर में निवेदन है कि नये प्रश्न पाने के लिए मुख्य अपेक्षा इसकी

है कि हम विश्व के और अपने देश के बौद्धिक एवं सांस्कृतिक इतिहास को अपनी दृष्टि से देखें और इस भावना से कि उस इतिहास की जटिल समस्याओं का समाधान स्वयं हमें खोजना है। भारतीय दार्शनिकों के सामने एक क्रान्तिकारी उद्देश्य यह है कि वे विकृत परम्पराओं से आक्रान्त भारत की नैतिक–सामाजिक चेतना को नया मूल्य बोध दें। हममें वैसी उत्कट लालसा तब ही पैदा हो सकती है जब हममें देश को आगे बढ़ाने की सच्ची लगन हो। मैं मानता हूँ कि सब प्रकार के बड़े चिन्तन–प्रयत्नों के पीछे किसी न किसी प्रकार का आवेश–आवेग रहता है। जब हमारी चेतना में विश्व–बोध एवं जीवन–बोध की एक नयी सम्प्रतीति, नई दृष्टि या झाँकी आ जाती है तो हम उसे विशद रूपाकार और प्रखर अभिव्यक्ति देने के लिए आकुलित एवं बाध्य महसूस करने लगते हैं। यह अभिव्यक्ति ही कालान्तर में नये दर्शन का रूप लेने लगती है। प्रायः उक्त कोटि की दृष्टि ऐसे चिन्तकों की मन–बुद्धि में जन्म लेती है जो बड़े पैमाने पर सत्य या जीवन विवेक पुनस्स्थापित कर मानव का कल्याण करती है। प्लेटो और काण्ट, महावीर, बुद्ध आदि ऐसे ही दृष्टि–सम्पन्न विचारक थे।

हमारे अपने युग में, अपने ढंग से, बट्रेन्ड रसेल, हाइडेगर तथा विटगेन्स्टाइन, पश्चिम में और श्री अरविन्द तथा गाँधी स्वदेश में उक्त कोटि के चिन्तक और शिक्षक रहे हैं। भारतवर्ष की जैसी सांस्कृतिक और सामाजिक स्थिति चल रही है उसमें, आगे आने वाले काफी समय तक, ऐसे विचारकों की अपेक्षा रहेगी जिनमें सत्य अर्थात् प्रामाणिक विश्वबोध को पाने की लालसा के साथ–साथ देश के मूल्य बोध में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की आकांक्षा और आक्रोश जैसे प्रेरक तत्त्व हों। यों आज विश्व की सभी संस्कृतियों के सामने नये प्रामाणिक मूल्यबोध और जीवन विवेक को पाने या विकसित करने का प्रश्न उठा हुआ है। इस प्रश्न का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, संस्कृति के आधारभूत जीवन–मूल्यों को नयी प्रामाणिकता देते हुए उन्हें सचेत अवगति और प्रयत्न का विषय बनाना। आज के संशय–प्रधान युग में यह अन्तिम चुनौति सब देशों और सब वर्गों के चिन्तकों के समक्ष ज्वलन्त प्रश्न बन कर खड़ी है। प्रस्तुत लेखक की प्रमुख चिन्तन–परक रचनाओं में इस प्रश्न से जूझने का सर्तक, लम्बा और शब्दानुविद्ध प्रयत्न किया जाता रहा है।

***

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक चिन्तन की दिशा-दशा

हर्षनारायण

यह आलेख सूचनात्मक न होकर आलोचनात्मक है, और आलोचना भी तत्त्वतः उस प्रकार की, जिसे आस्वादपरक आलोचना कहते हैं। हमने इतिहास–लेखन और विशुद्ध अनुसन्धान के प्रयत्नों को प्रायः विचार–कोटि में नहीं रखा है।

भारतीय दर्शन विश्व का सर्वाधिक दीर्घायु दर्शन है। इसकी गरिमा ईसवी सन् की आरंभिक शताब्दियों तक अक्षुण्ण रही। कालान्तर में वह साम्प्रदायिक व्याख्याकारों के हाथ में पड़ कर अधिकाधिक जल्प–बहुल होता गया। अन्ततः उसके प्रवाह में किसी कारण भारी गतिरोध उत्पन्न हुआ और तुरुक–मुगल युग में उसकी सर्जन–शक्ति समाप्तप्राय हो गयी। दर्शन को व्यर्थ वाग्जाल में उलझा देखकर अनेक प्रतिभाएँ भजन–कीर्तन में संलग्न हो गयीं। निमाई चैतन्य हो गये। मधुसूदन सरस्वती जैसा अप्रतिम तार्किक बालकृष्ण के भक्त हो गये। शुष्क तर्क–कर्कश दर्शन के प्रति इतनी वितृष्णा व्याप्त हुई कि पौराणिकों ने बड़े से बड़े दार्शनिक–गौतम, शंकर, बुद्ध आदि की प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः खूब निन्दा की। अंग्रेजी अमलदारी में भारत की दार्शनिक प्रतिभा ने पुनः अंगड़ाई ली और वेद–वेदान्त पर प्रतिष्ठित दर्शन नये–नये रूप में प्रकट होने लगा। दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक, मधुसूदन ओझा, रवीन्द्र, अरविन्द, भगवान्दास, आनन्द कुमार स्वामी, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, गाँधी जैसी प्रतिभाएँ उसी युग की उपज हैं। सांख्य–योग की परम्परा में हरिहरानन्द आरण्य जैसी साधना–संवलित प्रतिभा का प्रादुर्भाव उसी युग में हुआ। उसी युग में, मार्क्सवाद को 'अतिक्रान्त' कर मानवतावाद की एक विशिष्ट धारा के पोषक मानवेन्द्रनाथ राय तथा महान् योगी और आधुनिक भारत के एक मात्र संशयवादी दार्शनिक साधु शान्तिनाथ ने जन्म लिया था। इस्लाम की परम्परा में मुहम्मद इकबाल जैसी पैगम्बरी प्रतिभा का उदय उसी युग में हुआ था। उस युग के अन्तिम प्रतिनिधि राधाकृष्णन् अभी हाल तक हमारे बीच वर्तमान रहे हैं।

अंग्रेजी अमलदारी की अन्य बातों के लिए चाहे जितनी निन्दा की जाय, जो अधिकतर अनुदारतापूर्ण होती है, फिर भी मानना होगा कि उसी में भारतीय मनीषा को अपने सहस्राधिक वर्षों से भूले–बिसरे स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा हुई थी। वह युग हमारे स्वरूप–प्रत्यभिज्ञान–युग, आत्मप्रत्यभिज्ञान– युग के रूप में सदा स्मरणीय रहेगा। हमारी आत्म–प्रत्यभिज्ञा ही उपर्युक्त प्रतिभाओं के माध्यम से विविध रूपों में प्रकट हुई थी। हम देखेंगे कि आगे हमने इस प्रत्यभिज्ञा को संजोया–संवारा नहीं, खोया है।

इसके बाद हमें राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। किन्तु यह एक पहेली है कि हम इस स्वतन्त्रता का उपयोग सांस्कृतिक–दार्शनिक क्षेत्र में अधिकाधिक परतन्त्र होते जाने में कर रहे हैं, अपना तन्त्र विकसित करने के स्थान पर अन्यों के तन्त्र पर आश्रित होते जाने में गर्व कर रहे हैं। ब्रिटिश–युग के दार्शनिक आज के दर्शनज्ञों की अपेक्षा यूरोपीय चिन्तन–धारा में कम निष्णात नहीं थे, और न वे यूरोप से प्रेरणा लेने में ही किसी से कम थे, तथापि उनके दर्शन का मूल स्वर भारतीय था। उन्होंने यूरोपीय अध्यात्मवाद की खाद से भारतीय अध्यात्मवाद का पौधा पुष्ट, पल्लवित, और पुष्पित किया, जैसे शोपेनहावर ने उपनिषदों और बौद्ध तत्त्वज्ञान से यत्किंचित् प्रेरणा लेते हुए भी अपना निजी–दर्शन उद्‌भावित किया था। इकबाल ने भी बर्गसाँ, नीत्शे, मैकटेगार्ट, शोपेनहावर आदि के प्रकाश में इस्लामी परम्परा के अन्तर्गत स्व–दर्शन की प्राणप्रतिष्ठा की थी, जिसका मूल स्वर इस्लामी था। किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर भारत के दार्शनिकों के सर्वाधिक प्रभावशाली वर्ग में पश्चिमी दार्शनिक प्रवृत्तियों के प्रति इतनी आसक्ति देखी जाती है कि वे हमें उनकी प्रतिध्वनि मात्र लगने लगते हैं। स्थिति यहाँ तक आ पहुँचती है कि, यदि जैसा हमने ऊपर इंगित किया है, अंग्रेजी अमलदारी का युग भारत की स्वरूप–प्रत्यभिज्ञा का युग था, तो पिछले 25 वर्षों के युग को हम उसकी स्वरूप–च्युति का युग कह सकते हैं।

दो विकल्प सम्भव हैं। कोई विशिष्ट दार्शनिक प्रवृत्ति किसी भारतीय को आकर्षक लग सकती है। अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा और अर्न्तदृष्टि के बल पर वह उसे श्रेष्ठतम दार्शनिक प्रवृत्ति भी मान सकता है। इसमें आश्चर्य अथवा विप्रतिपत्ति की कोई बात नहीं। दूसरा विकल्प यह है कि वह उक्त प्रवृत्ति को गतानुगतिक न्याय से अपना ले और जब उसका स्थान कोई दूसरी प्रवृत्ति ले तो वह भी पहली को त्याग कर उसी न्याय से यन्त्रवत् दूसरी प्रवृत्ति को ग्रहण कर ले। भारत में प्रायः यह दूसरा विकल्प ही चल रहा है। जब तार्किक तथ्यवाद उन्नति के शिखर पर था तो नये लोग तार्किक तथ्यवादी बनने या कहलाने में गौरव अनुभव करते थे। जब विट्‌गेन्स्टाइन के ट्रैक्टेटस का जोर था, तो यहाँ भी उसका जोर बढ़ा। जब परवर्ती विट्‌गेन्स्टाइन, राइल, स्ट्रासन, आदि का जोर हुआ तो लोग उनके हो रहे हैं। वस्तुतः हम दार्शनिक वेदर–क्लॉक (वायुमापक यन्त्र) बन गये हैं, हमारा दर्शन वेदर–क्लॉक दर्शन हो रहा है। समझिए कि अकबर इलाहाबादी ने ऐसी ही मनोवृत्ति पर कटाक्ष करते हुए गाया था–

इक बर्गे मुज़महिल ने यह इक शाख से कहा,
'मौसिम की क्या ख़बर नहीं, ऐ डलियो! तुम्हें ?'
'अच्छा!'– जबाबे खुश्क यह इक शाख़ ने दिया,
'मौसिम से बा–खबर हों तो क्या जड़ को छोड़ दें ?'

इस चेतावनी पर ध्यान न देने का परिणाम यह है कि जो कोई एक विशिष्ट, आधुनिकतम पश्चिमी दार्शनिक प्रवृत्ति के अतिरिक्त किसी अन्य दर्शन को बरतता है उसे दार्शनिक ही नहीं माना जाता। इसप्रकार की हठधर्मी हमारे देश में दर्शन के नाम पर जोरों से आरम्भ हो गयी है। फलतः इधर का दर्शन अधिकाधिक एकांगी, एकायामी, एकदिक्क होता जा रहा है।

इधर एक और प्रवृत्ति जोर मार रही है। वह है दार्शनिकता की कसौटी। गणित और प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र जैसी निगमनात्मक विद्याओं (Deductive sciences) तथा भौतिकी आदि विज्ञानों की विधाओं को मानकर चलने की प्रवृत्ति। तर्कशास्त्र/न्यायिकी के प्रतीकों का अभ्यासी अधिक आतंकित करता है। गणित और भौतिकी की लाक्षणिकता का विशेषज्ञ मूलभूत, सनातन (Perennial) दार्शनिक समस्याओं के प्रति निपट अनाड़ी होते हुए भी अपने को असली दार्शनिक मानता है। भाषा की गुत्थियों के मर्मज्ञ के समक्ष तो दर्शन का सारा ताना–बाना भाषा का खेल मात्र है, उसे और क्या करना शेष रह जाता है ?

प्रतीकात्मक/गणितीय तर्कशास्त्र के महत्त्व का अपलाप नहीं किया जा सकता, किन्तु उसके उपयोग का क्षेत्र दर्शन नहीं, अपितु गणित और तान्त्रिकी (Technology) है। उसकी सहायता से कम्प्यूटर बन सकता है, दर्शन नहीं बन सकता।

जब शिल्प (तकनीक) दर्शन पर हावी होता है तब दर्शन की सर्जनशीलता क्षत होने लगती है, और दर्शन का स्रोत सूखने लगता है। इस देश में यही घटित हो रहा है। मूल दार्शनिक समस्याओं पर नये सिरे से विचार करने के स्थान पर उन्हें अदार्शनिक बकवास घोषित करके उनसे छुट्टी लेने की प्रवृत्ति बढ़ी है। वाक्यविश्लेषण पद्धति भारतीय दर्शन की शाश्वत समस्याओं पर पुनर्विचार करने के मार्ग में स्वरूपतः बाधक नहीं है। आर्थर सी. डैन्टो जैसा वाक्यविश्लेषणवादी भारतीय तत्त्वज्ञान की गहराई से छानबीन करके एक विचारोत्तेजक ही नहीं, भारतीय मानस को झकझोर कर रख देने वाली पुस्तक Mysticism and Morality(1972) लिख सकता है, किन्तु अपवादों को छोड़कर, हमारे नवशिक्षित वाक्यविश्लेषणवादी भारतीय दर्शन को दर्शन मानने से ही कतराते दिखायी देते हैं।

कुछ लोगों का विचार है कि भारतीय दार्शनिक आज जो भी दर्शन रचते हैं वह भारतीय दर्शन है, चाहे वह किसी भी परम्परा में आता हो। हमारा कहना है कि यदि भारतीयों द्वारा रचित दर्शन भारतीय परम्परा अथवा प्रतिभा से समुद्भूत हो तो वह चाहे जिस परम्परा के अन्तर्गत पड़े भारतीय दर्शन अवश्य कहा जायेगा। जो दर्शन भारतीयों का स्वोपज्ञ न होकर परप्रत्यय–बुद्धिता, गतानुगतिकता का परिणाम हो, वह भारतीय कैसे कहा जा सकता है? हम अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि तथोक्त दर्शन पश्चिमी दर्शन की प्रतिध्वनि अथवा प्रतिलिपि मात्र है। उसे आप चाहे भारतीय दर्शन कह कर मन को सन्तोष दे लें, किन्तु ऐसी भारतीयता की कोई अर्थवत्ता नहीं। यदि कोई व्यक्ति किसी दर्शन की सृष्टि अथवा पुनः सृष्टि न करके किसी दार्शनिक प्रवृत्ति का यान्त्रिक रूप से पोषण अथवा मण्डन करने लगता है तो न तो वह दर्शन किसी गम्भीर अर्थ में उसका हो जाता और न वह व्यक्ति दार्शनिक ही माना जा सकता है। दर्शन की सृष्टि नहीं तो पुनः सृष्टि होनी ही चाहिऐ यह एक रोचक प्रसंग है कि दार्शनिक उसी ज्ञान को प्रमा का अभिधान प्रदान कर सकते हैं जो अपनी प्रतिभा, से अर्जित किया गया हो, न कि जो नकल अथवा तदाकार मात्र हो। इस सन्दर्भ में जयतीर्थ की न्यायसुधा (1.2, पृ. 250) तथा उमास्वाति का तत्त्वार्थाधिगम– सूत्र–भाष्य (1,32) अवलोकनीय है।

वस्तुतः आज भारतीय दर्शन का कोई अपना व्यक्तित्व ही नहीं रह गया है, भारत की दार्शनिक इयत्ता–महत्ता (Indian philosophic Identity) उभर ही नहीं पा रही है।

'भारतीय दर्शन' कोई दार्शनिक सम्प्रत्यय न होकर एक भौगोलिक संप्रत्यय होकर रह गया है। प्रामाणिक दर्शन और संस्कृति का सम्बन्ध गहरा होता है, और दार्शनिक परम्परा संस्कृति का महत्त्वपूर्ण तथा अभिन्न अंग होती है। वस्तुतः दर्शन संस्कृति की आत्म–चेतना का अपर नाम कहा जा सकता है। ऐसी दशा में भारतीय संस्कृति का प्रामाणिक, स्वाभाविक, दर्शन वह होगा जो भारतीय संस्कृति और इसकी दार्शनिक परम्परा को प्रतिफलित, परिशोधित ओर परिवर्द्धित कर सके, न कि किसी भिन्न संस्कृति और तद्गत परम्परा का पोषण करने मात्र में अपनी इतिकर्तव्यता समझ ले। इस द्वितीय प्रकार से प्राप्त दर्शन निश्चय ही कृत्रिम और कापेय होगा। यहाँ आज ऐसा ही दर्शन सम्मान पा रहा है।

आज जीवनानुशासी दर्शन (lived philosophy) और शास्त्रीय दर्शन (Academic philosophy) की खाई चौड़ी हो गयी है। मनुष्य जीवन में कोई और दर्शन बरतता है और पुस्तकों में कोई और ही। दर्शन जीने और मानने में इतना बड़ा भेद पहले कभी नहीं देखा गया। वस्तुतः आज जिये जाने वाले दर्शन (lived philosophy) और माने जाने वाले दर्शन (professed philosophy) में कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया है। यहाँ इस तथ्य को विशद करने का अवसर नहीं, किन्तु वाक्यविश्लेषणवाद जैसे दर्शनों की जीवन के प्रति अप्रासंगिकता स्पष्ट है। दर्शन व्यक्ति और संस्कृति का सार–तत्त्व ही नहीं प्राण–तत्त्व है। शास्त्र–कर्म (Academic activity) को मुखरित कर सकना चाहिए।

हाल के भारतीय दर्शन की व्यक्तित्वहीनता के परिचायक कतिपय प्रकाशन हमारे सामने हैं। Current Trends in Indian Philosophy (1972) शीर्षकांकित संकलन में कुल 23 लेख हैं। इसका सम्पादक समसामयिक भारतीय दर्शन के प्रति आलोचना की दृष्टि से सम्पन्न है। वह इस आरोप का अपलाप किये बिना उल्लेख करता है कि समसामयिक भारतीय दर्शन औपनिवेशिक (Colonial) है। वह एडवर्ड शिल्स की यह उक्ति उद्धृत करता है कि 'यह एक दुःखद सत्य है कि भारत बौद्धिक दृष्टि से एक स्वतन्त्र देश नहीं है।' (The sad fact is that India is not an intellectually independent country) वह मुल्कराज आनन्द और के.एम. पणिक्कर के इन मतों को विचारार्ह मानता है। मुल्कराज आनन्द के शब्दों में, समसामयिक भारतीय दार्शनिकों के विचार या तो प्राचीन विचारों के पुनर्व्याख्यान मात्र हैं या ब्रिटेन, फ्रांस, अथवा अमेरिका की स्थानीय समस्याओं से प्रसक्त धारणाएँ मात्र हैं (either various reinterpretations of ancient Indian thought or intellectual positions relevant to local problems in Great Britain, France or America)। पणिक्कर के शब्दों में, एक भी भारतीय विश्वविद्यालय ने एक भी ऐसा दार्शनिक नहीं उत्पन्न किया जिसने प्राचीन अथवा नवीन दर्शन–प्रस्थानों में मूल्यवान् योगदान किया हो (not one of the Universities has produced a philosopher of any distinction who has made a contribution of value either to the traditional systems of thought or to the modern schools)।

विश्वविद्यालयों के बाहर झाँकने पर अवश्य किसी भावी दर्शन की कुछ क्षीण रेखाएँ दिखायी दे जाती हैं। जिद्दू कृष्णमूर्ति का दर्शन माध्यमिक और जेन (ध्यान–सम्प्रदाय) की स्मृति ताजा कर देता है। इधर रजनीश की दर्जनों कृतियों में एक विशिष्ट दृष्टि का सूत्रपात

हो रहा है, जिसके अध्ययन की अपेक्षा है। जब तक कोई विदेशी इस दिशा में पहल न करे तब तक हमारे विश्वविद्यालय इस धारा की उपेक्षा की करते रहेंगे।

धर्म–मीमांसा (Religious studies), जिसके अन्तर्गत् विविध धर्मों का व्यापक अध्ययन, धर्म–दर्शन, तुलनात्मक धर्म सभी का समावेश है, उसकी स्थिति तो इधर और अकथ्य रही है। भारत सहस्राब्दियों से धर्मों की एक व्यापक प्रयोगशाला रहा है, अतः धर्माध्ययन की दिशा में हमें अग्रणी होना चाहिए था, किन्तु स्थिति इसके ठीक विपरीत है। भारतीय दार्शनिक विविध धर्मों के प्रामाणिक अध्ययन में रूचि नहीं लेता। वह धर्म–दर्शन बरतने का दम्भ भरता है और धर्म से कतराता है! वह भूल जाता है कि धर्म–दर्शन का मूलाधार धर्माध्ययन होता है, धर्म–तत्त्व के विषय में सुनी–सुनायी बातों के आधार पर बना धर्म–दर्शन किस काम का? इस्लाम का अध्ययन न करने की मानो उसने शपथ ही ले रखी है, वह हिन्दू धर्म का भी गहराई से अध्ययन नहीं करता। धर्म–दर्शन सम्बन्धी सारा उपादान उसे ईसाई धर्म से प्राप्त होता है, और वह भी अन्यों द्वारा चर्चित रूप में, सेकन्ड–हैन्ड। पश्चिमी धर्म–दर्शन का मूल उपजीव्य, आकर और प्रेरणा–स्रोत ईसाई और किसी सीमा तक यहूदी धर्म है, फिर भारतीय धर्म–दर्शन भला भिन्न मार्ग कैसे ग्रहण कर सकता है! यहाँ जो दार्शनिक हिन्दू धर्म का कुछ अधिक उपयोग करने का यत्न करता है वह भी प्रायः पश्चिमी व्याख्याओं के प्रतिध्वनन से आगे नहीं बढ़ता। वस्तुतः आज का धर्म–दर्शन–लेखक ईसाई धर्म की भी उस व्यापक और प्रगाढ़ चेतना का परिचय नहीं देता जो श्री अरविन्द, आनन्द कुमार स्वामी, और राधाकृष्णन् की कृतियों में आद्योपान्त प्रस्फुटित पायी जाती हैं। धर्म–दर्शन कोई निगमनात्मक विज्ञान (Deductive science) नहीं है। उसका उपजीव्य धरती पर प्रचलित धर्म हैं, जिनका व्यापक, प्रगाढ़ और प्रामाणिक अध्ययन ही किसी सशक्त धर्म–दर्शन का जीवन–रस बन सकता है।

एक उदाहरण लें। पश्चिम की देखा–देखी भारतीय दार्शनिक भी धार्मिक भाषा की सार्थकता–अनर्थकता, प्रामाण्य–अप्रामाण्य आदि की मीमांसा करने चल पड़ता है, चाहे उसने किसी धर्म–ग्रन्थ के दर्शन भी न किए हों और उसे धर्मांध्ययन के प्रति अणु–मात्र भी अनुराग न हो। बस सुनी–सुनायी बातों के आधार पर पश्चिमी विद्वानों द्वारा उद्‌भावित प्रक्रिया और विचार–रूपों (Categories) का अवलम्ब लेते हुए धार्मिक भाषा पर निर्णय दे दिया जाता है। यदि पूछा जाय कि धार्मिक भाषा कहते किसे हैं, तो पता चलेगा कि उसके एतत्सम्बन्धी ज्ञान का स्रोत कतिपय सूक्तियाँ अथवा दुरुक्तियाँ हैं। उसे पता ही नहीं कि धार्मिक भाषा के स्वरूप पर पश्चिमेतर परम्पराओं से पर्याप्त प्रकाश प्राप्त हो सकता है, क्योंकि पश्चिमी दार्शनिकों ने उनका समुचित प्रयोग किया ही नहीं।

इस सन्दर्भ में दो अपवाद उल्लेख्य हैं। तुलनात्मक धर्म के क्षेत्र में प्रो. देवराज की कृति Hinduism and Christianity (1969) एक सम्मानार्ह अपवाद है। इस्लाम के दार्शनिक अध्ययन की दिशा में जमाल ख्वाजा की पुस्तक Quest for Islam (1977) इकबाल की क्लासिक Reconstruction of Religious Thought in Islam (1980) के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयास है, यद्यपि उसमें इस्लाम अपना व्यक्तित्त्व खोकर धर्मतत्त्व सामान्य के रूप में उपस्थापित प्रतीत होता है। इधर हिन्दुत्व और इस्लाम के तुलनात्मक

अध्ययन पर कतिपय विचारोत्तेजक लेखों का प्रकाशन हुआ है, किन्तु उनकी संख्या इतनी कम है कि उनका उल्लेख और अनुल्लेख बराबर है।

दर्शन विशुद्ध बौद्धिक उहापोह अथवा वाक्यार्थगत गुत्थियाँ सुलझाने का साधन मात्र नहीं, उसकी सामाजिक–सांस्कृतिक अर्थवत्ता भी है। नये पश्चिमी नारे, Interdisciplinary approach, की यहाँ चाहे जितनी अनुगूँज सुनायी दे, हमारे दर्शन विभागों का देश की सामाजिक–सांस्कृतिक प्रगति में किसी प्रकार का योग नहीं दिखायी देता। वे प्रति वर्ष अधिकाधिक अप्रासंगिक होते जा रहे हैं। दार्शनिक का प्रत्यय के प्रति प्रपत्ति का भाव (Fetishism of the Concept) इतना बढ़ गया है कि लगता है कि उससे तथ्य का दामन सदा के लिए छूट गया है। सी. राइट मिल्स (C. Wright Mills) का वक्तव्य है– 'What has happened in the fetishism of the Concept is that men have become stuck way upon a very high level of generalization, usually of syntactical nature,and they cannot get down to fact.' The Sociological Imagination (New York ; Oxford University Press, 1959), P. 74.

डेल रीप (Dale Riepe) का एक रोचक वाक्य है–'Instead of bravely leading the way to say something sensible about reality, these schools formalize, idealize, abstructionate, methodize, and rigorize, presumably for its own sake.' - Indian Philosophy Since Independence (Calcutta : Research India Publications, 1979), P. 163.

यदि राष्ट्र दार्शनिक से किसी समस्या, जैसे राष्ट्रीय एकीकरण, पर विचार करने को कहे, तो दार्शनिक समस्यामूलक प्रत्यय को माँजते–माँजते, घिसते–घिसते, साफ करते–करते इतना साफ करने लगेगा कि वह प्रत्यय ही साफ हो जायेगा, अथवा उससे कोई ऐसा प्रकथन प्राप्त होगा जो राष्ट्र के लिए दो कौड़ी का भी नहीं होगा– जैसे 'राष्ट्रीय एकीकरण एक अर्थवान् प्रत्यय है।' हमारा नम्र निवेदन है कि राष्ट्र इस विलासिता को अधिक काल तक नहीं सहन कर सकता। सारे केन्द्रीय उच्चानुशीलन दर्शन–केन्द्रों का एक साथ भंगकर दिया जाना अर्थ रखता है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में एक बार फ्रांस के दार्शनिकों का एक दल पहुँचा और प्रश्न किया कि भारतीय दार्शनिक जन–मत और निर्वाचनों को किस सीमा तक प्रभावित करते हैं। उन्होंने बतलाया था कि वे फ्रांस में इस सन्दर्भ में एक शक्ति माने जाते हैं। हम लोग भला क्या उत्तर देते ?

वस्तुतः मानव के नवनिर्माण में सहायक दर्शन ही सुदर्शन माना जा सकता है। ज्ञान प्रकाशक ही नहीं, प्रवर्तक भी होता है। जो ज्ञान परम्परया भी प्रवर्तक नहीं है उसका कोई मूल्य नहीं। दर्शन संस्कृति का प्राणप्रद धर्म है, साधन है। लगता है कि आज दर्शन–जगत् में एक व्यापक स्तर पर साध्य–साधन–विपर्यय घटित हो रहा है।

विषयानुपूर्वी–भेद, श्रेणी–भेद से दर्शन के प्रायः आधे दर्जन भेद सम्भव हैं। प्रथम श्रेणी का दर्शन अस्तित्व के सारासार, सार्थक्यानर्थक्य का विचार करता है। द्वितीय श्रेणी का दर्शन अनुभव और अनुभूत के सत्यासत्य, प्रामाण्याप्रामाण्य का विचार करता है। तृतीय श्रेणी का दर्शन सत्यासत्य, प्रामाण्याप्रामाण्य के निकष निर्धारित करता है। चतुर्थ श्रेणी का दर्शन सत् और सत्य की भाषा में अभिव्यक्ति के प्रश्न पर विचार करता है। पंचम श्रेणी का

दर्शन दर्शन–विज्ञान (Science of Philosophy) कहा जा सकता है, जिसके अन्तर्गत् दर्शनेतिहास, दर्शन का समाजशास्त्र, दर्शन का मनोविज्ञान, दर्शन–समीक्षा आदि आते हैं। पष्ठ श्रेणी का दर्शन दर्शन–दर्शन (Philosophy of Philosophy) अथवा अति–दर्शन (Metaphilosophy) कहा जाता है। यहाँ सम्प्रति प्रथम और द्वितीय श्रेणी के दर्शनों का लोप हो चला है। यहाँ यदि कोई दर्शन बढ़ रहा है तो वह चतुर्थ श्रेणी का दर्शन है, जो अब पंचम और षष्ठ श्रेणी के दर्शनों पर भी आक्रमण करने लगा है। तथापि, इस चतुर्थ श्रेणी में ही, हमारा मौलिक योगदान शून्य बैठता है। हमारी सारी चेष्टा यही रहती है कि दर्शन को अधिक से अधिक लाक्षणिक बना दिया जाय। फलतः हम दर्शन के शिल्पी (Technician) बनते जा रहे हैं। यहाँ किसी को यह चेतना नहीं कि दर्शन के इतिहास में लाक्षणिकता का आग्रह किसी मौलिक दार्शनिक प्रवृत्ति की आधारशिला नहीं बन सकी है। मुगल–युग में नव्य–न्याय की भीषण लाक्षणिकता का बोलबाला था। फलतः अन्य दर्शनों की कौन कहे, प्राचीन न्याय का भी स्रोत सूख गया। राहुल सांकृत्यायन और धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री साक्षी हैं कि वाराणसी में अभी हाल तक प्राचीन न्याय के सुप्रसिद्ध ग्रन्थों, न्यायवार्त्तिक और न्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीका, के जानकार दुर्लभ थे।

वस्तुतः मौलिक दर्शन का उदय तत्त्व के साक्षात्कार (Encounter with the object) की अपेक्षा करता है, उसके लिए विषय–वस्तु का विसर्जन (Dropping of the object) घातक है। हमारी सुचिन्तित धारणा है कि जब लाक्षणिक दर्शन का उत्कर्ष होता है तब सर्जनात्मक दर्शन का अपकर्ष होने लगता है। वस्तुतः लाक्षणिक दर्शन सर्जनात्मक दर्शन के सहायक के रूप में ही उपयोगी सिद्ध होता है, अन्यथा वह भस्मासुर के समान अपने जनकभूत सर्जनात्मक दर्शन की हत्या पर सन्नद्ध हो जाता है।

अतः हमें दर्शन की उक्त छहों विधाओं में मौलिक योगदान कर सकने वाली प्रतिभाओं की प्रतीक्षा है। समसामयिक भारतीय दर्शन की एकांगिता, एकायामिता, एकादिक्कता का यही उपचार है।

तदर्थ एक और दृष्टिभंगी सहायक हो सकती है। दर्शन और दार्शनिक दो प्रकार के होते हैं– निरुक्त–प्रिय (lovers of the definite/the determinate) और अनिरुक्त–प्रिय (lovers of the indefinite/the indeterminate)। तुलना कीजिए– 'परोक्ष– प्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्ष–द्विषः'– शतपथ ब्राह्मण 6.1.1.2.11., वृहदारण्यकोपनिषद् 4.2.2।

सर्वत्र प्रथम कोटि के दर्शन, द्वितीय कोटि के दर्शनों को खदेड़ने पर तुले हुए हैं, और बहुत–कुछ सफल भी दिखते हैं। प्रथम कोटि के दर्शन और दार्शनिक गणित, न्यायिकी, विज्ञान और शिल्प की ओर उन्मुख होते हैं और दर्शन को निगमन–मूलक विज्ञान का स्तर प्रदान करने को आतुर होते हैं। द्वितीय कोटि के दर्शन और दार्शनिक निरुक्त, दृष्ट और निर्दिष्ट से सन्तुष्ट नहीं होते। वे अनिरुक्त, अदृष्ट और अनिर्दिष्ट में छलांग लगाते हैं। यहाँ सूफी–कवि–सम्राट रूमीकी मस्नवी का एक पद्य स्मृति–पटल पर उभरता है–

आशिकाँ अन्दर अदम खीमः ज़दन्द
अज अदम यक–रंगों नक्शे वाहिदऽन्द

अर्थात् प्रेमी/भक्त शून्य/असत् में शिविर लगाते हैं, क्योंकि वे वस्तुतः शून्यमय/असन्मय होते हैं। निरुक्त/दृष्ट/निर्दिष्ट और अनिरुक्त/अदृष्ट/अनिर्दिष्ट

का भेद वैसा ही है जैसा सुरक्षा–प्रेम (love of security) और साहसिकता–प्रेम (love of adventure) का। उक्त प्रथम कोटि के दार्शनिक सुरक्षा–प्रिय होते हैं, फूँक–फूँक कर कदम रखते हें, जब कि द्वितीय कोटि के दार्शनिक साहसिकता–प्रिय होते हैं, खतरा मोल लेते हैं। इस प्रवृत्ति वैचित्र्य को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। निरुक्त/दृष्ट/निर्दिष्ट का अतिक्रमण मानव का स्वभाव है। हमें प्रतिक्षण पार–चेतना (Consciousness of the beyond) होती रहती है। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य का मन्तव्य है कि न्यायिकी में अनिरूक्त (The Infinite) को भी स्थान मिलना चाहिए, क्योंकि विचार निरुक्त और अनिरूक्त का संगम है। अनिरुक्त के ये उदाहरण दिये हैं– प्लेटो का प्रतियोगी पुद्‌गल (Negative matter) वेदान्तियों की माया, माध्यमिक का शून्य, अरस्तू की वस्तुनिष्ठ सम्भाव्यता (objective chance), कान्ट और स्पेन्सर ......, शोपेन्हावर और बर्गसों की इच्छा–शक्ति (will to power), हेगेल का शुद्ध सत् (pure being)। सामयिक भारतीय दर्शन की एकांगिता अनिरुकत के निरूक्त में पुनरुत्थान से ही दूर हो सकती है। वस्तुत:, दर्शनगत चरम तत्त्वों को वाणी प्रकथनों के रूप में ढालना, पूरा–पूरा सम्भव नहीं.... अन्त तक रूपक बने रहे हैं और उत्प्रेक्षात्मक प्लुति (Negative leap) आवश्यक हो जाती है ... कारण है कि तर्कशास्त्री द्वारा किया गया सत्य और अनृत का भेद ज्ञानार्जन में अधिकतर अप्रासंगिक और व्यर्थ हो जाता है..... मानवता कभी नहीं समझ पाती .... वह क्या चाहती है।

अच्छा, मौलिक दर्शन शून्य में नहीं बनता, इसका विकसन परम्परा की उर्वर भूमि से प्राण खींचता हुआ, पुष्पित और फलित होता है। अतीत की थाती को पचाये बिना मौलिक दर्शन का दर्शन स्वप्नदर्शन मात्र है। अब न तो भारतीय अतीत के प्रामाणिक परिचय पर बल दिया जाता है और न पाश्चात्य अतीत पर। यह कहना सरासर गलत है कि भारत में पाश्ंचात्य दर्शन का बोलबाला है। आज प्लेटो, अरस्तू, टॉमस एक्विनस, हेगेल, शोपेन्हावर, नीत्शे, मार्क्स, आदि के प्रामाणिक विद्वान् कितने हैं? वस्तुतः आज अतीत–निरपेक्ष क्लासिक–निरपेक्ष, वर्तमानवाद ही समसामयिक भारतीय दर्शन के मूल स्वर के रूप में उभर रहा है। दर्शन के वैविध्य को सांस्कृतिक विकासधाराओं, विशिष्ट संस्कृतियों के वैविध्य से जोड़कर सम्बद्ध संस्कृतियों के सन्दर्भ में ही दर्शन का सम्यक् आकलन–मूल्यांकन सम्भव है। किन्तु हमारे यहाँ दर्शन के क्षेत्र में किसी भी कारण से प्रविष्ट और सुचर्चित वाद पर इतिहासातीत संस्कृति–निरपेक्ष भाव से विचार–विमर्श होने लगता है। यूरोप और अमेरिका में वाक्यविश्लेषणवाद–पर्यवसायी दर्शन का उदय दार्शनिक प्रतिभा की ह्रसोन्मुखता से सहकृत दार्शनिक मान्यताओं की हीनता–ग्रन्थि तथा आत्म–पीडन–रति के कारण घटित हुआ है– हर्बर्ट मार्कजे के इस कथन में गहरी सच्चाई जान पड़ती है। वाक्यविश्लेषणवाद के अतृप्त मन की पुकार है –

हस्ती के आबोरंग की ताबोर कुछ तो हो,
हम को फकत यह ख़्वाबे जुलैख़ा न चाहिए।

वस्तुतः हमें समसामयिक भारतीय दशन से दिग्भ्रान्ति (Disorientation) की शिकायत नहीं, भेड़िया–धसान की प्रवृत्ति की शिकायत है, स्वरूप–च्युति की शिकायत है। दिग्भ्रान्ति उसे होती है जो दिशा की खोज करे। यहाँ तो दिशा का पूरा पता है– पश्चिम्!

* * *

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दार्शनिक परिवेश

अशोक बोहरा

"जो अपने इतिहास से सीख नहीं लेते, वे अपनी गलतियों को दोहराने के लिए विवश होते हैं।"—जार्ज सान्तायना

प्रस्तुत निबंध में मेरा उद्देश्य विगत पचास वर्षों में, भारत और मुख्यतः विश्वविद्यालयों में, दर्शन की स्थिति का आकलन और विवेचन करना है। यह तो सर्वविदित है कि दर्शन शब्द के अनेक अर्थ हैं, परन्तु इस निबंध में दर्शन शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया गया है। विश्वविद्यालयों में इसी अर्थ में दर्शन शब्द प्रयुक्त होता है। विश्वविद्यालयों में यह शब्द नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के अध्ययन को द्योतित करता है। इस विषय के अध्ययन में सुकरात—पूर्व ग्रीक दार्शनिकों, प्लेटो, अरस्तू, संत एक्वीनास, संत ऑगस्टीन, डेकार्ट, ह्यूम, रसेल, विट्‌गेन्सटाइन, हाइडेगर, सार्त्र, डेरिडा, फूको इत्यादि दार्शनिकों के विचारों के साथ—साथ भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का अध्ययन और अध्यापन शामिल है। इन विचारों का अध्ययन और अध्यापन हम प्रत्ययवाद, वस्तुवाद, तर्कवाद, अनुभववाद, रूढ़िवाद, तार्किक प्रत्यक्षवाद, इत्यादि शास्त्रीय विधाओं और परंपराओं द्वारा भी करते हैं। किन्तु इनसे न तो दर्शन की विषय—वस्तु समाप्त होती है और न ही दर्शन की पूर्ण व्याख्या की जा सकती है। दर्शन की सही पहचान के लिए हमें यह जानना होगा कि वस्तुतः दार्शनिक का क्या कार्य है। जे. एन. मोहन्ती[1] के अनुसार दार्शनिक अपने और दूसरों के अनुभवों के साथ—साथ संसार के स्वरूप और उसमें उनके स्थान का विमर्श करता है। वह इन अनुभवों के आधार और उनकी व्याख्या खोजता है। उसका दृष्टिकोण ऐतिहासिक या मनोवैज्ञानिक या समाजशास्त्रीय न होकर पूर्णतः तार्किक होता है। यद्यपि मोहन्ती अनुभव की व्याख्या नहीं करते तो भी मैं अनुभव के परिप्रेक्ष्य में उनकी दर्शन की परिभाषा से सहमत हूँ। कालिदास भट्‌टाचार्य[2] भी दार्शनिक चिन्तन को जीवन के अस्तित्व और जीवन की समस्याओं के साथ गंभीर संघर्ष मानते हैं। उनका कहना है कि दर्शन अर्थात् तत्त्वदर्शन का कार्य दिक्, काल और उनके सार का स्पष्ट अध्ययन करना है। आई.सी. शर्मा अपनी प्रसिद्ध पुस्तक एथिकल फिलॉसफीज ऑव इण्डिया के पृष्ठ 29—30 पर पश्चिमी और भारतीय दर्शन की परिभाषा का समन्वय इस प्रकार करते हैं : 'पश्चिमी दृष्टिकोण से दर्शन का अर्थ है विवेक से प्रेम। भारतीय दृष्टि से

दर्शन का अर्थ है अनुभूति, अनुभव या प्रत्यक्ष (दर्शन)। अतः दार्शनिक वास्तविकता को जानता है या उसे वास्तविकता का अंतर्ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में दर्शन का उद्देश्य जगत् के मूल आधार को जानना और मानवीय जीवन के अर्थ और उद्देश्य की व्याख्या करना है।' नारायण शास्त्री द्रविड़[3] दर्शन की व्याख्या इस प्रकार करते हैं, 'दर्शन केवल विश्व का अध्ययन नहीं करता, अपितु इस विश्व के विभिन्न वैयक्तिक अनुभवों के संश्लेष से जो मूल्य प्राप्त होता है उसका आत्म–संप्रत्यय के परिप्रेक्ष्य में चिन्तन करता है।' अनुभव से हमारा अर्थ समग्र अनुभव है। के. सच्चिदानन्द मूर्ति[4] के अनुसार भी समग्र अनुभव का सर्वेक्षण कर उस पर सन्तुलित विमर्श करना ही दार्शनिक चिन्तन है। समग्र अनुभव में अन्य अनुभवों के साथ–साथ हमारे धार्मिक, मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक, सामाजिक अनुभव भी सम्मिलित हैं। इसीलिए हम कह सकते हैं कि दार्शनिक का मुख्य कार्य राजनैतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, धार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक विचारों की व्याख्या, विश्लेषण एवं मूल्यांकन करना है। वह ज्ञान की प्रत्येक विधा के मूल सिद्धान्तों की विवेचना करता है। वह न तो किसी भी बात को बिना परीक्षण के स्वीकार करता है और न ही किसी भी उत्तर या हल को अन्तिम उत्तर या हल मानता है। वह योगवासिष्ठ की इस बात से पूरी तरह सहमत होता है कि कौन–सा ऐसा दर्शन है जो पूर्णतः निर्दोष हो ? 'कास्यादृशो यस्य न सन्ति दोषाः'। इसीलिए मूर्ति द्वारा दर्शन की यह परिभाषा कि 'दर्शन सिद्धान्तों की समीक्षा और धारणाओं और आस्थाओं का तार्किक परीक्षण एवं मूल्यांकन है' सर्वमान्य एवं सर्वग्राह्य लगता है।[4] स्वातंत्र्योत्तर भारत के लगभग सभी विश्वविद्यालयों के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम, यहाँ तक कि शोध कार्यक्रम भी दर्शन की इसी अवधारणा पर आधारित कहे जा सकते हैं।

भारत में सन् 1854 में नई शिक्षा प्रणाली का आरंभ हुआ था और सन् 1857 में कई विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई थी। क्योंकि इन विश्वविद्यालयों का मुख्य उद्देश्य भारतीयों की 'जहालत' को दूर करने, उन्हें 'उपयोगी ज्ञान' मुहैया कराना था, इसलिए उस समय के विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले दर्शन–शास्त्र के पाठ्यक्रम में भारतीय दर्शन लगभग नहीं के बराबर था।[5] अधिकतर प्राध्यापक ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों से आने वाले ईसाई मिशनरी थे। वे उस समय ब्रिटिश विश्वविद्यालयों में प्रचलित प्रत्ययवाद से अत्यधिक प्रभावित थे और उन्होंने भारत में आकर भी उसी परंपरा को प्रचलित और संवर्धित किया। परिणामस्वरूप उन्नीसवीं सदी के अन्त में और बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में भारतीय विश्वविद्यालयों से पढ़कर निकलने वाले अधिकतर भारतीय छात्र काण्ट, हेगेल, ब्रैडले, बर्गसाँ, बोसान्के इत्यादि के प्रत्ययवाद से अत्यधिक प्रभावित होते थे और प्रत्ययवाद को ही दर्शन का चरमोत्कर्ष मानते थे। इस पीढ़ी, जिसे मैं आधुनिक भारतीय दार्शनिकों की प्रथम पीढ़ी कहूँगा, को जिस दूसरी बात ने अत्यधिक प्रभावित किया वह था इन कॉलेजों और विश्वविद्यालयों का ईसाई वातावरण। ईसाईयत से सराबोर इन विश्वविद्यालयों के वातावरण ने एक ओर जहाँ प्रथम पीढ़ी के दार्शनिकों का पश्चिमी दार्शनिकों, यथा प्लेटो,

अरस्तू, प्लोटिनस, काण्ट, हेगल, ब्रैडले, बर्गसाँ के दर्शन और उनकी दार्शनिक कृतियों से परिचय कराया वहीं ईसाईयों द्वारा हिन्दू मान्यताओं, दर्शन, धर्म, जीवन–शैली इत्यादि की घोर एवं कटु आलोचना ने उनकों उद्वेलित किया और उनके सुषुप्त विचारों को झकझोर भी दिया। ईसाई प्राध्यापकों, जो धर्म प्रचारक भी थे, द्वारा की गई हिन्दू धर्म की आलोचना को इस पीढ़ी के अनेक भारतीय विद्यार्थियों ने एक चुनौती के रूप में लिया। इस पीढ़ी के प्रतिनिधि राधाकृष्णन[6] का कहना है 'ईसाईयों द्वारा हिन्दू मान्यताओं की ऐसी आलोचना से मुझे आघात लगा। मुझे इस बात पर गुस्सा भी आया कि सच्चे सच्चे धार्मिक लोग . .. दूसरे धर्मावलम्बियों की आस्था और सिद्धान्तों को अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं।' किन्तु ईसाईयों की इस कटु आलोचना का इस पीढ़ी पर सकारात्मक प्रभाव हुआ कि इस पीढ़ी ने ईसाईयों की इस चुनौती के परिणामस्वरूप हिन्दू धारणाओं का इस दृष्टि से गहन अध्ययन प्रारंभ कर दिया कि उसमें कौन सी मान्यतायें जीवन्त हैं और कौन सी मृतप्राय हैं। इस चुनौती का उत्तर देने की दृष्टि से उन्होनें हिन्दू ग्रन्थों–उपनिषदों, भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्रों पर शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क इत्यादि मुख्य आचार्यों के भाष्यों, बुद्ध के पिटकों और जैन दर्शन के आकर ग्रन्थों और उन पर लिखी गई अनेक टीकाओं का आलोचनात्मक अध्ययन किया। अपनी कृतियों–पुस्तकों एवं लेखों में इस पीढ़ी के भारतीय दार्शनिकों का मुख्य ध्येय पश्चिमी दर्शन की भाषा एवं पदावली में भारतीय दर्शन की व्याख्या करना था। उनके लेखन का उद्देश्य पश्चिमी दार्शनिकों–जिनमें से अधिकतर की यह मान्यता थी कि 'नील नदी के दूसरे छोर पर किसी प्रकार का दर्शन है ही नहीं' और 'भारत सपेरों, नटों और जादूगरों का देश है'–के समक्ष यह सिद्ध करना था कि 'भारत में दर्शन आम आदमी के जीवन से अछूता कोई अव्यावहारिक अध्ययन नहीं है। भारत में दर्शन मनुष्य के जीवन के साथ अंतरंग रूप से जुड़ा है। भारतीय सभ्यता दार्शनिक सोच को सामाजिक जीवन के साथ गूँथने का प्रयास है। ... जरूरतमंदों और पिछड़ों की खुशहाली के लिए समाज को बदलने और उसमें सुधार लाने के आधुनिक प्रयास हिन्दू धर्म और मान्यताओं से न केवल सुसंगत है अपितु वे उसमें अपेक्षित भी हैं।' राधाकृष्णन का आकर ग्रन्थ ''भारतीय दर्शन'' उस पीढ़ी के आधुनिक भारतीय दार्शनिकों के उद्देश्यों को प्रदर्शित करने वाला मानक ग्रन्थ माना जा सकता है। इस ग्रन्थ में राधाकृष्णन सभी भारतीय दर्शनों की आधुनिक पश्चिमी पदावली में समन्वित व्याख्या करते हैं। वे यह सिद्ध करते हैं कि भारतीय दर्शन के विभिन्न मतों में भी लगभग उन्हीं दार्शनिक समस्याओं का उल्लेख पाया जाता है जो पश्चिमी दर्शन में पाई जाती हैं। वे इस पुस्तक में भारतीय दर्शन के विभिन्न मतों की पदावली का पश्चिमी दर्शन की पदावली से, ऐसी तुलनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जिससे पश्चिमी दर्शन की पदावली से सुपरिचित व्यक्ति को यह पता चल जाए कि दोनों दर्शन एक दूसरे से नितान्त भिन्न परंपरा, संस्कृति की उपज होने के बावजूद एक जैसी दार्शनिक समस्या से जूझ रहे हैं, या फिर उनका एक जैसा हल खोजने का प्रयास कर रहे हैं। वे अपने अन्य समकालीन आधुनिक भारतीय दार्शनिकों की भाँति भारतीय दर्शन के

विभिन्न मतों की व्याख्या निरपेक्ष प्रत्ययवाद के दृष्टिकोण से करते हैं। अपनी इस पुस्तक के बारे में उनका कहना था कि 'इस पुस्तक में मेरा प्रयास भारतीय दर्शन का इतिवृत देना न होकर, उसकी व्याख्या करना था... मैं यह दिखाना चाहता था कि भारतीय दर्शन को अपरिचित, अप्रचलित और अनूठा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। ... मैं यह सिद्ध करना चाहता था कि संसार की समकालीन समस्यओं के हल ढूँढने में, उसके आध्यात्मिक उत्थान में, भारतीय दर्शन की भी प्रभावी भूमिका है। मेरा मुख्य उद्देश्य भारतीय दर्शन में विचार–विमर्श की दिशा खोजकर, दार्शनिक चिन्तन का माहौल बनाकर, भारतीय दर्शनशास्त्र में जीवनसंचार करना था।' ऐसा वे यह सिद्ध करके करते हैं कि 'प्राचीन भारतीय हमसे किसी भी प्रकार भिन्न नहीं थे। उनके विचारों के अध्ययन से यह पता चलता है कि वे उसी प्रकार के प्रश्न पूछते हैं और उसी प्रकार के उत्तर देते हैं जिस प्रकार के प्रश्न आधुनिक समकालीन विचाराधारायें पूछती हैं और जिस प्रकार के उत्तर वे देती हैं।' प्रथम पीढ़ी के अन्य दार्शनिक यथा एस.एन. दासगुप्ता, एम. हिरियन्ना, सी.डी. शर्मा, ए.आर. वाडिया, चैटर्जी और दत्ता इत्यादि की पुस्तकों का भी कमोबेश यही उद्देश्य था। इन पुस्तकों के कारण इन्साइक्लोपिडिया ब्रिटैनिका के चौदहवें संस्करण में भारतीय दर्शन पर पहली बार प्रविष्टि की गई। ज्ञातव्य है कि इस इन्साइक्लोपिड़िया के तेरहवें संस्रण तक भारतीय दर्शन पर कोई प्रविष्टि नहीं है। भारतीय दर्शन को पश्चिमी दर्शन के समान संसार भर में मान्यता दिलवाना मेरे विचार में प्रथम पीढ़ी के दार्शनिकों की एक बड़ी उपलब्धि रही है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में उच्च शिक्षा का अपेक्षा से भी कहीं अधिक प्रचार–प्रसार हुआ। अन्य विषयों के साथ–साथ नवीन विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र के विभाग भी खोले गए। साठ से अधिक विश्वविद्यालयों के दर्शन विभागों में स्नातक, स्नातकोत्तर और शोध की सुविधा उपलब्ध कराई गई। स्वतंत्रता के बाद अनेकों विदेशी छात्रवृत्तियों की उपलब्धता के कारण अनेक सुविज्ञ और सुयोग्य दर्शन के छात्रों को न केवल इंग्लैंड, बल्कि यूरोप, अमेरिका और कनाडा के विभिन्न विश्वविद्यालयों में पढ़ने एवं शोध करने का अवसर प्राप्त हुआ। जब वे वहाँ से वापिस आए तो वे अपने साथ उन देशों के समकालीन दर्शन को अपने साथ भारत में लाए। जिस प्रकार प्रथम पीढ़ी के दार्शनिक अपने समय के इंग्लैंड में प्रचलित प्रत्ययवाद से प्रभावित हुए थे उसी प्रकार इस दूसरी पीढ़ी के दार्शनिक पश्चिमी देशों में प्रचलित विश्लेषणात्मक दर्शन, तर्कशास्त्र, भाषा–दर्शन, तार्किक–प्रत्यक्षवाद, अस्तित्ववाद, संवृतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, विज्ञान–दर्शन, इत्यादि से पूर्णतः प्रभावित थे। और उन्होंने अपने लेखन और अपने–अपने विश्वविद्यालयों में अपने अध्यापन के माध्यम से इन्हीं दार्शनिक विधाओं के प्रचार–प्रसार में सहायता की। साठ और सत्तर के दशक तक पश्चिमी दर्शन में आने वाले छोटे से छोटे किसी भी बदलाव की गूँज भारतीय दार्शनिकों के शोध–प्रबन्धों में पाई जाने लगी। यहाँ तक कि भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में भी निरपेक्ष प्रत्ययवाद का स्थान न्याय, नव्य–न्याय, पाणिनि आदि के दर्शनों व उनमें प्रतिपादित भाषा–संबंधी, तर्क–संबंधी सिद्धान्तों पर प्रत्ययवाद से कहीं अधिक ध्यान दिया

जाने लगा। सन् 1950 में प्रकाशित राधाकृष्णन एवं म्यूरहेड द्वारा संपादित कंटम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी और सन् 1974 में प्रकाशित मार्ग्रेट चैटर्जी द्वारा संपादित कंटम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी श्रृंखला–11 में छपे शोध पत्रों से इस बदलाव का स्पष्ट पता चलता है। जबकि राधाकृष्णन द्वारा संपादित पुस्तक के पचीस निबंधों में से बीस के लेखक किसी न किसी प्रकार के प्रत्ययवादी हैं, अठारह के विचार अद्वैत वेदान्ती हैं और उनमें से कोई भी नास्तिक एवं भौतिकवादी नहीं है। सन् 1974 में मार्ग्रेट चैटर्जी द्वारा संपादित ग्रन्थ में सम्मिलित 14 में से केवल तीन निबन्ध ही भारतीय दर्शन पर हैं। इनमें से एक अद्वैत वेदान्त पर, एक बौद्ध दर्शन पर तथा एक व्यक्ति के बारे में भारतीय दृष्टि पर है। शेष 11 निबन्धों में किसी भी भारतीय दर्शन का संदर्भ ही नहीं है। तीन निबन्ध विभिन्न पश्चिमी दृष्टिकोणों से नीतिशास्त्र पर हैं; दो सौन्दर्यशास्त्र पर हैं; दो तर्कशास्त्र पर हैं; दो मन–देह समस्या पर हैं; और एक–एक पश्चिमी ज्ञानमीमांसा और धर्मदर्शन से संबंधित है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन भारतीय दार्शनिक, जिन्हें मैं दूसरी पीढ़ी के भारतीय दार्शनिक कहना चाहूँगा, की पारंपरिक एवं शुद्ध भारतीय दर्शन में कोई रूचि ही नहीं थी।

तत्कालीन निबन्धों, पुस्तकों इत्यादि पर एक नजर डालने से ही यह पता चल जाता है कि इस काल में पश्चिमी दर्शन की समकालीन समस्याओं के किसी पक्ष के गहन अध्ययन, या फिर किसी पश्चिमी दार्शनिक यथा विट्गेन्स्टाइन, राईल, मूअर, रसेल, फॉन, रिट्ट, क्वाईन, सार्त्र, हाइडेगर, हुसरेल, ड्यूई इत्यादि पर भारतीय विश्वविद्यालयों में शोध–प्रबन्ध प्रस्तुत किए जाने लगे थे। इस अंधाधुंध पश्चिमीकरण का एक कारण तो हमारी अपनी औपनिवेशिक दासता के कारण विकसित यह मान्यता थी कि जो कुछ भी पश्चिमी है वह गहन, गम्भीर और अधिक मूल्यवान है तथा, जो कुछ देशी है वह उथला और दोयम दर्जे का है। दूसरी पीढ़ी के कई दार्शनिकों ने तो यहाँ तक कहा कि भारतीय दर्शन कोई दर्शन ही नहीं है, वह या तो धर्म है, या धर्म के समान आस्था का तंत्र है, जहाँ तर्क की कोई गति नहीं हैं। पश्चिमी दार्शनिक समस्याओं और दार्शनिकों से भारतीय अध्यापकों और छात्रों के अभिभूत होने का दूसरा कारण इस समय के छात्रों, विशेषकर शोध–छात्रों में विदेशी विश्वविद्यालयों में छात्रवृत्ति प्राप्तकर पढ़ने की बेतहाशा ललक थी। भारतीय विश्वविद्यालयों में 'देशी स्नातकों' की अपेक्षा विदेशी विश्वविद्यालयों से उपाधि पाने वाले छात्रों को नौकरियों इत्यादि में वरीयता दी जाती थी और उन्हें उनसे श्रेष्ठ विद्वान भी माना जाता था, चाहे उन्होंने विदेशों में रहकर कोई सार्थक प्रकाशन इत्यादि न भी किया हो। विदेशी विश्वविद्यालयों में छात्रवृत्ति पाने के लिए वहाँ के प्रोफेसरों और अन्य संभावित दिग्दर्शकों को रुचिकर और प्रासंगिक लगने वाली समस्याओं पर कार्य करना अनिवार्य था। दूसरी पीढ़ी के अनेक अध्यापकों ने तत्कालीन पश्चिमी दार्शनिक समस्याओं, पर महारथ प्राप्त की और उस पर उच्च कोटि के लेख एवं पुस्तकें लिखी। इस पीढ़ी के जिन दार्शनिकों के लेख उच्च कोटि की विदेशी शोध–पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए तथा

जिनकी अनेक पुस्तकें शीर्षस्थ विदेशी प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित की गई उनमें कुछ प्रसिद्ध नाम निम्नलिखित हैं – के. सच्चिदानंद मूर्ति, दयाकृष्ण, शिवजीवन भट्टाचार्य, पी.के. सेन, डी.पी. चट्टोपाध्याय, राजेन्द्र प्रसाद, एस.एस. बारलिंगे, जे.एन. मोहन्ती, बी.के. मतिलाल, जे.एल. मेहता, टी.आर.वी. मूर्ति, एन.के. देवराज, आर.सी. पाण्डेय, के.सी. भट्टाचार्य एवं के. डी. भट्टाचार्य।

इस पीढ़ी के दार्शनिकों पर दार्शनिक चिन्तन परंपरा को आगे बढ़ाने के साथ–साथ एक अन्य जिम्मेवारी भी आन पड़ी थी। वह थी नए विश्वविद्यालयों में नियुक्तियाँ करके दर्शन के संस्थागत ढाँचे को बनाना। अपने पहले दायित्व को तो इस पीढ़ी के अनेक दार्शनिकों ने कमोबेश पूरा किया, परन्तु दूसरे दायित्व को पूरा करने में यह पीढ़ी लगभग असफल रही। नवीन नियुक्तियों में इसने प्रतिभा के स्थान पर अपनी व्यक्तिगत अभिरुचियों को अधिक महत्त्व दिया। इन दार्शनिकों के कुछ ऐसे गुट बन गए जो अपने से भिन्न विचार रखने वालों को बर्दाश्त नहीं करते थे। स्वतंत्र दार्शनिकों के लिए इनके बनाये बाड़ों में रहना बेहद कठिन हो गया। अच्छे से अच्छे विचारक, शोधार्थी या तत्त्वान्वेषी को तब तक मान्यता प्राप्त दार्शनिक का दर्जा प्राप्त नहीं हो सकता था जबकि उस पर इन गुटों के लोगों की मुहर न लग जाये। इन गुटों पर डेकार्ट का कोजिटो इरगो सुम (मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ) थोड़े से परिवर्तन के साथ लागू होता है। यह परिवर्तन है 'वे सोचते हैं, अतः मैं हूँ'। यानी यदि इस गुट के लोग कहते कि उनके विचार में अमुक व्यक्ति अच्छा, सुयोग्य और कर्मठ दार्शनिक है तो वह व्यक्ति ऐसा था; यदि वे इससे विपरीत कहते तो उसमें कोई दार्शनिक क्षमता मानो थी ही नहीं। उस व्यक्ति की प्रकाशित रचनाओं का उसे दक्ष दार्शनिक कहलाने में न तो कोई भूमिका थी, न ही कोई महत्त्व। इस प्रकार का वातावरण केवल जी–हजूरियों और चाटुकारों, मित्र प्रशंसकों की भीड़ खड़ा करने में तो सहायक था किन्तु निष्कपट आलोचकों, दर्शन के प्रति निष्ठावान और निरंतर पठन–पाठन और लेखन करने वालों के लिए ऐसे माहौल में कोई स्थान नहीं था। आज भी ऐसे कुछ गुट हैं, किन्तु मुखर विरोध और मेरिट प्रोमोशन स्कीम आदि प्रारंभ होने के कारण उनका वर्चस्व कुछ हद तक कम हुआ है। इस गुट की कार्यप्रणाली की बानगी के लिए रीडर और प्रोफेसर की नियुक्ति के लिए हम एक साक्षात्कार का उदाहरण ले सकते हैं। साक्षात्कार में इस गुट का एक सदस्य उम्मीदवारों से पूछता है कि उसके कितने शोधप्रबन्ध या पुस्तकें 'रेफरीड' शोध–पत्रिकाओं अथवा प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित की गई हैं। 'रेफरीड' से उनका अर्थ विदेशी प्रकाशन से है। ज्ञातव्य है कि इस सदस्य का अपना कोई शोध–प्रबन्ध या पुस्तक किसी विदेशी शोध–पत्रिका, अथवा प्रकाशक द्वारा प्रकाशित नहीं हुई थी। यदि प्रत्याशी का उत्तर न में है तो वे कहते हैं कि देशी प्रकाशकों अथवा शोध पत्रिकाओं में तो कुछ भी छपाया जा सकता है। यदि उसका उत्तर हाँ में है तो वे उसके दावे को यह कह कर खारिज कर देते हैं कि विदेशों में प्रकाशन तो है पर विदेशों में प्रकाशन तो संयोग की बात है। इस तरह वह प्रत्याशी उनके किसी एक, या किसी भी प्रश्न का 'संतोषजनक' उत्तर नहीं दे

पाया। कई बार तो इन गुटों ने देश के साथ–साथ विदेशों में भी जाने माने प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित अनेक पुस्तकों एवं निबन्धों के लेखकों की तुलना में ऐसे लोगों की नियुक्तियाँ कीं जिनकी न तो कोई पुस्तक प्रकाशित हुई थी और न ही कोई महत्त्वपूर्ण निबन्ध। इस प्रकार के पक्षपातपूर्ण व्यवहार के कारण अनेक उभरते हुए, प्रतिभावान शोधार्थियों का मनोबल टूट गया और उन्होंने या तो स्वयं को प्रचलित गुटों के अनुरूप बना लिया या फिर अपने आपकों भाग्य के सहारे छोड़ दिया। जो ऐसा न कर पाए उन्होंने दर्शनशास्त्र से या तो किनारा कर लिया या फिर दर्शनशास्त्र के विभागों से दूर रहने का मन बना लिया। परिणामस्वरूप कई प्रतिभावान व्यक्तियों की या तो विश्वविद्यालयों में नियुक्ति हुई ही नहीं हो पायी या फिर नियुक्ति प्राप्त करने में उन्हें कठिनाईयाँ पेश आईं, या ऐसे व्यक्तियों को अनेक निबन्धों एवं पुस्तकों के प्रकाशन के बावजूद पदोन्नतियाँ मिली ही नहीं। ऐसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों के स्थान पर औसत और कई बार तो औसत से भी नीचे के व्यक्तियों की नियुक्तियाँ और पदोन्नतियाँ की गई गईं। संभवतः इसका कारण केवल यह था कि कहीं वे दर्शन में इस पीढ़ी के लोगों से अधिक अच्छा काम करके उन्हें नीचा न दिखा दें। अपने अहं और अपने छोटे से छोटे स्वार्थ की पूर्ति के लिए इस पीढ़ी ने संस्था के हितों को ताक पर रख दिया। अनेक मध्यम श्रेणी के लोगों की नियुक्ति के कारण, और आगे चलकर अपने से भी निम्न श्रेणी के व्यक्तियों को नियुक्तियों और प्रोन्नतियों में प्राथमिकता देने के कारण, अनेक स्थानों पर प्रतिभाहीनता का ही बोलबाला हो गया। प्रतिभावान व्यक्तियों के लिए उन स्थानों पर कोई अवकाश नहीं रहा। परिणामस्वरूप संस्थाएँ और विभाग कमजोर होते चले गए। कई विभाग जो किसी समय में अपने अध्यापकों, शोध–छात्रों और विद्यार्थियों के कारण प्रसिद्ध थे, वहाँ उनके पास उन पुराने दिनों की यादों के सिवाय आज कुछ भी शेष नहीं रहा। यह स्थिति इस पीढ़ी के दार्शनिकों की संभवतः इस सिद्धान्त पर चलने के कारण हुई कि 'मेरे बाद कहर ढह जाएगा और इसीलिए लोग मुझे और मेरी श्रेष्ठता को याद रखेंगे।' क्या यह इन दार्शनिक–गुटों की अदूरदर्शिता नहीं कहीं जायेगी ?

इस दूसरी पीढ़ी के भारतीय दार्शनिकों का संस्था–निर्माण के प्रति, किन्हीं भी कारणों से, चाहे जितना भी उदासीन रुख क्यों रहा हो पर उनमें से अनेक लोग अध्ययन –अध्यापन में निपुण थे। उनके लिखे आलेख एवं पुस्तकें विश्व स्तर की थीं। उनमें से अनेक का लेखन विदेशी पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुए थे। किन्तु इस लेखन के लिए जहाँ भारत में उन्हें सराहा गया, पश्चिम ने उनके लेखन पर कोई ध्यान ही नहीं दिया बल्कि यह कहना अधिक सही होगा कि उसकी पूरी तरह उपेक्षा ही हुई। संभवतः इस उपेक्षा और अवहेलना के कारण इन भारतीय दार्शनिकों को यह लगने लगा कि पश्चिमी दार्शनिक उनके लेखन पर तभी गौर करेंगे जब वह भारतीय दर्शन पर होगा। इसके साथ–साथ उन्हें यह भी लगने लगा कि पश्चिमी दर्शन की समस्याएँ उनके अपने परिवेश की उपज हैं और उन पर जितनी गहराई से पश्चिमी दार्शनिक चिन्तन कर सकता है, उस परिवेश से दूर,

और कई अर्थों में उससे अनभिज्ञ, भारत में रहने वाला दार्शनिक उन पर उसी गहराई से चिन्तन नहीं कर सकता। इस बोध का तीसरा कारण संभवतः इस पीढ़ी के दार्शनिकों की बढ़ती आयु भी हो, जिसके कारण वे दिनोंदिन गुणोत्तर गति से बढ़ने वाले, नित नए आयामों, विधाओं, मुहावरों और विधियों को खोजने और प्रयोग करने वाले पश्चिमी दर्शन के साहित्य से अपना ताल–मेल न बैठा पाए हों। कारण चाहे कुछ भी रहा हो, इस पीढ़ी के दार्शनिकों की रुचि, अब तक जिसे वे मृत या मृतप्राय, अदार्शनिक, आस्था न कि तर्क का विषय मानते आए थे, उस भारतीय दर्शन की ओर गया। उन्होंने भारतीय दर्शन परंपराओं, उसकी विधियों और उसके सिद्धान्तों का अध्ययन, एवं उनकी पश्चिमी दर्शन की समकालीन समस्याओं से तुलना करना आरंभ कर दिया। परन्तु भारतीय दर्शन के ग्रन्थों एवं परंपराओं को निरखने और परखने की उनकी दृष्टि मूलतः पश्चिमी ही रही।

क्योंकि मूल ग्रन्थ संस्कृत या प्रादेशिक भाषाओं में थे, इस पीढ़ी के दार्शनिकों का ध्यान उन पण्डितों की ओर जाना स्वाभाविक था जो इन भाषाओं में सिद्धहस्त थे, जो विश्वविद्यालयों की अंग्रेजियत प्रणाली से बाहर रहकर भारतीय दर्शन के मूल ग्रन्थों का पारंपरिक शैली से अध्ययन करते रहे थे, और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी भारतीय परंपरा के वाहक थे और जिन्हें अब तक विश्वविद्यालयों के 'पढ़े–लिखे लोग' अवहेलना की दृष्टि से देखते थे। परिणामस्वरूप आचार्य बदरीनाथ शुक्ल, पट्टाभिराम शास्त्री, लक्ष्मण शास्त्री जोशी, गोपीनाथ कविराज, रामानुज ताताचार्य, प्रह्लादाचार्य, दलसुखभाई मालवणीया, नाथमल टांटिया इत्यादि गुरू–शिष्य परंपरा से आनेवाले विद्वानों को विश्वविद्यालयों के दर्शन विभागों की गोष्ठियों इत्यादि में बुलाया जाने लगा और उनकी कृतियों पर विचार–विमर्श होने लगा। इस प्रकार के विचार–विमर्श का लाभ परंपरागत भारतीय दार्शनिक और विश्वविद्यालयों से पढ़े भारतीय दार्शनिकों दोनों को हुआ। आचार्य बदरीनाथ शुक्ल ने तो 'रसेल के निश्चयात्मक दर्शन–सिद्धान्त' और 'प्रतिज्ञप्तियों के स्वरूप' पर दो निबन्ध लिखे; और विश्वबन्धु तर्कतीर्थ ने 'व्यक्तिवाचक नामों' पर एक लेख लिखा। इस प्रकार के संवादों से एक ओर तो परंपरागत भारतीय दार्शनिक पण्डितों को यह पता चला कि पश्चिमी दर्शन की समस्याएँ कोई अनोखी, अनूठी, रहस्यमयी या भारतीय दर्शन से कहीं अधिक गहन समस्याएँ नहीं हैं। उससे घबराने या उसे श्रद्धापूर्ण उच्च दृष्टि से देखने की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरी ओर पश्चिमी ढंग में पारंगत दार्शनिकों को भी यह पता चला कि भारतीय दर्शन की समस्याएँ, यथा वास्तविकता, पदार्थ, ज्ञान, सत्य, असत्य, भ्रान्ति आदि के स्वरूप की समस्याएँ और उनके समाधान लगभग वैसे ही हैं जैसे कि पश्चिमी दर्शन में है। उन्हें यह भी पता चला कि भारतीय दर्शनिकों ने कई ऐसे प्रश्न भी उठाए हैं और उन पर विस्तृत चर्चा की है, जिन पर पश्चिमी दर्शन में कोई चर्चा ही नहीं है। इस प्रकार की गोष्ठियों और वार्तालापों के परिणामस्वरूप परंपरागत भारतीय दर्शन को तुलनात्मक दृष्टि के स्थान पर अपने आप में, अपनी पदावली में नए दृष्टिकोण से पढने एवं पढ़ाने में रुचि बढ़ी है। यह एक स्वस्थ परंपरा है जिसमें न तो किसी दर्शन को हेय या

उच्च दृष्टि से देखा देखा जाता है न ही किसी सिद्धान्त को केवल इसलिए माना जाता है कि वह या तो प्राचीन है या उसे किसी श्रुतिपरंपरा से प्राप्त किया गया है। प्रत्येक सिद्धान्त को, प्रत्येक नियम को तर्क की कसौटी पर परखा जाता है। यही वास्तविक दार्शनिक दृष्टि भी है। प्रो. भीखनलाल आत्रेय ने 1957 के अखिल भारतीय दर्शन–परिषद् के अपने अध्यक्षीय भाषण में हमारा ध्यान इसी दार्शनिक दृष्टि की ओर यह कहते हुए दिलाया है कि 'दार्शनिक वह मनुष्य है जो अपनी बुद्धि द्वारा स्वयं स्वतंत्र विचार करके जीवन और संसार के संबंध में ऐसे निर्णयों पर पहुँचने का प्रयत्न करता है जो उसको सत्य प्रतीत होते हैं। और अतथ्य एवं असत्य सिद्धान्तों को तत्क्षण छोड़ने या त्यागने को प्रस्तुत रहता है और उनका पूर्णरूप से परित्याग भी कर देता है। परंपरागत अथवा शास्त्रोक्त बातों में तथा व्यक्तियों के मतों में न उसे श्रद्धा और विश्वास होता है और न वह उनका निरादर ही करता है। उनकी सत्यता और मिथ्यात्व की स्वतंत्र विचार पद्धति द्वारा परीक्षा करके उनको अपनाता या त्यागता है।'

संवादों, गोष्ठियों, कार्यशालाओं, अनेक पुस्तकों, शोध–पत्रिकाओं और अनेक विश्वविद्यालयों में दर्शन–शास्त्र पढ़ने व उसमें शोध करने की सुविधाएँ उपलब्ध होने के बावजूद स्वातंत्र्योत्तर भारत में एक भी ऐसा दार्शनिक नहीं हुआ जिसकी तुलना इसी काल के किसी पश्चिमी दार्शनिक यथा विट्गेन्स्टाइन, क्वाईन, राईल, स्ट्रॉसन, फॉन रिट्, चोम्स्की, सार्त्र, डेरिडा या फूकों से की जा सके। इस स्थिति के बारे में सन् 1963 में के. एम. पणिक्कर कहते हैं, 'किसी भी विश्वविद्यालय ने एक भी ऐसा लब्धप्रतिष्ठ दार्शनिक नहीं दिया जिसने पारंपरिक विचार श्रृंखला में या आधुनिक विचार–पद्धति में कोई मूल्यवान योगदान दिया हो।' भारतीय दार्शनिक स्थिति पर कुछ ऐसे ही विचार नन्दकिशोर देवराज ने 1964 के अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अपने अध्यक्षीय भाषण में यह कह कर प्रकट किए 'हमारे देश में दर्शन की साम्प्रतिक अवस्था बहुत संतोषप्रद नहीं कही जा सकती। स्वदेशी एवं विदेशी दर्शन के विद्वानों की कमी नहीं है, फिर भी जैसे हमारा चिन्तन दिशाहीन–सा हो रहा है। पुराने अथवा नए दर्शनों का प्रामाणिक परिचय एक आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण चीज है, लेकिन उतने से ही सन्तुष्ट हो जाना सच्ची दार्शनिकता नहीं है।' वर्तमान स्थिति का कारण बताते हुए वे आगे कहते हैं : 'दर्शन का आधुनिक भारतीय अध्येता एक ओर प्राचीन दर्शनिकों की प्रखर शक्ति और गहराई से अभिभूत महसूस करता है और दूसरी ओर आधुनिक पाश्चात्य चिन्तकों की मौलिकता और साहस से चमत्कृत। ऐसी दशा में उसे यह सोचकर चलने का हौसला नहीं होता कि वह स्वयं साहसपूर्ण नया चिन्तन करे। वह या तो प्राचीन विचारकों का श्रद्धालु अथवा सहानुभूतिशील व्याख्याता बनकर रह जाता है, या फिर नए पाश्चात्य चिंतकों का न्यूनाधिक अनुकरणकर्त्ता। हमारी समझ में ये दोनों ही मनोवृत्तियाँ हमारी दार्शनिक प्रगति के लिए हितकर नहीं हैं। जहाँ प्राचीन का श्रद्धापूर्ण अनुकरण या पुनराख्यान हमें नए युग के नए प्रश्न–संदर्भों से विमुख रखने का हेतु बनता जा रहा है वहाँ विदेशियों का अनुकरण हममें प्रच्छन्न हीनता–ग्रन्थि

को उत्पन्न और पुष्ट करता है।' भारतीय दर्शन में रुचि रखने वाले कार्ल पॉट्टर भी अपने ग्रन्थ प्रिसपोजिशन्स ऑव् इण्डियन फिलॉसफीज में भारतीय दार्शनिक परिस्थिति पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं : 'समकालीन भारत में दर्शन केवल पाण्डित्य, वर्णन, वर्गीकरण तथा भारतीय और पश्चिमी दर्शन–परम्पराओं के तुलनात्मक अध्ययन तक सिमट कर रह गया है। दार्शनिक अब समस्याओं पर चर्चा करने के स्थान पर समस्याओं के बारें में चर्चा करते हैं। .... वे अपने आपकों एक ऐसी असहाय द्वन्द्वात्मक स्थिति में पाते हैं जिसमें एक ओर तो भारत की ऐतिहासिक परंपरा जिस पर अब उनकी पकड़ ढीली पड़ चुकी है उन्हें अपनी ओर खींचती है और दूसरी ओर पश्चिम का समकालीन चिन्तन जिससे वे अभी पूर्णतः परिचित नहीं हैं उन्हें अपनी ओर खींचता है।' इस स्थिति में आज भी कोई परिवर्तन नहीं आया है। अभी भी भारतीय दार्शनिक विशेषतः हिन्दी और प्रांतीय भाषाओं के माध्यम से दार्शनिक चिन्तन करने वाले अनुकरण और पुनराख्यान ही करते हैं। दार्शनिक त्रैमासिक, परामर्श एवं अंग्रेजी में छपने वाली कुछ एक पत्रिकाओं में छपने वाले निबंधों पर तथा हिन्दी में प्रकाशित ग्रन्थों एवं पाश्चात्य दार्शनिकों के प्रसिद्ध ग्रन्थों का उनकी मूलभाषा से आंग्लभाषा में हुए भाषान्तर के आधार पर हिन्दी अनुवादों पर सरसरी दृष्टि डालने से ही यह सब कुछ पता चल जाता है। वस्तुतः पश्चिमी दर्शन पर हुए लेखन ही इस प्रवृत्ति के शिकार नहीं है अपितु भारतीय दर्शन, यहाँ तक कि समाजदर्शन पर लिखे गये लेख भी केवल बिना किसी आलोचनात्मक या व्याख्यात्मक टिप्पणी के शंकर, रामानुज, कपिल, गौतम इत्यादि की उक्तियों को दोहराते नहीं अघाते। बिना किसी व्याख्या के मूल स्रोतों से संस्कृत के श्लोकों को उद्धृत करना ज्ञान की कसौटी बन गया है। स्वातंत्र्योत्तर युग में यशदेव शल्य संभवतः इसके अपवाद हैं किन्तु उनकी भाषा इतनी कठिन होती है कि वह भाषा से पार विचार तक पहुँचने में सहायक और उसका माध्यम होने के स्थान पर एक बाधा बन जाती है। यह भी सम्भव है कि उक्त बाधा लेखक का भाषायी अतिरेक न होकर पाठक की भाषायी न्यूनता के कारण हो। इसके बावजूद शल्य जी की मौलिकता अनुपम है।

हिन्दी माध्यम से हुए दार्शनिक लेखन में 'श्रद्धापूर्ण अनुकरण और पुनराख्यान' का कारण प्रासंगिक और तर्ककर्कश दर्शन में भेद न कर पाना भी रहा है। 'प्रासंगिक' दर्शन से मेरा तात्पर्य समकालीन परिस्थितियों के स्वरूप को समझने, उनकी आलोचनात्मक व्याख्या करने व तत्कालीन समस्याओं का समाधान करने वाले दर्शन से है। 'तर्ककर्कश दर्शन' से मेरा तात्पर्य उस दर्शन से है जो पूर्णतः तर्क पर आधारित होता है और बिल्कुल यथातथ्य होता है। दर्शन के इस वर्गीकरण के आधार पर हम भारत में हुए दार्शनिक लेखन को चार भागों में बाँट सकते हैं। वे हैं –

1. दार्शनिक लेखन जो प्रासंगिक तो है किन्तु तर्ककर्कश नहीं है ;
2. दार्शनिक लेखन जो तर्ककर्कश तो है किन्तु प्रासंगिक नहीं है ;
3. दार्शनिक लेखन जो न तो तर्ककर्कश है न हि प्रासंगिक है ;
4. दार्शनिक लेखन जो तर्ककर्कश एवं प्रासंगिक दौनों है ।

अंग्रेजी के समान हिन्दी में भी समकालीन दार्शनिक लेखन में ऐसे लेखन की बहुतायत है जो न तो तर्ककर्कश हैं और न ही प्रासंगिक। विश्वविद्यालयों में हिन्दी में किया जाने वाला अधिकतर, बल्कि सारे का सारा शोध कार्य, शोध–प्रबन्ध भी इसी श्रेणी में आते हैं। हिन्दी में लिखी केवल दो पुस्तकें मेरे ध्यान में आती हैं जो तर्ककर्कश होने के साथ–साथ काफी हद तक प्रासंगिक भी हैं। वे हैं: डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा लिखित पाश्चात्य दर्शन और सामाजिक अन्तर्विरोध, और दूसरी है श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज द्वारा लिखित मार्क्सवाद और रामराज्य। पहली पुस्तक पश्चिमी दर्शन की व्याख्या और समकालीन सामाजिक विषमताओं और असंगतियों का मार्क्सवादी विश्लेषण करती है, तो दूसरी पुस्तक इस प्रकार के मार्क्सवादी विश्लेषण और उसमें निहित आधारभूत सिद्धान्तों की सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचना करती है। ध्यातव्य है कि इन दोनों पुस्तकों के लेखक 'व्यवसायी' दार्शनिक नहीं रहे हैं। एक अंग्रेजी के प्राध्यापक हैं, तो दूसरे सन्यासी। जिद्दू कृष्णमूर्ति, आचार्य तुलसी, राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण इत्यादि के लेखन को प्रासंगिक तो कहा जा सकता है किन्तु उसे तर्ककर्कश कहना उचित नहीं होगा। हिन्दी में यशदेव शल्य के कुछ लेखन को छोड़कर तर्ककर्कश लेखन तो शायद है ही नहीं। अंग्रेजी में शायद के.सी. भट्टाचार्य, के.डी. भट्टाचार्य, शिवजीवन भट्टाचार्य, पी.के. सेन, पी. के. मुखोपाध्याय इत्यादि के लेखन को तर्ककर्कश तो कहा जा सकता है किन्तु वह प्रासंगिक नहीं है।

संभवतः इसका कारण केवल यही है कि हम अभी भी अपनी जीवन्त समस्याओं और अपने परिवेश की अवहेलना करके पश्चिमी दार्शनिक समस्याओं में उलझे रहते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि जिन समस्याओं और समाधानों पर पश्चिमी दार्शनिक चिन्तन करते हैं वे उनके परिवेश की उपज हैं और उनके लिए जीवन्त हैं। उदाहरणार्थ, आजकल उत्तर–आधुनिकता, सुखमृत्यु (यूथनेसिया), गर्भपात, 'एप्लाईड फिलॉसफी', 'एप्लाईड एथिक्स' इत्यादि पर भारत में चर्चा करने को ही लें! क्या वास्तव में ये हमारी समस्यायें हैं? आधुनिकता के दौर से गुजरे बिना, उसका अनुभव किए बिना, उससे उपजी समस्याओं को जिए बिना, उससे उत्पन्न त्रासदी को जाने बिना हम उत्तर–आधुनिकता की समस्याओं को कैसे समझ सकते हैं ? सुखमृत्यु की समस्या क्या हमारे परिवेश की समस्या है ? गर्भपात की समस्या भारतीय समाज की समस्या अभी तक तो नहीं है। वैसे भी इस समस्या के मूल में ईसाई मान्यताएँ हैं। 'एप्लाईड फिलॉसफी' क्या होती है ? क्या कोई सिद्धान्त–शास्त्र 'एप्लाइड' हो सकता है ? इन प्रश्नों पर विचार किए बिना हम पश्चिम में होने वाले विचार–विमर्श का अंधानुकरण करते रहते हैं। इस अन्धी दौड़ में हमारा चिन्तन न तो अपने देश के लिए प्रासंगिक रह जाता है न ही उसमें वह गहराई एवं तर्ककर्कशता आ पाती है जो इन समस्यओं से वस्तुतः इनसे दैनंदिन व जूझने वाले पश्चिमी देशों के दार्शनिकों के चिन्तन में होती है। इसीलिए इन समस्याओं पर हमारा चिन्तन उनके दृष्टिकोण की तुलना में केवल सतही ही होता है। हम न तो घर के रहते हैं न घाट के। अपनी समस्याओं के

प्रति भारतीय दार्शनिक मौका मिलने और उकसाए जाने पर भी नहीं सोचते, इसका पता हमें लगभग तीन दशक पहले सन् 1972 में प्रकाशित, के सच्चिदानंद मूर्ति एवं के. रामकृष्ण राव द्वारा संपादित पुस्तक करेंट ट्रेंड्स इन इण्डियन फिलॉसफी से चलता है। इस पुस्तक के लिए आमंत्रित निबंध लेखकों से अनुरोध किया गया था कि वे अपने–अपने लेखों में निम्नलिखित प्रश्नों पर विचार करें : 'भारत में विज्ञान एवं तकनीकी सहायता से औद्यौगिक प्रगति की गति तेज होने के कारण नई–नई सामाजिक संस्थाऐं उभर रही हैं और हमारे पारंपरिक मूल्यों एवं अवधारणाओं और नई खाजों में एक प्रत्यक्ष विरोधाभास का क्या स्थान है, इसका क्या स्वरूप हैं ? अपने देश के समक्ष आने वाली समस्याओं के समाधान में दार्शनिकों का क्या योगदान है ? या फिर, इन समस्याओं ने भारतीय दर्शन को कैसे प्रभावित किया है ? 'किन्तु किसी भी निबंध लेखक ने इन प्रश्नों पर अपने निबंध में विचार नहीं किया। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतीय दार्शनिक अपने परिवेश से पूरी तरह कटे हुए हैं। ऐसे ही दार्शनिकों के बारे में नारायण शास्त्री द्रविड़ ने 1979 के अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अपने अध्यक्षीय भाषण में कहते हैं : 'इन विचार–प्रवाहों के प्रवर्त्तक, हजारों वर्षों से विचार के विषय बनी हुई दार्शनिक समस्याओं के प्रति जितने उदासीन हैं उतने ही सामान्य जनों की नैतिक तथा आध्यात्मिक मान्यताओं एवं आकांक्षाओं को समझने में भी असमर्थ दिखाई पड़ते हैं। ऐसे विद्वानों की प्रतिभा की हम जरूर प्रशंसा करेंगे किन्तु साथ ही यह कहे बिना नहीं रहेंगे कि उनकी प्रतिभा का विलास 'काकदंत परीक्षा' के जितना ही महत्त्वपूर्ण है।' आज से लगभग दो दशक पहले पश्चिमी दर्शन और वहाँ के समकालीन चिन्तन से प्रभावित होना स्वाभाविक ही था क्योंकि भारतीय विश्वविद्यालयों में दर्शन का पठन–पाठन केवल अंग्रेजी के माध्यम से होता था। किन्तु पिछले दो दशकों से हिन्दी व प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से पठन–पाठन होने के कारण ऐसा होना न तो स्वाभाविक है न ही अनिवार्य। हम अपनी भाषा में अपनी दैनंदिन समस्याओं पर, अपनी जीवन्त परंपरा पर, अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से चिन्तन कर सकते हैं। हममें से कुछ अपने संस्कृत, पालि, प्राकृत इत्यादि शास्त्रीय भाषाओं और तमिल, तेलगू, कन्नड, उड़िया, असमी, मलयालम, पंजाबी इत्यादि आधुनिक भारतीय भाषाओं पर पारंगतता के आधार पर भारतीय दर्शन की अपनी शब्दावली में एक नया वस्तुनिष्ठ इतिहास लिख सकते हैं; कुछ, किसी एक भारतीय दर्शन सम्प्रदाय यथा चार्वाक, बौद्ध, जैन, सांख्य, न्याय–वैशेषिक, वेदान्त आदि का आलोचनात्मक अध्ययन कर एक नयी व्याख्या दे सकते हैं; कुछ, अपने भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन के ज्ञान का समन्वय कर तुलनात्मक अध्ययन के साथ–साथ, पूर्णतः नये दार्शनिक दृष्टिकोण प्रदान कर सकते हैं, एक नयी विश्वदृष्टि दे सकते हैं; कुछ, विशिष्ट पश्चिमी दार्शनिक समस्याओं का पूर्ण भारतीय दर्शन की दृष्टि से हल ढूंढ सकते हैं; और कुछ, विशिष्ट भारतीय दार्शनिक समस्याओं का हल पश्चिमी दर्शन के विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण से खोजकर, संपूर्ण दार्शनिक विधा को एक बिल्कुल नई दिशा दे सकते हैं। हिन्दी माध्यम से पढ़ने वाले अनेक विद्यार्थी प्रतिभाशाली हैं। आवश्यकता है उन्हें ठीक से

प्रशिक्षण देने की और मूल ग्रन्थों को उन्हें उपलब्ध कराने की। इसलिए यदि हम हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में दर्शन के पठन–पाठन और शोध में गुणात्मक परिवर्तन लाना चाहते हैं तो आज की प्राथमिकता मूल ग्रन्थों को, चाहे वे संस्कृत में हों चाहे अंग्रेजी में, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में अनूदित करने की होनी चाहिए। इसी प्रकार हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के मूल ग्रन्थों को अंग्रेजी में अनूदित करना भी हमारी प्राथमिकता होनी चाहिए। यदि हमने ऐसा अभी नहीं किया तो शीघ्र ही एक ऐसी पीढ़ी सामने आएगी जिसकी पहुँच मूल ग्रथों तक नहीं होगी। वे कूपमण्डूक होंगे जो केवल अपने ही बारे में जानते होंगे और अपने सीमित संसार को ही जगत् मान लेंगे। केवल दोयम दरजे के लेखन तक उनकी पहुँच होने के कारण उनका चिन्तन क्षेत्र सीमित एवं संकीर्ण होगा। इस अनुवाद कार्य को तत्काल करने के इस सुझाव का एक कारण यह भी है कि ऐसे लोग जिनकी दो भाषाओं यथा अंग्रेजी एवं हिन्दी, अंग्रेजी एवं संस्कृत, संस्कृत एवं हिन्दी इत्यादि में दक्षता होने के साथ–साथ संबंधित दर्शन पर भी अच्छी पकड़ हो दिन पर दिन कम होते जा रहे हैं। धीरे–धीरे वे समाप्त हो जाएंगे और आने वाला एक बड़ा वर्ग चिन्तन शास्त्रीय विधा से वंचित रह जाएगा। भारतीय दर्शन के मीमांसा सम्प्रदाय के साथ यही हुआ है। मीमांसा दर्शन के मूल ग्रन्थों को समझने व समझाने वाले व्यक्ति नगण्य है और यह चिंतन परंपरा अब लुप्त प्रायः ही हैं। इतिहास से शिक्षा लेकर अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग आदि को अनुवाद कार्य को अपनी प्राथमिकता बनानी चाहिए। उसके अधिवेशनों में उसके सदस्यों, जिनकी संख्या काफी कम है, को दोयम या तृतीय दरजे के शोधपत्र पढ़ने के स्थान पर अपना ध्यान अपनी–अपनी विशेषता वाले क्षेत्र के किसी एक मौलिक ग्रन्थ का अनुवाद करने, उसमें आने वाली पदावली व अन्य कठिनाईयों पर चर्चा करके, नई पदावली का सृजन करने पर केन्द्रित करना चाहिए। यदि हम ऐसा करने से चूक गए तो मातृभाषा में दर्शन पढ़ने वाली आने वाली अपनी पीढ़ियों से हमें कोई अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए और उनकी इस आलोचना के लिए स्वयं को तैयार रखना चाहिए कि हमारी पीढ़ी ने उनके लिए कुछ नहीं किया। यह न करने पर हम अपनी मातृभाषा को उच्च श्रेणी के दार्शनिक वाङ्मय से वंचित ही करेंगे। क्या हम ऐसा करना चाहते हैं ?

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

इस निबन्ध को लिखने में मैंने के. सच्चिदानन्द मूर्ति की दो पुस्तकों इण्डियन फिलॉसफी सिन्स 1498, आन्ध्र युनिवर्सिटी प्रेस, 1982, और फिलॉसफी इन इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, 1985 के साथ–साथ अपने निबंध 'रलेवेन्ट एण्ड/ऑर रिगरस : कंटम्परेरी इण्डियन फिलोसॉफिकल सिच्युएशन–, इण्डियन होराइजन्स, खण्ड 43, अंक 3, 1994 का प्रयोग किया है ।

(1) एसेज ऑन इण्डियन फिलॉसफी, सं. पुरुषोत्तम बिलिमोरिया, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1993

(2) 'दॅ नेचर ऑव रिफ्लेक्शन इन मेटाफिजिक्स', करन्ट ट्रेन्डज इन इण्डियन फिलॉसफी सं. के. एस. मूर्ति और के.आर. राव, आन्ध्रा युनिवर्सिटी प्रेस, 1972

(3) 'भारतीय दार्शनिक परंपरा के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन', भारतीय दार्शनिक चिन्तन, अखिल भारतीय दार्शन परिषद्, सं. विजयश्री, 2000 पृ., 149

(4) फिलॉसफी इन इण्डिया, 2000 पृ. 149

(5) देखें, पुषराज, वैदिक, जैन और आधुनिक जीवन, श्रीविनायक प्रकाशन 1996 पृ., 90

(6) देखें, के.एस. मूर्ति और अशोक वोहरा, राधाकृष्णनः हिज लाइफ इण्ड आइडियाज स्टेट युनिवर्सिटी ऑव न्यूयॉर्क प्रेस, न्यूयार्क, 1990

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन की अनुत्तर विवक्षा

बी. कामेश्वर राव

बहुत महत्त्व न होने पर भी अभारतीय परम्पराओं के अविचारित अनुकरण का अभ्यस्त भारतीय प्रबुद्ध वर्ग इक्कीसवीं शताब्दी का स्वागत कर रहा है। शताब्दी संख्या जो भी हो, विगत सौ वर्ष भारतीय समाज में द्रुत परिवर्तन का काल रहा है। इसलिए नई शताब्दी में समाज के हर क्षेत्र में कुछ संभावनाएँ, कुछ अपेक्षाएँ ढूँढी जा रही हैं। इसी क्रम में दार्शनिक चिन्तन का भी सिंहावलोकन और तदाश्रित भावी दिशा भी चिन्तनापेक्षी है। यह अपेक्षा भारतीय दर्शन की एक अनुत्तर विवक्षा है और इसी अपेक्षा की पूर्ति की सम्भावनाओं को टटोलते हुए हम इस निबन्ध में प्रवृत्त हो रहे हैं।

बीसवीं शताब्दी में– भारतीय समाज दो विरोधी अवस्थाओं में रहा है। लगभग आधी शताब्दी राजनैतिक परतंत्रता में और शेष आधी उसने स्वतंत्रता में व्यतीत किया है। इसलिए इस शताब्दी के चिन्तन में जहाँ परतंत्रता के लक्षण स्पष्टतः व्यक्त हुए हैं वहीं स्वतंत्रता के उत्साह की भी अभिव्यक्ति हुई है। इस सदी के चिन्तन की पृष्ठभूमि में जहाँ मैकाले योजना और अंग्रेजी भाषा सक्रिय रही है, जिसने दार्शनिक चिन्तन को विश्वविद्यालयों में महज प्राध्यापकीय प्रवृत्ति के रूप में प्रस्तुत किया, वहीं परम्परा के संरक्षण की प्रवृत्ति भी न्यूनाधिक रूप से सक्रिय रही है। प्रगतिवाद के नाम पर मार्क्सवाद भी कहीं–कहीं पल्लवित होता रहा है।

इन प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में वेदान्त, विशेषकर अद्वैतवेदान्त और बौद्ध परम्परा ही प्रायः रही है। विश्वविद्यालय अध्ययन केन्द्रों के क्षेत्र में स्थापित मान्यताओं और अवधारणाओं के साँचे में ही दर्शन पल्लवित होता रहा है। यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि पश्चिमी प्राच्य प्रतिभा भारतीय दर्शन के गौरव के रूप में बौद्ध और वेदान्त का ही महिमागान करती रही है। अतः विश्वविद्यालयों में भी प्रायः चिन्तन इन्हीं के इर्द–गिर्द घूमता रहा है, किसी मौलिक अथवा नवीन चिन्तन धारा का विकास विश्वविद्यालयों के 'प्राध्यापकीय दर्शन' में नहीं हो पाया।

समकालीन दर्शन की दूसरी प्रवृत्ति– परम्परा संरक्षण की प्रवृत्ति, भी राजनैतिक और बौद्धिक दासता की ही प्रतिक्रिया थी। इस दिशा में जहाँ व्यवस्थित अध्ययनशील प्राध्यापकीय वर्ग लगा रहा वहीं समाज में सक्रिय भूमिका निभाने वालों का भी योगदान

रहा। इस प्रवृत्ति ने चिन्तन के 'विषय' के रूप में समाज को चुना। राजनैतिक दासता में आत्मगौरव की स्थापना की दृष्टि से अतीत की उपलब्धियों का महिमागान और विदेशी संस्कृति से स्वयं की श्रेष्ठता निरूपण की प्रवृत्ति के साथ–साथ भारतीय समाज में प्रचलित दोषों का परिहार भी चिन्तकों का कार्यक्षेत्र बना। इनमें 'अधिकांशतः वेदान्त, विशेष रूप से अद्वैत वेदान्त, का ही पोषण होता रहा।

स्वतंत्रता के बाद की स्थिति अत्यन्त शोचनीय रही। इस अर्धशताब्दी में प्राध्यापकीय दर्शन तो प्रायशः पाश्चात्य परम्पराओं और अवधारणाओं के पोषण में ही व्यस्त रहा।[1] इसका एक अच्छा परिणाम यह हुआ कि तुलनात्मक दर्शन की प्रवृत्ति विकसित हुई। राधाकृष्णन, पी.टी. राजू, डी.एम. दत्ता, कालिदास भट्टाचार्य आदि इस क्षेत्र में सक्रिय रहे। इसी क्रम में धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की परम्परा का भी विकास हुआ। प्राध्यापकीय दर्शन के विकास में न केवल बौद्धिक दासता महत्त्वपूर्ण बाधा रही, वरन् अध्ययन के केन्द्रों में 'पद' व 'प्रतिष्ठा' के व्यामोह के कारण 'दार्शनिकता' का स्थान 'शास्त्रवेत्ता' ने ले लिया। परिणामस्वरूप आकर्षक बायोडाटा निर्माण केन्द्रित चिन्तन और लेखन का विश्वविद्यालय अध्ययन केन्द्रों में आधिपत्य होता गया। वास्तव में स्वतंत्रता के बाद वह वातावरण सचेत रूप से तैयार नहीं किया गया जिसमें नयी विचार पद्धतियों का ऊँचे धरातल पर समुचित विकास किया जा सके।[2] संगोष्ठियों और अधिवेशनों में 'दार्शनिकता' की जगह 'स्नेह सम्मेलन' की मानसिकता बढ़ती गई। इन सबके बावजूद गत शताब्दी दर्शन–शून्य नहीं कही जा सकती। अवस्था में आशाजनक कुछ न भी हो तो निराशाजनक भी नहीं था। बीसवीं शताब्दी का भारतीय दर्शन सिर्फ वही नहीं है जिसे प्राध्यापकों ने मान्यता दी या जो समकालीन भारतीय दर्शन या चिन्तन के नाम से प्रकाशित पुस्तकों में है।

बीसवीं शताब्दी में कई दार्शनिक हुए हैं जिन्हें दार्शनिक के रूप में अध्ययन केन्द्रों में प्रस्तुत नहीं किया जाता और जिनका योगदान अनेक प्राध्यापकीय दार्शनिकों से कम नहीं है। राम मनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण, विनायक दामोदर सावरकर, मा.स. गोलवलकर, दीनदयाल उपाध्याय, वैद्य गुरुदत्त (उपन्यासकार) आदि विचारकों ने समाज की जीवन्त समस्याओं पर चिन्तन किया। श्रीराम शर्मा, महेश योगी और रजनीश का योगदान भी है जिसे प्राध्यापकीय क्षेत्र में समुचित स्थान नहीं मिला। इनमें कुछ को राजनैतिक क्षेत्र में रख दिया गया और शेष को विचारकों की श्रेणी के बजाय साम्प्रदायिक राजनीति के प्रवक्ता के रूप में स्थापित कर दिया गया। इन सभी विचारकों ने सैकड़ों वर्षों की दासता से उत्पन्न वैचारिक कुण्ठा और पश्चिमी विचारों के अन्धानुकरण से समाज को उबारने का प्रयास किया। कुल मिला कर बीसवीं शताब्दी में दार्शनिक चिन्तन में अस्मिता बोध, विदेशी–स्वदेशी समन्वय और सामंजस्य और पश्चिमी अवधारणाओं के पोषण की प्रवृत्तियाँ ही व्याप्त रहीं। इसे वैचारिक संक्रमण कहा जा सकता है।

बीसवीं शताब्दी के समापन की वेला में, जब दासता की अवधि में परिपक्व विचारक या मैकाले योजना में शिक्षित पीढ़ी के विचारक अब लुप्त हो गए हैं, स्वतंत्र भारत में शिक्षित

पीढ़ी वैचारिक परिपक्वता के स्तर पर आ चुके हों, इक्कीसवीं शताब्दी के दार्शनिक चिन्तन के संबंध में दो प्रश्न विचारणीय हो जाते हैं। बीसवीं शताब्दी के विचारों की परिणति इक्कीसवीं शताब्दी में किस प्रकार की होगी ? दूसरा प्रश्न है इक्कीसवीं शताब्दी में दार्शनिकों की वैचारिक प्राथमिकता किस प्रकार की होनी चाहिए। इन दोनों ही प्रश्नों का उत्तर 'दर्शन' के स्वरूप–विषयक हमारी मान्यता पर निर्भर है। दर्शन यदि दुःख निवृत्ति के साधन के रूप में या शाश्वत आनन्द की प्राप्ति के साधन के रूप में मान्य हो तो भारत की प्राचीन परम्परा का विकास ही भारतीय दर्शन का भविष्य होगा। दर्शन यदि अन्वीक्षा के द्वितीय चक्र के रूप में मान्य हो तो यह भविष्य में वैज्ञानिक प्रतिज्ञप्तियों की खोज और व्याख्या के शास्त्र के रूप में स्थापित होगा। जो भी हो, इक्कीसवीं शताब्दी में दर्शन की संभावना या अपेक्षा का रूप दर्शन के रूप, विषय–वस्तु आदि विषयक मान्यताओं पर ही निर्भर करेगा। अतः आगे हम इसी पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

भारत के एक प्रखर दार्शनिक परिष्कर्त्ता दयाकृष्ण के अनुसार "दर्शन शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र है जहाँ बुद्धि मनुष्य के और जगत् के समस्त सम्बन्धों के ऊपर आत्मनिर्भर करती हुई उन सब समस्याओं को देखती है जिनसे मानव चेतना ग्रसित और व्यथित रहती है।"[3] अब 'शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र' एक अस्पष्ट और विस्तृत व्याख्यापेक्षी मान्यता है। दयाकृष्ण ने अपने संदर्भांकित लेख में इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। दयाजी मानते हैं कि 'वास्तव में शुद्ध बौद्धिकता एक प्रकार से भ्रम ही है क्योंकि बुद्धि को विचार के लिए कुछ विषय चाहिए जो अनुभव द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। यह अनुभव इन्द्रियों के द्वारा हो सकता है।"[4] इससे 'शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र' से उनका आशय समझा जा सकता है। संभवतः शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र वे ज्ञान के उस क्षेत्र को मानते हैं जहाँ ज्ञान किसी अन्य प्रयोजन का साधन न हो कर स्वयं में साध्य है। ऐसा क्षेत्र वहीं होगा जहाँ बुद्धि अपनी गतिविधियों या प्रक्रिया पर ही विचार करती हो। उनके ही शब्दों में, दर्शन बुद्धि द्वारा बुद्धि को उसके स्वचेतन रूप में देखना है। इसे वे दर्शन का मर्म स्थल मानते हैं। बुद्धि क्या है, ज्ञान क्या है, ज्ञान की प्रामाणिकता की क्या कसौटी है, प्रामाणिकता की क्या शर्तें हैं, बुद्धि की विचार सीमा क्या है– आदि प्रश्नों को शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र माना जा सकता है। यानि दर्शन का केन्द्र ज्ञानमीमांसीय प्रश्न ही हैं। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद अपने एक लेख में यह बताने का प्रयास करते हैं कि "दार्शनिक अन्वेषण सम्प्रत्ययों के प्रयोग और व्यवहार की परीक्षा मुख्यतः तार्किक ढंग से अर्थात् संगति और असंगति की दृष्टि से करता है।"[5] चाहे वे सम्प्रत्यय किसी भी क्षेत्र के क्यों न हों? दार्शनिक "अध्ययन के लिए विषयभूत सम्प्रत्ययों के चुनाव की कोई नपी–तुली कसौटी या तकनीक नहीं दी जा सकती, किस सम्प्रत्यय या सम्प्रत्ययों के किस समूह को कोई दार्शनिक अपने अध्ययन का विषय बनाता है यह बहुत कुछ उसकी रुझान, शिक्षा–दीक्षा और विश्लेषण की विशिष्ट क्षमता, उसकी अपनी दार्शनिक वरीयताएँ, उसके मूल्यांकन, तत्कालीन प्रचलित दार्शनिक वैचारिक फैशन आदि पर निर्भर करता है।"[6]

कालिदास भट्टाचार्य दर्शन को आत्म और अनात्म युक्त समस्त सृष्टि के व्यवस्थित

अध्ययन को मानते हैं।[7] सारांश में यह कहा जा सकता है कि दर्शन की विषयवस्तु के रूप में वह सब कुछ स्वीकार कर लिया जाता है जो मानव के लिए ज्ञेय हो या जिसे वह विचारणीय समझता हो। लेकिन इसे परिभाषा नहीं कहा जा सकता। इसमें अतिव्याप्तता है। समाजशास्त्र, राजनीतिक शास्त्र, भौतिकी तथा प्राकृतिक विज्ञान भी 'ज्ञेय' यद्यपि विशिष्ट क्षेत्र के हैं लेकिन जिस रूप में ये अध्ययन के क्षेत्र हैं उसी रूप में दर्शन भी नहीं है। इन समस्त विषयों का अध्ययन नहीं हो सकता। समस्त अध्ययन क्षेत्रों एवं तथ्यों की खोज और विश्लेषण से सम्बद्ध है। इसीलिए ये शास्त्र 'विज्ञान' मान लिए जाते हैं। यदि इनकी पद्धति ही दर्शन हो तो दर्शन की स्वायत्तता, पृथक्ता और संभवतः आवश्यकता भी समाप्त हो जाती है।

दर्शनशास्त्र की परम्परा से प्राप्त साहित्य से यह बात समझी जा सकती है कि दार्शनिक चिन्तक क्रमशः मानव–जीवन की ज्वलन्त समस्याओं से अलग होता गया। यही नहीं, जो कुछ ज्ञेय, विचारणीय और सम्प्रेषणीय पहले दर्शनशास्त्र में था, उसमें ज्ञान के क्षेत्रों के अनुरूप अलग–अलग शास्त्रों का निर्माण होता गया।[8] परिणाम स्वरूप दर्शन का 'अपना' विषय सिमटता चला गया। जो बच गया उसकी महत्ता, उसका औचित्य भी अब समझाना पड़ रहा है।

दार्शनिक चिन्तन के औचित्य का प्रश्न उसकी विषय–वस्तु के कारण उठता है। यह प्रश्न प्राध्यापकीय दर्शन के प्रचलित मान्य रूप के संदर्भ में तो अवश्य ही उठता है। बीसवीं शताब्दी के प्राध्यापकीय दर्शनशास्त्रियों ने दर्शन को अधिकांशतः ज्ञानमीमांसीय, तत्त्वमीमांसीय, नीतिमीमांसीय 'प्रश्नों' पर चिन्तन के रूप में स्थापित तो किया ही है, साथ ही दर्शन की पाश्चात्य अवधारणा के आधार पर इन प्रश्नों पर चिन्तन और लेखन भी किया है। उनके समक्ष यह प्रश्न सीधे महत्त्वपूर्ण नहीं रहा कि दर्शन की विषयवस्तु क्या हो? उनके लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा है – पाश्चात्य विचार – प्रणाली के साथ समायोजन, सामंजस्य और संगति का या फिर भारतीय परम्परा में मान्य प्रचलित विषय वस्तु की अस्मिता और बोधजन्य पुनर्मूल्यांकन का।[9] इस वर्ग के विचारकों की प्रायः यह मान्यता रही है कि दार्शनिक चिन्तन को शुद्ध बौद्धिक समस्याओं तक सीमित रहना चाहिए। एक ओर समस्त विचारणीय समस्याओं या उनसे सम्बन्धित संप्रत्ययों को दर्शन के क्षेत्र में सम्मिलित करना और फिर शुद्ध बौद्धिक समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करना–एक अनुप्रयुक्त अन्तर्विरोध है। इसका परिहार न करने के कारण 'दार्शनिकता' शास्त्रीय दृष्टि से विश्वविद्यालयों तक सिमट कर रह गयी।

दर्शनशास्त्र की अलोकप्रियता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि कुछ एक अपवादों को छोड़ कर महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में इस विषय को पढ़ने वाले छात्रों की संख्या उत्तरोत्तर घटती जा रही है। यही नहीं, अनेक विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में दर्शनविभाग स्थापित करने का प्रयास भी नहीं किया गया। कई बार तो दर्शन विभागों को अनुपयोगी मानकर बन्द करने की चर्चायें भी होती रहती हैं क्योंकि इसमें

छात्र–संख्या कम होती है। हाल ही में केंद्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय के सचिव श्री काव का पत्र जो उन्होंने समस्त विश्वविद्यालयों को भेजा था उसमें दर्शनशास्त्र की अलोकप्रियता की स्वीकृति के साथ इस शास्त्र को व्यावहारिक बनाने की दिशा में प्रयास करने का सुझाव दिया गया था। जिस देश में दर्शन स्वरूपतः व्यावहारिक रहा हो, वहाँ ऐसा विचार उठना विश्वविद्यालयों में प्रचलित दर्शनशास्त्र की दयनीय स्थिति का ही लक्षण है। ऐसी दुरवस्था के दो कारण प्रतीत होते हैं। एक तो उच्च शिक्षा में रोजगार मूलकता की भ्रामक और आत्मघाती प्रवृत्ति का समावेश और दूसरा दर्शन शास्त्रियों का समाज की ज्वलन्त समस्याओं के प्रति नैतिक उदासीनता। जिन कथित समस्याओं में दर्शनशास्त्री उलझा हुआ है वे कुछ बौद्धिक प्रश्न मात्र हैं। शुद्ध बौद्धिक प्रश्नों में दर्शन को सीमित करने से दर्शन मूल लक्ष्य से भटक गया है। दार्शनिक चिन्तन की सामाजिक सार्थकता उसके 'समस्या–समाधान–मूलक' होने में है। वास्तव में, दार्शनिक चिन्तन– या सिर्फ चिन्तन के लिए तीन प्रेरक बिन्दु हैं– समस्या, जिज्ञासा और प्रश्न। दार्शनिक चिन्तन, इन तीनों में किस बिन्दु से आरंभ होता है, उस पर निर्भर करता है कि चिन्तन के विषय की प्रासंगिकता कितनी है?

समस्या हमेशा जीवन्त होती है। समस्या पर बुद्धि जब विचार करती है तो उस विचार करने में वे सारी परिस्थितियाँ अन्तर्निहित रहती हैं जिनमें वह समस्या उत्पन्न होती है। वे परिस्थितियाँ शुद्ध बौद्धिक नहीं होतीं। अपनी बात को मैं एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना चाहूँगा। शुद्ध बौद्धिक कहे जाने वाले एक प्रश्न को लें– 'ज्ञान क्या है?' क्या यह मनुष्य के लिए कोई समस्या है? मनुष्य को वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है, अपने मन की भावनाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। लेकिन 'ज्ञान' क्या है, यह किसी के लिए भी समस्या नहीं होती। हाँ, यह एक प्रश्न हो सकता है (शायद प्रश्न ही है) और प्रश्न हमेशा बौद्धिक होते हैं। 'प्रश्न' के पूछे जाने की (जो पूछा जाय वही होता है, चाहे फिर स्वयं ही क्यों न पूछा जाय) परिस्थिति, विशेष प्रशिक्षण, शिक्षा, अभ्यास और आवश्यकता से बनती है। समाज विज्ञानों या प्राकृतिक विज्ञानों के अध्येताओं के लिए यह प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। दर्शनशास्त्र का अध्येता अवश्य यह प्रश्न पूछ सकता है। यह इसलिए नहीं कि उसके जीवन में यह एक समस्या है बल्कि इसलिए कि जिस क्षेत्र को उसने अध्ययन के लिए चुना है उसमें ऐसा प्रश्न किया जाता है, और उसके उत्तर दिए जाते हैं। इस प्रकार के प्रश्नों पर विचार करने का उसे प्रशिक्षण प्राप्त है। 'शुद्ध बौद्धिक' तो किसी प्रश्न को तब कहा जा सकता है जब 'बुद्धि' में यह प्रश्न सहज भाव से उठे। तब भी इसे बौद्धिक 'समस्या' कहने के बजाय प्रश्न कहना अधिक सार्थक होगा क्योंकि प्रश्न हमेशा रचित या निर्मित होते हैं जबकि समस्या और जिज्ञासा सहज उत्पत्ति है। विशेष प्रकार के कुछ प्रश्नों को दर्शनशास्त्र की स्वायत्तता के नाम पर दर्शन का स्वरूप मान लेना और उन्हीं तक चिन्तन को सीमित कर देना दार्शनिक चिन्तन के लिए अस्वाभाविक प्रवृत्ति है। "कोई मौलिक, सृजनात्मक दार्शनिक अपनी रूचि के अनुसार किसी न किसी दार्शनिक समस्या से जूझना, उसके विषय

में अपने मत को सुव्यवस्थित और सुचिन्तित रूप में रखना चाहता है। अपने द्वारा किए गए दार्शनिक अन्वेषण के स्वरूप के विषय में चिन्तन करना उसे उतना रूचिकर नहीं लगता जितनी किसी समस्या के विषय में अपने चिन्तन को सुदृढ़ रूप में स्थापित करना। यही स्वाभाविक है। यह नहीं कि पहले यह मानकर कि दर्शन क्या है, दार्शनिक चिन्तन किया जाय।''[10]

समस्या के संदर्भ में औचित्य का प्रश्न नहीं उठता। समस्या जीवन्त तथ्य है। वह हमें सोचने के लिए विवश करती है। क्योंकि समस्या (जिसकी है उसके लिए) समाधान की अपरिहार्य अपेक्षा रखती है। समस्या यदि उत्पन्न हो गई हो और समाधान न हो तो मनुष्य व्याकुल और अशान्त हो जाता है। उसकी यह व्याकुलता और अशांति अवांछित होने से 'सोचना' उसकी विवशता हो जाती है लेकिन यह सोचना सिर्फ सोचना नहीं है। इस सोचने के साथ 'करना' भी अनिवार्यतः जुड़ा रहता है। 'सोचने' और 'करने' में विरोध नहीं होना चाहिए, समस्या के संदर्भ में विरोध होता भी नहीं है। हाँ, प्रश्न के उत्तर सोचने में विरोध अवश्य हो सकता है। नैतिक प्रश्नों (समस्या नहीं) पर विचार करने वाला व्यक्ति अनैतिक हो सकता है। इस तरह का सोचना वास्तव में यदि दार्शनिक चिन्तन कहा जाय तो इसकी कोई सार्थकता नहीं होती। भारत में दर्शनशास्त्र विषय में पालक, विद्यार्थी और शासकों की रुचि न होने में यह निरर्थकता भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है। दर्शन की भारतीय परंपरा 'समस्या–समाधान' रूप है। अतः समाधान 'करने' की अपेक्षाएँ भी 'सोचने' के साथ जुड़ी हैं। अपवाद छोड़ कर भारतीय दर्शन–परंपरा जीवन में 'दुख' की 'समस्या' के समाधान की दिशा में सोचती है इसलिए यहाँ 'साधना' पक्ष भी दर्शन का अंग है, जबकि लगभग समूचा पाश्चात्य चिन्तन 'जिज्ञासा' या प्रश्नों पर सोचने की प्रक्रिया है। इसलिए 'साधना' का पक्ष वहाँ नगण्य है।

समस्याएँ व्यक्ति और समाज दोनों की होती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति की समस्याएँ ही समाज की भी हों, समाज की समस्याएँ व्यक्ति की भी हों। दोनों ही अवस्थाओं में अर्थात् व्यक्ति की अथवा समाज की समस्याओं में, 'सोचने' का कार्य व्यक्ति ही करता है। व्यक्ति जब समस्याओं पर सोचता है तब वह प्रायः सामाजिक सोच के नियंत्रण से बाहर आकर सोचने का प्रयास करता है। इस प्रयास में लीन कभी–कभी वह भूल जाता है कि वह समाज का घटक है और ऐसी समस्याओं पर सोचना आरंभ कर देता है जो वास्तव में समस्या नहीं मात्र 'प्रश्न' होते हैं। प्रश्न चूँकि प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता– द्विविधपक्षों की अपेक्षा रखते हैं इसलिए विचारक स्वयं ही दोनों भूमिकाओं में प्रस्तुत हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न और उत्तर दोनों में विचारक के संस्कार, अभिरुचि और प्रश्न की प्राथमिकता का समावेश हो जाता है। यही नहीं, इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर स्वयं को भी पूर्ण संतोष नहीं देते। तब व्यक्ति ऐसे प्रश्न और उत्तरों की पुष्टि के लिए अन्य विचारकों की तलाश करने लगता है और इस प्रकार वह 'सोचने' के दायरे से बाहर निकल

कर 'पठन–श्रवण' या संवाद के क्षेत्र में विचरण करने लगता है। ऐसी अवस्था में सोचने वाला विचार–जगत् में स्वच्छन्द विहरण करते हुए आनंद का (यदि ऐसा कुछ, जो दिवा स्वप्न से भिन्न हो, संभव है) अनुभव कर सकता है।

दयाजी ने उन्मीलन वर्ष–1, अंक–1, जनवरी 1995 में प्रकाशित लेख 'आओ कुछ सोचें' में एक ऐसा प्रश्न उठाया था जिस पर बहुत गंभीरता और निष्पक्षता से विचार होना चाहिए था। यह प्रश्न वास्तव में सोचने वालों की नैतिकता की ज्वलंत 'समस्या' है। क्या दार्शनिक चिंतन किसी अन्य के प्रति जिम्मेदार हो सकता है? इस प्रश्न में निहित एक नैतिक समस्या यह है कि क्या इस रूप में प्रश्न उठाना उचित है? क्या व्यक्ति, जो समाज का घटक भी है, ऐसा प्रश्न कर सकता है? दार्शनिक चिंतन किसी 'अन्य' के प्रति जिम्मेदारी हो सकता है क्या– इस प्रश्न का 'न' में उत्तर हो ही नहीं सकता क्योंकि व्यक्ति 'अन्य' से स्वतंत्र और निर्लिप्त नहीं होता (मानवेतर व्यक्ति की बात हम नहीं जानते)। वास्तव में प्रश्न होना चाहिए कि दार्शनिक चिंतन की अन्य के प्रति किस तरह की, कैसी या क्या जिम्मेदारी होनी चाहिए?

हमारा आशय यह नहीं है कि ऐसे प्रश्नों पर न सोचा जाय। अवश्य ही ऐसे कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं जिन पर सोचा जाना चाहिए। लेकिन उन प्रश्नों पर सोचना तब तक सार्थक नहीं होता जब तक वे प्रश्न समस्या अथवा जिज्ञासा के रूप में अनुभूत न हों। प्रश्न के उत्तर पर तभी सोचा जा सकता है जब प्रश्न का औचित्य, उसकी प्रासंगिकता और किसी समस्या से उसका अनिवार्य संबंध हो। ऐसा न होने पर भी प्रश्न उठाए जा सकते हैं, उत्तर सोचे जा सकते हैं, लेकिन यह केवल 'सोचने के लिए सोचना' होगा। ऐसा सोचना किसी अन्य उद्देश्य के प्रति आकर्षण या/और उक्त उद्देश्य से सोचने का अभ्यास/आदत/संस्कार के कारण हो सकता है। उदाहरण के लिए–दर्शनशास्त्र के अध्यापकों द्वारा सोचने को लें। विद्यार्थियों को दर्शनशास्त्र पढ़ाने के लिए, अधिवेशनों या सेमिनार में वक्तव्य के लिए, या लेख लिख कर छपवाने के लिए सोचा जाता है। अध्यापन पेशे में आकर्षक बायोडाटा बनाने के लिए इस तरह का सोचना बाध्यता है। लगातार वर्षों तक इस पेशे में रहकर सोचने की पड़ी हुई इस आदत या संस्कार के कारण भी सोचा जा सकता है। इस तरह का चिन्तन समाज के लिए बहुत उपयोगी नहीं होता।

जिज्ञासा पर सोचना जिज्ञासु के लिए ही सहज और सार्थक होता है। जिज्ञासु अपनी जिज्ञासा को प्रश्न के रूप में प्रस्तुत करके इतर विचारशील लोगों से अपनी जिज्ञासा की पूर्ति कर सकता है। लेकिन जिनके समक्ष उसकी जिज्ञासा प्रश्न के रूप में प्रस्तुत होती है, उनके लिए प्रश्न का औचित्य उत्तर देने की बाध्यता का निरूपण आवश्यक हो जाता है। जिज्ञासु यदि अपने प्रश्नों को, अपनी जिज्ञासा को 'समस्या' के रूप में उसके समक्ष प्रस्तुत कर दें तो 'सोचने' की सार्थकता अनुभव की जा सकती है। सोचना, विचारक (शुद्ध बौद्धिक प्रश्नों पर सोचने वाला) के रूप में नहीं, बल्कि दार्शनिक (समस्या का समाधान करने वाला) के रूप में होना चाहिए।

वास्तव में प्रश्न, जिज्ञासा और समस्याओं में जो महत्त्वपूर्ण अंतर है, वही दर्शन् के स्वरूप और औचित्य का प्रश्न उठाता है। जिज्ञासा की अपनी उत्पत्ति और तृप्ति या पूर्ति पूर्णतः जिज्ञासु पर निर्भर करती है, इसे आत्मनिष्ठ कहा जा सकता है। प्रश्न अपनी उत्पत्ति के लिए आत्मनिष्ठ और उत्तर के लिए पराश्रितता की पूर्व स्वीकृति लिए हुए होता है। यह व्यक्ति में निहित 'अहं' तक सीमित न होकर 'वयं' भाव में होता है। यदि मेरे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है, या मैं किसी को अपने तुल्य सक्षम नहीं मानता तो मुझमें जिज्ञासा तो होगी, पर प्रश्न नहीं होगा। समस्या की स्थिति इनसे भिन्न है। समस्या में प्रश्न और जिज्ञासा–दोनों का समावेश होता है। (यद्यपि प्रश्न और जिज्ञासा में 'समस्या' अनिवार्यतः निहित नहीं होती) समस्या प्रश्न और जिज्ञासा की तरह अपनी उत्पत्ति के लिए पूर्णतः आत्माश्रित या समस्याग्रस्त व्यक्ति पर आश्रित हो, यह अनिवार्य नहीं है। प्रायः व्यक्ति की समस्या की उत्पत्ति सामाजिक व्यवस्था, मूल्य, मानदण्ड और व्यक्ति की सामाजिक स्थिति पर निर्भर करती है। इसलिए समस्या सिर्फ 'सोचने' की वस्तु नहीं होती, उसका समाधान अपेक्षित है।

प्रश्न और जिज्ञासा, तृप्ति या पूर्ति की दृष्टि से केवल प्रश्नकर्त्ता या जिज्ञासु तक सीमित होती है, समस्या व्यक्ति की सीमा से बाहर भी समाधान की अपेक्षा रखती है, अर्थात् समस्याएँ केवल व्यक्तिगत नहीं होतीं। समस्याएँ समाज की भी होती हैं और प्रायः समाज की समस्याएँ व्यक्तिगत समस्याओं को भी जन्म देती हैं। चूँकि समाज की समस्याओं पर 'सोचना' भी व्यक्ति का दायित्व और बाध्यता है, अतः दार्शनिक चिन्तन उन समस्याओं पर भी केन्द्रित होना चाहिए जो समाज की हैं। उदाहरण के लिए साम्प्रदायिकता की समस्या को लें। विगत दस–बारह वर्षों में कथित साम्प्रदायिकता ने भारतीय समाज को आन्दोलित किया हुआ है। इसका निमित्त बना अयोध्या–विवाद। अयोध्या–विवाद एक वास्तविक समस्या थी। दार्शनिक चिन्तन में अभ्यस्त लोग इस समस्या से दूर रहे (स्व. प्रो. हर्षनारायण जैसे अपवाद को छोड़कर)। समस्या चूँकि मजहब से जुड़ी हुई थी इसलिए विद्वानों ने साम्प्रदायिकता, धर्मनिरपेक्षता, आदि अवधारणाओं पर चिन्तन को केन्द्रित कर लिया और मूल समस्या से दूर हो गए। समस्या विकराल होती गई और समाज ने स्वयं एक अस्थाई समाधान ढूँढ लिया और बहस का मुद्दा बदल गया। यदि दार्शनिक वर्ग इस समस्या पर गंभीर होता तो यह स्पष्ट हो जाता कि साम्प्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षता समस्या नहीं, महज प्रश्न थे। समस्या मजहबी या रिलीजियस भी नहीं थी। समस्या थी, तो सांस्कृतिक प्रतीकों के प्रति संलग्नता की लेकिन इस समस्या पर दार्शनिकों की अनैतिक उदासीनता ने समाज को दिग्भ्रमित किया।

इसी प्रकार, उदारीकरण और वैश्वीकरण की भी स्थिति है। यह केवल आर्थिक या राजनैतिक विषय मात्र नहीं है। इसके जो प्रभाव भारत की संस्कृति पर पड़ रहे हैं वे ज्यादा गंभीर हैं। वैश्वीकरण और संस्कृति संरक्षण एक गंभीर समस्या है। अपसंस्कृति केवल समाज के बाह्य ढाँचे को ही नहीं बल्कि वैचारिक प्रवाह को भी भ्रष्ट करती है। दार्शनिक

चिन्तन के सामयिक बिन्दु क्या हों? यह भी संस्कृति में हो रहे आंतरिक परिवर्तनों से तय हो रहा है। ऐसा होना उचित है या नहीं ? यदि हाँ, तो किस सीमा तक, आदि प्रश्न उदारीकरण और वैश्वीकरण को आर्थिक–राजनैतिक क्षेत्र से निकालकर दर्शन के क्षेत्र में ले आते हैं। इन पर चिन्तन इन्हें शुद्ध बौद्धिक प्रश्न मानकर नहीं किया जा सकता क्योंकि ये 'समस्या' हैं 'प्रश्न' मात्र नहीं। चरित्र निर्माण कैसे हो सकता है, कैसे राष्ट्रीय एकता स्थापित की जा सकती है, राजनीति को नैतिक किस तरह बनाया जा सकता है, परिवार–विखण्डन क्यों हो रहा है, समाज में साधन–साध्य संबंध की बजाय आत्मीय संबंध कैसे स्थापित किया जाय, प्रगति क्या है, संस्कृति क्या है, उसका क्या महत्त्व है–आदि कुछ समस्या रूप प्रश्न हैं जो सीधे देश की समस्याओं से जुड़े हैं। इन पर सोचना सिर्फ सोचना नहीं है, 'करना' भी है। ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमासा आदि के प्रश्नों का 'अपना महत्त्व है क्योंकि वे सीधे बौद्धिक जगत् की समस्याएँ हैं, पर केवल उन्हीं को दर्शन का केंद्रबिंदु मानें तो यह मनुष्य के साथ एक प्रकार का अन्याय ही होगा'। इसलिए उपर्युक्त प्रश्न और ऐसे ही अन्य प्रश्नों पर सोचना दार्शनिक चिंतन का समाज के प्रति उत्तरदायित्व है। इसे स्वीकार 'करना' ही चिंतन के प्रति ईमानदारी भी है।

बीसवीं शताब्दी के दार्शनिक चिन्तन में कम से कम दर्शन के प्राध्यापकीय क्षेत्र में, ऐसे सहज उत्पन्न समस्याओं पर चिन्तन और लेखन का विशेष प्रयास नहीं किया गया। इसलिए कि ऐसे दर्शनशास्त्र के प्रति रुचि निरन्तर घटती जा रही है। शुद्ध बौद्धिक प्रश्नों में उलझकर समाज में अपनी प्रासंगिकता पर प्रश्न उठाने का अवसर दर्शनशास्त्रियों ने दिया है। अनादिकाल से मानवमात्र की एकमात्र समस्या त्रिविध दुखों से निवृत्ति रही है। जीवन का भौतिक पक्ष जब तक सरल–संतुष्ट था, जीवन सरल था, तब तक आध्यात्मिक दुख प्रबल था। अतः चिन्तन का केन्द्र आध्यात्मिक समस्या थी। आज हमारे समाज में जीवन का भौतिक पक्ष न तो सरल और संतुष्ट है और न ही उसे अनदेखा किया जा सकता है। जब तक आध्यात्मिक दुख की स्पष्ट अनुभूति भी नहीं होगी, एकांगी आध्यात्मिकता कुछ अपवादों को छोड़कर व्यक्ति या समाज के लिए आदर्शों और मूल्यों का केन्द्र नहीं बन सकती। आज दार्शनिक चिन्तन 'सामयिक' होकर ही प्रासंगिक हो सकता है। अतः समस्यामूलक जीवन्त विषयों पर ध्यान केन्द्रित करके दर्शन को समाज में पुनर्प्रतिष्ठित करना इक्कीसवीं शताब्दी के लिए चिन्तकों से अपेक्षा है।

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

1. *संगमलाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ. 341*
2. *देवराज, दार्शनिक त्रैमासिक, अप्रैल 1980, पृ. 96*
3. *दयाकृष्ण, भारतीय दर्शन : एक नई दृष्टि, पृ. 8*

4. वही, पृ. 4
5. परामर्श, खंड 19, अंक–3, जून 1998, पृ. 21
6. वही, पृ. 19–20
7. *Philosophy is a systematic study of the basic structure of the Universe that as much includes all that is self or all that is outside the self. Presupposition of Science and Philosophy. p. 154*
8. *द्रष्टव्य– Philosophical Reconstruction में N.V. Banerji लिखते हैं & "as a result of the emergence of the various sciences in separation from philosophy, philosophy not only lost its earlier importance and influence but was perhaps left with hardly any worthwhile function to perform p. 59*
9. *Indian Philosophy : past and future – पुस्तक में विद्वानों ने यही किया है। भारत में प्रकाशित शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में भी यही प्रयास दिखलाई पड़ता है।*
10. प्रो. राजेन्द्र प्रसाद, परामर्श, जून 1998 में प्रकाशित लेख "दार्शनिक अन्वेषण"

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन में अनुभववादी प्रवृत्तियाँ

राजेन्द्र प्रसाद

दार्शनिक परंपरा के अनुसार अनुभववाद एक प्रकार का ज्ञानशास्त्रीय सिद्धान्त है जो मानता है कि प्रमाणिक ज्ञान प्रदान करने वाले साधनों में अनुभव सर्वोपरि है। यह कथन उतना उपयुक्त या स्पष्ट नहीं है जितना इसे होना चाहिए, किन्तु मैं आशा करता हूँ कि मेरा आशय आने वाले वाक्यों से स्पष्ट हो जायेगा। 'अनुभव' शब्द को यदि व्यापक अर्थ में लिया जाय तो अनुभव के अन्तर्गत सभी प्रकार की अनुभूतियाँ आ जायेंगी, जैसे ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष, रागात्मक अनुभूतियाँ, आध्यात्मिक अनुभूतियाँ, धार्मिक अनुभूतियाँ, इत्यादि। इसलिए, इस अर्थ में वे सभी विचारक अनुभवादी हैं जो ज्ञान के निर्माण में अनुभव को, चाहे वह किसी प्रकार का हो, सर्वाधिक महत्ता देते हैं। सभी रहस्यवादी विचारक, जो कहते हैं कि सर्वश्रेष्ठ ज्ञान अनैंद्रिय अनुभूति या प्रज्ञा के द्वारा प्राप्त होता है, इस अर्थ में अनुभववादी कहे जाएंगे। ऐंद्रिय अनुभवों की यथार्थता में तो कोई अविश्वास नहीं करता, किन्तु अनैंद्रिय अनुभवों को सभी यथार्थ नहीं मानते। परन्तु रहस्यवादी विचारक अनैंद्रिय अनुभवों को यथार्थ ही नहीं बल्कि ऐंद्रिय अनुभवों से अधिक महत्त्वपूर्ण घोषित करते हैं। वे कहते हैं कि हमारी इन्द्रियाँ हमें प्रायः धोखा दिया करती हैं; और जब वे ठीक–ठीक काम करती हैं तब भी उनसे मिला ज्ञान स्थूल पदार्थों के विषय में ही होता है, जो अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। सर्वश्रेष्ठ ज्ञान–वह ज्ञान जो कभी असत्य नहीं सिद्ध हो सकता और जिसके विषय वैसे पदार्थ होते हैं जो विश्व के आधार हैं या जिनका मूल्य मानव–जीवन के लिए सर्वाधिक है। केवल अनैंद्रिय अनुभूति द्वारा, जिसे रहस्यानुभूति या आध्यात्मिक अनुभूति भी कह सकते हैं, ही प्राप्त हो सकता है। यदि इस व्यापक अर्थ में अनुभववाद को लिया जाय तो कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, श्री अरविन्द,रवीन्द्रनाथ ठाकुर, राधाकृष्णन, आदि को भी अनुभववादी कहना पड़ेगा। ये सभी विचारक ज्ञान के निर्माण में अनुभव, आध्यात्मिक अनुभव, को बुद्धि से अधिक महत्त्व देते हैं। यह तो सभी अनुभववादियों के विषय में सत्य है कि वे बुद्धि को अनुभव से नीचा स्थान देते हैं। बुद्धि के प्रति उनकी अश्रद्धा अवश्य रहती है, किन्तु उस अश्रद्धा की मात्रा सब में एक समान नहीं मिलती जिससे उनमें आपसी मतभेद होने लगता है। उनका आपसी मतभेद इस विषय में भी होता है कि किस प्रकार का अनुभव सर्वश्रेष्ठ ज्ञान दे सकता है।

परंपरागत अनुभववाद का संकीर्ण अर्थ भी होता है, जो अधिक प्रचलित है। इस अर्थ में अनुभव का अर्थ होता है ऐंद्रिय अनुभव। अर्थात् जो दार्शनिक संकीर्ण अर्थ में अनुभववादी है यह मानता है कि ज्ञान की, अर्थात् ज्ञान के आदि तत्त्वों की, उत्पत्ति ऐन्द्रिय अनुभवों द्वारा होती है। इस मत के मानने वालों में कुछ तो इतने उग्र होते हैं जो कहते हैं कि सभी प्रकार के ज्ञान, तथ्यगत या धारणात्मक, केवल अनुभव से ही प्राप्त हो सकते हैं। इनके लिए ज्ञान के निर्माण में बुद्धि की देन अत्यन्त ही कम है। कुछ दूसरे, जो अपने विचारों में उदार होते हैं, मानते हैं कि तथ्य–विषयक ज्ञान का उद्गम अनुभव अवश्य है, किन्तु धारणा–विषयक ज्ञान बौद्धिक विश्लेषण द्वारा ही सम्पन्न होता है। तथ्यगत–ज्ञान के विषय में भी दो मत हैं; एक के अनुसार अनुभव से ज्ञान के मूल, निर्मायक, तत्त्व मिलते हैं, उनके बीच संबंध स्थापित कर प्रतिज्ञाओं या निर्णयों की स्थापना करना, जिन्हें वाक्यों द्वारा व्यक्त किया जाता है, बुद्धि का काम है। दूसरे मत के अनुसार ज्ञान के मूल खंडों को ही नहीं बल्कि निर्णयों को भी इस अनुभव से ही प्राप्त करते हैं। बुद्धि निर्णयों की स्थापना नहीं करती, बल्कि अनुभव से प्राप्त निर्णयों के ढेर को सजाकर उसे समष्टि का रूप देती है। जो धारणात्मक ज्ञान को बुद्धिजन्य मानते हैं उनका कहना है कि अनुभव से वस्तुओं का, तथ्यों का ज्ञान प्राप्त होता है। क्या वास्तविक है और क्या वास्तविक नहीं है, यह ज्ञान इंद्रियों द्वारा ही मिल सकता है। हमारी धारणाएँ अनुभवों के आधार पर ही बनती हैं, किन्तु उनका विश्लेषण करना और उनके बीच स्थित विभिन्न प्रकार के संबंधों को ढूंढ निकालना बुद्धि का काम है। तर्कशास्त्र और गणित के वाक्य धारणाओं के सम्बन्धों को व्यक्त करते हैं, इसलिए इन दोनों में बुद्धि का बड़ा हाथ रहता है।

अनुभववाद का एक आधुनिक अर्थ भी है जिस अर्थ में उन विचारकों को अनुभववादी कहते हैं जो अपने दार्शनिक अन्वेषण में विश्लेषण की पद्धति का प्रयोग करते हैं। इसी अर्थ में 'अनुभववाद' का प्रयोग पश्चिमी दर्शन के सुप्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय तार्किक अनुभववाद के संबंध में किया जाता है। इस प्रकार के अनुभववादियों में अधिकांश ऐसे हैं जो दर्शन को भाषा–विश्लेषण मानते हैं, हालांकि विश्लेषण के स्वरूप के विषय में उनमें एकमत नहीं है।

यहाँ हम भारतवर्ष के उन अर्वाचीन दार्शनिकों के विचारों की चर्चा करेंगे जो परंपरागत अनुभववाद के संकीर्ण अर्थ में अनुभववादी हैं, या जो आधुनिक अर्थ में अनुभववादी हैं, अर्थात् जो दार्शनिक विश्लेषक है। ऐसे विचारकों की संख्या अत्यन्त ही कम है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रतिष्ठित दार्शनिकों में अधिकांश प्रत्ययवादी हैं। और भारतीय प्रत्ययवादी य़द्यपि बुद्धिवादी नहीं हैं फिर भी वे ऐंद्रिय अनुभव को नहीं बल्कि आध्यात्मिक अनुभव को सर्वाधिक गौरव देते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में जहाँ कहीं 'अनुभववाद' शब्द का प्रयोग किया जायेगा उससे परंपरागत अर्थ में संकीण अनुभववाद का या वैश्लेषिक दर्शन का प्रसंगानुसार बोध करना चाहिए। वैश्लेषिक दार्शनिकों की संख्या भी अभी बहुत अधिक नहीं है किन्तु बढ़ रही है और इस क्षेत्र में भी भारतीय विचारक, विशेष कर तरूण विचारक, काफी लगन के साथ मौलिक अनुसंधान कर रहे हैं।

1. श्री मानवेन्द्र नाथ राय–

आधुनिक युग के भारतीय विचारकों में श्री राय बड़े ही उग्र प्रकार के अनुभववादी एवं भौतिकवादी हैं। उनके अनुसार दर्शन का मुख्य लक्ष्य है प्रकृति की, जगत् की, व्याख्या करना। इस लक्ष्य की सिद्धि तब होती है जब वस्तुओं के वास्तविक रूप का ज्ञान प्राप्त होता है। जो जैसा है उसे उसी रूप में जानना शुद्ध ज्ञान है। इस प्रकार, यदि दार्शनिक अन्वेषण ठीक–ठीक किया जाये तो उसका निष्कर्ष, श्री राय का दावा है, भौतिकवाद ही होगा। वे कहते हैं कि दर्शन भौतिकवादी ही हो सकता है और भौतिकवाद के रूप में ही, सच्चे अर्थ में, दर्शन की संभावना मानी जा सकती है। भौतिकवाद के अनुसार, प्रकृति की सारी चीजों की उत्पत्ति भूत से होती है, भूत के अतिरिक्त अन्य कोई चीज वास्तविक नहीं है, और दुनियाँ की सारी प्रतीतियाँ भूत के विभिन्न विश्लेषण या परिवर्तित रूप मात्र हैं। यह क़हने की आवश्यकता नहीं है कि श्री राय का यह मत पक्षपात पूर्ण है। यह कहना कि केवल भौतिकवाद ही संभव दार्शनिक मत है, दर्शन के इतिहास को देखते हुए कतई न्यायसंगत नहीं लगता है। भौतिकवाद की स्थापना में निहित तार्किक दोष भी अब तक लोक–प्रसिद्ध हो गए हैं।

श्री राय ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष को ज्ञान का आदि स्रोत मानते हैं। उनका कहना है कि भौतिकवाद के आधारभूत सिद्धान्तों में यह भी एक है। किसी प्रकार के जन्मजात प्रत्ययों में वे विश्वास नही करते। चैतन्य बाहरी वस्तुओं से बिलकुल स्वतंत्र होकर नहीं रह सकता। ऐंद्रिय प्रत्यक्ष में हमें अपने संवेदनों का नहीं बल्कि वस्तुओं का ज्ञान होता है। हमारे प्रत्यक्ष वस्तुओं के वास्तविक रूप का ज्ञान कराते हैं और प्रत्यक्षों और उनके विषयभूत वस्तुओं में समरूपता का संबंध रहता है। कुछ लोग यह शंका करते हैं कि प्रत्यक्षों और वस्तुओं में समरूपता कैसे हो सकती है। इस शंका का समाधान बड़ा ही सहज है। जब हम अपने प्रत्यक्षों के द्वारा मिले ज्ञान के आधार पर आचरण करते हैं तो प्रत्यक्ष–ज्ञान और वस्तुओं में विद्यमान समरूपता पूर्णतः प्रमाणित हो जाती है। जब तक इसके केवल विचारों में बंधे रहते हैं तभी तक इसमें अविश्वास कर सकते हैं। इसलिए अनुभववाद का निषकर्ष न तो संशयवाद है न आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद। मन से स्वतंत्र पदार्थों के अस्तित्व में हमारे विश्वास को अनुभव प्रमाणित एवं पुष्ट करता है, खंडित नहीं।

श्री राय मानते हैं कि बाहरी वस्तुएँ हमारे अंदर प्रत्यक्ष नहीं बल्कि संवेदन उत्पन्न करती हैं और इन संवेदनों के फलस्वरूप प्रत्यक्ष हमें होता है। यहाँ वे मानते हैं कि पहले संवेदन और तब प्रत्यक्ष होता है। किन्तु यह आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसंधानों और प्रयोगों द्वारा समर्थित मत नहीं है। मनोविज्ञान का सुप्रतिष्ठित मत है कि हमें प्रत्यक्ष ही होते हैं, ज्ञान के सरलतम खंड प्रत्यक्ष हैं। संवेदन तो काल्पनिक है– प्रत्यक्षों के विश्लेषण से हम उन्हें अलग करते हैं। मन के भी विषय में श्री राय का मत है कि वह संवेदनों की ओर जो प्रतिक्रिया होती है उसी से उत्पन्न होता है। इसका तो मतलब यह हुआ कि संवेदन

की ओर प्रतिक्रिया करने के पूर्व मन का अस्तित्व ही नहीं होता। इस हालत में यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि कोई संवेदन अनुभूत होता है। इसलिए मन की उत्पत्ति के विषय में राय का मत तर्कसंगत नहीं है।

श्री राय का कहना है कि अनुभव से वस्तुओं का ज्ञान होता है, प्रत्यक्षों का नहीं। प्रत्यय अनुभव से उत्पन्न होते हैं। प्रत्यय मानसिक चित्र हैं, वे हमारे वस्तु–ज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हैं, वस्तुओं का नहीं। इसलिए प्रत्ययों सें वस्तुओं को हम अनुमित नहीं करते– वस्तुओं का तो सीधा ज्ञान होता है। ज्ञान प्रत्ययों का संघात नहीं है,ऐसा नहीं कि पहले प्रत्ययों को हम प्राप्त करते हैं और तब ज्ञान को। बल्कि पहले ज्ञान होता है और ज्ञान से प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। यहाँ यह समझ में नहीं आता कि प्रत्ययों का क्या काम है? जब ज्ञान वस्तुओं का होता है और वस्तु–ज्ञान प्रत्ययों से अनुमित नहीं है, तो प्रत्यय क्यों उत्पन्न होते हैं। इस तरह श्री राय की ज्ञानमीमांसा में प्रत्यय अनावश्यक से लगते हैं।

श्री राय के अनुसार सभी वस्तुओं का ज्ञान होना आवश्यक नहीं हैं , अज्ञात होने से किसी वस्तु का अस्तित्व नष्ट नहीं होता। सभी ज्ञात वस्तुएँ वास्तविक होती हैं, किन्तु सभी वास्तविक वस्तुओं का ज्ञान होना आवश्यक नहीं। फिर यह भी आवश्यक नहीं कि सम्पूर्ण वास्तविक वस्तु ज्ञात हो जाय। वस्तुओं का ज्ञान मन पर आश्रित है, किन्तु इससे यह नहीं प्रमाणित होता कि ये मानसिक हैं या मन से अभिन्न हैं। मनँ और बाह्य विश्व के बीच संबंध होने से ज्ञान होता है। इसलिए ज्ञान की संभावना और व्याख्या के लिए मन और विश्व दोनों को वास्तविक मान लेना अनिवार्य है। साथ ही साथ ज्ञान अनुभवजन्य है चाहे वह धारणात्मक हो या गणित–शास्त्रीय हो। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि राय ने यह बतलाने की चेष्टा नहीं की है कि गणित का ज्ञान किस प्रकार अनुभवजनित है, जबकि अनुभववादियों के लिए यह बड़ी ही महत्त्वपूर्ण समस्या है। वे सारे ज्ञान को अर्जित मानते हैं; वे कहते हैं कि मनुष्य ज्ञान को प्राप्त करता है, जन्मजात संपत्ति के रूप में नहीं रखे रहता। अनुभव से ज्ञान के आदि–खंड मिलते हैं। उनको सजाकर, समष्टि का रूप देकर, मन ज्ञान–प्रक्रिया को पूर्ण करता है।

2. प्रो. जी.सी. चटर्जी –

प्रो. चटर्जी दर्शन की परंपरागत परिभाषा मानते हुए अनुभववाद का समर्थन करते हैं। दार्शनिक चिन्तन, उनके अनुसार, मनुष्य इसलिए करता है कि वह चाहता है अपने को और विश्व को अच्छी तरह समझना। दार्शनिक चिन्तन का उदय अनुभव से होता है और अनुभव के आधार पर ही किसी भी दर्शन की प्रमाणिकता की परीक्षा होती है। अनुभव से प्रो.चटर्जी का मतलब है व्यक्तियों के वास्तविक अनुभव से, किसी सार्वभौम या दैवी अनुभव से नहीं। यदि किसी दार्शनिक मत का यह निष्कर्ष होता हो कि किसी वास्तविक अनुभव को अवास्तविक करार करना पड़े, या किसी अनुभव को जैसा वह वस्तुतः है वैसा नहीं माना जा सके, तो इसका अर्थ है कि वह दार्शनिक मत गलत है, यह नहीं कि अपने अनुभवों

के प्रति जो हमारी श्रद्धा है वह अवांछनीय है। बुद्धि या बौद्धिक अन्वेषण द्वारा सत्ता–वास्तविकता–का ज्ञान नहीं हो सकता है। सत्ता–ज्ञान केवल अनुभव से हो सकता है। हेगल की यह गलती थी कि उसने बुद्धि को ही सत्ता–ज्ञान प्रदान करने की क्षमता से युक्त मान लिया था।

अनुभवों का स्वभाव ऐसा है, प्रो. चटर्जी कहते हैं, कि वे अपने से भिन्न वस्तुओं की सत्ता को प्रमाणित करते हैं। हमारे अनुभव दुनियाँ को विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की सत्ता में विश्वास करने के लिए पर्याप्त कारण प्रस्तुत करते हैं। हम अनुभव करते हैं, इसी से प्रमाणित होता है कि संसार में अनेक प्रकार के पदार्थ विद्यमान हैं। हर एक अनुभव का संबंध उससे भिन्न किसी पदार्थ से रहता है और उस पदार्थ के अवास्तविक होने पर उसका मूल या वास्तविक रूप सुरक्षित नहीं रह सकता। प्रो.चटर्जी के लिए हर एक अनुभव के लिए कम–से–कम दो चीजों की आवश्यकता है, जिनमें एक विषयी, अनुभव करने वाला है, और दूसरा है विषय, जिसका अनुभव होता है। इन दोनों में से किसी एक के अभाव में अनुभव का होना संभव नहीं हो सकता। अनुभवों के कई प्रकार होते हैं और भिन्न–भिन्न अनुभवों की विषयीभूत वस्तुएँ भी भिन्न–भिन्न होती है। किन्तु हर एक अनुभव इस बात का प्रमाण है कि जो उसका विषय है वह वास्तविक, सत्तावान है। जिन वस्तुओं का हमें बौद्धिक ज्ञान होता है, जिन्हें हम किसी प्रकार के अनुभव का विषय बनाते हैं, जो हमारी इच्छाओं–अभिलाषाओं के विषय बन सकते हैं, वे सभी वस्तुएँ हमारे मन की उपज नहीं बल्कि स्वतंत्र सत्ता रखती हैं। यदि इनकी स्वतंत्र सत्ता अस्वीकार कर दी जाये तो इन अनुभवों की व्याख्या नहीं हो पायेगी। यदि मुझे नीले रंग का प्रत्यक्ष हो रहा है तो नीला रंग मेरे मन का प्रत्यय, या मानसिक किया नहीं है। यह मन से स्वतंत्र एक पदार्थ है, जिसके बिना नीले रंग के प्रत्यक्ष की व्याख्या नहीं हो सकती। और यदि इस प्रकार के प्रत्यक्षों के विषयभूत रंगों का अस्तित्व न माना जाय तो नीले और लाल रंगों के प्रत्यक्षों में जो भेद है उसके लिए भी हम कोई कारण नहीं बता पाएंगे। इसी तरह, रागात्मक अनुभवों के विषयों को भी सत्तावान् मानना आवश्यक है। जब मुझे क्रोध का अनुभव होता है तो अवश्य ही कोई न कोई व्यक्ति या पदार्थ रहता है जिसके प्रति मैं क्रोध करता हूँ। यदि मैं जान जाऊँ कि वह व्यक्ति या पदार्थ नहीं है, तो मेरा क्रोध काफूर हो जायगा।

प्रो. चटर्जी का अनुभव का विश्लेषण इस बात को मानकर चलता है कि हर एक प्रकार के अनुभव में एक ऐसा संबंध स्थापित होता है जिसके द्वारा संबंधित दोनों पदों का वास्तविक होना आवश्यक है। किन्तु ऐसा मान लेना न्याय–संगत नहीं है। कभी–कभी ऐसा होता है कि प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थ भी अवास्तविक होते हैं। भ्रम में यही होता है कि जिसे हम प्रत्यक्ष करते हैं वह सत्तावान् नहीं रहता। इच्छाओं के साथ यह और भी स्पष्ट है कि जिस वस्तु को हम चाहते हैं उसका वास्तविक होना बिलकुल अनिवार्य नहीं है। कोई नवयुवक चाह सकता है कि उसकी शादी उस लड़की से हो जिसमें सभी प्रकार की

सुन्दरताएँ विद्यमान हों। ऐसा वह तब भी चाह सकता है जबकि दुनियाँ में ऐसी कोई लड़की न हो। इसलिए यह कहना कि चाहने के अनुभव के विषयभूत पदार्थ अवश्य ही वास्तविक होते हैं, गलत हैं।

प्रो. चटर्जी उन सभी वस्तुओं को वास्तविक मानते हैं जिनके अस्तित्व का अनुभव होता है। इसलिए प्रत्ययवाद और भौतिकवाद दोनों को वे गलत समझते हैं। प्रत्ययवाद केवल मन और मन के प्रत्ययों को वास्तविक मानता है। उसके अनुसार संसार की सभी चीजें मानसिक या चेतन हैं। भौतिकवाद सभी चीजों को भौतिक मानता है। किन्तु, प्रो. चटर्जी कहते हैं जब हमें मानसिक और भौतिक दोनों प्रकार के पदार्थों का अनुभव होता है तो उनमें से किसी एक प्रकार के पदार्थों को ही वास्तविक मानना उचित नहीं है। अनुभव हमें बतलाता है कि दुनियाँ में अनेक भौतिक पदार्थ और अनेक मन विद्यमान हैं। दर्शन का यह एक बड़ा जटिल प्रश्न रहा है कि हमें यह ज्ञान कैसे होता है कि मुझसे भिन्न और भी कई मन या मानसिक पदार्थ दुनियाँ में है। प्रो. चटर्जी इस प्रश्न का सीधा उत्तर देते हैं, कि यह ज्ञान भी अनुभव से होता है। वे यह नहीं बतलाते कि किस प्रकार यह कार्य अनुभव संपन्न करता है, न इस प्रश्न की पेचीदगियों में ही वे पड़ते हैं।

मूल्यों के विषय में प्रो. चटर्जी का मत है कि वे पदार्थों के वस्तुनिष्ट गुण हैं, मानसिक,या मन पर आश्रित नहीं है। उनके वस्तुनिष्ट होने का ज्ञान भी अनुभव से ही होता है। किन्तु प्रो. चटर्जी यह नहीं बतलाते कि मूल्य–ज्ञान देने वाला अनुभव अन्य अनुभवों से कैसे भिन्न है, न वे यही बतलाते हैं कि मूल्य पदार्थों के अन्य वस्तुनिष्ठ गुणों से कितने समान हैं। ये दोनों प्रश्न बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और मूल्य–शास्त्र में इनकी छान–बीन कई दृष्टियों से की गई है।

3. प्रो. निकुन्ज बिहारी बनर्जी –

प्रो. बनर्जी का ज्ञानशास्त्रीय सिद्धान्त बड़ा ही जटिल है जिसका सारांश संक्षेप में देना कठिन है। वे वस्तुवादी हैं क्योंकि ज्ञेय की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास करते हैं, उसे ज्ञाता पर आश्रित या ज्ञाता से अभिन्न नहीं मानते। शायद उन्हें पूर्ण रूपेण अनुभववादी नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि उनके चिन्तन में अनुभववादी प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं।

विश्व की व्याख्या करना दर्शन और विज्ञान दोनों का अभीष्ट प्रो. बनर्जी मानते हैं, किन्तु उनका कहना है कि विश्व जिस रूप में है उसकी उसी रूप मैं व्याख्या विज्ञान ही देता है। दार्शनिक व्याख्या का ध्यान इस पर रहता है कि विश्व को किस प्रकार का होना चाहिए। इसलिए दर्शन का ध्यान मूल्यों की ओर अधिक रहता है। विश्व के यथार्थ रूप की व्याख्या विज्ञान देता है और वैज्ञानिक व्याख्या की आधारशिला है हमारा साधारण ज्ञान। विश्व को हम अपने साधारण अनुभव के द्वारा जानते हैं और जो चित्र हमारा अनुभव प्रस्तुत करता है उसी से विज्ञान आरंभ करता है। अनुभव हमें बतलाता है कि ज्ञाता और

ज्ञेय दोनों वास्तविक हैं और यह भी कि सभी ज्ञात वस्तुएँ मानसिक या मन पर आश्रित नहीं हैं। इसलिए प्रो. बनर्जी का वस्तुवाद एक तरह से उनके अनुभववाद पर ही आश्रित है।

वैज्ञानिक ज्ञान और हमारे साधारण ज्ञान में अन्तर है, किन्तु द्वैत या वास्तविक विरोध नहीं। हमारा साधारण ज्ञान अनेक अंधविश्वासों और पक्षपातों से भरा रहता है, उसमें कई तरह के आंतरिक विरोध भी मिलते हैं। वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा उसके विरोधों को हटा कर उसे परिमार्जित और तर्कसंगत किया जाता है। इसलिए यह कहना कि वैज्ञानिक और साधारण ज्ञान दो प्रकार के हैं,गलत है, बल्कि यह कहना चाहिए कि वैज्ञानिक ज्ञान साधारण ज्ञान को परिमार्जित और क्रमबद्ध करता है।

विश्व को समझने के लिए अनुभव अनिवार्य है। प्रो. बनर्जी कहते हैं कि बिना अनुभव का सहारा लिए प्रागनुभविक, केवल बुद्धिजन्य, धारणाओं द्वारा विश्व के यथार्थ रूप की व्याख्या संभव नहीं है, और जो दार्शनिक ऐसा संभव मानते हैं वे भ्रम में हैं। किन्तु कुछ चीजें ऐसी भी है जिसका हम अनुभव तो नहीं करते किन्तु उन्हें सत्य मानना आवश्यक है, क्योंकि बिना उनको स्वीकार किये अनुभव की व्याख्या नहीं दी जा सकती। इस प्रकार के पदार्थों में आत्मा, ज्ञाता, एक है। इसी तरह प्राकृतिक नियमों का अनुभव हमें नहीं होता, फिर भी उनको मानना आवश्यक है क्योंकि अनुभूत विश्व की व्याख्या के लिए वे अपेक्षित हैं।

4. प्रो. के. सच्चिदानन्द मूर्ति –

प्रो. मूर्ति ने धर्म की अनुभववादी व्याख्या प्रस्तुत की है। धर्म–भावना की अनुभववादी आधार पर व्याख्या करना प्रो. मूर्ति के दार्शनिक अन्वेषण की विशेषता है। सम्भवतः दूसरे किसी समकालीन भारतीय दार्शनिक ने ऐसा विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया है।

धार्मिक अनुभूति भावना–प्रधान होती हैं या ज्ञान–प्रधान, इस प्रश्न पर दार्शनिकों में बड़ा वाद–विवाद हुआ है। अधिकांश दार्शनिक उसे भावना–प्रधान मानते हैं। किन्तु प्रो. मूर्ति का कहना है कि यद्यपि उसमें भावना का अंश रहता है फिर भी वह तत्त्वतः ज्ञान–प्रधान ही है। भावनाओं की देन भी महत्त्वपूर्ण है, वे हमें कुछ ऐसी चीजों की ओर उन्मुख करती हैं जिन्हें हम अन्यथा नहीं देखते। यह भी कहा जा सकता है कि जो ज्ञान हमें धार्मिक अनुभूति में होता है उसकी प्राप्ति में भावनाओं का हाथ रहता है। फिर भी धार्मिक अनुभूति ज्ञान–प्रधान ही होती है। यह ठीक है कि धार्मिक व्यक्ति अपने को किसी पर निर्भर या अवलम्बित पाता है या किसी की आराधना करता है। किन्तु इसका मतलब है कि उसे यह ज्ञान है कि कोई है, जिस पर वह अवलम्बित है या जो उसका आराध्य है। धार्मिक अनुभूति का लक्ष्य ज्ञात–ईश्वर का दर्शन है, आचरण नहीं। नैतिक आचरण सम्यक् दर्शन का साधक हो सकता है, किन्तु उसे धर्माचरण से अभिन्न नहीं माना जा सकता। यह भी संभव है कि किसी सच्चे धार्मिक व्यक्ति का आचरण नैतिक दृष्टि से श्लाध्य नहीं हो।

धार्मिक अनुभूति को ज्ञान–प्रधान मानते हुए भी प्रो. मूर्ति उस ज्ञान को वैज्ञानिक

ज्ञान से भिन्न मानते हैं। यह ज्ञान उन रास्तों से नहीं आता जिससे वैज्ञानिक ज्ञान आता है। यह तो उस प्रकार का ज्ञान है कि अन्य व्यक्तियों के साहचर्य के अनुभव से उत्पन्न होता है या जो संगीत के आस्वादन से स्फुटित होता है। संगीत एक विशिष्ट प्रकार की अनुभूति पैदा करता है और कुछ ऐसे प्रत्ययों को पैदा करता है जो आपाततः अस्पष्ट या छायामय होता है। इसी तरह के प्रत्यय धार्मिक अनुभूति में विद्यमान रहते हैं। इनको भाषा में व्यक्त करना बड़ा कठिन होता है और लाख प्रयत्न करने पर भी इनकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। यह आवश्यक भी नहीं कि हमारी सभी अनुभूतियाँ पूर्णरूपेण भाषाबद्ध की जा सकें– अनुभूतियों का दायरा भाषा से अधिक व्यापक है। भाषा अनुभूतियों का अनुसरण करती हैं, न कि अनुभूतियाँ भाषा का। धार्मिक अनूभूति की परिभाषा संभव नहीं, न उसका बिलकुल सही विवरण ही दिया जा सकता है। हम केवल उसकी तुलना और अनुभूतियों से कर सकते हैं और बतला सकते हैं कि वह किन–किन दृष्टियों से उनके समान है और किन–किन दृष्टियों से उनसे भिनन हैं। यही कारण है कि धर्म की परिभाषा विचित्रता से भरी होती है।

धार्मिक अनुभूति में धार्मिक सत्ता–ईश्वर का भान होता है इसलिए कि ईश्वर अपने को प्रकाशित, व्यक्त करता है। किसी भी तथ्य का ज्ञान तभी होता है जब वह अपने को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। ईश्वर सर्वान्तर्यामी है, इसलिए हम से बिलकुल अलग या भिन्न नहीं है। इसलिए वह खुद अपने को हमारी अनुभूति में व्यक्त करता है। ईश्वर की जो अभिव्यक्ति हमारे अन्दर होती है, या उसके विषय में जो ज्ञान धार्मिक अनुभूति में हम प्राप्त करते हैं, वह उसी प्रकार का है जैसा ज्ञान कलाकारों और चिन्तकों को होता है, जब उन्हें सृजनात्मक अनुभूति होती है। कलाकार देखते हैं कि यकायक उन्हें कोई नयी ज्योति मिल जाती है, कोई नई धारणा उनके अन्दर घर कर लेती है, जिसे बहुत परिश्रम करने पर भी वे न पा सके थे और जिसे पूर्वकालीन अनुभवों के आधार पर केवल अनुमान द्वारा भी नहीं पाया जा सकता था। व्यक्ति अपनी अनुभूति के फलस्वरूप अपने को समुन्नत, जाग्रत, पाता है और उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व परिवर्तित हो जाता है– उसे एक ऐसी सत्ता का भान होता है जिसके सम्पर्क में आने से वह अपने को बिलकुल बदला हुआ पाता है।

धार्मिक अनुभूति को बुद्धि के नियमों में जकड़ा नहीं जा सकता। कुछ लोग कहते हैं कि यदि धार्मिक विश्वास अबौद्धिक या बुद्धि के विरोधी भी हों तो कोई हर्ज नहीं। प्रो. मूर्ति का कहना है कि यदि वे वस्तुतः अबौद्धिक हैं तो उन्हें ग्राह्य नहीं कहा जा सकता। यदि बौद्धिक विश्लेषण उन्हें व्याघातों से पूर्ण बतलावे तो उन्हें नहीं स्वीकार करना चाहिए। इसलिए अद्वैत वेदान्त के कई धार्मिक सिद्धान्तों को वे स्वीकार नहीं करते क्योंकि उन्हें वे बुद्धि–विरोधी पाते हैं। स्वीकार्य धार्मिक विश्वास, प्रो. मूर्ति के अनुसार, बुद्धि के विरोधी नहीं बल्कि बुद्धि की पहुँच से बाहर रहते हैं– बुद्धि उन पर निर्णय नहीं दे सकती, इसलिए उन्हें बुद्धि–विरोधी भी नहीं कहा जा सकता। बुद्धि के प्रयोग से उनकी परीक्षा नहीं हो सकती।

बुद्धि धार्मिक अनुभूति को उत्पन्न नहीं कर सकती, वह उसकी व्याख्या या स्पष्टीकरण में केवल सहायक हो सकती है। बौद्धिक तर्क ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित नहीं कर सकते–ईश्वर की सत्ता में विश्वास तो बुद्धि की एक मान्यता है। ईश्वर में विश्वास रखना इसलिए आवश्यक है क्योंकि हमारी सारी अनुभूतयाँ इस विश्वास के बिना सार्थक नहीं बनाई जा सकती। जो विश्वास या सिद्धान्त अनुभव द्वारा समर्थित नहीं उसे भी सत्य नहीं कहा जा सकता। इसलिए अद्वैत वेदान्त के तत्त्वशास्त्र को प्रो. मूर्ति इस दृष्टि से दोषपूर्ण बतलाते हैं।

5. प्रो. प्रवास जीवन चौधरी –

प्रो. चौधरी न तो पूर्णरूपेण अनुभववाद का समर्थन करते हैं, न दर्शन को भाषा या धारणाओं का विश्लेषण मानते हैं, फिर भी उनके कतिपय विचारों की चर्चा यहाँ की जा रही है, क्योंकि उन्होंने आधुनिक वैश्लेषिक पद्धति का प्रयोग अपने दार्शनिक अन्वेषणों में किया है। यहाँ हम दो समस्याओं के विषय में उनके विचारों को प्रस्तुत करेंगे। वे हैः प्रत्यक्ष द्वारा अगृहीत पदार्थों का अस्तित्व और द्रव्य का स्वरूप।

दर्शन के इतिहास में इस पर बड़ा वाद–विवाद हुआ है कि जिस वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है उसे हम सत्तावान् कह सकते हैं या नहीं ? कुछ विचारक मानते हैं कि उसे सत्तावान् नहीं कह सकते, जबकि दूसरे मानते हैं कि उसे सत्तावान कह सकते हैं। मैं अपनी जेब में एक रूपया डाल देता हूँ। डाल देने के बाद मैं रुपये को नहीं देख रहा हूँ। इसलिए प्रश्न है, क्या वह रूपया जेब में है या नहीं है ? मैं गंभीरतापूर्वक उसके अस्तित्व में शंका नहीं करता– मुझे विश्वास है कि वह जेब में है। किन्तु प्रश्न है कि यह विश्वास कहाँ तक न्याय–संगत है ? यह प्रश्न प्रो. चौधरी के अनुसार आनुभविक या तथ्यात्मक नहीं हैं। यदि यह तथ्यात्मक होता तो इसका समाधान बहुत पहले ही हो गया रहता, क्योंकि जिन दार्शनिकों में इसके संबंध में मतभेद रहा है उनकी न तो अनुभव की शक्तियाँ दोषपूर्ण थीं, न उनमें ईमानदारी की कमी थी कि अनुभव द्वारा सही समाधान प्राप्त हो जाने पर भी वे आपस में झगड़ते रहते। और तथ्य–संबंधी प्रश्नों का उत्तर विज्ञान संभाव्य वाक्यों द्वारा देता है। इसलिए यह प्रश्न यदि तथ्यात्मक होता तो इसका उत्तर देना विज्ञानों का कर्त्तव्य होता, दर्शन का नहीं। जिस वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है उसके अनुभूत रहते ही यह जानना कि वह सत्तावान् है या सत्ता–शून्य, असंभव है। इसलिए यदि कोई प्रश्न करे कि वह अननुभूत वस्तु है या नहीं है, तो इसका स्वीकारात्मक या नाकारात्मक किसी प्रकार का उत्तर संभव नहीं है। अनुमान द्वारा भी कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमान भी भूतकालीन प्रत्यक्षों पर आश्रित रहता है। प्रो. चौधरी के अनुसार यह प्रश्न भाषीय है, हम इसे उठाते हैं इसीलिए कि 'वस्तु' और 'सत्ता' शब्दों की निश्चित परिभाषाएँ हमारे पास नहीं हैं, क्योंकि ये शब्द बहुत–कुछ अस्पष्ट या अनेकार्थक हैं। इसलिए आवश्यकता है परिभाषाओं द्वारा या विश्लेषण द्वारा इन शब्दों के अर्थों को स्पष्ट और निश्चित करने की।

द्रव्य के विषय में प्रो. चौधरी का मत है कि द्रव्य न तो वस्तु है न वस्तुओं के भीतर विद्यमान कोई अननुभूत पदार्थ, न गुणों का संघात मात्र। वह तो एक नियम का संकेत करता है जिसके अनुसार साथ रहने वाले गुणों को एक सूत्र में पिरोया जा सकता है। द्रव्य–नियम में कोई आवश्यंभाविता नहीं है। इसलिए द्रव्य को अक्षर या चिरंतन नहीं कहा जा सकता है, यदि इसे परंपरागत परिभाषा का रूप दे दिया जाय। द्रव्य विषयक तत्त्वशास्त्रीय सिद्धान्त तार्किक या भाषीय मूलों पर आश्रित हैं, य़द्यपि द्रव्य के रूप को समझने के लिए केवल भाषा का ही नहीं बल्कि तथ्यों का विश्लेषण आवश्यक है।

6. प्रो. दयाकृष्ण –

प्रो. दयाकृष्ण वैश्लेषिक दार्शनिक हैं। वे मानते हैं कि दर्शन का लक्ष्य विश्लेषण हैं, वे कहते हैं कि दर्शन धारणाओं का विश्लेषण है। इस कथन से उनका मतलब हैं कि दर्शन को धारणाओं का ही विश्लेषण करना चाहिए। दार्शनिक विश्लेषण, उनके अनुसार, भौतिक या रासायनिक विश्लेषण नहीं है–दार्शनिक का लक्ष्य किसी भौतिक या रासायनिक तत्त्व का विश्लेषण करना नहीं है जैसाकि कोई भौतिक या रसायनशास्त्र का विशेषज्ञ करता है। दार्शनिक विश्लेषण साहित्यालोचन में किए गए विश्लेषण के समान भी नहीं है। यह भाषा विश्लेषण भी नहीं, क्योंकि दर्शन भाषा–विज्ञान नहीं है। दार्शनिक विश्लेषण धारणात्मक विश्लेषण है।

विश्लेषण को दार्शनिक पद्धति मानने पर प्रश्न होता है कि उसका विषय क्या है? वह किस चीज़ का विश्लेषण करता है? दयाकृष्ण कहते हैं कि वह धारणा–सम्बन्धी समस्याओं का विश्लेषण करता है। इसका यह मतलब हुआ कि दार्शनिक अन्वेषण के विषय धारणाएँ और उनसे उत्पन्न समस्याएँ हैं। किन्तु धारणाओं का अध्ययन तो मनोविज्ञान भी करता है। इसलिए दर्शन और मनोविज्ञान के अंतर को बनाए रखने के लिए दोनों की प्रणालियों में अंतर मानना पड़ेगा। धारणाओं का विश्लेषण मनोविज्ञान भी करता है, इसलिए यह बतलाना आवश्यक है कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दार्शनिक विश्लेषण से किस प्रकार भिन्न है। दयाकृष्ण इस भिन्नता को संतोषजनक रूप में नहीं बतला पाए हैं। वे कहते हैं कि जब हम धारणाओं के विषय में चिन्तन करने लगते हैं तो दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती है। ये समस्याएँ विशेषकर तब पैदा होती है जब किसी धारणा को हम दुर्बोध पाते हैं या किसी दूसरी धारणा के साथ उसकी असंगति देखते हैं। इसलिए, दार्शनिक चिंतन का उदय वस्तुओं के स्वरूप को स्थिर करने की चेष्टा से नहीं बल्कि धारणाओं को समझने की चेष्टा से होता है। इससे स्पष्ट है कि परंपरागत अर्थ में जिसे तत्त्वशास्त्र कहते हैं, जिसका लक्ष्य वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना है, उसका महत्त्व दार्शनिक अन्वेषण में, दयाकृष्ण के लिए, बहुत ज्यादा नहीं हो सकता। बल्कि, यदि तत्त्वशास्त्र को दर्शन के क्षेत्र से हटा दिया जाय तो विशेष हानि नहीं होगी।

दर्शन को दयाकृष्ण बुद्धि–प्रधान मानते हैं,और कहते हैं कि वह रागात्मक या

क्रियात्मक नहीं है। दर्शन ज्ञानात्मक है, ज्ञान का साधन है, आनन्दानुभूति नहीं। किन्तु दार्शनिक ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान भी नहीं है। विज्ञान की पद्धति में अभ्युपगम बनाए जाते हैं और उनको अनुभव और प्रयोग द्वारा प्रमाणित कर लेने पर ही सत्य माना जाता है। दर्शन गणित और तर्कशास्त्र से भी भिन्न है। दार्शनिक ज्ञान प्रातिभ ज्ञान या प्रज्ञात्मक ज्ञान से भी भिन्न है। प्रज्ञात्मक ज्ञान प्राप्त करने वाला संत या कलाकार हो सकता है, किन्तु दार्शनिक नहीं। दार्शनिक अन्वेषण में प्रज्ञा सहायक हो सकती है, किन्तु दार्शनिक ज्ञान के मुख्य साधन के रूप में उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

दार्शनिक प्रश्न वस्तु–विषयक नहीं होते यद्यपि वे वस्तु–विषयक लगते अवश्य हैं। दयाकृष्ण का कहना है कि उनके लिए दिए गए उत्तरों को सत्य या असत्य मानने पर यह आवश्यक नहीं कि किसी प्रकार की स्थिति की वास्तविक या अवास्तविक मानना पड़े। इसी कारण उनका प्रमाणीकरण संभव नहीं है और उनको वस्तु–विषयक कहना उचित नहीं है। तार्किक अनुभववादियों का मत भी इस विषय में इसी प्रकार का है, किन्तु मुझे लगता है कि दर्शन के सभी परंपरागत प्रश्नों को ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनमें कुछ अवश्य ऐसे हैं जो वस्तु–विषयक हैं और जिनके लिए दिए गए उत्तरों के सत्य होने के लिए किसी न किसी स्थिति का वास्तविक होना आवश्यक हो जायगा। इतना अवश्य है कि मैं दयाकृष्ण के साथ इस बात में सहमत हूँ कि दार्शनिक प्रश्नों को वस्तु–विषयक नहीं होना चाहिए, क्योंकि वस्तु–ज्ञान विज्ञान का लक्ष्य है, दर्शन का नहीं।

मैं मानता हूँ कि दर्शन भाषा–विश्लेषण है और इससे मेरा तात्पर्य है कि दार्शनिक अन्वेषण का विषय भाषा है और उसकी पद्धति विश्लेषण। भाषा का अन्वेषण कई तरीकों सें किया जा सकता है, अन्वेषण करना उन तरीकों में एक है। इसी तरह, विश्लेषण के विषय अनेक पदार्थ हो सकते हैं; भाषा विश्लेषण उन विषयों में एक है। भाषीय विश्लेषण की क्रिया भी विभिन्न प्रकारों से सम्पन्न की जा सकती है। जब मैं कहता हूँ कि दर्शन भाषीय विश्लेषण है तो मेरा मतलब यह कदापि नहीं कि वे सभी लोग, जो दार्शनिक कहे जाते हैं, भाषा–विश्लेषक हैं, या वे सभी रचनाएँ जो दार्शनिक समझी जाती हैं भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत करती है। 'दर्शन भाषा विश्लेषण है' वाक्य से मेरा मतलब है कि दार्शनिक अन्वेषण को भाषा–विश्लेषण का ही रूप धारण करना चाहिए, भले ही उसका प्राचीन या अब तक का रूप इससे भिन्न रहा है।

मैं यह मानकर चलता हूँ कि दर्शन मानव ज्ञान की एक स्वतंत्र शाखा है। इससे मेरा मतलब यह नहीं कि उसे ज्ञान की अन्य शाखाओं की बिलकुल अपेक्षा नहीं है, बल्कि यह कि 'दर्शन' शब्द जिस ज्ञान–शाखा का द्योतक है वह अन्य शाखाओं से तत्त्वत' भिन्न है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो 'दर्शन' शब्द अनावश्यक हो जायेगा। मैं इसलिए भी उसे स्वतंत्र करता हूँ कि मेरी दृष्टि में उसे महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए विज्ञान, धर्म या किसी अन्य विद्या का उसे अनुगामी बनना या 'साहचर्य' प्राप्त करना आवश्यक नहीं है।

'भाषाविश्लेषण' शब्द शायद भ्रामक है। 'भाषा' से मेरा मतलब 'ऐतिहासिक या क्षेत्रीय भाषा' नहीं, बल्कि 'सामान्य भाषा' है। अपने विश्लेषण की प्रक्रिया में उदाहरण–स्वरूप कोई दार्शनिक किसी भी भाषा के वाक्यों या शब्दों का व्यवहार कर सकता है किन्तु इसका परिणाम यह न होगा कि उसके निष्कर्ष केवल उसी भाषा के विषय में सत्य होंगे। जैसे, कोई दार्शनिक युक्तियों की परीक्षा कर यह स्थिर करता है कि तार्किक दोष क्या है और किन–किन हालतों में किसी युक्ति को बिलकुल दोष–रहित कहा जा सकता है। इसके लिए वह किसी भाषा के वाक्यों द्वारा व्यक्त युक्तियों को ले सकता है और ऐसा करने से उसका अन्वेषण सीमित न होगा। यदि कोई हिन्दी में व्यक्त युक्ति दोष–रहित है, तो किसी भी भाषा में उसे व्यक्त क्यों न किया जाय वह दोष–रहित ही रहेगी। यदि कोई पत्नी कहे कि "सभी पति दूसरी स्त्रियों के प्रति अधिक आसानी से आकृष्ट हो जाते हैं किन्तु मेरा पति ऐसा नहीं है", तो उसका ऐसा कहना विरोधपूर्ण है, चाहे वह किसी भी भाषा का प्रयोग अपनी बात कहने के लिए क्यों न करे। उसका कहना विरोधपूर्ण है क्योंकि यह भाषा के (केवल हिन्दी भाषा के ही नहीं), 'सभी' शब्द (और विभिन्न भाषाओं में जो इसके पर्याय हो सकते हैं उन सभी शब्दों) के व्यवहार का, तार्किक नियम है कि जो बात किसी वर्ग के सभी सदस्यों के विषय में सत्य रहती है वह हर एक के विषय में भी सत्य होती है। यदि सभी पति दूसरी स्त्रियों पर आकृष्ट हो जाते हैं तो ऐसा कहने वाली स्त्री का पति भी अवश्य होता होगा, अन्यथा उस स्त्री का 'सभी' शब्द का प्रयोग गलत होगा। इस प्रकार यदि कोई तर्कशास्त्री 'सभी' शब्द के प्रयोगों के नियमों का स्पष्टीकरण करता है तो उसके निष्कर्ष हिन्दी भाषा तक ही सीमित नहीं रहेंगे। ये नियम तार्किक या दार्शनिक नियम हैं, व्याकरण के नियम नहीं हैं। हिन्दी व्याकरण के अनुसार 'राम सीता का पति है' शुद्धवाक्य है जबकि अंग्रेजी व्याकरण के अनुसार 'राम हसबैंड ऑफ सीता इज़' शुद्ध वाक्य नहीं होगा क्योंकि दोनों व्याकरणों के वाक्य–रचना के नियम भिन्न हैं। किन्तु यह सत्य है कि यदि राम सीता का पति है तो सीता राम का पति नहीं हो सकती, और 'पति' शब्द के प्रयोग के विषय में जो यह नियम है वह किसी भाषा विशेष का नियम नहीं है– यह तो 'पति' शब्द के प्रयोग का तार्किक नियम है। दार्शनिक ऐसे ही नियमों की खोज या व्याख्या करता है। इसलिए दर्शन भाषा–शास्त्र नहीं है। भाषा–शास्त्र का संबंध विशिष्ट भाषाओं से रहता है, वह उनके ऐतिहासिक विकास, परिवर्तन, शब्द–निर्माण के नियमों, विभिन्न भाषाओं की रूपात्मक या ध्वन्यात्मक समानता, व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध वाक्य–रचना के नियमों, आदि का अध्ययन करता है। दार्शनिक का संबंध इन चीजों से नहीं है। वह तो भाषा का तार्किक विश्लेषण करता है और उन नियमों की खोज करता है जिनका पालन किए बिना भाषा का अर्थपूर्ण व्यवहार नहीं हो सकता। ऐसे भी वाक्य हो सकते हैं जो व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हो फिर भी किसी तार्किक नियम का उल्लंघन करने से अर्थ हीन हो। 'दर्शनशास्त्र बड़ा प्रतिभाशाली है' वाक्य में कोई व्याकरण का दोष नहीं है, फिर भी यह अर्थवान नहीं

है क्योंकि प्रतिभाशाली कोई व्यक्ति ही हो सकता है। भाषा के अर्थपूर्ण व्यवहार का यह नियम है कि 'प्रतिभा' शब्द का उचित प्रयोग किसी व्यक्ति के संबंध में ही किया जा सकता है, व्यक्तित्व–शून्य किसी भी पदार्थ के विषय में नहीं। दर्शनशास्त्र उपयोगी या अनुपयोगी, व्यापक या संकीर्ण, सुबोध या दुर्बोध, आदि विशेषणों से युक्त किया जा सकता है, किन्तु उसे प्रतिभाशाली या प्रतिभाशून्य कहने का कोई अर्थ नहीं होगा।

दर्शनशास्त्र भाषा के अर्थपूर्ण प्रयोग के विभिन्न नियमों की खोज करता है और उन नियमों के प्रति हमें जागरूक बनाता है। इसप्रकार वह हमारी तार्किक बुद्धि को पुष्ट करता है और भाषा के प्रति अधिक संवेदनशील बनाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भाषा एक तरह की साधन–समष्टि है जिसे हम सुखी जीवन के लिए आवश्यक पाते हैं। शब्द हमारे लिए विभिन्न प्रकार के यंत्र हैं जिन्हें प्रयोग कर हम अपने बौद्धिक, रागात्मक, सामाजिक, आदि, आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। यदि हम अपने यंत्रों को अच्छी तरह जानलें तो निस्सन्देह हमें अनेक सुविधाएँ प्राप्त हो जायगी। यदि कोई सैनिक जान ले कि उसकी बंदूक से निकली गोली कितनी दूर जा सकती है और किस प्रकार और कितने जोर से घोड़ा दबाने से वह बाहर दूसरे की ओर जायगी और कैसी भूल हो जाने पर अपनी ही ओर भागेगी, तो यह ज्ञान उसके सैनिक–जीवन के लिए अवश्य ही आसाधरण रूप से लाभप्रद होगी। दार्शनिक विश्लेषण, इसी तरह, भाषा के नियमों की जानकारी करा कर हमारी बुद्धि को बल देता है और हमारी बौद्धिक प्रौढ़ता और सौष्ठव को बढ़ाता है।

भाषा–विश्लेषण करने के लिए भाषा के वास्तविक व्यवहार की परीक्षा होनी चाहिए और इस परीक्षा में व्यवहार के सभी अंगों की आवश्यक छान–बीन करनी चाहिए। जब तक भाषा को हम वास्तविक परिस्थितियों में काम करते नहीं देखें तब–तक उसके स्वरूप का सच्चा चित्र हम नहीं बता सकते हैं। किसी मशीन को अच्छी तरह समझने के लिए उसे तभी देखना लाभकर हो सकता है जबकि मशीन चालू रहती है। भाषा का प्रयोग मशीन के प्रयोग से भी जटिल है, इसलिए इसकी परीक्षा में अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता है। भाषा–प्रयोग के विभिन्न निर्मायक तत्त्वों में प्रयोग करने वाले के उद्देश्य या लक्ष्य को मैं सर्वाधिक महत्ता देता हूँ। इसलिए किसी भाषा या भाषा–खंड के स्वरूप को स्थिर करने के पहले मैं यह जानना चाहूँगा कि उसका प्रयोग उसका वक्ता या लेखक किस लिए, किस उद्देश्य से, करता है। किन्तु इस पक्षपात का सर्मथन यहाँ मैं नहीं कर सकता, इसलिए इसे पक्षपात के ही रूप में छोड़ दूँगा।

***

सहायक ग्रंथों और पत्रिकाओं की सूची :

Benerjee, N.V. — *Concering Human Understanding, Allen and Unwin, 1958.*

Bhattacharya, C. and Deshpande, D.Y. (ed.)	*Journal of the Philosophical Association, Vols. VI and VII.*
Krishna, Daya.	*TheNature of Philosophy, Calcutta 1955.*
Malkani, G.R. (ed.)	*The Philosophical Quarterly, Vol. XXXII, Malkani, G.R. and Selected Papers: The Thirtythird Indian others (ed.) Philosophical Congress, 1958.*
Murty, K.S.	*Revelation and Reason in Advaita Vedanta, Asia Publishing House, 1959.*
Nikam, N.A.	*Entretiens; International Institute of Simondon, G. and Philosophy and Indian Philosophical Prasad, R. (ed.) Congress, Mysore University, 1959.*
Radha Krishnan, S.	*Contemporary Indian Philosophy, and Muirhead, J.H. Allen and Unvin, 1952.Matirialism, Roy, M.N. Renalssance, 1951.New Humanism, Do 1947.*
शल्य, यशदेव (सं).	*अनुभववाद, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, 1960*
Thapar, R. (ed.)	*Seminar, September, 1961.*

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के पाँच दशक

श्रीप्रकाश दुबे

भारत में स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् सभी क्षेत्रों में एक नवीन उत्साह दिखाई पड़ा। विदेशी शासनतंत्र से मुक्ति के बाद स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग होने लगा। भाषा एवं चिन्तन के क्षेत्रों में भी राष्ट्रीय सम्मान के अनुरूप देशी भाषाओं के माध्यम से भारतीय विचारकों का पुनर्मूल्यांकन एवं उपस्थापन प्रारम्भ हुआ। चूँकि हिन्दी अधिकांश भारतीयों की भाषा रही है, अतः इसको अँग्रेजी के स्थान पर राष्ट्रभाषा के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रयास हुआ । इसे राजभाषा बनाया भी गया। आज के प्रसंग में भाषा एवं दर्शन दोनों ही दृष्टियों से 1954 का वर्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा जब अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की संकल्पना हुई। सत्यकाम जाबाल की ही भांति इसके जन्म का प्रमाण–पत्र नहीं मिलता। परंतु दार्शनिक त्रैमासिक का एक अंक (निरंक) इस वर्ष निकला। जनवरी 1955 में दार्शनिक त्रैमासिक का व्यवस्थित अंक (प्रथम अंक के रूप में) छपा और परिषद् का प्रथम अधिवेशन प्रयाग विश्वविद्यालय में इसी वर्ष आयोजित करने की घोषणा हुई। कुछ कारणों से यह स्थगित हुआ और फिर 1956 की फरवरी के सप्ताहान्त में यह आयोजित हुआ। सन् 1925 में भारतीय दार्शनिक कांग्रेस (महासभा) की स्थापना के उपरान्त यह तिथि भारतीय दर्शन के क्षितिज का प्रमुख संकेतक है। हिन्दी के माध्यम से दर्शन को विकसित करने का तथा दार्शनिक चिन्तन द्वारा इस भाषा को पुष्ट एवं समृद्ध बनाने का लक्ष्य रखकर इस दर्शन–परिषद् ने पिछले 48–49 वर्षों में जो कार्य किया वह श्लाघ्य है। अपने प्रकाशनों, अधिवेशनों एवं गोष्ठियों के माध्यम से भाषा एवं चिन्तन दोनों को ही परिष्कृत करने का उद्यम स्वयं में स्पृहणीय है। दर्शन परिषद् के परिवेश के भीतर तथा बाहर दर्शन के क्षेत्र में क्या हुआ, क्या नहीं हुआ इसका आकलन एकाधिक ग्रन्थ–रचना के द्वारा ही संभव है। यह कार्य होना प्रारंभ हो गया है। परन्तु अत्यल्प ढंग से इस अवधि की उपलब्धियों की ओर अपनी दृष्टि से संकेत करने का हम यहाँ प्रयास करेंगे।

स्वतंत्रता के पूर्व भारत में अँग्रेजी शासन के कारण अँग्रेजी माध्यम से पाश्चात्य एवं कुछ भारतीय विचारकों के संबंध में हमारे विश्वविद्यालयों के दर्शन–विभाग कुछ चर्चा किया करते थे। राधाकृष्णन् एवं म्योरहेड द्वारा सम्पादित 'कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी'[1] ने पहली बार समसामयिक भारतीय दर्शन को प्रकाश में लाया। परन्तु विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र के पाठ्यक्रमों में सममामयिक भारतीय विचारकों का समावेश इस शताब्दी के छठे दशक से पूर्व नहीं हो पाया था। दुर्भाग्य से उस समय तक समकालीन कहे जाने वाले प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक {डॉ. राधाकृष्णन् (1888–1975) को छोड़कर} दिवंगत हो

चुके थे। स्नातकोत्तर कक्षाओं के विद्यार्थी गाँधी, टैगोर, श्री अरविन्द, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, इकबाल इत्यादि के विचारों से परिचित होने लगे थे। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि ये सभी विचारक प्रायः आदर्शवादी परम्परा के थे और राधाकृष्णन्–म्योरहेड के संस्करण में 25 लोग आदर्शवादी रहे। पिछली पीढ़ी के इन विचारकों की अपेक्षा परवर्ती पीढ़ी के लोगों में यथार्थवादी विचारधारा भी मिलती है तथा स्वतंत्रता के उपरान्त के भारतीय दर्शन में इसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। दर्शन परिषद् द्वारा 1962 में प्रकाशित तथा डॉ. के. सच्चिदानंद मूर्ति द्वारा सम्पादित' समकालीन भारतीय दर्शन में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने समकालीन भारतीय वस्तुवादी विचारकों में मानवेन्द्र नाथ राय तथा जी.सी. चटर्जी प्रभृति नामों का उल्लेख करते हुए उनके विचारों का विश्लेषण किया है।

स्वतंत्रता के बाद भारत में अनेक नये विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के प्रारम्भ होने पर उनमें दर्शनशास्त्र का अध्ययन–अध्यापन होने के कारण दर्शनशास्त्र को समझने वाले लोगों की कमी नहीं रही। गुणात्मक विकास की दृष्टि से दर्शनशास्त्र की प्रगति हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने 1964 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, विश्वभारती तथा मद्रास विश्वविद्यालय में दर्शन के उच्चाध्ययन केन्द्रों की स्थापना की। इन केन्द्रों ने कलकत्ता, इलाहाबाद तथा अमलनेर में हुए दर्शन के ह्रास की पूर्ति प्रारम्भ की। पूना में इण्डियन फिलॉसफिकल क्वार्टर्ली तथा परामर्श जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारंभ किया गया। अनेक पत्र–पत्रिकाओं, गोष्ठियों इत्यादि के माध्यम से दर्शन शास्त्र का प्रचार–प्रसार होने लगा। परन्तु इन सबके बीच दर्शन और चिन्तन सम्बन्धी कोई मौलिक योगदान हो पाया या नहीं यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण बनता गया। सन् 1950 में प्रोफेसर धीरेन्द्रमोहन दत्त ने एक टिप्पणी की थी कि समकालीन भारतीय दर्शन या तो विशुद्ध पाश्चात्य प्रभाव से उत्पन्न है अथवा भारत भूमि पर यूरोपीय दर्शन का एक विचित्र विस्तार है।[2] लगभग यही धारणा 1963 तक भी बनी रही जब पणिक्कर ने यह कटु सत्य उद्घोषित किया कि भारतीय विश्वविद्यालयों में से किसी एक ने भी कोई ऐसा दार्शनिक उत्पन्न नहीं किया जिसने परम्परागत चिन्तन–पद्धति अथवा आधुनिक विचार में कोई विशिष्ट योगदान किया हो।[3]

यहाँ हम कह सकते हैं कि संस्थायें दार्शनिकों को उत्पन्न करने की उद्यम नहीं। विश्वविद्यालयों या दर्शनकेन्द्रों में दर्शन का अध्ययन 'शास्त्र' के रूप में होता है, जैसे अन्य शास्त्रों का। और संस्थाओं में भी प्रायः आर्थिक एवं प्रशासनिक सुविधाओं का अभाव सा होता है। उच्चाध्ययन के दो केन्द्र तो 1974 में ही बंद कर दिये गये। वर्त्तमान में यादवपुर (कलकत्ता) में ऐसा एकमात्र केन्द्र कार्यरत है। फिर भी इस बात को पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता कि ह्रासोन्मुखी स्थिति के निर्माण का आंशिक दायित्व हम दर्शन के अध्यापकों पर भी है। प्रायः विश्वविद्यालयों के दर्शन–विभाग के अध्यक्षों एवं दर्शन–केन्द्रों के निदेशकों ने यह मान लिया था कि उनकी सीमाओं के अन्तर्गत ही दर्शन की आत्मा पलती है।

विश्वविद्यालयीन दर्शन विभागों एवं अध्ययन केन्द्रों में कुछ परम्परागत विद्वान् ऐसे भी रहे हैं जिनकी यह मान्यता रही कि जो कुछ महत्त्वपूर्ण चिन्तन सम्भव है वह सभी प्राचीन दार्शनिक सम्प्रदायों में मिलता है। उनके अनुसार आधुनिक भारतीय विचारकों के चिन्तन महत्त्वपूर्ण नहीं और सम्भवतः दर्शन कहलाने योग्य भी नहीं है। इन परम्परावादियों की इस

धारणा के विपरीत आधुनिकतावादी लोगों का यह कथन है कि भारत के प्राचीन अथवा नवीन दोनों ही चिन्तनों में 'दर्शन' नहीं है। जिसे हम 'दर्शन' कहते हैं वह पश्चिम में मिलता है और आधुनिक पाश्चात्य दर्शन को पढ़ना–समझना ही परम पुरुषार्थ है। इन दो परस्पर विपरीत मतावलम्बियों के मध्य एक तीसरा वर्ग ऐसा भी है जो 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' की धारणा के अनुरूप यह स्वीकार करता है कि भारतीय दर्शन की सामग्री को पाश्चात्य दृष्टि से विवेचित किया जाना उपयोगी है और पाश्चात्य दृष्टि भी परम्परागत दृष्टियों से बहुत भिन्न नहीं। ऐसे सभी विचारकों के चिन्तन का विश्लेषण यहाँ सम्भव नहीं परन्तु इनमें से कुछ की ओर हम संकेत अवश्य करेंगे।

ऐसे कौन–कौन से नाम हैं जिन्हें आधुनिक भारतीय विचारकों की श्रेणी में रखा जाय इस प्रश्न पर, जैसा कि पहले कहा गया, पर्याप्त मतभेद है। यों तो विश्वविद्यालयों के दर्शन विभागों के प्रायः सभी अध्यक्ष एवं आचार्य अपने को इस श्रेणी में मानते हैं परन्तु कुछ वस्तुनिष्ठ आधारों पर कुछ नाम छाँटे जा सकते हैं। कुछ सर्वेक्षणों से पता चलता है कि जिद्दू कृष्णमूर्ति, विनोबा भावे, पूला तिरुपति राजू, तिरुपत्तूर रामशेष वेंकटाचल मूर्त्ति तथा कालिदास भट्टाचार्य जैसे नामों पर आम सहमति है। समकालीन (अथवा आधुनिक) भारतीय दर्शन पर अनेक ग्रन्थों[4] में जिनके विचार संग्रहीत किये गये हैं उनका सर्वेक्षण करने से ज्ञात होगा कि उपरोक्त नामों के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे नाम हैं जिन्हें चिन्तक–मण्डल में रखा जा सकता है। डॉ. तेल्लियवरम् पोन्नम्बलम् महादेवन् , डॉ. नन्दकिशोर देवराज, डॉ. गणेश्वर मिश्र, डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी, डॉ. याकूब मसीह, डॉ. कोत्ता सच्चिदानंद मूर्त्ति, डॉ. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे, डॉ. रामचन्द्र पाण्डेय, डॉ. (श्रीमति) मार्गरिट चटर्जी, डॉ. जितेन्द्रनाथ मोहन्ती जैसे नामों पर भी अधिकांश लोगों की सहमति है।

यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार पुरानी पीढ़ी के द्वारा राहुल सांकृत्यायन, सुखलाल संघवी एवं डॉ. सम्पूर्णानन्द के चिन्तनों की उपेक्षा की गई उसी प्रकार आज की पीढ़ी अनेक ऐसे विचारकों की उपेक्षा कर रही है जो इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं या किये हैं। श्री यशदेव शल्य एवं रामशंकर भट्टाचार्य जैसे लोग सम्भवतः इसीलिए पर्याप्त समादृत नहीं हो सके क्योंकि इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम अंग्रेजी को नहीं बनाया। और तथ्य वस्तुतः यह है कि मौलिक चिन्तन करने के लिए अपनी भाषा और अपना परिवेश आवश्यक है। दर्शन के क्षेत्र में भी यह बात पूर्णरूपेण लागू होती है। यद्यपि ऐसे विद्वानों की कमी नहीं जो दर्शनशास्त्र को देशकालातीत चिन्तन के धरातल पर रखना चाहते हैं, परन्तु सामान्यतया दर्शन को संस्कृति से पृथक् नहीं किया जा सकता। डॉ. देवराज, श्री यशदेव शल्य एवं डॉ. बसंतकुमार लाल की यह स्पष्ट धारणा है कि दर्शन संस्कृति से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है। यदि दर्शन पूर्णतया अमूर्त एवं सार्वभौम होता तो भारतीय, यूरोपीय, अमरीकी इत्यादि विशेषण निरर्थक होते।

भारतीय दर्शन सदा की भांति आज भी अपनी संस्कृति से आबद्ध होकर विकसित हो रहा है। संस्कृति के साथ ही साथ धर्म से भी इसका घनिष्ठ संबंध दीखता है। अनेक दृष्टियों से भारतीय दर्शन के अधिकांश सम्प्रदाय धर्म के ही दार्शनिक विवेचन हैं। धर्म उन्हें अनुभूति की सामग्री प्रदान करता है एवं दर्शन उसका बौद्धिक विश्लेषण करता है। यों भी

एक–दो सम्प्रदायों के अतिरिक्त प्रायः सभी दर्शनों (आस्तिक, नास्तिक) के अनुयायी आज भी हमें न्यूनाधिक संख्या में मिल जायेंगे। वेदान्त के अनुयायियों की संख्या सबसे अधिक प्रतीत होती है। नव्य वेदान्त के अतिरिक्त नव्य न्याय, योग एवं भाषा–विश्लेषण की परम्पराओं का पर्याप्त प्रचलन है। गाँधी एवं श्री अरविन्द जैसे आधुनिक विचारकों के दर्शन के भी सम्प्रदाय से बन गये हैं।

नवीन दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में आधुनिक भारत की पृष्ठभूमि में तुलनात्मक दर्शन का उदय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि प्राचीन काल में अशोक तथा मध्ययुग के कबीर, नानक एवं दारा शिकोह ने तुलनात्मक दर्शन की आधारशिला रख दी थी परन्तु वर्तमान युग में इसे स्थापित करने का कार्य डॉ. राधाकृष्णन् का है। राधाकृष्णन् (एवं अन्य) द्वारा सम्पादित ग्रन्थ[5] से इसका प्रारम्भ होता है तथा डॉ. पी.टी. राजू के द्वारा यह सम्पुष्ट होता है। आज अनेक ऐसे विद्वान् मिलेंगे जो इस धारा के पोषक हैं, भले ही वे स्पष्टता से इसे स्वीकार न करें। तुलनात्मक दर्शन का लक्ष्य रहा है विश्व में चर्चित दर्शन की समस्याओं का भारतीय समाधान प्रस्तुत करना। पश्चिम के लोगों में सारी समस्याओं के समाधान का स्रोत पश्चिम को ही स्वीकार करने की प्रवृत्ति समाप्त होकर जब भारतीय एवं पाश्चात्य योगदानों को समान रूप से ग्रहण करने की भावना विकसित हो जायेगी तब सम्भवतः इसका भारतीय पक्ष कमजोर पड़ जाय। परन्तु अभी तो तुलनात्मक दर्शन के विकास की प्रचुर आवश्यकता है। प्रो. पी.टी. राजू ने वेदान्त दर्शन को आधार मानकर तुलनात्मक दर्शन की पद्धति एवं इसके लक्ष्य का निर्धारण किया है।[6] प्रो. एन.एस.एस. रमण ने इसकी पद्धति को और भी अधिक स्पष्ट बनाने पर बल देते हुए स्वीकार किया है कि इससे विभिन्न संस्कृतियों एवं परम्पराओं के लोग परस्पर निकट आते हैं।[7] तुलनात्मक दर्शन के आधार पर ही प्रो. संगमलाल पाण्डेय ने 'संदर्शन' जैसे नवीन दर्शन की स्थापना का दावा किया है जिससे हमें एक ऐसी दृष्टि मिलती है कि तत्त्व को पूर्णरूपेण देखा जा सके। इसमें पाश्चात्य भाषा–विश्लेषण एवं भारतीय अद्वैतवाद का रोचक समन्वय मिलता है।

कुछ आगे बढ़ने से पूर्व आज से लगभग 25 वर्ष पूर्व (1979 में) पुणे से प्रकाशित एक ग्रन्थ का उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है जिसमें पंद्रह आधुनिक भारतीय भाषाओं में दर्शन का सर्वेक्षण किया गया है। मराठी तत्त्वज्ञान विश्वकोश की योजना के अंतर्गत 'फिलासफी इन फिफ्टीन माडर्न इण्डियन लैंगुएजेज़' पुस्तक अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लक्ष्य की ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम है । स्वर्गीय प्रो. व्ही. एम. बेडेकर द्वारा संपादित इस संकलन में असमिया, बंगला, अंग्रेजी, गुजराती, हिन्दी, कन्नड, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, सिन्धी, तमिल, तेलुगू तथा उर्दू माध्यम से मध्य एवं आधुनिक युग के प्रमुख एवं प्रतिनिधि दार्शनिक चिंतन का सर्वेक्षण है। यह अपने प्रकार का अनूठा प्रयास है। भारत की क्षेत्रीय भाषाओं में दर्शन का जो स्वरूप निखरा है, उसकी एक झलक इसमें मिलती है। बहुत से भारतीय पाठकों, और अधिकांशतः विदेशी पाठकों, को इसमें उपलब्ध सामग्री नई प्रतीत होगी। इसमें हिन्दी से संबंधित आलेख डॉ. एस.पी. श्रीवास्तव (खीरी–लखीमपुर) द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इस आलेख में हिन्दी माध्यम से दार्शनिक चिन्तन के उद्भव, संघर्ष एवं विकास इन तीन शीर्षकों के माध्यम से लेखक ने नाथ–सिद्धों, भक्तिमार्गी संतों, आर्य समाज और महात्मा गाँधी के योगदान का उल्लेख करने के पश्चात् स्वतंत्र भारत में भी दार्शनिक चिंतन का सर्वेक्षण

किया है। इसमें विशेष रूप से अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के आधार–स्तंभों का सादर उल्लेख है, यथा–डॉ.संपूर्णानन्द, श्री यशदेव शल्य एवं प्रो. देवराज।

एक और प्रयास हुआ है विश्व–दर्शन को संक्षेप में एवं लोकप्रिय रूप में प्रस्तुत करने का 1990 में। प्रोफेसर देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय द्वारा संपादित 'दर्शनशास्त्र : पूर्व और पश्चिम ग्रन्थमाला' के आठ मोती हैं (1) दर्शनशास्त्र के स्रोत, (2) चीन में दर्शनशास्त्र, (3) भारत में दर्शनशास्त्र, (4) यूनान में दर्शनशास्त्र, (5) यूरोप में दर्शनशास्त्र : बेकन से मार्क्स, (6) यूरोप में दर्शनशास्त्र : मार्क्स के बाद, (7) बीसवीं शताब्दी में दर्शनशास्त्र एवं (8) दर्शनशास्त्र और भविष्य। ये ग्रन्थ विभिन्न विद्वानों द्वारा मूलतः अँग्रेजी में लिखे गयें हैं, तथा इनके अनुवादों को राजकमल (नयी दिल्ली और पटना) ने प्रकाशित किया है।

अब हम तीन ऐसे नामों की चर्चा करेंगे जिन्होंने तुलनात्मक दर्शन एवं वेदान्त के आधार पर आधुनिक भारतीय दर्शन को नई दृष्टि प्रदान करने का प्रयास किया है। ये नाम हैं– डॉ. टी.आर.व्ही. मूर्त्ति, डॉ. नन्दकिशोर देवराज एवं डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी। तत्काल प्रश्न उपस्थित होता है कि ये तीन ही नाम क्यों ? इसके उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि चूँकि सभी या बहुत से नामों की चर्चा यहाँ सम्भव नहीं अतः ये ही नाम।[8] वैयक्तिक कारणों से इन तीनों का विवेचन समीचीन है। तीनों आज दिवंगत हो चुके हैं। तीनों ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मेरे शिक्षा–गुरु रहे हैं। तीनों ने स्वयं भी वहीं शिक्षा पायी। तीनों दर्शन के उच्चाध्ययन केन्द्र के निदेशक रहे हैं। तीनों दर्शन परिषद् से भी संबद्ध रहे हैं, इसके वार्षिक अधिवेशनों के प्रमुख अध्यक्ष के रूप में। प्रोफेसर मूर्त्ति ने भारतीय भाषा–दर्शन की ओर संकेत किया है तो डॉ. देवराज ने सृजनात्मक मानवतावाद की सृष्टि की है और डॉ. त्रिपाठी ने अद्वैत के आत्मदर्शन की संगत व्याख्या कर उसे पूर्ण माना है।

प्रोफेसर मूर्त्ति (1902–86) के बौद्ध दर्शन संबंधी ग्रंथ से हम सभी सुपरिचित हैं। यहाँ हम उनके परवर्ती चिंतन की चर्चा करेंगे जिसका संकेत हमें भारतीय दार्शनिक काँग्रेस के 1963 में सम्पन्न चण्डीगढ़ अधिवेशन में मिला था। अपने अध्यक्षीय भाषण[9] में डॉ. मूर्त्ति ने भारतीय भाषा पर अपने कुछ विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार भाषा–दर्शन भाषा का प्रतिवर्ती चिन्तन (रिफ्लेक्टिव अवेयरनेस) है; इसके कार्यों की समालोचना है। भाषा–दर्शन स्वयं में एक लक्ष्य भी है, भाषा के प्रयोग में अधिक दक्षता प्राप्त करने का माध्यम नहीं। इसके माध्यम से वाणी में स्वयं के प्रति चेतना उत्पन्न होती है एवं शब्दों तथा अर्थों के धातु एवं सृजक के रूप में इसकी भूमिका के प्रति दर्शन इसे उद्‌बुद्ध करता है, ताकि भाषा विश्व के समस्त पदार्थों को अपने में समाविष्ट कर सके। आधुनिक भाषा–विश्लेषण–वादियों (जैसे– विट्‌गेन्सटाइन) की भाँति यह 'भाषायी खेल' नहीं, जिसे हम तात्कालिक रूप से खेला करें। यह एक शाश्वत प्रश्न का स्थायी समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास है।

डॉ. मूर्त्ति के अनुसार मीमांसा एवं व्याकरण दर्शनों ने भाषा–दर्शन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। वाणी के बाह्यार्थ को स्पष्ट करने में न्याय दर्शन ने भी श्रेष्ठ भूमिका निभाई है। वेदों में भाषा को दैवी वाक् के रूप में ग्रहण किया गया है। पतंजलि इसे महान् देवता स्वीकार करते हैं। भाषा एवं शब्दों का गूढ़ार्थ सामान्य जन को ज्ञात नहीं हो पाता। जिस प्रकार प्रेयसी अपने प्रेम को पति के सम्मुख ही व्यक्त करती है उसी प्रकार भाषा भी सारे अर्थ को प्रबुद्ध लोगों के समक्ष ही अभिव्यक्त करती है। ऋग्वेद कहता है :

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाच–
मुत त्वः शृण्वन् शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासाः ।। ऋग्वेद, 10–71–4

डॉ. मूर्त्ति की यह धारणा है कि शब्द एवं ध्वनि के मध्य का भेद समझना भारतीय भाषा–दर्शन के लिए अनिवार्य है। बाह्य ध्वनि को शब्द मान लेना दो पदार्थों को संपृक्त करना है। वस्तुतः ये आत्मा एवं शरीर की भाँति संबद्ध हैं, ध्वनि इसे मात्र आवाहित करती है। शब्द को डॉ. मूर्त्ति ने प्लेटो के विज्ञानों की भांति शाश्वत, व्यापक एवं अमूर्त्त माना है। इनके अनुसार मीमांसा एवं व्याकरण–दर्शन का शब्द सिद्धान्त प्लेटो के विज्ञानवाद का भारतीय प्रतिरूप है। मीमांसा शब्द नित्यत्ववाद का पोषक है। वैयाकरणों के स्फोटवाद के अनुसार वाक्य अपने अखण्ड एवं अविभाज्य रूप में अर्थबोध कराता है (अखण्ड वाक्य स्फोट)। डॉ. मूर्त्ति ने स्फोट वाद को काण्ट की शब्दावली में समझने का प्रयास किया है। जिस प्रकार काण्ट के अनुसार ज्ञान विभिन्न इन्द्रियानुभवों का संश्लेषण है उसी प्रकार स्फोट भी विभिन्न शब्दार्थों के लिए इन्द्रियातीत कोटि का कार्य करता है।

डॉ. नन्दकिशोर देवराज (1917–99) भारतीय संस्कृति एवं अद्वैत दर्शन की पृष्ठभूमि में सृजनात्मक मानवतावाद की स्थापना करते हैं। इनके अनुसार दर्शन का कार्य मात्र निषेधात्मक नहीं है। दर्शन मनुष्य की मूल्यचेतना के सामान्य स्वरूप की व्याख्या कर उसे विशद बनाता है। यह मानव संस्कृति की व्याख्या है। इसकी व्याख्या के द्वारा मनुष्य अपना गुणात्मक विकास करता है; सृजनात्मक परिष्कार करता है।

डॉ. देवराज के अनुसार संस्कृति–दर्शन[10] अथवा सृजनात्मक मानवतावाद का केन्द्र मनुष्य है, न कि ईश्वर। मनुष्य की सृजनात्मक प्रक्रिया का दर्शन हमें प्राकृतिक व्यवस्था को बदलने में तथा उसकी सौन्दर्यात्मक अभिरुचि में होता है। मनुष्य बाह्य घटनाओं के प्रति अपनी प्रतिक्रिया विभिन्न ढंगों से व्यक्त करता है। उसकी सृजनात्मकता का यह भी एक लक्षण है। पुनश्च, उसकी प्रतिक्रिया का दायरा सदा विस्तृत होता जाता है। हम मनुष्य के सृजनात्मक इतिहास में सदा स्पष्ट विकास एवं प्रगति देखते हैं।

डॉ. देवराज का सृजनात्मक मानवतावाद पूर्णतः नवीन न होकर पाश्चात्य मानवतावाद एवं भारतीय आदर्शवाद का समन्वय है। एक ओर डॉ. देवराज लेमाण्ट एवं शिलर के चिन्तन का विवेचन कर अधिक संतोषजनक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं तो दूसरी ओर वे कोरे आदर्शवाद का भी विरोध करते हैं। उनका संस्कृति–दर्शन प्रकृतिवाद एवं आदर्शवाद के मध्य एक नवीन दर्शन की स्थापना करता है। प्रकृतिवाद के स्थूल एवं सीमित दृष्टिकोण का खण्डन कर वे मनुष्य की धार्मिक अनुभूति के कारण उसे विश्व–मानव के स्तर पर ला खड़ा करते हैं। मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थों का त्याग कर मानवता के विस्तृत आयाम को अपनाता है क्योंकि उसे यह अनुभूति हो चुकी है कि वह भूमा है, अमृत है। इनकी प्रमुख चिन्तन– परक रचनाओं में प्रामाणिक मूल्यबोध और जीवन–विवेक को पाने या विकसित करने का प्रयत्न मिलता है।

डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी (1918–81) राधाकृष्णन्–मूर्त्ति की परम्परा को आगे बढ़ाते

हुए अद्वैत दर्शन को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। इनके अनुसार आत्मान्वेषण ही दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है।[11] जिस प्रकार डॉ. देवराज मनुष्य को जगत् का केन्द्र मानते हैं उसी प्रकार डॉ. त्रिपाठी आत्मा को व्यक्ति के संसार का केन्द्र मानते हैं। दर्शन का एकमात्र सर्वनिष्ठ पक्ष सम्भवतः प्रतिवर्त्ती चिन्तन ही है। यह एक ऐसी चेतना है जो स्वयं के बारे में चिन्तन कर सके। वस्तुनिष्ठ चेतना का अनुवर्त्ती अभिज्ञान ही दार्शनिक चेतना है।

डॉ. त्रिपाठी के अनुसार दर्शन की उत्पत्ति अध्यास के निराकरण में होती है। अध्यास के निषेध के बाद व्यक्ति शाश्वत–सनातन का चिन्तन करने लगता है। इनके मत से दर्शन का कोई अन्य विकल्प नहीं; यह एक अनिवार्यता है। प्रारम्भ में यह एक आलोचनात्मक विधा के रूप में दीखता है। परन्तु निषेधात्मक स्तर से आगे जाकर यह पूर्ण सत्य का अनुसंधान करता है। यह तर्क से श्रुति की ओर तथा श्रुति से अनुभूति की ओर अग्रसर होता है।

तत्त्वज्ञान को समझने के लिए प्रो. त्रिपाठी सुषुप्ति, समाधि एवं मृत्यु की व्याख्या को आवश्यक मानते हैं। सुषुप्ति में हम अपने अस्तित्व बोध के बिना ही स्थित रहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि शुद्ध चेतन स्वयंप्रकाश एवं उपाधि शून्य हो सकता है। इस स्थिति में हमें आनंद की अनुभूति होती है। समाधि में भी हमें ऐसी ही आनन्दानुभूति होती है। इन दोनों स्थितियों के आधार पर हम मृत्यु के उपरान्त की संभावना को स्पष्ट कर सकते हैं। सुषुप्ति एवं समाधि की अवस्थाओं के उपरान्त आत्मा का अस्तित्व होने के कारण मृत्यु के उपरान्त भी इसके अस्तित्व का अनुमान होता है। आत्मा की अमरता एवं शाश्वत स्थिति का यह बोध हमें अज्ञान से मुक्त करता है। जीवन एवं मृत्यु के प्रति व्यक्ति का ऐसा दृष्टिकोण चूँकि अद्वैत दर्शन में अधिक संतोषजनक रूप से विवेचित है अतः त्रिपाठी के अनुसार यह अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक पूर्ण दर्शन है।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि यदि स्थिति का वस्तुनिष्ठ विवेचन किया जाय तो हम पायेंगे कि पिछले पाँच दशकों में भारतीय दर्शन में जो कुछ हुआ है वह न तो बहुत अधिक निराशापूर्ण है और न ही पर्याप्त उत्साहवर्धक। आवश्यकता है हमें और अधिक काम करने की। हमारे भीतर मौलिक चिन्तन का उत्साह और साहस होना चाहिए, प्रामाणिक विश्व–बोध की लालसा होनी चाहिए। हमारे मध्य आज ऐसे अनेक विद्वान् एवं विचारक विद्यमान हैं जो अपनी लेखनी से भावी पीढ़ी को बहुत कुछ दे सकते हैं और नयी पीढ़ी को प्रोत्साहित भी कर सकते हैं। इस बीच जो कुछ लिखा गया है या लिखा जा रहा है उसका भी समुचित आंकलन करना आवश्यक है।

भारतीय दार्शनिक महासभा के सभी प्रमुख अध्यक्षों के अध्यक्षीय भाषणों का संग्रह–संपादन कर वर्तमान हमने इस दिशा में अपना योगदान दिया है। ये भाषण भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, द्वारा चार खण्डों में 'फेसेट्स ऑफ रीसेन्ट इण्डियन फिलॉसफी' शीर्षक से प्रकाशित हो चुके हैं। अखिल भारतीय दर्शन–परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों के अध्यक्षीय भाषणों का संग्रह प्रकाशित करने की भी योजना बनी और क्रियान्वित हुई है। 'भारतीय दार्शनिक चिन्तन'' शीर्षक से इसका प्रथम खण्ड (स्व. डा. विजयश्री द्वारा सम्पादित) सन् 2000 में प्रकाशित हो चुका है। इसमें 20 अध्यक्षीय भाषणों

का संग्रह किया गया है। इसका द्वितीय खण्ड (जिसमें 24 अध्यक्षीय भाषणों को समाहित किया गया है) अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के स्वर्ण–जयंती अधिवेशन में इसी वर्ष प्रकाशित किया गया हैं, जिसका संपादन डॉ. डी. आर. भण्डारी तथा डॉ. ज्योतिस्वरूप दुबे ने किया है। इस अवसर पर कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य भी किये गयें हैं और किये जा रहे हैं। उनमें डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण सीरीज में प्रकाशित "समेकित दार्शनिक विमर्श" एवं "समेकित अद्वैत विमर्श" नामक दो ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये दोनों ग्रन्थ स्वातंत्र्योत्तर काल में हिन्दी माध्यम से हुए मौलिक एवं परम्परागत दार्शनिक चिन्तन की आधारभूत सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रसंग में कालीचरण पाण्डेय द्वारा सम्पादित "तुलनात्मक दर्शन" पुस्तक भी उल्लेखनीय है। वस्तुतः इसी प्रकार के श्रमसाध्य कार्यों के द्वारा स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन को स्वरूप एवं अर्थ प्रदान किया जा सकता है।

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

(1) प्रकाशकः जार्ज एलेन एण्ड अन्विन, लंदन, 1936

(2) दत्त, धीरेन्द्र मोहन, चीफ करेन्ट्स ऑफ कन्टेम्पोरेरी फिलॉसफी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1950, पृष्ठ 123–24

(3) पणिक्कर, के.एम., दी फाउण्डेसन्स आफ न्यू इण्डिया, लंदन, 1963, पृष्ठ 135.

(4) (i) नरवणे, विश्वनाथ, आधुनिक भारतीय चिन्तन, मुंम्बई, 1964

(ii) श्रीवास्तव, रमाशंकर, कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, दिल्ली, 1965

(iii) मिश्र, हृदयनारायण, समकालीन दार्शनिक चिन्तन, कानपुर, 1966

(iv) राव, नागराज, कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, मुंम्बई, 1970

(v) मूर्ति, के. तथा राव, रामकृष्ण (संपादक), रीसेन्ट ट्रेन्ड्स इन इंडियन फिलॉसफी, मुंम्बई, 1972

(vi) लाल, बसन्तकुमार, कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, दिल्ली, 1973

(vii) सक्सेना, लक्ष्मी, समकालीन भारतीय चिन्तन, लखनऊ, 1974

(viii) चटर्जी, मार्गरेट, कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी, (द्वितीय श्रृखला), लंदन, 1974

(ix) देवराज, नन्दकिशोर, इण्डियन फिलॉसफी टु–डे, दिल्ली, 1975

(x) रीप, डेल, इण्डियन फिलॉसफी सिन्स इण्डिपेन्डेन्स, कलकत्ता, 1978

(5) राधाकृष्णन्, हिस्ट्री आफ फिलॉसफी : ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, 1952

(6) राजू, पी.टी., इन्ट्रोडक्शन टु कम्पेरेटिव फिलॉसफी, 1978

(7) रमण, एन.एस.एस., 'इज कम्पेरेटिव फिलॉसफी पासीबिल' ? डॉ. देवराज द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'इण्डियन फिलॉसफी टु–डे' में

(8) दि इण्डियन जर्नल ऑफ थियोलॉजी, कलकत्ता अंक 27–1–2; 1978 में समकालीन दर्शन एवं विचारकों पर लेखक ने विस्तार से चर्चा की है।

(9) मूर्त्ति, 'सम थाट्स ऑन दि इण्डियन फिलॉसफी आफ लैंगुएज' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस, 1963, पृ0 31.

(10) देवराज, फिलॉसफी ऑफ कल्चर, इलाहाबाद, 1963

(11) त्रिपाठी, रमाकान्त, माई क्वेस्ट फार द सेल्फ, डॉ. देवराज द्वारा सम्पादित इण्डियन फिलॉसफी टु–डे' में, पृष्ठ 253–66.

परिच्छेद : तीन

स्वातंत्र्योत्तर-कालीन मौलिक दार्शनिक चिन्तन

सब वैचारिक लेखन स्थूल रूप से तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है - (1) आपदेखी- आपबीती की कथा कहने वाला और उसके अर्थ की गहराईयों में उतरने का प्रयत्न करने वाला, (2) दूसरों की देखी के अर्थ को समझने और उसका विवेचन करने वाला, और (3) उपर्युक्त दोनों की कही का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने वाला। किसी भी समाज में विचार का आरम्भ स्वभावत: पहले प्रकार के लोगों से ही होता है, इसी से वे द्रष्टा, ऋषि, नबी कहे जाते हैं। उसके बाद उनकी कही बात के विवेचन का, उसका अर्थ समझने के प्रयत्न का आरम्भ होता है। इसे उस समाज की विचार-परम्परा कहा जाता है। उसके बाद और साथ-साथ इस परम्परा का लेखा-जोखा रखने वाले लोग आते हैं। सामान्यत: अध्यापक, विद्वान, शास्त्रविद् ये तीसरे प्रकार के लोग होते हैं। ऐसा नहीं कि दूसरे प्रकार के लोगों में अपना कुछ देखने वाले होते ही नहीं, इनमें कुछ इन मूल द्रष्टाओं की बात को अपनी देखी-महसूसी बात पर परखने वाले भी होते हैं, किन्तु अधिकांश केवल शाब्दिक विचार-परम्परा में ही आगे कड़ियाँ जोड़ते और शब्दार्थों की गहराई में ही आगे उतरते हैं। प्राय: ही यह शाब्दी परम्परा कुछ समय बाद अनुभव से बहुत दूर चली जाती है और दृष्ट अर्थ के विवेचन की सम्भावनायें भी चूक जाती हैं; और तब शुद्ध शाब्दिक रचनाएँ या पिष्ट-पेषण ही शेष रह जाता है। ऐसे में कोई इस लीक पीटने की स्थिति से बाहर निकलकर अनुभव का, वस्तु का, तत्त्व का साक्षात्कार करता है और तब एक नयी विचार-परम्परा का आरम्भ होता है। ऐसा नहीं है कि समाज में एक समय में एक ही विचार परम्परा रहती है। ऋषि या द्रष्टा अनेक होते हैं और इस प्रकार उनसे प्रवर्तित विचार परम्परायें भी अनेक होती हैं। इन परम्पराओं में परस्पर वाद-विवाद चलता है, जो इन परम्पराओं को आत्मालोचन के लिए विवश करता है, जिससे उनमें परिष्कार और विस्तार होता है, गहराई आती है। इनका यह पारस्परिक विवाद इनमें पारस्परिकता भी लाता है जिससे ये एक परिवार के अंग बनते हैं। जैसे एक व्यक्ति विचार करते हुए अपने में ऊहापोह करता है उसी प्रकार ये विचारधारायें एक समाज के विचार में ऊहापोह जैसी बनती हैं।



यशदेश शल्य *: ''समकालीन भारतीय दर्शन : स्थिति और परिस्थिति, समसामयिक चिन्ताएं-पृ. 216 से साभार*

यशदेव शल्य के दर्शन में तत्त्वमीमांसा का औचित्य

अम्बिकादत्त शर्मा

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन में राष्ट्रभाषा "हिन्दी" के माध्यम से जो सृजनात्मक दार्शनिक चिन्तन हुआ है, आचार्य यशदेव शल्य उसके शलाका पुरुष हैं। उनके सम्पूर्ण जीवन को आत्मान्वेषी दार्शनिक चिन्तन का कृत्यानुष्ठान कहा जा सकता है। मूल्यात्मक अन्तर्दृष्टि एवं गम्भीर तर्कणाशक्ति का अद्भुत समायोजन इनके चिन्तन में देखने को मिलता है। इनकी मर्मस्पर्शी मेधा किसी विचार के गूढ़ार्थ को उसके नेपथ्य में जा कर उद्घाटित कर देती है। यही कारण है कि इनकी भाषा भाव से अतिरंजित होकर अक्सर अधिभाषीय आयाम में प्रत्यङ्मुख चैतन्य का प्रत्यायन करते हुए एक सहज दुरूहता लेकिन चकित कर देने वाली मौलिकता में परिणत हो जाती है।

आचार्य यशदेव शल्य की दर्शन–साधना का समारम्भ एक ऐसे वातावरण में हुआ जब स्वाधीनता संग्राम के दिनों में और उसके बाद भी भारतीय प्रोफेसर अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीय दर्शन की आधुनिक व्याख्या करते थे या पाश्चात्य दर्शन के प्रभाव में नयी रचना का निरर्थक प्रयास करते थे। निरर्थक इसलिए क्योंकि जिन्हें संदर्श बनाकर ऐसी रचनायें की जाती रहीं, उन्हीं के द्वारा उसे मान्यता प्रदान नहीं की गयी। वास्तव में ऐसी औपनिवेशिक मनोवृत्ति, उस पर विदेशी भाषा का प्रभुत्व और सांस्कृतिक अनिश्चय की स्थिति एक वैचारिक दासता और आन्तरिक गुलामी के अतिरिक्त कुछ नहीं थी। इस निराशाजनक स्थिति में विश्वविद्यालयीय व्यवस्था से बाहर रहकर, उसपर भी "हिन्दी" को अपने विचार–विनिमय का माध्यम बनाते हुए, आचार्य शल्य जी की दर्शन–साधना निःसन्देह एक साहसिक अभियान रही है। सम्भवतः विश्वविद्यालयीय सुविधाओं के अन्दर रहकर वे अपने अभियान में उतने सफल नहीं हो पाते जितना कि उन्होने बाहर रहकर अपने को चरितार्थ किया है। वस्तुतः दार्शनिक अध्ययन और लेखन शल्य जी के लिए कभी भी विद्वत्ता–लाभ और विद्वत्ता–प्रदर्शन का साधन नहीं होकर आत्म–चरितार्थन और आत्मसर्जन का कर्म ही रहा है।[1]

आचार्य शल्य जी ने अपनी दर्शन–साधना की ऐसी भाव भूमि को अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना (1954) और बाद में दर्शन प्रतिष्ठान–जयपुर के माध्यम से संसदीय स्वरूप प्रदान करते हुए मानो उसे लोकार्पित किया है। एक लम्बे समय तक "दार्शनिक त्रैमासिक" एवं "दर्शन समीक्षा" और 1985 से "उन्मीलन" नामक शोध पत्रिका

का सम्पादन करते हुए उन्होंने हिन्दी में गम्भीर दार्शनिक चिन्तन के लिए एक विशुद्ध भारतीय मंच का निर्माण किया है। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के माध्यम से उन्होंने ऐसी दार्शनिक कृतियों का सृजन किया और करवाया है जो हमें न केवल हिन्दी में पाश्चात्य-दार्शनिक विधाओं का उत्कृष्ट परिचय देती हैं बल्कि भारतीय अन्वीक्षा को अपने विस्तार एवं अपनी शर्तों पर पाश्चात्य दर्शन के साथ संवाद स्थापित करने का सामर्थ्य भी प्रदान करती हैं। आचार्य शल्य, प्रो. दयाकृष्ण, प्रो. के. सच्चिदानन्द मूर्ति, प्रो. संगमलाल पाण्डेय, प्रो. जी.सी. पाण्डे, प्रो. श्रीराम माधव चिंगले इत्यादि के द्वारा उस समय हिन्दी में उत्कृष्ट दार्शनिक साहित्य के सृजन का जो अभियांन चलाया गया था वह स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण स्वर्णिम उषा काल कहा जा सकता है। इस अभियान में आचार्य शल्य स्वयं उत्प्रेरक और पथप्रदर्शक भी रहे, स्वयं को उन्होंने प्रशिक्षित भी किया और सम्भवतः इस अभियान ने अपनी पूर्णता को भी शल्य जी के चिन्तन में ही प्राप्त किया है। यदि स्वतन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन का इतिहास हिन्दी में लिखा जायेगा तो आचार्य शल्य जी का दर्शन ही उसका सर्वाधिक लम्बा और महत्त्वपूर्ण अध्याय होगा।

I

लगभग 1950 से अद्यतन आचार्य शल्य के निर्बाध और अविचलित चिन्तन ने अपने आप में एक सम्पूर्ण तंत्र का रूप ले लिया है। उनका चिन्तन सर्वथा मौलिक है और उनकी रचनाओं का सर्वत्र सम्मान हुआ है, तथापि भारतीय अर्थाभिधान में मौलिकता एंक मूलगामी भविष्योन्मुख गति के रूप में ही पुरस्कृत होती है। सम्भवतः ऐसी ही सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्यता के चलते वे अपने चिन्तन को "चिदद्वैतवाद" के रूप में पहचानते हैं।[2] यह एक प्रकार से अद्वैत वेदान्त–परिवार के अन्तर्गत का "वाद" है, फिर भी कुछ गहरे अर्थों में उससे भिन्नता को लिए हुए है। इनकी दृष्टि में एक अतिक्रामी और सर्वथा अपरिभाषेय चैतन्य की विषयोन्मुखता और आत्मोन्मुखता रूपी पराङ्मुख और प्रत्यङ्मुख गति के मध्य इस संसार में जो कुछ भी है वह सब चैतन्य का पूर्वापेक्षी, चैतन्यपूर्वक है। आचार्य शल्य जी अपनी दर्शन–साधना को "अनुसन्धान यात्रा" के रूप में ख्यापित करते हैं, इसलिए उनके "चिदद्वैतवाद" ने भी बहुतेरे सोपानों अथवा प्रस्थानों से गुजरते हुए वर्तमान स्वरूप को अवाप्त किया है। इनके चिन्तन के प्रथम प्रस्थान को पाश्चात्य अनुभववाद के अन्तस् में प्रवेश और उससे मोहभंग के रूप में समझा जा सकता है। अपनी प्रारंभिक कृतियों यथा "दार्शनिक विश्लेषण" (1959–60) में वे पाश्चात्य अनुभववाद एवं उससे सम्बन्धित समकालीन दार्शनिक प्रवृत्तियों के ओर–छोर की आलोचनात्मक समीक्षा करते हुए उन्हें अपर्याप्त और पूर्वाग्रह ग्रस्त पाते हैं। शल्य जी की दृष्टि में पाश्चात्य अनुभववाद की अपर्याप्तता एवं पूर्वाग्रह अनुभव के स्वरूप विषयक मान्यता में ही निहित है।[3] इसके परिणामस्वरूप शल्य जी के चिन्तन की परिणति "अवधारणात्मक सापेक्षतावाद" में होती है। चिन्तन के इस सोपान पर सत् उनके लिये संवेद–प्रदत्त और शेष विकल्पात्मक नहीं रहा बल्कि वह विकल्प–प्रदत्त तथा अवधारणा–सापेक्ष हो गया। अवधारणा–सापेक्षता की दृष्टि शल्य जी के चिन्तन का एक अन्तरिम सोपान रहा है। इसकी अभिव्यक्ति विशेषरूप से "ज्ञान और

सत्'' (1967–68) नामक पुस्तक में हुई है। परन्तु यह दृष्टि उनके लिए अधिक समय तक सन्तोषप्रद नहीं बनी रह सकी। उनके ही शब्दों में ''बाह्य विषय के संबंध में अवधारणा–सापेक्षता की बात फिर भी किसी तरीके से चल सकती है, किन्तु कर्त्तव्य, आत्मा आदि विषयों के सन्दर्भ में कैसे चल सकती है?''[4] इस तरह शल्य जी अपने ही अवधारणा–सापेक्षतावाद से उत्तीर्ण हो कर अपने चिन्तन के दूसरे महत्त्वपूर्ण सोपान पर पहुँचते हैं जिसे चैत्त सापेक्षतावाद से निरपेक्ष चैतन्य में उत्क्रमण के रूप में समझा जा सकता है। इन दोनों ध्रुवों के मध्य दोलायमान शल्य जी के चिन्तन को ''विषय एवं आत्म'' (1972) नामक पुस्तक में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस पुस्तक में उन्होंने एक ओर बाह्य विषय को सापेक्षता से मुक्त कर उसे उसका वस्तुगत आधार लौटाने का प्रयास किया है तो दूसरी ओर आत्मा को सापेक्ष विषयता से मुक्त कर आत्मसत्ता में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। लगभग पन्द्रह वर्षों के पश्चात् शल्य जी को यह भान हुआ कि उपर्युक्त प्रयत्न में वे पूर्णतः सफल नहीं हो सके थे। स्वयं उन्होंने स्वीकार किया है कि वे विषय की बाह्यता के चिद्‌गत स्रोतों एवं आत्मा की ऐसी तात्त्विकता की खोज में थे जो भूत–वस्तुरूप न होकर भव्यात्मक हो। उनके ही शब्दों में ''अब विषय और आत्म'' में जबकि मैं विषय के चिद्‌गत स्रोतों को देख पाया लेकिन स्वयं चेतना के उस स्वरूप को नहीं देख पाया जिससे ये स्रोत उद्‌गत होते हैं।''[5] इस प्रकार चेतना अथवा आत्मा के उस स्वरूप का सन्धान जिससे अनन्त विषयों के स्रोत उद्‌गत होते हैं, शल्य जी के दार्शनिक चिन्तन का अन्तिम और तुरीय सोपान है। उनकी इस गम्भीर दृष्टि का विकास ''चिद्‌विमर्श'' (1993) नामक ग्रन्थ में हुआ है। यहाँ से वे विषय की चिद्‌गत संरचनाओं की प्रतिष्ठा चेतना की आत्मगत प्राकृतिकता से आत्मोन्मुख निवृत्ति में देखते हैं। यही शल्य जी के चिन्तन का चरम चिदद्वैती प्रस्थान हैं। इसका और अधिक पल्लवन उनके परवर्ती ग्रन्थों, जैसे ''सत्ताविषयक अन्वीक्षा'' ''समाज : दार्शनिक परिशीलन'' और ''मूल्यतत्त्व–मीमांसा'' में हुआ है। यहाँ अवधेय है कि शल्य जी के चिन्तन के विभिन्न सोपानों में उन्हें ''पहले'' और ''बाद'' के शल्य जी में विभाजित नहीं किया जा सकता। उनके चिन्तन के विभिन्न सोपान एक–दूसरे से अनन्वित नहीं बल्कि पूर्णतया अन्वित हैं। यहाँ तक कि एक ही मूल के विभिन्न कल्प और उसी से अनुप्राणित भी हैं। वह मूल एक ऐसी चेतना है जो अपने में जगद्‌भाव का आपेक्ष करती है और पुनः आत्मोन्मुख निवर्तन में अपने भाव्य स्वरूप का साक्षात्कार करती है। आचार्य शल्यजी इस मूल चैतन्य को सर्वथा अपरिभाषेय बताते हैं। अपरिभाषेय इसलिए कि यह सब कुछ का पूर्ववर्ती है। यह पूर्ववर्तिता वास्तव में सब कुछ होने की पूर्वापेक्षा भी है। अतः परिभाषा जो अवधारणात्मक होती है वह अवधारणा भी चैतन्य की पूर्वापेक्षा में ही सम्भव है। यदि चैतन्य कम से कम ''पूर्वपेक्षा'' के रूप में ही परिभाषित किया जाय तो यहाँ पूर्वापेक्षा भी अवधारणात्मक रूप में ही गृहीत हो सकेगी और तब परिभाषा स्वयं में एक प्रकार से ''व्यत्यय दोष'' से ग्रसित हो जायेगी।[6] इसलिए यह सदैव अनिर्धार्य, निरूपाधिक और अतलान्त गहनता ही बनी रहती है।

II

यदि शल्य जी की उपर्युक्त अनुसन्धान–यात्रा पर, जो वास्तव में सत्ता की अनुसंधित्सा है, गम्भीरता से विचार किया जाय तो वह एक व्यापक परिप्रेक्ष्य को लिये हुए प्रतीत होती है। यद्यपि वे स्वयं कहते हैं कि उन्हें दर्शन के इतिहास की जानकारी कम ही है, लेकिन उनके चिन्तन एवं लेखन में दर्शनों के इतिहास की ऐसी सुतीक्ष्ण समीक्षा एवं रचनात्मक उपयोग देखने को मिलता है, जहाँ प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शन की विभाजन–रेखा ही समाप्त हो जाती है। यही कारण है कि उनके लेखन में तुलनात्मक दर्शन की एक ऐसी विधा फलित हुई है जहाँ दो दर्शनों के तुल्य सिद्धान्तों की आंगिक एकता प्रदर्शित नहीं होती बल्कि उस आधारभूत ढ़ाँचे का सन्धान होता है जिसके चलते एक ही मूल के और दो भिन्न मूल के दर्शनों में एकता अथवा भेद परिलक्षित होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि शल्य जी सामान्य रूप से अपने चिन्तन को विश्व–दर्शन के परिप्रेक्ष्य में संसदीय रूप प्रदान करते हैं। परन्तु यदि इनके चिन्तन का कोई एक विशेष पूर्वपक्ष ढूँढने का प्रयास किया जाय तो कहा जा सकता है कि शल्य जी की "सत्ता विषयक अन्वीक्षा" का पूर्वपक्ष अनुभववाद, या कहें तार्किक अनुभववाद रहा है। तार्किक अनुभववाद के प्रति प्रतिक्रिया के फलस्वरूप शल्य जी के चिन्तन में एक विशेष प्रकार का "अतिशय" उत्पन्न हुआ है जिसे 1970 के बाद के उनके लेखन में स्पष्ट रूप से देख जा सकता है। इस अतिशय को तार्किक प्रत्यक्षवादियों द्वारा तत्त्वदर्शन या स्पैकुलेटिव मेटाफिजिक्स के प्रत्याख्यान के पौर्वात्य प्रत्युत्तर के रूप में समझा जा सकता है। प्रो. जी.सी. पाण्डे[7] शल्य जी की दर्शन साधना पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि "शल्य जी की दर्शन–साधना का प्रारम्भ तत्त्वदर्शन–विरोधी बौद्धिक परम्परा के अन्दर हुआ है और उनकी प्रारम्भिक रचनायें तो विशुद्ध रूप से समसामयिक पाश्चात्य दर्शन के घेरे में थीं, किन्तु क्रमशः उनके चिन्तन में व्यापक परिवर्तन आया और तत्त्वदर्शन के विरोध के स्थान पर उन्होंने तत्त्वदर्शन की विधा के अन्दर ही अपना विकसित कृतित्व सम्पन्न किया है।" परन्तु शल्य जी के प्रारम्भिक चिन्तन के समसामयिक पाश्चात्य दर्शन के घेरे में होने का अर्थ उसका समर्थन नहीं था। इसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से भी की जा सकती है। वास्तव में समसामयिक पाश्चात्य दर्शन अथवा अनुभववाद के विकसित प्रारूप सदैव ही उनके चिन्तन में पूर्वपक्ष के रूप में ही प्रस्तुत हुऐ हैं, जबकि अनुभववाद उनके चिन्तन "चिदद्वैतवाद" का एक कल्प भी है। चेतना के विषयोन्मुख प्रवर्तन में अनुभववाद एक अनिवार्य अवस्था के रूप में प्रस्तुत होता है। हाँ, अनुभववादी जब सत्ता को ऐन्द्रिक प्रदत्तता तक में सीमित कर देते हैं तो शल्य जी का विरोध मुखरित हो उठता है। इस बात को उनके "दार्शनिक विश्लेषण" के अन्तिम अध्याय की विवेचना में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसलिए तार्किक अनुभववाद की परिणति यदि तत्त्वदर्शन के खण्डन में हुई तो शल्य जी के चिन्तन का पर्यवसान तत्त्वदर्शन के मण्डन में होता है। चिद्विमर्श, सत्ता विषयक अन्वीक्षा एवं मूल्यतत्त्वमीमांसा आदि ग्रन्थ स्पैकुलेटिव मेटाफिजिक्स अथवा तत्त्वदर्शन के पुनरूद्वार के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं।

अवधेय है कि आचार्य यशदेव शल्य के 1970 के बाद के लेखन का एक विशेष रुझान, जिसे हमने तत्त्वमीमांसा के प्रत्याख्यान का पौर्वात्य प्रत्युत्तर रूप "अतिशय" कहा है, वह स्वातन्त्र्योत्तर काल में हुए भारतीय दार्शनिक चिन्तन में एक नई दिशा का द्योतक कहा जा सकता है। इसे स्वातन्त्र्योत्तर काल में हुए भारतीय दार्शनिक चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में परिगणित किया जाना चाहिए। जैसाकि सर्वविदित है, वियना सर्किल (1929) के पश्चात् यूरोपीय चिन्तन का विकास भारतीय दर्शन के लिए एक से बढ़कर एक चुनौतियों को लेकर सामने आया है। इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चुनौती तत्त्वमीमांसा के प्रत्याख्यानमूलक प्रयासों को कहा जा सकता है। एक ओर जहाँ भारतीय दर्शन के लिए तत्त्वमीमांसा किसी भी मूल्य पर त्याज्य नहीं है, वहीं दूसरी ओर तार्किक अनुभववादियों ने सार्वभौमिक रूप से परम्परागत तत्त्वदर्शन को अर्थहीन एवं व्यर्थ घोषित करते हुए दार्शनिक कर्म की इतिकर्त्तव्यता को भाषा विश्लेषण तक सीमित कर दिया। ध्यातव्य है कि यह सब कुछ विज्ञान और वैज्ञानिक प्रवृत्तियों की देख–रेख में ही हो रहा था। एतद्विषयक शल्य जी की यह टिप्पणी बहुत समीचीन है कि यूरोप में जन्मे मानवीय ज्ञान की अधिकांश विधाओं का अगुआ और यहाँ तक कि उनका सांस्कृतिक नेता विज्ञान ही रहा है। विज्ञान के लिए जगत् की यथातथ्य प्रदत्तता ही उसका अन्तिम सत्य है। इसी मानदण्ड से प्रेरित होकर वियना सर्किल के दार्शनिकों ने जीवन और जगत् की इन्द्रिय–संवेद्य अर्थवत्ता को चरम रूप में प्रस्तावित किया जिसकी स्वाभाविक परिणति परम्परागत तत्त्वमीमांसा के निराकरण में हुई। उनके लिए सत् वही है जो हमारे ऐन्द्रिक अनुभव में आता हो और आनुभविक उपकरणों द्वारा जिसे प्रमाणित अथवा सत्यापित किया जा सके। स्पष्ट है, तार्किक अनुभववादियों के मान्य उपकरणों से तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञप्तियों को सत्यापित नहीं किया जा सकता, इस कारण वैसी सभी प्रतिज्ञप्तियाँ उनके लिए अर्थहीन हैं। वे सभी प्रतिज्ञप्तियों को विश्लेषणात्मक (अनुभवपूर्व) और संश्लेषणात्मक (आनुभविक) कोटि में विभाजित करते हैं, जबकि प्रतिज्ञप्तियों का एक तीसरा प्रकार भी हो सकता है जो एक तत्त्वमीमांसीय तंत्र के तर्क–संस्थान में सार्थक प्रतीत होते हैं। शल्य जी ने ऐसी प्रतिज्ञप्तियों को "प्रतिपादनात्मक" कहा है, जिनके विषय न तो काल्पनिक होते हैं और न ही अतिप्राकृतिक जगत् की वस्तुयें होती हैं।[8]

III

सम्प्रति यूरोप में चलाया गया यह आन्दोलन पुराना पड़ गया है, या कहें कि उत्तर आधुनिकतावाद के विखण्डनपरक चिन्तन में इसका स्वरूप बदल गया है, फिर भी भारतीय दर्शन के लिए यह विश्वदर्शन मंच पर आज भी एक प्रबल पूर्वपक्ष के रूप में बना हुआ है। यह वर्तमान युग की ऐसी विशेषता है कि हम इस अन्तरप्रान्तीय पूर्वपक्ष की अनदेखी भी नहीं कर सकते हैं। यदि भारतीय दर्शन म्यूज़ियम में रखी कोई दर्शनीय वस्तु नहीं बल्कि अपने वास्तविक स्वरूप में आत्मसर्जनमूलक विचारों की आद्यन्त जीवन्त परम्परा है, तो उपर्युक्त पूर्वपक्ष का भारतीय प्रत्युत्तर अवश्य प्रस्तुत किया जाना चाहिए। ऐसी भी बात नहीं कि स्वातन्त्र्योत्तर युग में इस अवान्तर पूर्वपक्ष की यत्र–तत्र चिन्ता परिलक्षित नहीं होती है, लेकिन एक योजनाबद्ध एवं व्यवस्थित प्रत्युत्तर का सर्वथा अभाव रहा है। उस

काल में भी भारतीय विश्वविद्यालयों में दार्शनिकों के एक ऐसे वर्ग को रेखांकित किया जा सकता है जो भारतीय दर्शन का पक्षधर था और पाश्चात्य दर्शन की अधुनातन प्रवृत्तियों से अपरिचित भी नहीं था। ऐसे दार्शनिकों के लेखन में लगभग छठवें दशक के पश्चात् उपर्युक्त पूर्वपक्ष की अच्छी–खासी चिन्ता दिखाई पड़ती है। शल्य जी के अतिरिक्त उनमें से कुछ का यहाँ नामतः उल्लेख स्थाने होगा। वे हैं– टी.आर. वी. मूर्ति, श्रीराम माधव चिंगले, कालिदास भट्टाचार्य, शिवशंकर राय, संगमलाल पाण्डेय,नन्दकिशोर देवराज, अशोक कुमार चटर्जी, रमाकान्त त्रिपाठी, ज.स.र.ल. नारायण मूर्ति, याकूब मसीह, गोविन्दचन्द्र पाण्डे, रेवती रमण पाण्डेय, देवकीनन्दन द्विवेदी इत्यादि, जिन्होंने तत्त्वमीमांसा के निराकरण की समीक्षा अपनी–अपनी दृष्टियों से करते हुए कम से कम एक–एक निबन्ध तो अवश्य लिखा है। यद्यपि इन आचार्यों के पृथक्–पृथक् प्रयासों की प्रकृत पूर्वपक्ष के प्रति एक संगठित एवं योजनाबद्ध प्रयास नहीं कहा जा सकता, लेकिन उनके प्रयासों पर समवेत रूप से विचार करने पर तत्त्वमीमांसा के प्रत्याख्यान के विरोध में कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को सामने लाया जा सकता है।

अवधेय है कि एतद्विषयक शल्य जी का एकल प्रयास बहुत ही व्यापक, व्यवस्थित एवं टिकाऊ रहा है। उन्होंने अपने चिन्तन में कुछ ऐसे आधारों को विकसित करने का प्रयास किया है जो उन मानदण्डों की अपर्याप्तता को प्रदर्शित करते हैं जिन पर आश्रित हो तत्त्वमीमांसा का प्रत्याख्यान किया जाता है। साथ ही साथ उन्होंने समानान्तर रूप से एक 'चिदद्वैतवादी' तत्त्वमीमांसा को भी प्रस्तुत किया है, जो अपने मूलगामी स्वरूप में औपनिषदिक है और उसमें विचार्य तत्त्व किसी अतिप्राकृतिक लोक की सत्तायें नहीं हैं। शल्य जी[9] के अनुसार एक समय दर्शन का कार्य आत्मा, ईश्वर, सृष्टि की उत्पत्ति और प्रयोजन पर विचार करना था, और इस विचार को सत्य का ज्ञापक तथा उन्मेषक माना जाता था। किन्तु पीछे दर्शन के बौद्धिक कल्पना–प्रधान हो जाने के कारण ये तत्त्व मननीय और साक्षात्कार्य अर्थ नहीं रह कर अनुमानगम्य परोक्ष अर्थ में कल्पनीय हो गये। इस प्रकार दर्शन के द्वारा प्राकृतिक वस्तुलोक के समकक्ष एक अतिप्राकृतिक वस्तुलोक की रचना हो गई और परिणामस्वरूप दर्शन को अपने सम्बन्ध में अतिप्राकृतिक वस्तु–विषयक विज्ञान होने का भ्रम हुआ। काण्ट के द्वारा तत्त्वमीमांसा का प्रत्याख्यान इसी प्रकार के अपविज्ञान का प्रत्याख्यान है। इसके विपरीत, शल्य जी के अनुसार, भारतीय तत्त्वदर्शन का मूल स्वरूप अतिप्राकृतिक विज्ञान जैसा नहीं रहा है। उपनिषदों का 'तत्त्वमसि' 'आत्मा वै ब्रह्म' आदि उक्तियाँ किसी अतिप्राकृतिक सत्ता के प्रतिपादक वाक्य नहीं हैं बल्कि आत्म–मननजन्य दृष्टि की अभिव्यक्तियाँ हैं। इस दृष्टि से भारतीय तत्त्वदर्शन एवं तर्कीय प्रत्यक्षवादियों द्वारा प्रत्याख्येय तत्त्वमीमांसा में भेद अपेक्षित है। और तब भारतीय तत्त्वदर्शन अपने मूल स्वरूप में स्पेकुलेटिव नहीं बल्कि नॉन स्पेकुलेटिव ही ठहरता है। शल्य जी की सत्ताविषयक अन्वीक्षा इस अर्थ में औपनिषदिक तत्त्वदृष्टि का नॉन स्पेकुलेटिव पुनर्व्याख्यान कहा जा सकता है।

पुनः शल्य जी तत्त्वमीमांसा को निराकृत करने वाली दार्शनिक प्रवृत्ति की सम्यक्ता पर प्रश्न उठाते हुए कहते हैं कि 'तत्त्वमीमांसा की व्यापक अस्वीकृति के पीछे उनकी

एकमात्र पूर्वमान्यता यह रही है कि सत् जगत्पर्यन्त है किन्तु उनके अनुसार, मनुष्य की कल्पना जगत्पर्यवसायी नहीं है।'[10] वास्तव में सत् को जगत्पर्यन्त मानने वाली दार्शनिक प्रवृत्ति क्या इस प्रश्न पर कभी विचार करती है कि जब मानवीय कल्पना जगत्पर्यवसायी नहीं है तो उसका सत् किस प्रकार केवल और केवल जगत्पर्यन्त ही हो सकता है? शल्य जी की यह सारगर्भित टिप्पणी इस बात को गम्भीरता से प्रस्तावित करती है कि ऐसा सिद्धान्त सम्पूर्ण मानवीय पर्येषणाओं के साथ न्याय नहीं कर सकता और न ही इस मर्म की व्याख्या कर सकता है कि मानवीय कल्पना जगत्पर्यवसायिता का अतिक्रमण क्यों करती है। वस्तुतः इसी अतिक्रमणशीलता में मनुष्य की विशिष्टता और सत्ता का रहस्य छिपा हुआ है, और यह मनुष्य के हर एक क्रिया–कलाप में दिखाई पड़ता है। मनुष्य के सभी प्रयत्न प्राप्त स्थिति से उबरने और उससे आगे अपने को प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न के रूप में व्याख्यायित किये जा सकते हैं। मानो उसका कोई गन्तव्य अवश्य है और उसकी सापेक्षता में वह अपनी प्राप्त स्थिति को न्यून पाता है। यदि हम इस बात को स्वीकार करते हैं तो तत्त्वमीमांसा के गहरे पानी में गोता लगाना ही होगा और सत्ता की अन्वीक्षा इस रूप में करनी होगी जिसमें मानवीय पर्येषणायें मूल्यबोध के उत्कर्ष में अपनी आत्मपूर्ति देख सकें। शल्य जी अपने 'चिदद्वैतवाद' में सत्ताविषयक ऐसी ही व्यापक अवधारणा को सामने लाने का वरेण्य प्रयास करते हैं। उनका चिन्तन एक ऐसे अखण्ड सत्य की अन्वेषणा है जो समस्त खण्ड सत्यों का ग्रास करता हुआ उनका अपनी भूमा में अतिक्रमण करे। इसीलिए उन्होंने 'सत्ता' को 'अस्तित्व' और 'वस्तुता' की कोटियों से हटाकर 'भाव्य–भाव' की कोटि में अवधारित किया है।[11] उनके अनुसार अकेला भाव्य कहने में यह दोष है कि तब सत् स्वरूपतः अपूर्ण हो जायेगा, केवल भाव कहने से न अनिष्ट, अव्यवस्था और न्यूनता का कोई अर्थ रहेगा और न मूल्यपर्येषणा का। एक ओर सत्ता की गरिमा के लिए यह आवश्यक है कि वह भाव्य हो और दूसरी ओर भाव्य के सत् होने के लिए यह आवश्यक है कि वह निरपेक्ष पूर्णभाव हो। यह अन्तर्विरोध ही सत्ता की विपुल पूर्णता का रहस्य है।

इस प्रकार सत्ता को उसकी विपुलता एवं पूर्णता में अवधारित करते हुए शल्य जी अस्तित्व एवं वस्तुता की कोटियों को सर्वथा बहिष्कृत नहीं कर देते हैं बल्कि अस्तित्व और वस्तुता के आदिम स्रोत को सत्ता में ही देखते हैं। उनके ही शब्दों में 'अस्तित्व को मैंने सत्ता के जीवन में एक आगन्तुक आविर्भाव के रूप में देखा है, उसके एक आयाम या घटक के रूप में नहीं। पुनः 'अस्तित्व' मेरी विचार–व्यवस्था में सांवृत्तिक चेतना, वेदना, अन्नमय–प्राणमय–मनोमय कोश, ऐन्द्रिक–दैहिक आविर्भाव है।'[12] सत्ता के सन्दर्भ में अस्तित्व को 'आगन्तुक आविर्भाव' कहने का तात्पर्य यह है कि अस्तित्व सत्ता की पूर्णता के लिए अनिवार्य नहीं है। यह सत्ता के इतिहास में एक अनादि व्यवधान है। यही व्यवधान चैतन्य सत्ता के जगद्विवर्त का निमित्त भी है। इसलिए अस्तित्व के सत्य होने के लिए यह अनिवार्य है कि वह सत्ता में अधिष्ठित हो, किन्तु सत्ता की पूर्णता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अस्तित्व की कोटियों में अभिव्यक्त भी हो। प्रपंच विषयक श्रुतियों की व्याख्या में शंकराचार्य भी "न हि सृष्ट्यादि प्रपंचोविवक्षितः" कहते हुए ब्रह्म के लिए सृष्टि को आवश्यक नहीं पाते हैं। शल्य जी की व्याख्या भी कुछ इसी प्रकार की है, जब वे कहते

हैं कि 'ईश्वर का अस्तित्व है' का अर्थ यह नहीं कि "जगत् की वस्तुओं और जीवों का अस्तित्व है" बल्कि यह ईश्वर के अपने अस्तित्व का ही कथन है, जिस प्रकार किसी कलाकार के अस्तित्व के सम्बन्ध में कथन का यह अर्थ नहीं है कि उसकी कृतियों का अस्तित्व है।

इसलिए अस्तित्व मात्र की आगन्तुकता अथवा अपर्याप्तता, जिसे शल्य जी सत्ता में आक्षिप्त एक व्यवधान के रूप में देखते हैं, उनकी सम्पूर्ण विचार–व्यवस्था का नाभिक जैसा है। अपनी रचनाओं में उन्होंने इसकी व्याख्या तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय, मूल्यमीमांसीय एवं प्रयोजनात्मक दृष्टि से बड़े विस्तारपूर्वक की है। यह उनके चिन्तन का सर्वाधिक गूढ़ पक्ष है। उनके गूढ़ार्थ को उनके ही शब्दों में प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि 'वह सब कुछ जो है– आगन्तुक स्वभाव है, और यह एक ही बात इसे सत्ता के लिए अपर्याप्त बना देती है। उदाहरण के लिए यह 'घट' देश, काल एवं अन्य वस्तु आदि–आदि सब में असत् से परिवेष्टित है। किन्तु यह केवल इसी कारण से आगन्तुक नहीं है बल्कि इसलिए आगन्तुक है क्योंकि यह अपने प्रत्यय में ही आगन्तुक है। उदाहरणतः यदि जगत् न केवल देश और काल में ही सर्वत्र आपूरित हो बल्कि अपने में अस्तित्व मात्र का भी समावेश करता हो तो भी यह अनिवार्य नहीं होगा, क्योंकि इसका अन्यथात्व कल्पनीय है, अर्थात् यह अपने प्रत्यय के लिए पर्याप्त नहीं है। दूसरी ओर आहंकारिक चैतन्य, जो "मैं" पद का वाच्य है, वह भी अनिवार्य नहीं है। यह केवल देश और काल में ही परिसीमित और व्यक्ति के रूप में अन्य व्यक्तियों से व्यावृत्त नहीं है, बल्कि अपने प्रत्यय में भी घट और जगत् के समान ही आत्म–अपर्याप्त है।[13]

IV

आचार्य शल्य अपनी विचार–व्यवस्था में तत्त्वमीमांसा के उत्स और औचित्य को प्रतिपादित करने के लिए घट–पट आदि प्राकृतिक वस्तुओं और "मैं" पद वाच्य आहंकारिक चैतन्य रूपी मनुष्य की आगन्तुकता और अपर्याप्तता में भेद करते हैं। यही भेद वह भूमि है जहाँ मानवीय चेतना का विश्लेषण और उसमें निहित अभीप्सा और मूल्यात्मक पर्येषणाओं का उद्घाटन तथा साथ ही साथ मनुष्य की तत्त्वमीमांसीय प्रवृत्ति के औचित्य की सिद्धि होती है। शल्य जी की दृष्टि में मनुष्य, पशु और भौतिक वस्तुओं को अस्तित्व के इतिहास में क्रमशः जगद्भावापन्न चैतन्य, चित्त और अचित् कहा जा सकता है। इसमें भौतिक अस्तित्व भीतर–बाहर उभयतः बन्द है और पाशव अस्तित्व भीतर से बन्द और बाहर से इतरोन्मुख खुला है। यह केवल मानवीय अस्तित्व है जो भीतर और बाहर दोनों ओर खुला है। इस प्रकार खुले होने से उसमें अपर्याप्तता वास्तव में आत्म–अपर्याप्तता का रूप ले लेती है। इस आत्म–अपर्याप्तता के बोध में उस पर्याप्तता की स्मृति या आभास भी अन्तर्निहित होता है, जिससे वह वियुक्त है। मानवीय–चेतना में अतिक्रामिता अर्थात् उबरने की प्रवृत्ति में, उसके आत्म संशोधनात्मक सभी प्रयत्नों में, यह सब कुछ भली–भांति देखा जा सकता है। शल्य जी के अनुसार आहंकारिक चैतन्य की आत्म–अपर्याप्तता दूसरे अस्तित्वों से इस अर्थ में गम्भीर एवं तीव्र है कि इसका प्रत्यय आत्म–बाह्य नहीं होकर आत्मप्रकाशित होता है। अर्थात् यह केवल अन्य–व्यावृत्त नहीं होकर आत्म–व्यावृत्त या आत्मनिर्वासित भी होता

है। यह अपने भीतर अपने अभाव से, अपने वैपरीत्य से, अनात्म से दंशित है। यह परिस्थिति इसे एक दूसरा ही आयाम प्रदान करती है। अर्थात् इसे अपने से अतिक्रामी सत्ता दे देती है। यही वह अतिक्रमण है जो प्लेटो द्वारा श्रेयस् को ज्ञान और सत् से ऊपर अतिसत् के रूप में रखने में अभिप्रेत है और जो "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" में श्वेतकेतु का सत्व श्वेतकेतु से ऊपर ब्रह्म में स्थापित करने को सार्थकता देता है। इसलिए मानवीय चैतन्य की विशिष्टता उसकी आत्मप्रकाशित आत्म–अपर्याप्तता का बोध है जो स्वयं व्यक्ति में अपने भाव से ऊपर उठने के अतिक्रान्त संकल्प के रूप में दृष्टिगत होता है। मानो अस्तित्व के इतिहास में मानव इसी संकल्प के साथ अपनी आँखें खोलता है।[14]

मनुष्य का एक अतिक्रामी संकल्प को लिए हुए अपनी आँखें खोलने का तात्पर्य यह है कि चेतना मनुष्य के माध्यम से पहली बार आत्मचेतन होती है और सत् के अन्वेषण में प्रवृत्त होती है। मनुष्य की यह अनुसन्धित्सा अपने होने के अर्थ, उसके आधार और गन्तव्य की जिज्ञासा के रूप में होती है। इस सृष्टि में मनुष्य के माध्यम से सत्ता स्वयं ही प्रश्न उठाती है कि सत्ता क्या है? शल्य जी के अनुसार इसका उत्स जगद्भाव में चेतना का अपने आप को आत्म अभावापन्न, आत्म–अपर्याप्त और आत्मनिर्वासित पाना है। तत्त्वमीमांसीय गति और प्रवृत्ति इसी मूल अभाव और अपर्याप्तता के स्रोत की खोज में जगद्भावापन्न चैतन्य (मनुष्य) अपार अर्थ–राशि का सृजन, अवगाहन और उसका अतिक्रमण करते हुए अपने मूल स्वरूप की ओर द्वितीयावर्तन करता है। यह द्वितीयावर्तन वास्तव में सत्कार्यात्मक नहीं बल्कि असत्कार्यात्मक अर्थ में आत्मोन्मुख निवर्तन है, जो चेतना के प्रत्यङ्मुख व्यापार में घटित होता है। सृष्टि के इतिहास में चेतना की प्रत्यङ्मुखता, जो मानवीय स्थिति की विलक्षण विशिष्टता है, एक मौलिक रूप से नव्य परिच्छेद है।

इस नव्य परिच्छेद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता "अतिक्रमणशीलता", अर्थात् अपने प्राप्त रूप का निषेध और आदर्श–पर्येष्य रूप का आक्षेप है। इसी के चलते मनुष्य सदैव अपने आदर्श से परिभाषित अस्तित्व की संज्ञा को प्राप्त करता है। शल्य जी[15] के अनुसार "मैं हूँ" यह अस्तित्व की ही आद्य और अधिष्ठानभूत घोषणा नहीं है बल्कि अधिक मौलिक रूप से यह अपनी भव्यता की भी घोषणा है। यहाँ से ही सृजन की, आरोहण की, अनात्म से मुक्ति की, आत्मव्यवधान के निवारण की और अपने मूल स्वरूप में लौटने की नहीं बल्कि आविर्भूत होने की यात्रा आरम्भ होती है। वस्तुतः शल्य जी के चिन्तन में प्रत्यङ्–मुख चेतना की जैसी गम्भीर और गहन विवेचना हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका सम्पूर्ण दर्शन प्रत्यङ्मुख चैतन्य के भाष्य, वार्त्तिक और अलंकार रूप विवेचना में ही फलित और प्रमाणित होता है। चैतन्य की मानुषी स्थिति में पराड़्.मुख और प्रत्यड़्.मुख नामक दो विपरीत दिशाओं में गति देखी जाती है। विषयोन्मुख इन्द्रिय–वृत्ति में चेतना का अपने विषयों में निःशेष हो जाना, उसको समर्पित हो जाना, पराड़्.मुखता की पराकाष्ठा है। इसके विपरीत प्रत्यड़्.मुखता आत्मोन्मुख अतिक्रमण के रूप में एक पूर्णतः मूलगामी घटना है। शल्य जी की सत्ताविषयक अन्वीक्षा में यह मूलगामी आत्मोन्मुख अतिक्रमण विषय से उसकी मूलाग्र अवधारणाओं में, अवधारणाओं से उनकी मूलाग्र

चिद्वृत्तियों में, और इन चिद्वृत्तियों से निरूपाधिक चैतन्य में अपनी पर्यन्तता को अधिगत करता है।"[16]

इस प्रकार जगद्भावापन्न चैतन्य रूप मनुष्य के आत्मोन्मुख अतिक्रमण के मर्म को हृदयंगमित किये बिना "तत्त्वमीमांसा क्या है" इसे बाहरी तौर पर तो किसी तरीके से विश्लेषित किया जा सकता है, लेकिन "तत्त्वमीमांसा क्यों है" उसे अभ्यान्तरिक रूप से उद्घाटित नहीं किया जा सकता। आचार्य यशदेव शल्य की सत्ताविषयक अन्वीक्षा में जिस तत्त्वमीमांसा का प्रस्ताव हुआ है वह अपने आप में "तत्त्वमीमांसा क्यों" का भी समुचित उत्तर प्रदान करता है।

द्रष्टव्य है कि इन्होंने अपनी सत्ताविषयक अन्वीक्षा को केवल तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय प्रश्नों तक ही सीमित नहीं रखा है बल्कि उसमें समाज, संस्कृति, साहित्य एवं कला से सम्बन्धित विचारों को भी समुचित स्थान प्रदान किया है। उनके चिन्तन के ऐसे सभी पक्ष तत्त्वमीमांसा से असम्बद्ध भी नहीं बल्कि उसी दृष्टि के विभिन्न कल्प एवं पुंखानुपुंख विवेचन के क्रम में प्रस्तुत हुए हैं। आचार्य शल्य जी के एतद्विषयक विविध आयामी विवेचन के लिए उनकी "संस्कृति : मानव कर्त्तृत्य की व्याख्या", "समाज : दार्शनिक परिशीलन", "साहित्य–चिन्तन और युग–चिन्तन", "तत्त्वचिंतन"इत्यादि पुस्तकें तथा उन्मीलन और अन्य साहित्यिक पत्रिकाओं में समय–समय पर प्रकाशित आलेख भी अवलोकनीय हैं।

***

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

1. *यशदेव शल्य, चिद् विमर्श, प्राक्कथन पृ.–1, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर।*
2. *यशदेव शल्य, सत् की चिन्मयता, उन्मीलन, वर्ष–15, अंक–1, 2001, पृ.–1.*
3. *यशदेव शल्य, दार्शनिक विश्लेषण, द्रष्टव्य–दार्शनिक विश्लेषण एवं अनुभववाद नामक अध्याय।*
4. *यशदेव शल्य, चिद् विमर्श, प्राक्कथन, पृ. 2, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर।*
5. *वही, पृ.–3.*
6. *द्रष्टव्य–वही, पृ.–53.*
7. *प्रो. जी.सी. पाण्डे, श्री यशदेव शल्य की दर्शन–साधना,पृ.–11, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय के दर्शन–विभाग में शल्य जी के दर्शन पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत निबन्ध।*
8. *द्रष्टव्य–अनुभववाद, सम्पा.–यशदेव शल्य, शल्य जी का निबन्ध– "दार्शनिक विश्लेषण", प्रका.–अखिल भारतीय दर्शन परिषद्।*
9. *यशदेव शल्य, सत्ताविषयक अन्वीक्षा, पृ.–9, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली।*
10. *यशदेव शल्य, मूल्यतत्त्व–मीमांसा, पृ.–1, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर।*
11. *यशदेव शल्य, सत्ताविषयक अन्वीक्षा, पृ.–10 भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्।*
12. *वही, पृ.–10.*
13. *वही, पृ.–34.*
14. *द्रष्टव्य–'सत्ताविषयक अन्वीक्षा' का 'मानव तत्त्व' नामक अध्याय और 'ज्ञान और सत् का 'मानव प्रतिमा' नामक अध्याय।*
15. *यशदेव शल्य – सत्ताविषयक अन्वीक्षा, पृ0 169.*
16. *द्रष्टव्य–सत्ताविषयक अन्वीक्षा, पृ0 161 एवं चिद्विमर्श; पृ0 16 जहाँ इसी बात की व्याख्या दूसरे प्रसंग में की गई है।*

नन्दकिशोर देवराज का सर्जनात्मक मानववाद

आलोक टण्डन

पिछले पचास वर्षों में जिन गिनी–चुनी मौलिक प्रतिभाओं ने भारतीय दर्शन को अपने चिन्तन से सँवारा है उनमें डॉ. देवराज का नाम अग्रिम पंक्ति में है। वादों और दृष्टियों की वर्तमान अराजक स्थिति में जब उपभोक्तावादी संस्कृति का दबाव जीवन के हर क्षेत्र में अनुभव हो रहा है, हमें ऐसी जीवन दृष्टि की आवश्यकता है जो प्राचीन सिद्धान्तों की अन्धभक्ति से मुक्त तथा विज्ञान युग की विकसित समीक्षा दृष्टि से संयुक्त हो किन्तु हमारी संस्कृतात्मा से पूरी तरह विमुक्त न हो। निश्चय ही वह कठिन कार्य जहाँ एक ओर परम्परा के समुचित ज्ञान एवं पुनःपरीक्षण की माँग करता है वहीं दूसरी ओर आधुनिक चिन्तन की विस्तृत जानकारी एवं समझ की अपेक्षा रखता है। उक्त चुनौती का सामना डॉ. देवराज ने अपने 'सर्जनात्मक मानववाद' के संपुष्ट दर्शन द्वरा किया है। इसके माध्यम से उन्होंने न केवल नये युग की संशयात्मक माँगों का तर्कसम्मत समाधान खोजने का प्रयत्न किया है अपितु हमारे सामने ऐसे आदर्शों एवं मानदंडों को रखने का भी प्रयास किया है जो अव्यावहारिक उपदेशों का स्थान ले सकें और समकालिक अनुभव व मूल्यबोध के विपरीत न जान पड़ें। यहाँ इस लेख के प्रथम भाग में हम 'सर्जनात्मक मानववाद' के प्रमुख तत्त्वों का निरूपण करने का प्रयास करेंगे जबकि दूसरा भाग आलोचनात्मक परीक्षण पर केन्द्रित होगा।

I

अपनी पुस्तक 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' में डॉ. देवराज ने 'सर्जनात्मक मानववाद' की पूर्व मान्यताओं पर समुचित प्रकाश डाला है। बाद की पुस्तकों में अपनी दृष्टि को आधुनिक ज्ञान के प्रकाश में न केवल उत्तरोत्तर विकसित किया है अपितु अपने ऊपर लगाये गये आरोपों के निराकरण का प्रयास भी किया है। उनके अनुसार दर्शन का विषय मनुष्य और उसका जीवन है; मनुष्य स्वतंत्र एवं सृजनशील प्राणी हैं; मनुष्य की सृजनशीलता के विविध आयाम तथा विभिन्न स्तर है; इस दृष्टि से मानवों के बीच काफी विभेद देखे जा सकते हैं; व्यक्ति के जीवन की सार्थकता इसमें है कि वह विपुल–विस्तृत प्रतीकाश्रित सांस्कृतिक आत्म के कुछ चुने हुये आयामों में अपनी चेतनावृत्ति का विस्तार और चरितार्थन करे, इस प्रकार का चरितार्थन व्यक्ति की स्वयं निर्मित नियति कही जा सकती है; प्रत्येक व्यक्ति की गुणात्मक नियति अलग–अलग हो सकती हैं, उच्च कोटि के जीवन पथ पर

बढ़ने के लिये प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में धन–सम्पत्ति, मान–सम्मान आदि प्रतियोगितापरक मूल्यों के प्रति कमोवेश विरक्ति, उदासीनता की भावना आवश्यक है। आइये देखें कि डॉ. देवराज के दर्शन की विकास यात्रा किन पड़वों से गुजरकर 'सर्जनात्मक मानववाद' के शिखर तक पहुँचती है।

डॉ. देवराज की अनेकविध दार्शनिक मान्यताओं का ग्रथन विज्ञान तथा पश्चिमी चिन्तन की शंका–संदेह वाली स्थिति की छाया में हुआ है। इसी कारण वे दर्शन की चिन्तन प्रणाली एवं जीवन मूल्यों के संबंध में शास्त्रों के प्रभाव से अलग होकर सोचते हैं। किन्तु प्राचीन तत्त्व चिन्तन के प्रति प्राश्निक भाव रखने का अर्थ विभिन्न परम्पराओं के प्रति समग्र अनास्था का मनोभाव रखना नहीं है। एक ओर जहाँ उनका चिन्तन प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक कांट, नीत्शे, हुसर्ल, गैडामर आदि से प्रभावित दिखता है वहीं दूसरी ओर भारतीय परम्परा, विशेषतः अद्वैत वेदान्त एवं महायान बौद्ध दर्शन से भी स्पष्टतः प्रभावित है।[1] उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि एक सीमा तक उनकी केन्द्रीय मान्यतायें एडमंड हुसर्ल द्वारा प्रवर्तित फिनामिनॉलॉजी से समानता नहीं तो निकटता अवश्य रखती हैं।[2] हुसर्ल का मत है कि चेतना का प्रधान गुण है किसी विषय (ऑब्जेक्ट) की ओर उन्मुख होना। किन्तु यहीं डॉ. देवराज यह मौलिक प्रश्न उठाते हैं कि चेतना की विष्योन्मुखता का रहस्य क्या है? तथा क्या उक्त चेतना सब प्रकार के विषयों या वस्तुओं की ओर समान रूप से उन्मुख होती है? उनके अनुसार जिसे हम चित्त या चैतन्य कहते हैं वह शरीरी जीव की विशेषता है, यह हमारे अनुभव की गवाही से भी पुष्ट होता है। उक्त जीवदेह की आन्तरिक संरचना में अनेक वासनायें या वासना वृत्तियाँ उपस्थिति रहती हैं। मूल वासना वृत्तियाँ क्रमशः संबंध, रुचि व वृत्तियों (इन्टरेस्ट्स) में विकसित होती हुई अनुभवगत को संगठित (आर्ग्नाइज) करने वाले सम्प्रत्ययों को जन्म देती हैं।[3] डॉ. देवराज का विचार है कि व्याख्यात्मक संप्रत्ययों का उनका विवरण कांट की अपेक्षा अधिक पूर्ण और हीगल की तुलना में अनुभव सिद्ध यथार्थ के अधिक निकट हैं।[4] यही नहीं, डॉ. देवराज वस्तुवाद (Realism) और प्रत्ययवाद (Idealism) का "मानवीय विकल्प" भी प्रस्तुत करते हैं। वे इससे इन्कार करते हैं कि हमारा ज्ञान जो अनिवार्य रूप से भाषाश्रित होता है, वस्तु के निजी स्वरूप को पकड़ सकने में सक्षम है। उनकी मान्यता है कि हमारे समस्त प्रयोजनों की दृष्टि से विश्व का यथार्थ वही है जो हमें आभासित होता है।[5] हमारा अनुभव, सापेक्षता की दुनियाँ तक सीमित है, इसलिये हम किसी अनुभवातीत निरपेक्ष की कल्पना क्यों करें और क्यों उसके पीछे दौड़ें?

उपरोक्त दृष्टिकोण के आधार पर डॉ. देवराज 'तथ्य' की नवीन व्याख्या करते हैं और मूल्यों को तात्त्विक वस्तुनिष्ठता प्रदान करते हैं। तथ्य का अर्थ है दो या दो से अधिक वस्तुओं का संबंध या एक ही वस्तु की दो विशेषताओं या उनके दो पहलुओं के बीच संबंध। ध्यातव्य है कि ये संबंध दृष्टा के सापेक्ष होते हैं। निष्कर्ष यह कि तथ्यों का अस्तित्व दर्शक की चेतना का अपेक्षी होता है।[6] तथ्यों का अस्तित्व इष्टार्थों (Meanings) के संगठन या संहति में निहित होता है। इस दृष्टि से प्राकृतिक तथ्य भी वस्तुओं के अन्तर्निहित गुण नहीं हैं। 'वास्तव में तथ्य नाम की वास्तविकता का उदय तब होता है, जब हम वस्तुओं को अपने

किसी प्रयोजन के मातहत एक या दूसरी विशेषता से संयुक्त करके देखते और संबंधित करते हैं।'[7] विभिन्न प्रयोजनों की अपेक्षा में दो या अधिक वस्तुओं के संबंध विविध रूप लेते हुये अनेक तथ्यों को जन्म देते हैं। किन्तु ये संबंध प्रकृति में उपस्थित वस्तुओं के बीच न होकर उन वस्तुओं की ऐसी विशेषताओं के बीच होते हैं जो वक्ता और श्रोता के भी विशिष्ट प्रयोजन के लिये अर्थवत्ता रखती हैं। उक्त विशेषताओं को डॉ. देवराज ने इष्टार्थ की संज्ञा दी है जो सन्दर्भ द्वारा परिभाषित और नियंत्रित होती है।[8] भाषा का स्वामी होने से मनुष्य विभिन्न इष्टार्थों की दुनियाँ में निवास करता है जिसके विभिन्न क्षेत्र हमारी संस्कृति के विभिन्न आयाम हैं। अर्थ के ये आयाम वैसे ही वस्तुनिष्ठ हैं जैसे कि प्राकृतिक तथ्य। अतः मूल्य बोध अपने प्रमुख रूपों (सौदर्य बोध, नीति बोध एवं आध्यात्मिक बोध) में निश्चय ही बोध या ज्ञान कहलाने का अधिकारी है– केवल वस्तु जगत् का ज्ञान, ज्ञान नहीं होता। लेकिन, सभी तत्त्वों में व्यक्तिगत घटक को स्वीकार करते हुये डॉ. देवराज व्यक्तिनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता के विभिन्न स्तर स्वीकार करते हैं तथा इस आधार पर अनुभवपरक अर्थबोध, उपयोगितापरक अर्थ बोध और नैतिक मूल्यों में अन्तर को रेखांकित करते हैं। यही अन्तर उन्हें मौलिक एवं मानवीय विधाओं की अन्वेषण और व्याख्या पद्धति में भेद करने को बाध्य करता है। इस भिन्नता का मुख्य कारण मनुष्य की सर्जनशीलता है। प्राकृतिक वस्तु प्रायः एकरूपता से विशेषित पूर्वानुमेय रूपों में क्रियाशील होती है जबकि छुद्रतम जीवन का व्यवहार भी सर्जनात्मक बदलाव की क्षमता प्रदर्शित करता है। इसी कारण मानवीय विद्याओं द्वारा प्रतिपादित सामान्य कथन निश्चात्मक न होकर सम्भावनाओं के द्योतक होते हैं।[9] गुणपरक (Qualitative) होने के कारण, मानवीय विद्याओं द्वारा उद्‌घाटित सम्बन्धों को, भौतिक शास्त्र के सामान्य कथनों की भांति मात्रापरक, गणित के समीकरणों के माध्यम से प्रकट नहीं किया जा सकता।

डॉ. देवराज ने दर्शन की अवधारणा को पुनः परिभाषित करने के साथ–साथ परम्परागत दृष्टि से दर्शन के विषयभूत आत्मा के प्रत्यय की भी नयी व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार 'दर्शन अथवा दार्शनिक चिन्तन विश्लेष्य मनुष्य का सांस्कृतिक–आत्म (Cultural self) है जो निरन्तर वर्द्धमान अथवा विकासमान है।' ...."यह व्यक्ति विशेष को अनुप्राणित करने वाला आत्मतत्त्व न होकर समग्र मानवता का सांस्कृतिक आत्म है जिसकी चेतना–परिधि में युग–युग का सौन्दर्यबोध, नीतिबोध, आध्यात्मिकबोध एवं इन सबसे सहचरित और उन्हें दृष्टि की एकता में बांधने वाला, जीवन–विवेक समाहित रहता है।" ...."इस दृष्टि से कह सकते हैं कि दर्शन मनुष्य की विकासमान संस्कृति अथवा सांस्कृतिक चेतना की जो विभिन्न रूपों में तरह–तरह के प्रतीक–व्यूहों के आधार लेकर गठित और रक्षित होती चलती है– उस सांस्कृतिक चेतना अथवा संस्कृति की आत्मावगति है।"[10]

उपरोक्त मान्यता हुसर्ल के इस मत से सहमति जताती है कि दर्शन का प्रकृत विषय मानव–संसार या मनुष्य का जीवन–संसार (लाइफ वर्ल्ड) है। देवराज की दृष्टि में इसमें इतना संशोधन आवश्यक है कि दर्शन की अभिरुचि का विषय मानव जगत् का गुणात्मक पक्ष हैं और उनका प्रमुख कार्य उक्त गुणात्मक भेदों का विश्लेषण और व्याख्या है। चूँकि

मनुष्य का अध्ययन समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, मनोविज्ञान आदि भी करते हैं इसलिये अधिक समीचीन मत यही होगा कि दर्शन मनुष्य जीवन के वैयक्तिक एवं अन्य पक्षों का अनुशीलन–परीक्षण इस विशेष मूल्यपरक दृष्टि से करता है कि जहाँ मूल्यों का अनुसंधाता होने के नाते सचेत मनुष्य विभिन्न विज्ञानों के सम्पादन और विस्तार में रुचि लेता है वहीं वह मूल्यानुसंधान की विभिन्न प्रक्रियाओं की गुणात्मक परीक्षा भी करता है।[11] दर्शन मुख्यतया एक समीक्षात्मक प्रक्रिया और अवगति है। इसका प्रमुख कार्य जीवन–मूल्यों का अनुचिन्तन करना है।[12]

आत्मा के प्रत्यय के समान ही, सर्जनात्मक मानववाद, किसी परलोक या दूसरे जीवन की कल्पना को स्वतः सिद्ध मानकर नहीं चलता। किन्तु यदि दर्शन का विषय गुणात्मक मूल्य तथा उन मूल्यों को पैदा करने वाली प्रक्रिया में है तो यह कहना होगा कि दर्शन परम्परागत मोक्ष को भले ही न माने, उसे जीवन के लक्ष्य और सार्थकता के बारे में सोचना ही होगा। डॉ. देवराज की दृष्टि में 'जन्म–मरण अथवा भवचक्र' से छुटकारे के रूप में मोक्ष की मान्यता मानवतावादी दृष्टि की मूलतः विरोधी है किन्तु भारतीय धर्म–अध्यात्म की परम्परा में सृष्टिकर्ता ईश्वर से विमुक्त आध्यात्मिक और मोक्ष सम्बन्धी चिन्तन अपरिचित वस्तु नहीं है। विशेष रूप से जैन–बौद्ध दर्शनों, सांख्य और अद्वैत वेदान्त में जीवन्मुक्ति की अवधारणा भी पायी जाती है जो मानववाद के इहलोक–केन्द्रित दर्शन का पोषक है।[13] इनमें वर्णित मनुष्य का पूर्णत्व या मुक्ति अथवा निर्वाण एक प्रकार का आत्मलाभ है, अपने से बाहर किसी पद या स्थिति की प्राप्ति नहीं। चूँकि उक्त मुक्ति की अवस्था का अनुभव यहीं धरती के जीवन में किया जा सकता है, इसलिये मानवतावादी होने के नाते हम जीवन्मुक्ति के लक्ष्य को महत्त्व दे सकते हैं।

डॉ. देवराज ने मनुष्य को मूल्यों का सृष्टा माना है। मूल्यबोध के अन्तर्गत सबसे महत्त्वपूर्ण एवं विवादास्पद क्षेत्र नैतिक मूल्यों का है। उनके अनुसार नैतिक मूल्य, उपयोगी मूल्यों पर आधारित होते हैं। समुचित नैतिक बोध और निर्णय के लिये कई तरह की जानकारी अपेक्षित होती है। इसलिये तर्कनिष्ठ भाववादियों का यह कहना गलत है कि नैतिक निर्णयों का कोई ज्ञानात्मक आधार नहीं होता। उपयोगितावाद के सिद्धान्त से भी भिन्नता दर्शाते हुये डॉ. देवराज यह स्थापित करते हैं कि मनुष्य के प्रयोजन केवल दृश्यमान व्यापारों तथा उनमें अनुस्यूत उपयोग क्षमताओं तक ही सीमित नहीं है। हमारे प्रयोजनों के अन्तर्गत नैतिक, सौन्दर्यात्मक और आध्यात्मिक मूल्य भी हैं।

क्या नैतिक/अनैतिक के समस्त भेद युग एवं संस्कृति सापेक्ष हैं? वेस्टरमार्क की प्रसिद्ध पुस्तक 'एथिकल रिलेटिविटी' पढ़ने के बाद आजीवन अपने चिन्तन में इस जटिल प्रश्न से जूझने के पश्चात डॉ. देवराज का उत्तर है कि कुछ नैतिक मान्यताओं की समय–समाज सापेक्षता असंदिग्ध है किन्तु समस्त नैतिक सिद्धान्त या मान्यतायें सापेक्ष सत्य हैं, यह मंतव्य अतिवादी और भ्रामक हैं। समस्त सापेक्षताओं के परे कुछ ऐसे व्यवहार नियम हैं जिन्हें सार्वभौम नैतिकता कहा जा सकता है, भले ही वैसे नियमों का निरूपण दुष्कर हो।[14] उदाहरण के लिये पश्चिम में प्रचलित नैतिकता के स्वर्ण नियम 'दूसरों के साथ

वैसा व्यवहार करना चाहिये जैसा हम चाहते हैं कि वे हमारे साथ करें', का प्रतिरूप लगभग सभी संस्कृतियों में मिल जायेगा। ठीक यही नीति–नियम महाभारत के निम्न श्लोक में उपलब्ध है : 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' यहीं यह प्रश्न भी उठता है कि लगभग समान रूप से स्वीकृत ऐसे नैतिक प्रतिमानों का स्रोत कहाँ पाया जा सकता है? डॉ. देवराज के अनुसार कर्मों, मनोभावों, चरित्रों आदि में भले–बुरे अथवा ऊँच–नीच का भेद देखना और तद्नुकूल निर्णय लेना या बरतना हमारे मानव स्वभाव की आन्तरिक आवश्यकता है। यह उस व्यापक प्रवृत्ति का अंग है जो मनुष्य को गुणात्मक दृष्टि से उन्नतिशील मानते हुये व्यक्तित्व की निम्न और उच्च कोटियों में अन्तर करती है। नैतिक मूल्य–बोध सार्वभौम है किन्तु विभिन्न युगों एवं संस्कृतियों में भिन्न–भिन्न कोटि की क्षमताओं एवं योग्यताओं को कम–ज्यादा महत्त्व दिया जाता रहा है। महाभारत काल में जहाँ बाहु–बल में सम्पन्न वीरों का विशेष महत्त्व था, वहीं आधुनिक काल में बुद्धि–वैभव के स्वामी वैज्ञानिकों का कार्य अधिक सराहा जाता है।

डॉ. देवराज ने नैतिकता के दो सिद्धान्त–सूत्रों का भी निरूपण किया है। एक के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने सचेत भाव से किये गये कर्म का उपयुक्त एवज, दंड या पुरस्कार मिलना चाहिये; दूसरे के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को समाज–व्यवस्था के अन्तर्गत दूसरों के प्रति आवश्यक कर्तव्य का निर्वहन करना चाहिये। उनका एक निष्कर्ष यह भी है कि मनु जैसे धर्मशिक्षकों की भाँति सद्गुणों का उल्लेख काफी नहीं है। ज्यादा महत्त्व उन सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण का है जिनसे सद्गुणों का आपेक्षिक महत्त्व व उनके व्यावहारिक अनुवाद की सीमायें देखी जा सकें। नैतिकता की उच्चतम भूमि, देवराज की दृष्टि में, अकारण परहित साधन की प्रवृत्ति है। संत चरित्र में नैतिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा होती है। उनमें भी दो कोटियाँ हैं। एक, अपनी समस्या लेकर आये हुये व्यक्ति की यथासंभव सहायता करना। दूसरा रूप होता है अन्याय पीड़ित व्यक्ति के कष्ट निवारण के लिये संघर्षरत होना। गाँधी दूसरी कोटि के महापुरूष हैं, जो अन्याय के विरूद्ध, मानव जाति की कल्याण कामना से बड़ी से बड़ी शक्ति से आजीवन संघर्षरत रहे। यहीं प्रश्न उठता है कि कोई व्यक्ति निजी स्वार्थों को भूलकर दूसरों के हितसाधन या सहायता में क्यों अपनी शक्ति, समय आदि का व्यय करे? नैतिक विमर्श के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का समाधान डॉ. देवराज के अनुसार यह है कि तर्क–बुद्धि की भांति नैतिक चेतना भी मानव प्रकृति के अंतरंग गठन का हिस्सा है– बाहर से लादी गई कृत्रिम मनोवृत्ति नहीं। जिसे हम नैतिकता कहते हैं वह भी स्वयं में साध्य मूल्य है; स्वच्छता और सौष्ठव की भाँति वह सम्भवतः हमारे स्वभाव की आवश्यक मांग है। ऐसी मांगों को ठुकराते हुये हम स्वयं अपनी नजर में हीन बन जाते हैं।[15]

डॉ. देवराज की दृष्टि से हमारा अनुभवसिद्ध लक्ष्य यह होना चाहिये कि हम अपना सीमित धरती का जीवन सार्थक ढंग से जियें। उनके अनुसार सार्थक जीवन का अर्थ किसी स्थूल अर्थ में सुखी जीवन नहीं है। जीवन की दुखमयता की व्यापक अनुभूति के पीछे जीविका तथा सामाजिक मान–सम्मान के अर्जन प्रयत्नों में निहित श्रान्ति भावना का

निश्चित स्थान व हाथ है। फलतः मनुष्य की सृजनशीलता का एक प्रमुख ध्येय अनेक रूप धारण करने वाली धन–सम्पत्ति से उपलब्धि और संचय बन जाता है। किन्तु सचेत और कल्पनाशील मनुष्य को अपनी निरन्तर जागृत अर्थवती चेतना के दबाव के कारण स्थाई सन्तोष नहीं होता। विविध मूल्यों के अनुचिन्तन–अन्वेषण में संलग्न रहना मनुष्य का स्वभाव है, इस स्वभाव का दमन करके विशुद्ध विरक्ति का जीवन बिताना उसके लिये न सम्भव है, न उचित। महापुरूषों के जीवन का अनुचिन्तन करते हुये डॉ. देवराज दो प्रकार के मूल्य–सत्वों में अन्तर करते हैं।[16] प्रतियोगितापरक मूल्य वे हैं जिनकी उपलब्धि मनुष्यों में प्रतिद्वन्दिता, ईर्ष्या द्वेष, संघर्ष को जन्म देती है (रोटी, कपड़ा, मकान, यश–सम्मान आदि)। इसके विपरीत सहभोग्य मूल्य हैं जिनमें मनुष्य उपयोगिता के धरातल से उपर उठकर विभिन्न कोटियों के निरूपयोगी रस–स्रोतों से परिचित होता है जो उसे उच्चतर मानवीयता से अनुप्राणित सम्बन्धों की छाया में जीने की प्रेरणा और उत्साह प्रदान करते हैं। 'सर्जनात्मक मानववाद' का निष्कर्ष है कि जीविका का अर्जन हर किसी के लिये आवश्यक कर्म है जिसके लिये प्रत्येक व्यक्ति को कमोवेश दूसरों से प्रतियोगिता की भूमि पर चलना होता है। किन्तु यह जरूरी नहीं कि हम दूसरों के प्रति सक्रिय ईर्ष्या या बैर का भाव रखें। यथासंभव प्रतियोगिता के संकीर्ण क्षेत्र से, कम से कम मन और बुद्धि के धरातल पर, अपने को अलग रखते हुये व्यक्ति अपनी जीवनचर्या को उदात्त मोड़ दे सकता है, और इस प्रकार, सार्त्र के शब्दों में, अपनी नियति का निर्माण स्वयं कर सकता है।

डॉ. देवराज के 'सृजनात्मक मानववाद' का एक प्रमुख उद्‌देश्य भारतीय मनुष्य को उस सांस्कृतिक संकट से उबारना है जिसे डॉ. देवराज 'सांस्कृतिक विभ्रम' की अवस्था मानते है और जिसका अर्थ 'मूल्यों संबंधी ज्ञान एवं तदनुरूप प्रतिक्रियाओं के बीच बोधगम्य संबंध अथवा अनुक्रम का अभाव है।[17] इसका कारण यह है कि विगत कुछ दशाब्दियों में भारतीयों के जीवन व चेतना में अभिनव परिवर्तन हुये हैं जिसकी कल्पना प्राचीन व मध्य युगीन भारतीय जीवन–दर्शनों के रचनाकाल में सम्भव न थी, अतः आज प्राचीन व मध्ययुगीन दर्शन स्वीकार नहीं किये जा सकते। आज नयी पीढ़ी के सामने न तो पाश्चात्य मानवतावादी जीवन दर्शन है और न कोई पारम्परिक जीवन दर्शन। इस कारण वह अपने सामने किसी ऐसे लक्ष्य या आदर्श को नहीं रख पाता जो उसकी उच्चतम शक्तियों का आह्वान करे और उसे उस कार्य में संलग्न कर दे। ऐसे लक्ष्य के अभाव में जीवन की सम्भावनाओं, उपलब्धियों व मूल्यों आदि के प्रति अविश्वास बना रहता है। डॉ. देवराज ने इसे 'अवरुद्ध सृजनशीलता' कहा है। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति एक ओर भौतिक सुख–सुविधाओं के लिये प्रतिस्पर्धा में शामिल रहता है तो दूसरी ओर धार्मिक पुनरुत्थानजन्य कर्मकाण्ड में शांति की खोज करता रहता है।

'मूल्यांकन सम्बन्धी असमंजस' जिसे डॉ. देवराज वर्तमान सांस्कृतिक संकट का मूल कारण मानते हैं– को दूर करने का उपाय एक सम्यक्, सृजनात्मक और सार्थक जीवन–दर्शन अर्थात् आचरण में अनूदित दर्शन का सृजन ही है (जिस कार्य में वे आजीवन संलग्न रहे)। इस कार्य में वे 'सृजनात्मक कल्पना' को सहायक मानते हैं क्योंकि वह निरन्तर उच्चतर

जीवन रूपों को प्रस्तुत करने की क्षमता प्रदान करती है। किन्तु व्यक्ति उच्चतर और निम्नतर जीवन स्थितियों में भेद कर सके और उच्चतर के अन्वेषण में प्रवृत्त हो सके[18] इसके लिये वे 'जीवन विवेक' का आश्रय लेने का परामर्श देते हैं। ऐसे विवेक को जागृत करना ही एक प्रमाणिक जीवन–दर्शन का वास्तविक कार्य है। प्रश्न उठता है कि ऐसे जीवन–दर्शन का स्वरूप कैसा होना चाहिये? उन्हीं के शब्दों में, "आज ऐसे जीवन–दर्शन की जरूरत है, जो अतिशय विरक्तिवाद तथा अमर्यादित भोगवाद के बीच मध्यममार्ग का निर्देश करे। ऐसा मार्ग जो मानव जीवन की सरसता की सम्भावनाओं को क्षत न करते हुये, नैतिक सन्तुलन के तहत तृप्ति व आनन्द तथा अह्लाद के इस तरह के स्रोतों व जीवन रूपों की ओर ध्यान दिलाये जो अर्थ साध्य नहीं हैं।[19] आइये देखें कि उक्त चुनौती का समाधान प्रस्तुत करने में 'सर्जनात्मक मानववाद' कहाँ तक सफल रहा है।

II

डॉ. देवराज की इस मान्यता से किसी मानववादी को विरोध नहीं हो सकता कि दर्शन का प्रतिपाद्य विषय मनुष्य और उसका जीवन–संसार है। यह मनुष्य देकार्त का 'मैं' या अद्वैत वेदान्त की 'आत्मा' नहीं है क्योंकि ये दोनों मत मानवीय जीवन की विविधता और जटिलता की व्याख्या नहीं कर सकते। उनका 'सर्जनात्मक मानववाद', अस्तित्ववाद से भिन्नता रखता है क्योंकि प्रथम, वे मूल्यों की अन्तर्वैयक्तिकता एवं सहयोग्यता स्वीकारते हैं और द्वितीय, वे संत्रास, निराशा आदि को मानव नियति नहीं मानते। उनकी दृष्टि में अस्तित्ववादी कोटियाँ अवरुद्ध सृजनशीलता का परिणाम हैं। पाश्चात्य मानवतावादी धारणा से उनका मानववाद इस अर्थ में भी भिन्न है कि पश्चिमी दृष्टि जहाँ देश और काल में सीमित व्यक्ति को केन्द्रीय सत्ता प्रदान करती है वहीं डॉ. देवराज की दृष्टि में केन्द्रीय सत्ता व्यक्ति न होकर सार्वभौम मानव है जो सभी व्यक्तियों में समान रूप से विद्यमान है। उनका मनुष्य; 'इतिहास पुरूष' का ही पर्याय है। किन्तु उसे मनुष्य को गुणात्मक पक्ष तक सीमित कर देने से यह ध्वनित होता है कि मनुष्य का यह वर्णन वैसा नहीं है जैसा कि वह है अपितु जैसा कि वह होना चाहता है, हो सकता है या कि होना चाहिये। मानव जीवन में व्याप्त अलगाव के विविध रूपों और तज्जन्य सामाजिक संघर्ष, जैसाकि मार्क्स आदि विचारकों ने इंगित किया है, का विश्लेषण किये बिना कोई मानववादी अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता।

यहीं यह प्रश्न उठाना भी समीचीन होगा कि सर्जनशीलता को जीवनधारियों का प्रकृत स्वभाव मानने वाले डॉ. देवराज मानव की विध्वंसकारी प्रवृत्ति का मूल्यांकन करने से क्यों चूक गये? क्या इसका सामना किये बगैर किसी नैतिक उत्कर्ष की कामना मायावी नहीं है? उनका यह निष्कर्ष भी कि साधारण और स्वार्थपूर्ण व्यवहार में वे लोग लिप्त होते हैं जिनमें सर्जनात्मकता एवं साधन सम्पन्नता की कमी होती है, सही नहीं जान पड़ता क्योंकि उन्होंने स्वयं माना है कि सर्जनशीलता और उसे आधार देने वाली अतिरिक्त ऊर्जा का उपयोग नैतिक और अनैतिक दोनों दिशाओं में किया जा सकता है। कई बार सर्जनात्मक मनुष्य में ऊर्जा का जो आधिक्य दिखाई देता है वह उस समय और शक्ति

की बचत के कारण होता है जो समाज के प्रभु वर्ग के सदस्यों को जीविका के लिये श्रम की बाध्यता न होने से सहज ही उपलब्ध होती है। मेरी इस मान्यता के विरूद्ध भी कोई यह कह सकता है कि श्रमाधिक्य से सर्जना क्षत नहीं होती और प्रचुर मात्रा में जीवनयापन के साधन सुलभ होने से सर्जनात्मकता में अभूतपूर्व विकास भी नहीं देखा जाता। तब भी सर्जनात्मकता और समाज के सम्बन्धों पर पर्याप्त विचार न करने के कारण डॉ. देवराज यह समझाने में पूर्णतया सफल नहीं हो पाते कि क्यों आधुनिक काल में कलाकारों, विचारकों को पैसा–पद–शक्ति सम्पन्न व्यक्तियों की तुलना में कम महत्त्व प्राप्त है? शायद इसी कारण डॉ. देवराज नैतिक उत्कर्ष को प्राप्त कर सकने की कोई व्यावहारिक प्रणाली निर्मित कर सकने में असमर्थ रहे। हाँ, उनके मूल्य चिन्तन को व्यक्तित्व विकास के एक प्रस्ताव के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इससे दुखी और शोषित जनता का उद्धार हो सकता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

मोक्ष के परम्परागत विचार को त्यागकर संतचरित्र और जीवन्मुक्ति के आदर्श की प्रतिस्थापना के पीछे भी प्राचीन भारतीय आध्यात्मिक मूल्यों से जुड़े रहने की ललक उनमें स्पष्ट हैं। किन्तु यह निरा व्यक्तिवादी सिद्धान्त है जिसकी आज के सामाजिक जीवन में प्रासंगिकता संदिग्ध है। दूसरे, विरक्ति पर बल देने के कारण इससे अन्याय के विरूद्ध संघर्ष करने के लिये कोई प्रेरणा प्राप्त नहीं होती। ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिकवादी मूल्यों के प्रति परम्परागत अनास्था के भाव से, अपने मानववादी दृष्टिकोण के बावजूद, डॉ. देवराज मुक्त नहीं हो सके। जबकि बड़े–बड़े कलाकारों, विचारकों और नेताओं के जीवन का अनुशीलन करने से यह तथ्य सामने आया है कि किस तरह वे धन–पद, सम्मान और स्त्री के पीछे पागल थे। रसेल ने अपनी पुस्तक 'पावर' में मानवीय उत्कृष्ठता की विभिन्न उपलब्धियों के पीछे शक्ति (Power & glory) की आकांक्षा को महत्त्वपूर्ण प्रेरक शक्ति माना है।

डॉ. देवराज मूल्य संबंधी चिन्तन के अग्रणी विचारकों में हैं। किन्तु व्यक्ति के अवचेतन की पूरी तरह अनदेखी कर देने के कारण उस नैतिक अन्तर्द्वन्द्व की व्याख्या करने में असफल रहे हैं जिसका अनुभव उच्च स्तर के सृजनशील मनुष्य भी बराबर करते हैं जब प्रतियोगितापरक व अन्य उच्चतर सांस्कृतिक मूल्यों के बीच चुनाव का प्रश्न उठता है। यद्यपि डॉ. देवराज का प्रयास सराहनीय है किन्तु हम नैतिक क्यों बनें, इस प्रश्न का समुचित समाधान वे नहीं दे पाये हैं। यदि नैतिक चेतना (औचित्य बोध) मानव के आन्तरिक गठन का अंग है तो यह भी कहा सकता है कि अनैतिक कार्य करने की प्रवृत्ति भी मनुष्य के प्रकृत स्वभाव का अंश है। एक अपराधी नैतिक प्रेरणा से अपराध में प्रवृत्त नहीं होता। प्रश्न चुनाव का है। सफलता ही आज का चरम मूल्य है और नैतिक होना उसकी प्राप्ति में साम्प्रतिक बाधा, तो फिर कोई क्यों नैतिक होना चाहे?

डॉ. देवराज का प्रमुख सरोकार बदलते हुये जीवन मूल्यों के बीच सार्थक मूल्यों की पहचान/अन्वेषण का रहा है। उन्होंने सहभोग्य मूल्यों को प्रतियोगितापरक मूल्यों से वरीयता क्रम में उच्च स्थान प्रदान कर नैतिक मूल्यों के चुनाव हेतु विवेक मंत्र देने का प्रयास किया है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति निम्नस्तरीय प्रतियोगितापरक मूल्यों को ही साध्य के रूप

में स्वीकार करना चाहे तो उसके सम्मुख सहभोग्य मूल्यों की श्रेष्ठता कैसे स्थापित की जाये? उपभोक्तावादी संस्कृति से उत्पन्न सांस्कृतिक संकट के समाधान के लिये इस प्रश्न का समुचित उत्तर आवश्यक है। आज का आत्मकेन्द्रित मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने के बाद भी उच्चस्तरीय सांस्कृतिक मूल्यों के संधान, अन्वेषण में संलग्न नहीं दीखता; समय–शक्ति होने पर और अधिक धन कमाना और तरह–तरह की उपभोग्य वस्तुएँ खरीदना–प्रयोग करना चाहता है। कला–साहित्य की महान कृतियों के रसास्वादन में उसकी रूचि लेशमात्र भी नहीं है। उसके लिये मूल्यवान वही है जिसका बाजार में अधिक मूल्य है। यदि डॉ. देवराज बदलते मूल्यों के सामाजिक आधार तथा बाजार और संस्कृति के उभरते रिश्तों की भी जाँच–पड़ताल करते तो उनका मूल्य चिन्तन और प्रभावी होता। सर्जनात्मक मानववाद की मुख्य आलोचना यही है कि उसमें उन सामाजिक परिस्थितियों के विश्लेषण का अभाव है जो 'स्वतंत्रता, सर्जनात्मकता और मूल्यों (Freedom, Creativity and Values) को प्राप्त करने में बाधक हैं। इन सभी आलोचनाओं के उत्तर में यदि डॉ? देवराज के पक्ष से कुछ कहा जा सकता है तो वह इतना ही कि दार्शनिक ज्ञान 'ज्ञापक' होता है और क्रियान्वयन में उसका हेतुत्व निमित्त मात्र है।

इस तरह उपरोक्त आलोचना से डॉ. देवराज के दार्शनिक अवदान का महत्त्व कम नहीं हो जाता। हमारे वैचारिक इतिहास में कर्मफलवाद, पुनर्जन्म एवं मोक्ष के सिद्धान्तों को, कुछ अपवादों को छोड़कर, स्वयंसिद्ध मानने की प्रवृत्ति रही है जिसे समीक्षात्मक चिन्तन का विषय बनाकर डॉ. देवराज ने उचित ही किया। उन्होंने न केवल अनेक परम्परागत आध्यात्मिक मान्यताओं का भंजन किया अपितु रूढ़िगत मौन नैतिकता का भी यह कहकर विरोध किया कि वह मनुष्य की सुख सम्भावनाओं पर गलत ढंग से प्रहार करती है। साहित्य में अपनी सक्रियता के बल पर उन्होंने रचनात्मक साहित्य और दार्शनिक चिन्तन के अलगाववादी मिथक को तोड़ा और बुद्धि, हृदय तथा कल्पना की समानान्तरता या द्वैत के सिद्धान्त को झुठलाते हुये यह प्रमाणित किया कि मनुष्य की चेतना के सभी आयामों में परस्पर पूरकता है। साथ ही एक विकासमान सृजनात्मक जीवन के लिये विवेक के साथ–साथ प्रेम को भी आवश्यक माना। संस्कृति के गहन दार्शनिक विवेचन द्वारा डॉ. देवराज ने न केवल वर्तमान सांस्कृतिक संकट की सटीक व्याख्या की अपितु उसके समाधान के रूप में 'सर्जनात्मक मानववाद' का नया दर्शन प्रस्तुत किया जिसके दार्शनिक औचित्य एवं प्रासंगिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। विशेष बात यह है कि उन्होंने यह कार्य भारतीय दार्शनिक परम्परा से मानववादी तत्त्वों को चुनकर उन्हें अपनी प्रतिभा से नया रूप देकर किया है। लेकिन डॉ. देवराज का सबसे महत्त्वपूर्ण अवदान मूल्य–चिन्तन के क्षेत्र में है। आज जब उत्तर–आधुनिकतावाद के दबाव में मूल्यों की सापेक्षता का विचार मूल्योच्छेद में पर्यवसित होता जा रहा है, मूल्यों की वस्तुनिष्ठता और सार्वभौमिकता प्रतिस्थापित करने का उनका प्रयास इस दृष्टि से अत्यन्त सार्थक है। हम सभी उससे प्रेरणा ले सकते हैं।

***

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

1. *पूर्व पीठिका, दर्शनः स्वरूप, समस्यायें एवं जीवन दृष्टि, पृ. 3*
2. *वही, पृ. 4*
3. *वही, परिशिष्ट, पृ. 167*
4. *वही, पृ. 168*
5. *वही, पृ. 69*
6. *वही, पृ. 49*
7. *वही, पृ. 51*
8. *वही, पृ. 53*
9. *वही, पृ. 92*
10. *वही, पृ. 33*
11. *वही, पृ. 31*
12. *वही, पृ. 141*
13. *वही, पृ. 14*
14. *वही, पृ. 110*
15. *वही, पृ. 122*
16. *वही, पृ. 151*
17. *फिलासफी, रिलीजन एण्ड कल्चर, पृ. 190*
18. *संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, भूमिका, पृ.9*
19. *पूर्व पीठिका, पृ. 8*

गोविन्द चन्द्र पांडे का संस्कृति-दर्शन

राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय

दर्शन में एक सर्वाधिक प्रमुख प्रश्न स्वयं दर्शन या दार्शनिक–चिन्तन के स्वरूप के सम्बन्ध में है। प्रायः यह माना जाता है कि इस प्रश्न के विशिष्ट उत्तर पर ही निर्भर करता है कि उस सन्दर्भ में दार्शनिक चिन्तन किस प्रकार का है, अर्थात् उसकी विशिष्ट मान्यताएँ, विधि व निष्कर्ष किस सिद्धान्त–विशेष का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु दार्शनिक चिन्तन और उस पर आधारित सिद्धान्त–भेद से शायद हम दर्शन के स्वरूप सम्बन्धी प्रश्न के मर्म तक नहीं पहुँचते : प्रश्न यह नहीं है कि दर्शन या दार्शनिक चिन्तन विविध रूपों में सम्भव है या नहीं,वरन् यह है कि वह किसी भी रूप में कैसे सम्भव है ? साधारणतः इन दो प्रश्नों के बीच भेद नहीं किया जाता और इसलिए दर्शन के स्वरूप के सम्बन्ध में उठने वाला मूल प्रश्न प्रायः अनुत्तरित ही रह जाता है।

सर्वत्र दार्शनिक यह मान्य करते आये हैं कि उनके कथनों में एक ऐसी जानकारी निहित है जिसे आगे और प्रमाणित करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसकी वैधता सार्वभौम है। सार्वभौम वैधता वाली यह जानकारी सत् के संबंध में, या मानव–स्वभाव के संबंध में, या केवल भाषायी भी, हो सकती है। कुछ दार्शनिक यह कहना चाहेंगे कि ये तीन क्षेत्र–सत्, मानव–स्वभाव तथा भाषा के– वस्तुतः दार्शनिक चिन्तन के अंतर्गत पृथक्–पृथक्रूपेण विचारणीय ही नहीं हैं, क्योंकि 'सत्' (वास्तविकता या यथार्थता) का रूप हम मनुष्यों के लिए केवल 'सत्य' (अर्थात् जो सत् की योग्यता वाला हो, अर्थात् 'मूल्य' या 'आदर्श') का ही हो सकता है, और इसीलिए इस सत्य (मूल्य या आदर्श) के अनिवार्य सन्दर्भ में स्वयं हमारा अपना स्वभाव ही अपने वास्तविक भाव से आदर्शों या मूल्यों वाले भाव की ओर गति करता है। पुनः, मानव–अभिव्यक्ति के रूप में 'भाषा' के लिए भी इसी तरह की 'गति' की बात कही जा सकती है। अवश्य प्रकृति–विज्ञान के अन्तर्गत 'सत्' अपने–आप में, भाषा विज्ञान के अंतर्गत 'भाषा' अपने–आप में, और मनोविज्ञान, समाजविज्ञान आदि के अन्तर्गत 'मानव–स्वभाव' अपने–आप में गवेषणा के विषय माने जाते हैं ; किन्तु ठीक इसी कारण उन्हें दर्शन से भिन्न समझा जाता है – क्योंकि उनकी तटस्थ विश्लेषणमूलक विधि के कारण न केवल सत्–मनुष्य–भाषा का संश्लेषणात्मक चित्र प्रस्तुत नहीं हो पाता वरन् उस त्रिक में अन्तर्प्रभावित आदर्शमूलक गति भी जड़ होकर एक काल–विशिष्ट यांत्रिक प्रक्रिया

के रूप में ही प्रकट हो पाती है। दूसरे शब्दों में, इन विज्ञानों के अंतर्गत एक ही भावस्थ, एक ही गति के दो छोरों पर स्थित वास्तविकता और आदर्श के बीच जो अनिवार्य एक सूत्रबद्धता और साथ ही प्रकट द्वन्द्व है उससे बच निकलने का प्रयास किया जाता है, जो अन्ततः उनमें उस आकारवाद को जन्म देता है जो सीधे मनुष्य की सृजनात्मकता को हानि पहुँचा सकता है। डॉ. पांडे की पुस्तक ('दी मीनिंग एंड प्रॉसेस ऑफ कल्चर') के अन्तिम तीन परिशिष्टों में, विशेषकर अन्तिम परिशिष्ट में, यह बात काफी विस्तार से कही गई है; और इसी के प्रकाश में दर्शन और दार्शनिक चिन्तन के संबंध में उनके कथन समझे जा सकते हैं।

मनुष्य अपनी नैसर्गिक स्थिति की वास्तविकता में जो सुख–दुःख, जीवन–मरण आदि का द्वन्द्व देखता है उससे उसे उस स्थिति की अपर्याप्तता स्पष्ट हो जाती है और इस गोचरता से परे वह गवेषणा करना चाहता है। फलतः यह नैसर्गिक– आनुभविक–स्तर से गति कर व्यवहार की कुशलता या उपयोगिता के क्षेत्र में पहुँचता है। यह उसकी स्थूल अर्थमूलकता का क्षेत्र है जो सभ्यता, दक्षता–तकनीक के जन्म व विकास को सम्भव बनाता है। किन्तु चूँकि इस स्थूल अर्थ–जगत् में भी मनुष्य को अपनी पर्याप्तता का बोध नहीं हो पाता, क्योंकि इससे अधिकांशतः उसका बाह्य वातावरण ही प्रभावित हो पाता है, वह इससे भी आगे मूल्यों या आदर्शों के सूक्ष्म अर्थों के क्षेत्र की ओर अग्रसर होता है। उसके आदर्शमूलक आत्मबोध का यह क्षेत्र मानव–संस्कृति के उत्स और विकास से संबंधित है। इन तीन क्षेत्रों में क्रमिक गति मूलतः स्थूल से सूक्ष्म, बाह्य से आभ्यंतर में होती है– अर्थात् ये मानव–चेतना–धारा के ही तीन क्रमिक स्तर हैं जिसकी अन्तिम परिणति 'आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान' में पहुँचकर होती है। वह जिसे दार्शनिक विमर्श या दार्शनिक चिन्तन कहा जाता है, पांडेजी[1] के अनुसार 'वह मानव–गवेषणा के इन विविध स्तरों– दृश्यतामूलक, स्थूल अर्थमूलक और आदर्शमूलक–पर होने वाले अनुभवों को प्रत्ययात्मक और श्रेणीबद्ध रूप में परस्पर जोड़ने का ही सतत् प्रयास है। और इसीलिए दार्शनिक परम्परा भी, उनके अनुसार, मानव–चेतना की ही बौद्धिक रूप से संप्रेषणीय परम्परा है।'[2]। पुनः, यह इस परम्परा का ही एक अनिवार्य लक्षण है कि वह मनुष्य में एक आध्यात्मिक तृष्णा जगाती है और स्वयं अपने–आप के संबंध में गवेषणा चलाने के लिए उसे 'प्रेरित' और 'प्रशिक्षित' करती है। इस तरह दार्शनिक ज्ञान में प्रगति अमूर्त और बहिर्मुखी होने के साथ–साथ ठोस (जीवन्त) और अन्तर्मुखी भी होती है।[3] इसमें आकर वास्तविकता और मूल्य, असंदिग्ध सत् और मूल्योन्मुखी चेतना के प्रकट द्वन्द्व में विरोध एक ही समन्वित भाव में स्थित होकर मिट जाता है और इसलिए आन्तरिक विरोध के अभाव में ज्ञान को वह सार्वभौम वैधता मिल पाती है जिससे उसे ज्ञान समझा जाता है, जिसकी उपलब्धि पर सब–कुछ ज्ञात हो जाता है। यही मानव–ज्ञान की अन्तिम और आदर्श सीमा है।

अब यद्यपि यह सही है कि मानव–चेतना के विविध स्तरीय अनुभवों को दार्शनिक–चिन्तन व्यवस्थित कर प्रत्ययात्मक अभिव्यक्ति देता है तथापि स्वयं दर्शन की

अपनी संभावना की सक्रिय अभिव्यक्ति संस्कृति के क्षेत्र तक पहुँची हुई चेतना के स्तर पर ही हो पाती है। क्योंकि, जैसा कि आधुनिक अस्तित्ववादी कहते हैं, मनुष्य की स्वयं अपने प्रति चेतना सही रूप में उसके अपने भाव की अपर्याप्तता के बोध से ही सम्भव हो पाती है और यही चेतना का वह स्तर होता है जहाँ मनुष्य पहली बार सही अर्थों में स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म, बाह्य की अपेक्षा आभ्यंतर, ठोस पदार्थों और स्थितियों की अपेक्षा आदर्श–मूलक स्थितियों की ओर अधिक ध्यान दे पाता है। मूल्यों या आदर्शों को वास्तविक न समझने में ही उनकी यह समझ भी निहित है कि वे किसी काल–विशेष और व्यक्ति–विशेष के लिए नहीं वरन् सार्वभौम रूप से स्पृहणीय हैं। प्रत्येक संस्कृति में एक विश्व–दृष्टि (**Weltanschauung**) होने के पीछे मानव की मूल्य–चेतना का यही अनिवार्य पक्ष कार्यरत रहता है। अतः संस्कृतियों में जन्म लेने वाली और इसलिए उनके विशिष्ट मूल्यों के प्रति सजग रहने वाली दार्शनिक परम्पराओं के बारे में पांडेजी का यह कथन भी महत्वपूर्ण है कि ये परम्पराएँ किसी एक विश्व–दृष्टि की रचनात्मक अभिव्यक्ति के प्रकाश में उन मूल्यों के लिए बुद्धि–सम्मत कारणों का स्पष्टीकरण करती हैं जिन्हें वह विश्व–दृष्टि चरितार्थ करना चाहती है।[4] और दार्शनिक–चिन्तन में बौद्धिक स्पष्टीकरण का यही पक्ष कालान्तर में एकांतिक महत्त्व धारण कर समूचे दार्शनिक चिन्तन का ही पर्याय बन बैठता है। इसके चलते चेतना के विविध स्तरों पर होने वाले अनुभवों में संश्लेषणात्मक अन्तर रचना की प्रत्ययात्मक अवगम्यता के ऊँचे उद्देश्य से भटक कर दार्शनिक चिन्तन शुद्ध व्याख्यात्मक और प्रत्ययात्मक सन्दर्भ से होने वाले छोटे–छोटे विवादों में अपना सिर खपाने लगता है। दर्शन में यह प्रवृत्ति उसमें बढ़ती हुई तार्किकता या आकारवादिता से प्रकट होती है– जैसे आज पश्चिम में विश्लेषणवाद के प्रति ऐकांतिक आस्था से या अभी हाल के भारत में नव्य न्याय के अभ्युदय से हुआ देखा जा सकता है। इन दोनों ही स्थितियों में आकारवाद का सीधा प्रभाव दर्शन में सृजन का अभाव रहा है– शायद इसलिए क्योंकि इसमें मनुष्य की आदर्शमूलता का पक्ष एकदम गौण हो जाता है, यहाँ तक कि अपनी मूल आन्तरिकता या आध्यात्मिकता के प्रति सचेत रह सकने में वह अपने–आप को असमर्थ पाता है, और इस स्थिति में प्रेरणा के अभाव से किसी नूतन रचना का सवाल ही नहीं उठता। पुनः, चूँकि तार्किक आकारवाद स्वयं ही किन्हीं सार्वभौम या सर्वनिश्चित नियमों की मान्यता पर आधारित होता है, उसमें पहले से ही 'सब–कुछ' धरा–धराया रहता है और इसलिए उसमें किसी प्रकार की नवीनता के लिए कोई गुन्जाइश नहीं रहती : दूसरी ओर, सृजनशीलता की सम्भावना का आधार ही यह है कि वह अपने सन्दर्भ में ऐसे नये नियमों का संधान करते चलती है जो पहले सर्वतोभावेन निश्चित रूप से ज्ञात नहीं थे।[5]

इस तरह हम देखते हैं कि दर्शन या दार्शनिक चिन्तन के स्वरूप के बारे में उठने वाला मूल प्रश्न काफी जटिल है और किसी भी स्थिति में उसका समाधान मानव–संस्कृति के तात्त्विक अवगमन की अपेक्षा रखता है ; अर्थात् उसे समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि मानव–चेतना किस तरह अपनी स्वाभाविक दृश्यमूलता से आरम्भ कर,

सोद्देश्य अर्थमूलता से होती हुई आध्यात्मिक अंतश्चेतना की ओर गति करती है और इस पूरी प्रक्रिया को प्रत्ययात्मक संश्लेषण के रूप में अपने समक्ष स्पष्ट करना चाहती है। निस्सन्देह यह अवगमन की वही प्रक्रिया है जिसे ज्ञानी आत्म–ज्ञान का मार्ग मानते आये हैं और जिसे प्रायः दार्शनिकों ने दार्शनिक–क्रिया का परम लक्ष्य माना है। फिर यह भी स्पष्ट है कि संस्कृति के सही अर्थ और उसकी प्रक्रिया की स्पष्ट समझ पर स्वतः दर्शन, दार्शनिक विमर्श और दार्शनिक परंपरा के संबंध में स्पष्ट ज्ञान सम्भव हो सकेगा। अतः इस दृष्टि से, मेरी समझ में, पांडेजी एतद्विषयक विचार दार्शनिकों और दर्शनशास्त्र के अध्येताओं के लिए एक विशेष महत्त्व रखती है, विशेषकर भारत में जहाँ आज सर्वत्र तात्त्विक सांस्कृतिक ज्ञान के अभाव में दर्शन का सारा क्षेत्र बंजर भूमि की तरह अनुत्पादक होकर बेकार पड़ा है। इसीलिए पांडे जी के संस्कृति दार्शनिक विचार पाश्चात्य 'इतिहासवाद' या 'विश्वदृष्टिवाद' का ही प्रतिपादन करने वाले नहीं कहे जा सकते। यदि हमें इसे किसी परम्परा में रख कर समझने की जरूरत जान ही पड़े तो हम श्री अरविन्द द्वारा प्रदत्त मानव–इतिहास की व्याख्या की परम्परा में इसे रख सकते हैं– अर्थात् यह आधुनिक भारतीय सांस्कृतिक जागृति की परम्परा का ही अंग है और उसी रूप में हमारे लिए सर्वाधिक उपयोगी भी है।

पांडे जी की प्रतिभा बहुपठित एवं बहुआयामी है। अतएव उन्होंने अन्यान्य विषयों पर लिखा है। परन्तु इतिहास, संस्कृति और परम्परा का विमर्श उनके लिए अत्यन्त प्रिय रहा है। पांडे जी का संस्कृति–दर्शन मूल और मौलिक रूप में उनकी कृति "दी मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर" में अभिव्यक्त हुआ है। हम उसी को आधार बनाकर आगे विचार करेंगे।

1. संस्कृति का अर्थ

संस्कृति मनुष्य में मूल प्रवृत्तिमूलक या प्राकृतिक नहीं है, वह मनुष्य द्वारा अर्जित है। वह एक साथ ही वैयक्तिक अर्जन है और व्यक्ति के लिए प्रेरणाप्रद व फलप्रद है, और परम्परा रूप में सामाजिक उपलब्धि है। संस्कृति का अर्थ है– "मूल्यों की, आत्मबोध की, परम्परा।"

मूल्य मानव–मूल्यांकन के अव्यवहित विषय हैं। मूल्यांकन में अन्वेषण (गवेषणा), लयन और अनुमोदन रहता है। अन्वेषण आत्म–संपूरण (सेल्फ–फुलफिलमेंट) के लिए की जाने वाली जीवन–गति है, जो विकल्पों के चयन और चुने हुए के समर्थन से आगे बढ़ता हुआ, जैविक से लेकर आध्यात्मिक तक विस्तार पाता है। चूँकि केवल जैविक और तत्सम्बन्धित उपादेयता के स्तर पर आत्मसंपूरणात्मक चेतना औपाधिक होती है, वह वहाँ नहीं ठहर कर आगे शुद्ध आत्मानुभव की ओर प्रवृत्त होती है। अर्थात् अन्वेषणात्मक चेतना को एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से होकर गुजरना होता है, मानव–चेतना में मूल्यों के उन्मेष की प्रक्रिया भी यही है। इस उन्मेष–प्रक्रिया को सामाजिक–ऐतिहासिक वास्तविकता मूल्यवान् सिद्ध हुए अनुभवों की अभिव्यक्ति और संप्रेषण द्वारा मिलती है। ये अनुभव आत्मचेतन और वैयक्तिक होते हैं और प्रतीकों के रूप में सामाजिक सम्प्रेषण व परम्परा में प्रविष्ट होते हैं।

अतः, इस दृष्टि से, 'संस्कृति' का अर्थ हुआ ...... मूल्य–गवेषणा और अनुभव की सामाजिक अभिव्यक्ति; जबकि मूल्य–बोध जिस विशिष्ट प्रक्रिया से होकर गुजरता है उसी से 'इतिहास' को उसका अर्थ मिलता है। यहां यह भी द्रष्टव्य है कि मनुष्य द्वारा रचित उसका अपना उपादानमूलक पदार्थिक परिवेश अन्ततः उसके विशिष्ट सांस्कृतिक संस्कार या मूल्य–बोध पर ही निर्भर करता है।

किन्तु संस्कृति की यह व्याख्या सभी को मान्य नहीं है, विशेषकर हम उस मार्क्सवादी–भौतिकवादी दृष्टिकोण का स्मरण कर सकते हैं जिसके अनुसार मनुष्य के सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश का आधार उसकी तकनीकी जानकारी और श्रममूलक व्यवस्था होती है, न कि उसकी सैद्धान्तिक या मूल्यपरक वैयक्तिक चेतना। दूसरे शब्दों में, मार्क्सवादी भौतिकवाद के अनुसार, मानव–मनस् अपने उत्स और उत्कर्ष में बाह्य मानव–व्यवहार में व्यवस्था के ढंग पर निर्भर करता है। यही मत प्रकारान्तर से आधुनिक प्रकृति–विज्ञान का भी है।

किन्तु वस्तुतः यह मार्क्सवादी/वैज्ञानिक मत संस्कृति या मूल्यों के उन्मेष की व्याख्या न कर मनुष्यों द्वारा मूल्यों के प्रति तटस्थता की सम्भावना व्यक्त करने वाला दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। चूँकि इसमें 'सत्' को 'प्रकृति' और इसलिए प्राकृतिक क्रियाओं के ही रूप वाला मान लिया गया है, इस मत के क्रियान्वयन से मनुष्य शक्ति और सफलता प्राप्त कर सकता है, मूल्य नहीं। वस्तुतः विज्ञान और तकनीकी ज्ञान स्वतः मूल्य–निरपेक्ष हैं। ज्ञान के रूप में भी प्रकृति से अनिवार्यतः सम्बद्ध होने से अवश्य वे मनुष्य के लिए ऐसा परिवेश तैयार करने में सफल होते हैं जिसमें मनुष्य अपने सामाजिक–सांस्कृतिक जगत् की रचना करता है। किन्तु मनुष्य किसी काल–विशेष में उपलब्ध विज्ञान–तकनीकी का उपयोग किस तरह करेगा, यह इस पर निर्भर करता है कि उस समय मनुष्य की विशेष सामाजिक–सांस्कृतिक मान्यताएँ क्या हैं। आज हम आधुनिक सभ्यता को विज्ञान और तकनीकी जानकारी से पूर्णतः प्रभावित पाते हैं– वह प्रायः पूर्णरूपेण ऐसी खोजों से व्यस्त है जो मनुष्य के लिए अधिकाधिक सुख–सुविधा व शक्ति जुटा सकें। पर इससे ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि मनुष्य के लिए यह लक्ष्य आधुनिक विज्ञान–तकनीकी से पैदा हुआ है। वस्तुतः बात इसके ठीक उल्टी है– सभी नयी–पुरानी संस्कृतियों का एक लक्ष्य सदैव यही रहा है; यद्यपि यह भी सही है कि विविध संस्कृतियाँ अलग–अलग मूल्यों पर जोर देने के कारण उपलब्ध विज्ञान–तकनीकी का उपयोग एक–जैसा नहीं करतीं। अतः विज्ञान–तकनीकी पर ऐकांतिक जोर देने वाली आधुनिक सभ्यता के प्रभाव में ऐसा नहीं समझ बैठना चाहिए कि पश्चिम से प्रभावित आधुनिक जगत् की ऐतिहासिक प्रक्रिया ही समग्र मानव–संस्कृति की एकमात्र सार्वभौम और आदर्श प्रक्रिया है। निस्सन्देह विज्ञान–तकनीकी पर जोर देने वाला दृष्टिकोण सांस्कृतिक प्रक्रिया के एक स्तर विशेष का ही द्योतक है। विज्ञान–तकनीकी में जो सार्वभौमता दृश्यमान् है वह उसके मूल्यों का उन्मेषक उत्स होने के कारण नहीं है वरन् इसलिए है क्योंकि उसके प्रतीक विभिन्न

संस्कृतियों के बीच सरलतापूर्वक सम्प्रेषणीय हैं–और यही तथ्य पुनः उनके मूल्य–निरपेक्ष होने की पुष्टि करता है।

इसी तरह संस्कृति को समाज के आधार से समझने और निश्चित करने के टॉयनबी के प्रयास की भ्रामकता भी हमें समझनी चाहिए। 'सृजनशीलता' संस्कृति का तात्त्विक लक्षण है जबकि वह समाज का तात्त्विक लक्षण नहीं है। फिर, एक संस्था या संगठन के रूप में स्वतः समाज की धारणा उन निश्चित अवधारणाओं पर आश्रित होती है जो मूल्यपरक होते हैं। अतः देश–काल में स्थिति के स्वरूप वाले समाज की मूल्यबोधात्मक संस्कृति के मूलाधार के रूप में मान्यता निश्चय ही ऐतिहासिक प्रमाणों के विपरीत है।

कभी–कभी संस्कृति को ऐसा 'संस्थान' (पैटर्न) भी मान लिया जाता है जिसमें उद्योग, तकनीकी, सामाजिक व्यवस्था आदि एकरूपेण समाविष्ट होते हैं। यह मत ठीक–ठीक स्पष्ट नहीं है; किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि इस तरह की एकरूपता के फलस्वरूप संस्कृति की आकारिकता बढ़ने और फलतः उसकी सृजनशीलता के घटने का खतरा पैदा होता है। सांस्कृतिक एकरूपता वैयक्तिक अनुभव में अधिष्ठित होती है जबकि तार्किक, आकारिक या व्यवस्थामूलक एकरूपता की प्रवृत्ति व्यक्ति–निरपेक्षता की और यहाँ तक कि परा–ऐतिहासिक होती है। सभी सांस्कृतिक अनुभवों का अधिष्ठान वैयक्तिक अनुभव ही होता है– इससे उनकी स्वतन्त्रता केवल भ्रमोत्पादक ही हो सकती है। वस्तुतः संस्कृति के तत्त्व को समझने में सबसे बड़ी बाधा मानव–कृतियों को स्वतन्त्र वस्तुएँ मान लेने के कारण होती है। ये वस्तुएँ आत्म–चेतना के सन्दर्भ वाले सांस्कृतिक जगत् की अंग हैं न कि उस प्राकृतिक जगत् की जिनकी वस्तुओं की चेतना आत्म–चेतना–रूप नहीं है। सांस्कृतिक जगत् की वस्तुएँ प्रतीक–रूप हैं, उनका अर्थ है, किन्तु स्वतन्त्र आस्तित्व नहीं। ये प्रतीक आत्म–चेतना में विविध मूल्यों व अनुभवों के रूप में सक्रिय होते हैं। पुनः, यह भी द्रष्टव्य है कि चूँकि सांस्कृतिक जगत् आत्म–चेतना में ही अन्तर्भाव्य है, संस्कृति को उसकी सृजनात्मकता में भागीदार होकर ही समझा जा सकता है। अ–सृजनात्मक रूप में वह केवल एक अनबूझ अभ्यास मात्र बन कर रह जाती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सांस्कृतिक सृजन में हमारी भागीदारी सदैव वास्तविक–ऐतिहासिक (नूतन मूल्योन्मेष : जैसे काव्य : रूप में) हो; वह काल्पनिक भी हो सकती है (जैसे काव्य–समीक्षा में); पुनः, दोनों ही स्थितियों में उसका रूप मीमांसात्मक भी हो सकता है (जैसे इतिहासकार स्वयं अपनी संस्कृति में तो वास्तविक भागीदार होता है, किन्तु अन्य संस्कृतियों में केवल कल्पना के माध्यम से भागीदार बनता है, और साथ–साथ इन दोनों प्रकार की भागीदारी को परस्पर सम्बन्धित रखता है)।

2. संस्कृति और ऐतिहासिक प्रक्रिया

जिस तरह 'संस्कृति' मात्र नृतत्त्वशास्त्रीय या समाजशास्त्रीय विवरण नहीं है, उसी तरह 'इतिहास' भी न तो मृत 'बीता हुआ' है न उसका विवरण मात्र ही है। प्रकृत देशकाल में क्रमबद्ध या साथ–साथ होने वाली घटनाओं का ही बोध नहीं होता बल्कि उसमें ऐसी

घटनाओं की समझ और परिवर्तन की ललक भी होती है। अर्थात् संस्कृति की तरह ऐतिहासिक प्रक्रिया भी अनिवार्यतः आंतरिक (मानसिक) गति और आध्यात्मिकता की प्रक्रिया है। इस प्रकट तथ्य से कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं : प्रथम–मनस् इतिहास द्वारा विशेष रूप से गठित है– वह अपने अनुभव–प्रवाह में निरन्तर रचित है। दूसरी ओर नैसर्गिक वस्तुएँ उस घटना–प्रवाह में स्थित होती हैं जो उन्हें उनके निज–रूप में स्थिर करने में असमर्थ हैं– और इसीलिए उन्हें 'विज्ञान' की आवश्यकता होती है जिससे कि विशेष घटना–प्रवाह से अलग उनका रूप स्थिर हो सके। द्वितीय–मनस् आवर्तमान् काल विशेष में क्रियाओं द्वारा रचित होता है, जबकि नैसर्गिक वस्तुएँ आवर्तमान् (रेपिटिटिव) काल में गतियों द्वारा रचित होती हैं। इन 'क्रियाओं' और 'गतियों' का तात्त्विक अन्तर न समझ पाने के ही कारण मनस् को भी नैसर्गिक समझने का भ्रम होता है। अतः उनके सन्दर्भ में क्रमशः 'मानसिक–काल' और 'भौतिक–काल' का अन्तर समझना चाहिए जो संक्षेप में इस तरह है : भौतिक काल दैशिक बिन्दुओं की तरह अपने क्षणों के बीच स्थिर और निश्चित अंतरों वाला है, जबकि मानसिक काल के अन्तर्गत ये अन्तर स्थिर व निश्चित नहीं हैं। तृतीय–मनस् की आधारभूत क्रियाओं को भौतिक गतियों की तरह केवल कारणात्मक ढंग से नहीं समझा जा सकता, क्योंकि वे क्रियाएँ मूलतः साभिप्राय–लक्ष्यमूलक–होती हैं। कारणात्मक अवगमन में हमें पीछे की ओर लौटना होता है, जबकि आभिप्रायिक अवगमन में हमें आगे की ओर बढ़ना होता है। सम्पूर्ण प्रकृति, की समझ कारणता–आकस्मिकता की विधा से प्राप्त की जा सकती है; किन्तु मनस् या जीवंत अनुभव के लिए हमें लक्ष्य या नियति को समझना होता है– यहाँ समझ का आधार वास्तविक न होकर आदर्श या अवास्तविक है। इसीलिए मानव–मनस् वास्तविक की खोज में भी वस्तुतः 'आदर्श' की खोज करता है, अर्थात् उसकी सक्रियता 'आदर्श के वास्तविकीकरण' के लिए होती है– सत् के ही हृदय में सौद्देश्यता को वैध मानने (एरिस्टॉटल, हीगेल, हुस्सर्ल आदि) का कारण यही है। इस प्रकाश में हम मानव–मनस् के जीवन को एक उत्क्रान्तिमूलक प्रक्रिया कह सकते हैं जो किसी भी नैसर्गिक या अभियान्त्रिक प्रक्रिया से बिल्कुल भिन्न है, क्योंकि उसमें एक निश्चित लक्ष्य का बोध रहता है। अतः यह भी स्पष्ट है कि उक्त उत्क्रान्ति में निहित विकास नैसर्गिक विकास से बिल्कुल भिन्न प्रकार का होगा : मनस् के सन्दर्भ में विकास एक समग्रता का अर्थ देता है जो उसके विविध घटकों के विविध अर्थों की सफलता मात्र नहीं है, जैसे नैसर्गिक विकास के सन्दर्भ में। यहाँ हम बौद्धों द्वारा 'क्षणिक' के संबंध में सुझाये गए दो दृष्टिकोणों के भेद के महत्त्व को समझ सकते हैं : निसर्ग के सन्दर्भ में वह यथार्थता (वास्तविकता) के लक्षण वाला है, जबकि मनस् के सन्दर्भ में वही अयथार्थता का लक्षण पैदा करता है। किन्तु इस भेद के महत्त्व का अर्थ यह नहीं कि मनस् का उत्क्रान्तिमूलक विकास निसर्ग या प्रकृति से बिल्कुल अलग–थलग रहकर होता है। इसके विपरीत, मानसिक उत्क्रान्ति की यह विशेषता है कि वह नानारूप अन्तर्विरोधपूर्ण निसर्ग में निहित 'परता' को भी एक बृहद् समग्रता में सुनियोजित कर उसके अवरोधक लक्षण को समाप्त कर देती है।

मनस् (आत्मा) को उसकी अपनी स्वायत्तता या स्वतन्त्रता इसी से मिलती है– किसी कलाकार, जैसे चित्रकार, की सक्रियता में इसकी झलक स्पष्टरूपेण देखी जा सकती है। (यह दृष्टव्य है कि कांट की 'कोपरनिकीय क्रांति में भी यही बात देखी जा सकती है– और तब हम देख सकते हैं कि प्रकृति के ज्ञान (विज्ञान) के क्षेत्र में भी प्रकारान्तर से वही होता है जो कला के क्षेत्र में होता है : पांडेजी इस तथ्य को अनदेखा कर देते हैं।)

मानस् के उत्क्रांतिमूलक विकास से ही संस्कृति के उच्चतर स्तरों का विकास सम्भव होता है। सत्य, सुन्दर, शिव या प्रेम या स्वतन्त्रता जैसे उच्चतर मूल्यों की जीवन में अभिव्यक्ति देने की दिशा में प्रगति सदैव नानारूपात्मक बाह्य निसर्ग (जहाँ मनुष्य अपने को पाकर सन्तुष्ट नहीं रह पाता) के अन्तर्विरोधी तत्त्वों के एक सामन्जस्य स्थापित कर सकने की मानव–क्षमता पर ही निर्भर करती है।

यहाँ दो बातें द्रष्टव्य है : एक, मानव–मनस् का विकास सदैव आत्मबोधात्मक है क्योंकि मनस् आत्मरूप है; और दूसरी, उसका यह विकास इतिहास का सही आशय व्यक्त करता है। मानसिक विकास को आत्मबोधात्मक मानने से उसे विशिष्ट व्यक्ति–केन्द्रित मानने का अर्थ नहीं है। निस्सन्देह मनस् एक नहीं अनेक हैं और वे सभी आत्मबोधात्मक भी हैं। किन्तु आत्मबोधात्मक मनस् की सक्रियता ही इस प्रकार की है कि उसमें अनेकता प्रकाशित है : वह प्रत्ययात्मक सार्वभौमिकता के आधार से ही सक्रिय होती है। अर्थ का सारा क्षेत्र ही अन्तर्वैयक्तिक है। अब चूँकि मनस् की आत्मबोधात्मक उत्क्रान्ति का रूप इस तरह का है, उसके सन्दर्भ में अवगम्य ऐतिहासिक प्रक्रिया के बारे में ये मत ठीक नहीं हो सकते– कि वह पूर्णतः आकस्मिक प्रक्रिया है, और यह कि उसका वैज्ञानिक सामान्यीकरण सम्भव है। ये मत वस्तुतः इन प्रकृतिवादी मान्यताओं पर आधारित हैं कि इतिहास प्रकृति का अंग है और प्रकृति, जो आकस्मिक तत्त्वों से बनी है, कारणात्मक है। किन्तु यहाँ जिस प्रकृति की चर्चा है वह मनुष्य को अन्दर–बाहर आवेष्टित करने वाली जीवंत प्रकृति न होकर विज्ञान की शुद्ध अमूर्त प्रकृति है। अवश्य प्रकृति की इन दो धारणाओं के बीच सम्बन्ध है, किन्तु वे एक ही नहीं हैं। ऐतिहासिक प्रक्रिया के सन्दर्भ में जिन दो मतों का उल्लेख ऊपर हुआ है वे उक्त अमूर्त प्रकृति के इतिहास पर लागू हो सकते हैं, किन्तु तब इतिहास भी 'वास्तविक' न होकर 'अमूर्त' होता है। अमूर्त और ऐकान्तिक इतिहास मानव–मनस् (बुद्धि) की सार्वभौमता पर ऐकान्तिक और अमूर्त्यात्मक ज़ोर देने से सम्भव होता है। दूसरी ओर, वास्तविक ऐतिहासिक प्रक्रिया में मानव–मनस् की सार्वभौमिक तथा आत्मबोधात्मक प्रवृत्तियों पर समानरूपेण तथा सामन्जस्यमूलक ज़ोर होता है।

अतः इतिहास में निहित बौद्धिकता को प्रकृति–विज्ञान की बौद्धिकता मानना भ्रमात्मक है। जैसाकि बोसांके ने कहा है : इतिहास के अन्तर्गत मनुष्य के व्यक्तित्व, क्रिया व बुद्धि में उसका जो भाव प्रकट होता है उसे हम सापेक्षता और अनिवार्यता के अमूर्त प्रत्ययों में खोना नहीं चाहते। फलतः संस्कृति के सन्दर्भ वाला इतिहास सीधे मनस् के आत्मबोधात्मक जीवंत अनुभव–क्षेत्र से जुड़ता है, और इस इतिहास के सभी उपादान

(प्रत्यय, प्रतीक, प्रतिमाएँ, विविध सांस्कृतिक रूप) अर्थोन्मेष के सन्दर्भ वाले हैं, अर्थात् वे आत्मज्ञान की खोज में प्रयुक्त उपकरण हैं।

3. संस्कृति : अर्थाभ्युपगम और रूप

अब तक की गई संस्कृति व इतिहास की व्याख्या हीगेल, क्रोचे, बोसांके आदि द्वारा प्रणीत प्रत्ययवाद (आइडियलिज़्म) की परम्परा के अनुकूल है। इस परम्परा की एक प्रमुख मान्यता यह रही है कि प्रकृति मनस् से स्वतन्त्र नहीं है। उसके अनुसार, मनस् अर्थाभ्युपगमों का एक ऐसा वर्ग है जिसके द्वारा यथार्थ (प्रकृति) का ज्ञान होता है, तथा उन्हीं अर्थाभ्युपगमों द्वारा उनसे अधिक श्रेष्ठ अर्थाभ्युपगमों की उद्‌भावना होती है। उल्लेखनीय है कि हीगेल के लिए इतिहास की व्यवस्था एक शुद्ध तार्किक व्यवस्था है, और जहाँ वह ऐसी नहीं है वहाँ इतिहास केवल आगन्तुक है। किन्तु क्रोचे ने इस मत में महत्त्वपूर्ण संशोधन किया है : उसके अनुसार, हमें शुद्ध तार्किक व्यवस्था और सत्–प्रकृति–मनस् की व्यवस्था के बीच अन्तर करना चाहिये, और अर्थाभ्युपगमों को मात्र तार्किक कोटियाँ नहीं समझना चाहिए, क्योंकि अवगम्यता का अर्थ सदैव तार्किक बौद्धिकता नहीं होता। पुनः, स्वतः प्रकृति की व्यवस्था को हमें मनस् की व्यवस्था से पृथक् भावेन समझना चाहिए : प्रथम के अन्तर्गत हमें वास्तविकताओं का क्रम उपलब्ध होता है, जबकि द्वितीय के अन्तर्गत केवल अर्थ का सामन्जस्यपूर्ण उन्मेष होता है। फिर, यह भी द्रष्टव्य है कि अर्थोन्मेष में निहित आत्मबोध के अन्तर्गत मनस् की प्रवृत्ति उस आदर्शरूप 'परमात्मा' (परम+मनस्) की ओर होती है जो स्वतः अनैतिहासिक है। यही 'परमात्मा' श्रेष्ठतम परमार्थ (परम+मूल्य) है।। इस दृष्टि से प्लेटो की इस उक्ति को, कि 'काल चिरन्तन का गतिमान प्रतिरूप है' इस तरह समझा जा सकता है : चिरन्तन ही परमात्मा है और मनस् की कालगति ही ऐतिहासिक उत्क्रांति या विकास है।

संस्कृति की अर्थाभ्युपगम–क्रिया में मूलतः तीन प्रकार के अर्थाभ्युपगम दृष्टिगोचर होते हैं : परिवर्तनमूलक, निर्देशमूलक और स्तरमूलक। परिवर्तनमूलक अर्थाभ्युपगम है– क्रमावर्त्तन (सक्सेशन) जिससे साधारणतः कारणता या आकस्मिकता का बोध होता है। इतना तो स्पष्ट है कि इतिहास के अन्तर्गत क्रमावर्त्तन में आकस्मिकता का प्रश्न पैदा नहीं होता, क्योंकि वहाँ हमें व्यवस्था की तलाश होती है, यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं है कि हम उस व्यवस्था को तार्किक व्यवस्था के रूप में ही स्वीकार करें। जो व्यवस्था हम इतिहास में ढूँढ़ते हैं वह अर्थमूलक व्यवस्था होती है। पुनः, इतिहास के व्यवस्थामूलक क्रमावर्त्तन को हम उत्तरोत्तर विकासमान बौद्धिकता रूप या अर्थ रूप समझ सकते हैं, जिसके अन्तर्गत उसका पूर्ण रूप कभी प्रगट नहीं हो सकता; क्योंकि किसी भी काल–विशेष में इस समग्र विकासमान् बौद्धिकता का केवल एक विशिष्ट अंश ही स्पष्ट होकर सामने आता है जिसके आधार से उसके समग्र स्वरूप को सामान्यीकृत नहीं समझा जा सकता। अतः पूरे ऐतिहासिक अनावृत्तिमूलक क्रमावर्त्तन को अर्थमूलक या बौद्धिक कहना भी उसके सन्दर्भ में केवल एक पूर्वमान्यता है।

दूसरी ओर, ऐतिहासिक व्यवस्था में निहित क्रमावर्त्तन को आवृत्तिमूलक मानने का अर्थ उसे प्राणियों के देह की उपमा पर समझना है, जिसमें जन्म, वृद्धि, क्षय और मरण की आवृत्तिमूलक प्रक्रिया होती है। किन्तु आत्म–बोध जैविक धारणा नहीं है। मनुष्य का अनुभव–प्रवाह उक्त प्रक्रिया से होकर नहीं गुज़रता है। यही बात विस्तारेण समग्र मानव–जाति के अनुभव–प्रवाह रूपी संस्कृति पर भी लागू होती है। जिस तरह उसमें न तो यांत्रिक कारणता होती है और न ही अर्थशून्यतामूलक आकस्मिकता, उसी तरह उसमें जैविक जन्म–जीवन–मरण भी नहीं होता। संस्कृति–इतिहास की धारणा की भौतिक–जैविक धारणा से मूल भिन्नता का कारण इस प्रकार है : भौतिक–जैविक के अन्तर्गत परिवर्तन व स्थायित्व दोनों एक ही द्रव्य पर आधारित माने जाते हैं, अर्थात् एक ही आधारभूत द्रव्य में रूप–परिवर्तन होता रहता है; किन्तु, दूसरी ओर, मनस् के अनुभव–प्रवाह में स्थित संस्कृति–इतिहास के क्रमावर्त्तन में कोई आधारभूत द्रव्यमूलक स्थायित्व नहीं होता। अवश्य वहाँ 'अर्थ–क्रिया' होती है, घटकों के बीच अर्थ–सम्बन्ध होता है, किन्तु वह किसी स्थायी मूल–द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखता– उसके लिए केवल इतना ही मानना पर्याप्त है कि परिवर्तन की प्रक्रिया में 'अनुगामी' का अर्थ 'पूर्वगामी' के बिना स्पष्टरूपेण अवगम्य नहीं होता। अतः स्पेंगलर द्वारा संस्कृति को जैविक प्रतिमान के सहारे समझने का प्रयास ठीक नहीं है। साथ ही यह स्पष्ट है कि टॉयनबी द्वारा विविध संस्कृतियों के बीच एकरूप अर्थक्रिया के विकास का सिद्धान्त भी मान्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहाँ प्रवाहमान जीवंत चेतना को अनावश्यक रूप से स्थूल व निर्वैयक्तिक मानना आवश्यक हो जाता है। शायद ईश्वरीय चेतना के लिए यह सम्भव हो ; मानव–अनुभवाश्रित इतिहास के सन्दर्भ में यह सही नहीं हो सकता।

निर्देशमूलक अर्थाभ्युपगम मूलतः दो प्रकार के हैं : प्रथम, अनुभव को उसकी वस्तुनिष्ठ अन्तर्वस्तु के आधार से समझने पर वह प्राकृतिक बनता है और यह बौद्धिक क्रिया द्वारा सम्भव होता है। द्वितीय, जहाँ तक बौद्धिक क्रिया के अन्तर्गत स्वतः अनुभव को समझने की बात होती है हमें सांस्कृतिक या ऐतिहासिक चेतना होती है जिसका एक विकसित रूप किसी समग्र अर्थ–क्षेत्र में प्रतीक की शुद्ध अमूर्त चेतना है। चूँकि अनुभव मनस् की अभिव्यक्ति है, उसमें आदर्शोन्मुखता (मूल्य–चेतना) होती है। दूसरे शब्दों में, जो चेतना प्रथम स्थिति में बहिर्मुख होती है, वही इस द्वितीय स्थिति में अन्तर्मुखी हो जाती है और इसी बाद वाली स्थिति में मानस् का स्वयं अपना स्वरूप स्पष्ट होता है। अतः यह भी द्रष्टव्य है कि हमें मनस्क्रियात्मक ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत निर्देश का अर्थ किसी आधारभूत अर्थाभ्युपगम के उन्मेष में नहीं देख कर स्वतः अर्थाभ्युपगमन–क्रिया की विविध विकासमान विधाओं में देखना चाहिए। ये विधाएँ इन चार तत्त्वों पर कमोवेश निर्भर करती हैं : प्रकृति, अनुभव और उसकी स्पष्टता, प्रतीक (बिम्ब और प्रत्यय) तथा मनस्। तदनुसार, अपेक्षया, इन स्पष्ट अर्थनिर्देशों की बात की जा सकती है– विज्ञानमूलक, कला–मूलक, तर्कमूलक तथा इतिहास व रहस्यवाद से सम्बन्धित निर्देश।

स्तरों के अर्थाभ्युपगमों के रूप में हीगेल के आत्मनिष्ठ, वस्तुनिष्ठ और परम मनसों के भेद को लिया जा सकता है। उसके अनुसार, कानून और नैतिकता, परिवार और राज्य वस्तुनिष्ठ मनस् के स्तर वाले हैं; जबकि धर्म, कला और दर्शन परम मनस् के स्तर वाले हैं। साधारणतः इतिहासकार इस तरह का स्तर–भेद नहीं करते। फलतः, उदाहरणार्थ, कला का इतिहासकार कला की वस्तुओं की विवेचना इस तरह करता है मानों वे प्राकृतिक वस्तुएँ हों। इसी तरह दर्शन का इतिहासकार स्वयं दार्शनिक होने की स्थिति में या तो समस्त पूर्ववर्ती दर्शन को स्वयं अपने दर्शन के लिए भूमिकामात्र समझता है (हीगेल, मार्क्स) या फिर उसे पूर्णतः वृथा समझ कर उसका बहिष्कार करता है (कोंत)– इन दोनों ही स्थितियों में दर्शन एक परम अर्थाभ्युपगम न रह कर विशिष्ट उद्देश्य वाली एक मान्यता मात्र बन कर रह जाता है। किन्तु दूसरी ओर भी भ्रम का खतरा कम नहीं है : दर्शन (या कला आदि) को परम स्तर वाला मान लेने पर यह भ्रम पैदा हो सकता है कि कहीं हम अर्थहीन को अर्थयुक्त और अर्थयुक्त को अर्थहीन तो नहीं मान रहे ! आखिर काल–विशेष में व्यक्ति के लिए प्रत्येक अनुभव–सन्दर्भ तो स्पष्ट होता नहीं।

इसीलिए यह आवश्यक है कि हम संस्कृति में अर्थाभ्युपगमों का स्तर–भेद, वस्तुतः किसी भी अर्थाभ्युपगम का स्वरूप, ठीक–ठीक समझने के लिए संस्कृति का समग्र सन्दर्भ समझें। अवश्य यह समग्र सन्दर्भ स्पष्टभावेन निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि समझने वाले व्यक्ति की स्वयं अपनी आधारभूत मान्यताएँ इसके आड़े आती हैं। पुनः, एक ही स्तर में कई प्रक्रियाएँ अन्तर्भाव्य हो सकती हैं– अनुभवशील मनस् अपनी निरन्तरता बनाये रखते हुए भी अपने भ्रमण–वृत्त में परिवर्तन कर सकता है। वस्तुतः विज्ञान, दर्शन और धर्म (जिनमें सत् के विविध रूप प्रकट होते हैं) के क्षेत्रों के बीच स्तर–भेद का आंशिक कारण यही भ्रमण–वृत्त का परिवर्तन है। सर्वोच्च स्तर वाले आत्मबोध में रहस्यात्मक सत्य उपलब्ध होता है, जो स्वतः सत् या शुद्ध आत्मबोध की स्थिति होने से इतिहास–निरपेक्ष है। किन्तु जहाँ तक वह दर्शन के रूप में या धर्म में अंश–भूत होकर प्रकट है, जहाँ वह प्रतीक रूप में अभिव्यक्ति–योग्य है, वहाँ वह दार्शनिक क्रिया का स्तर ग्रहण कर लेता है, यहाँ तक कि शायद वैज्ञानिक संस्थान के स्तर का भी। किन्तु इस कारण स्वतः उसे ही दर्शन या विज्ञान के स्तर वाला मान लेना भूल होगी।

संक्षेप में, परिवर्तनमूलक अर्थाभ्युपगम एक ऐसी विकासमान् प्रक्रिया को उद्भासित करते हैं जिसमें स्वाभाविक असत्ता होती है– इसके अन्तर्गत विकास का रूप अर्थवत्ता का होता है, भाववत्ता का नहीं। निर्देशमूलक अर्थाभ्युपगम उन विभिन्न दिशाओं को उद्भासित करते हैं जिधर बाह्यस्थ प्रकृति और अन्तस्थ मनस् अनुभवों को अपनी ओर खींचते हैं या स्वयं उनकी ओर खिंचते हैं। स्तरमूलक अर्थाभ्युपगम आत्मबोध या अनुभव के उन अंशभेदों के उद्भासक हैं जो कमोवेश शुद्ध चेतना तक पहुँचने की सक्रियता प्रकट करते हैं।

4. संस्कृतियाँ और संस्कृति : स्वरूप–निर्धारण की समस्या

संस्कृति को आत्म–बोध रूप मान लेने पर इस सवाल का उठना स्वाभाविक ही है

कि उसे उस स्वरूप में निश्चित करने का वस्तुनिष्ठ आधार क्या होगा ? किन्तु इस सवाल को सुलझाना सचमुच आवश्यक नहीं है क्योंकि आत्मबोध स्वयं परिभाषेय होता है। जहाँ तक संस्कृति में 'परता' का सवाल है; क्योंकि संस्कृति की पूरी प्रक्रिया ही 'पर' (अर्थात् 'अन्य') के पुनर्गठन की है, यह भी समझ लेना चाहिए कि आत्मबोध की सारी प्रक्रिया का आधार ही यह ज्ञान है कि अनात्म वस्तुतः आत्म ही है। अनात्म में परता का अन्यत्व उसे समझने से होता है, जबकि समझ लेने से वही आत्मरूप हो जाता है। द्रष्टव्य है कि यहाँ 'आत्म' और उसके 'विषय' के भेद को मिटाने की बात नहीं कही जा रही है; केवल यह कहा जा रहा है कि उनके बीच एक संश्लेषणात्मक एकता है।

उल्लेखनीय है कि संस्कृति को किसी वस्तुनिष्ठ आधार से निश्चित करने का प्रयाम कई भ्रमों को जन्म देने वाला है। इसी प्रयास के चलते संस्कृति के भौगोलिक या कालिक सीमाओं में बंधने का भ्रम पैदा किया गया है। आनुभाविक देश–काल के सन्दर्भ से अवश्य समाज की परिभाषा दी जा सकती है–किन्तु वहाँ भी वह केवल एक आरम्भिक मान्यता के रूप में ही स्वीकरण योग्य है, क्योंकि गहराई में जाने पर हम पाते हैं कि समाज का निश्चित रूप भी अन्ततोगत्वा संस्कृति की जानकारी पर निर्भर करता है। और संस्कृति की ठीक–ठाक जानकारी उसके अर्थाभ्युपगमों को समझने से होती है (जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

संस्कृतियों के बीच भेद पैदा करने वाले तत्त्व सामान्यता दो हैं : अपूर्ण सम्प्रेषण और स्वार्थों की टकराहट। यह भेद आत्मचेतनाओं का भेद है। अपूर्ण सम्प्रेषण 'ऐतिहासिक दूरी' के कारण हो सकता है।, जबकि स्वार्थों की टकराहट का कारण संकीर्ण नैतिक या सामाजिक सीमाएँ होती हैं। 'ऐतिहासिक दूरी' को किसी आदर्श संश्लेष से मिटाया जा सकता है– जैसे यूक्लिड और रीमान की ज्यामितियों को एक ही ज्यामितीय संरचना के अंग समझना सम्भव है। इसका अर्थ हुआ कि मनस् की एकात्मता अपनी संरचना के अन्तर्गत भेदों को स्वीकार तो करती है किन्तु साथ ही उन्हें परस्पर संश्लिष्ट कर उनके विरोध को मिटाने की चेष्टा भी करती है।

पुनः, यह भी द्रष्टव्य है कि संस्कृति को आत्मबोध के रूप में समझना तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उसमें भागीदार नहीं बना जाये। इतिहासकार को संस्कृतियाँ कहीं बाहर से नहीं मिलतीं। ग्रीक संस्कृति को उसमें भागीदार होकर, जैसे ग्रीक क्लासिक्स को पढ़ कर, ही समझा जा सकता है। और जब हम संस्कृतियों को इस तरह जानते हैं तो हम यह भी जानते हैं कि वे विविध रूप में एक ही विराट् आत्म–चेतना की अंश हैं। शायद व्यक्ति रूप में हम स्वयं उस 'विराट्' तक नहीं पहुँच सकें, किन्तु इतिहास के अध्ययन का उद्देश्य यही है– 'बाह्य' के क्षेत्र में जो उद्देश्य प्रकृति को समझने का है, ठीक वही उद्देश्य 'आत्म' के क्षेत्र में इतिहास को समझने का है। इसी अर्थ में विभिन्न संस्कृतियाँ एक ही संस्कृति–उच्चतम संस्कृति– में अंशभूत हैं। संस्कृति को इस तरह समझने और जानने में ही सांस्कृतिक विकास निहित है। मानवीय आत्म–चेतना के विकास की प्रक्रिया

ही इस तरह है कि उसमें अपूर्ण चेतना पूर्ण चेतना में विकसित होना चाहती है। यही मानव–चेतना की अमिट लालसा और अन्वेषण का सुख है और साथ ही उसमें अन्तर्निहित विरोधाभास भी–और निस्सन्देह मनुष्य को इसी तरह समझा जा सकता है। मानव–इतिहास मूल्यान्वेषण के लिए किये गए ऐसे मानवीय प्रयोगों का लेखा–जोखा है जो मूलतः एक आदर्शमूलक प्रक्रिया पर आधारित हैं। मनुष्य और उसकी संस्कृति की ठीक–ठीक समझ के लिए हमें मानव–इतिहास को इसी रूप में समझना चाहिए।

5. तात्त्विक और आगन्तुक इतिहास

जैसाकि हम पहले ही कह आये हैं, संस्कृति को आत्मबोधात्मक रूप से सतत् विकासमान मानने का अर्थ ही उसका एक विशिष्ट काल–सन्दर्भ स्वीकार करना है। अर्थात् आत्मबोध की प्रक्रिया आंतरिक (मानसिक) या तात्त्विक काल में सम्पन्न होती है और यह काल बाह्यजगत्–मूलक भूत–वर्तमान–भविष्यत् के अपरिवर्त्य क्रम में रूपायित काल से बिल्कुल भिन्न है। इस बाद वाले काल में क्रम का रूप या तो कार्यकारणात्मक या आगंतुक प्रकार का होता है। दूसरी ओर, आंतरिक काल, जिसमें चेतना भावरूपेण विकसित होती है, के अन्तर्गत प्रत्येक बीत जाने वाला क्षण अपने निकटतम परवर्ती क्षण को उसके लक्षण में निश्चित बनाता चलता है– क्योंकि इस बाद वाले क्षण में उस बीते क्षण की स्मृति चेतन या अचेतन रूप से समायी होती है। इस तरह यहाँ 'भूत' वास्तविक न बने रहने पर भी जीवंत रहता है ; प्रत्येक वर्तमान क्षण भी इसीलिए मात्र वास्तविक न रह कर आदर्शोन्मुख (भविष्योन्मुख) होता है और इसीलिए अभी आगामी क्षण– रूप भविष्य भी उद्‌देश्यमूलक बनता है। यही आत्मचेतना के अपने स्वरूप–बोध का रूप है। वह अपने आणविक रूप में वैयक्तिक रहती है, किन्तु अपने विराट्‌रूप में आत्मबोध की सम्प्रेषणीय प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों द्वारा परम्परा बन कर प्रकट होती है। इस रूप में प्रकट परम्परा ही संस्कृति है। परम्परा का अभ्युदय व्यक्ति–रूप आत्म–चेतनाओं के परस्पर सम्प्रेषण में होता है– उसी के सन्दर्भ में व्यक्ति के लिए यह सम्भव हो पाता है कि वह उस अधिक विशाल मनस् को ढूँढे जिसमें वह स्वयं स्थापित है। परम्परा के अन्तर्गत इस विशाल मनस् का रूप वास्तविक या वैयक्तिक न होकर आदर्शमूलक होता है। इसी में व्यक्ति–रूप मनस् अपने–आप को ढाल कर अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है।

जिस तरह मानवीय आत्मचेतना मूलतः तीन स्तरों से होकर गुज़रती है– प्राकृतिक अस्तित्व के स्मृति, इच्छाओं, संवेगों आदि से आरम्भ कर, सामाजिक सम्प्रेषण शिक्षा आदि द्वारा परिष्कृत होकर जैविक या मनोगत अनुभवों से अलग अर्थान्वेषण के रूप में अपने स्वरूप–ज्ञान के स्तर तक–उसी तरह उस आत्मचेतना की प्रक्रिया के सन्दर्भ वाले इतिहास का भी त्रिविधात्मक अर्थ होता है : (क) व्यक्तिरूप मनस् अपने अनुभवों की व्याख्या के आधार से एक अधिक विस्तृत मनस् के प्रति सक्रिय होता है ; (ख) स्वतः सामाजिक परम्परा व्यक्तिमूलक जीवंत अनुभव–प्रवाह की तरह सक्रिय होती है जिसके अन्तर्गत व्यक्तियों के भेद के बावजूद एक ही प्रकार की आदर्शोन्मुखता प्रकट होती है ; और (ग) इतिहासकार

की चेतना, जिसके अन्तर्गत विविध संस्कृतियाँ एक आदर्श सांस्कृतिक संरचना की ओर अग्रसर होती हैं। अब स्पष्ट है कि इतिहास को इस तरह समझ लेने पर उसे किसी वास्तविक घटना–क्रम में नहीं बांधा जा सकता। वास्तविक या देश–कालिक घटना–क्रम एक ही श्रृंखला का निर्माण नहीं करते और उनकी अवगम्यता भी व्याख्या द्वारा ही सम्भव है। यहाँ हम कांट के इस मत का स्मरण कर सकते हैं कि देश–काल वस्तुतः मनस् द्वारा प्रदत्त प्रत्यय हैं; और यही बात प्रकारान्तर से आधुनिक भौतिकी (सापेक्षवाद) में भी मान्य है। और पुनः, इसी 'व्याख्या' के अन्तर्गत घटनाओं की वह आदर्शोन्मुख व्याख्या भी आती है जिसके चलते सर्वलोकसंग्रहार्थक दृष्टिकोण से लेकर संकीर्ण राष्ट्रवाद और विशिष्ट वर्गहितमूलक राजनीति तक को बढ़ावा मिल जाता है।

इतिहास में केवल विशिष्ट घटनामूलक तत्त्व, जैसे तैमूरलंग या चंगेज़खाँ के विजय–अभियान, आगन्तुक इतिहास के अंग हैं, क्योंकि वे सम्बन्धित जन–समाज में किन्हीं नयी धारणाओं या आदर्शों का उन्मेष कर सकने में असफल होते हैं। इसके विपरीत वे इतिहास के आन्तरिक प्रवाह में क्षणिक अवरोधक तत्त्व के रूप में प्रकट होते हैं। केवल घटना–क्रम की निरपेक्ष प्रस्तुति या निरूपण से आकस्मिक इतिहास होता है, जबकि उस क्रम में चेतना का प्रवाह अन्तर्भाव्य मानने और जानने से इतिहास तात्त्विक बनता है। तात्त्विक इतिहास में आकस्मिकता का तत्त्व नाटकीय संवेग की स्थिति पैदा करता है जिससे तात्त्विक इतिहास के आदर्शोन्मुख आत्मबोध का मार्ग कुछ समय के लिए अवरूद्ध हो जाता है।

6. मूल संस्कृति : सभ्यता और प्रगति

मनुष्य का सारभाव 'श्रद्धा' है, न कि 'बुद्धि' ; श्रम तो बिल्कुल ही नहीं। अतः आत्म–चेतना के विकास के रूप में संस्कृति या इतिहास को वैज्ञानिक–तकनीकी विकास या मार्क्सवादी श्रम–व्यवस्थामूलक विकास के आधार से नहीं समझा जा सकता। संस्कृति के सम्बन्ध में विश्वदृष्टि श्रद्धा द्वारा प्रदत्त मूल मान्यताओं से बनती है, और इसी तरह ऐतिहासिक प्रक्रियान्तर्गत विकास के चरण उक्त मूल श्रद्धा में ही परिवर्तन के द्योतक हैं। मनुष्य की बुद्धि इसी विश्व–दृष्टि में अन्तर्भाव्य होकर सक्रिय होती है और उसका श्रम (अर्थोपार्जन क्रिया) भी उसी से दिशा ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ, पहले पुरातत्त्वविद् समझते थे कि इतिहास (संस्कृति) में विकास के मोड़ तब पैदा हुए जब जन–समाज के भौतिक रहन–सहन में गुणात्मक परिवर्तन हुआ, जैसे आदिम घुमक्कड़ी जीवन का कृषि–व्यवसाय आदि के आधार से स्थायी जीवन में रूपान्तरण। किन्तु अब यह माना जाने लगा है कि यह विकास लेखन के अभाव और लेखन के अभ्युदय के क्रम से अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है– क्योंकि लेखन ही प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक के बीच वास्तविक काल–निर्धारण का ठोस आधार प्रस्तुत करता है। लेखन एक तरह की प्रतीकात्मकता है जिससे परम्परा और परम्पराओं के पुनरूत्थान को उनका निश्चित आकार व दिशा मिलती है। किन्तु चूँकि लेखन भी मूलतः बुद्धि का ही विकास है, मात्र उससे विकास का

सूक्ष्म तत्त्व स्पष्ट नहीं हो पाता। उसके आधार से सुविधाजनक विभाजन सम्भव होता है, न कि तात्त्विक विभाजन। लेखन के अभ्युदय के पहले भी जन–समाजों में आधारभूत संस्थाओं, सामाजिक सम्बन्धों का विकास हो गया रहता है–परिवार, कुल, जाति, राज्य, कानून, पुरोहित, मुखिया आदि की धारणाएँ लेखन–काल से पहले की हैं। इनमें स्थिरता और सततता दोनों ही होती हैं। सभ्यता के उदय के बाद से इनमें कोई आधारभूत परिवर्तन भी घटित नहीं हुए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मानव–मनस् की मूल समस्यायें अभी भी वही हैं जो प्रागैतिहासिक काल में थीं और जिनके समाधानार्थ उक्त संस्थाओं का विकास हुआ था। अतः यह भी स्पष्ट है कि ऐतिहासिक प्रक्रियान्तर्गत परिवर्त्तन को निश्चित रूप में समझने के लिए हमें मानव–मनस् की मूल आस्थाओं, मूल्यों, अर्थात् आत्मबोध के मूल लक्षणों में होने वाले परिवर्तनों को समझना चाहिए और उस आधार से इतिहास को कालबद्ध करना चाहिए।

मनुष्य की मूल प्रागैतिहासिक समझ या चेतना श्रद्धामूलक या आध्यात्ममूलक थी : यह कि दृश्य जगत् के पीछे एक जीवंत सूक्ष्म तत्त्व है, ठीक वैसे ही जैसे शरीर में प्राण है। इस चेतना में चिन्तनमूलक परिवर्तनों के प्रयत्नों का अभाव नहीं होता : किन्तु स्वतः वह सूक्ष्म तत्त्व बौद्धिक नहीं है। अमूर्त या प्रतीक लेखन के बहुत पहले भी परम्परा में जो संग्रह की प्रक्रिया परिवार, कुल, कानून जैसी संस्थाओं में विद्यमान थी उसमें अन्तर्निहित एकसूत्रता का आधार किसी पूर्वज की सूक्ष्म विद्यमानता रही। और यह एक मूल आस्था थी।

इस तरह मानव–इतिहास अपने आरम्भिक चरण में ही सूक्ष्म भौतिक, जैविक तथा बौद्धिक स्तरों का आस्थामय सम्मिश्रण था। इन स्तरों पर होने वाले अनुभवों पर किये गए चिन्तन के फलस्वरूप उन धारणाओं, प्रतिमाओं (बिंबों) और क्रिया–पद्धतियों (संस्कारों) का प्रादुर्भाव हुआ जिनसे न केवल प्रागैतिहासिक जीवन वरन् अधिक उच्च सभ्यताओं का भी विकास सम्भव हो सका। अतः आदिम जीवन और उच्च सभ्य जीवन के बीच कोई मूल्यपरक भेद मानने का कोई औचित्य नहीं है; और इस दृष्टि से मानव–इतिहास में कोई सामान्य नैतिक या आध्यात्मिक 'प्रगति' देखना व्यर्थ है। वस्तुतः 'प्रगति' क्या है ? 18वीं सदी में पहले–पहल जब इस विषय पर विशद् विवेचना आरम्भ हुई, यह समझा गया कि 'प्रगति' संगठित समाज के सन्दर्भ में ही अवगम्य है। उस समय की स्थिति के अनुरूप, फ्रांस व इंगलैंड के चिन्तकों ने पाश्चात्य जन–समाज को अन्य समाजों (जैसे एशियाई) की तुलना में अधिक उन्नत समझा–तब उनकी धारणा थी कि सामाजिक संगठन में वैयक्तिक स्वतन्त्रता से ही मानव–जाति का भविष्य उज्ज्वल होगा। बाद में 19वीं सदी में इस धारणा की जगह जैविक विकासवाद के सिद्धान्त ने ले ली। जैविक विकासवाद वस्तुतः भौतिक सातत्य की धारणा है : एक प्राणी परिवर्तन–क्रिया से गुज़रता हुआ नयी उपयोगी विशेषताएँ ग्रहण करता चलता है तो दूसरा इस पूरी प्रक्रिया में एकरूपता बनाये रखता है।

जैविक विकासवाद के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं। यहाँ यह प्रश्न

विचारणीय है : क्या उसे मानव–विकास के निष्कर्ष के रूप में मान्य किया जा सकता है ? इसके उत्तर के लिए पहले हमें यह देखना होगा कि यह विकासवादी सिद्धान्त मूलतः दो प्रकार की आकस्मिकताओं पर निर्भर करता है– प्रथम है अव्यवहित परिवर्तन की मान्यता और द्वितीय है इस परिवर्तन–प्रक्रिया के अन्तर्गत उन गुणों का उत्कर्ष जो सीमित साधनों के फलस्वरूप पैदा हुए जीवन–संघर्ष में अस्तित्व–रक्षा के लिए आवश्यक योग्यता पैदा करते हैं। इसका यह आशय हो सकता है कि जीवन संघर्षमय और इसलिए कठिन होता है ; किन्तु क्या यह इसका निकष हो सकता है कि कौन मनुष्य या मानव–समाज जीवित रहे ? शायद उस सिद्धान्त के आधार से हम यह कह सकें कि वे समाज जीवित रहते हैं जो अधिकाधिक शक्तिशाली होते चलते हैं – जैसाकि आर्थर कीथ ने विकासवाद की अपनी नयी व्याख्या में कहा है। किन्तु तब भी तथ्य यह है कि इस धारणा के अन्तर्गत समाज के जीवन के लिये अपेक्षित एक मूल तत्त्व की अवहेलना की गई है– अर्थात् इस तत्त्व का कि उपकरणों, उपादानों या प्रतीकों को इतिहास व संस्कृति के सन्दर्भ में केवल तब समझा जा सकता है जब वे पहले उस जीवंत परम्परा से जुडें जो स्वतन्त्र मानव–आत्मबोध के रूप वाली है। प्रत्येक काल में प्रकट जीवंत परम्परा में प्रगति के लिये एक दृष्टि व ललक होती है, उसके लिए जो अपेक्षा उच्चतर है और जिसकी उपलब्धि एक सतत् क्रिया है। वह सतत् क्रिया उस आदिम स्थिति पर, जिससे मनुष्य स्वभावतः आरम्भ करता है (अर्थात् सूक्ष्म भौतिक, जैविक व बौद्धिक स्तरीय अनुभवों) आधारित होकर लगातार आगे बढ़ती है। किन्तु चूँकि परम्परा को उसकी पुष्टता सदैव उसी आदिम स्थिति के विविध स्तरीय अनुभवों से मिलती है, वह परिवर्तनों के मध्य की अपनी स्थिरता नहीं खोती– यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं कि इस स्थायित्व के फलस्वरूप उसमें चेतना के उच्च स्तरों का प्रकटन नहीं हो पाता। इसके विपरीत, परम्परा की सतत प्रवाहमानता में इन उच्च स्तरों का प्रकटन ही इतिहास का एक प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है : यह कि कैसे महापुरूषों द्वारा उच्चस्तरीय अनुभव व्यक्त हुए जिससे उनके प्रति लोगों में उत्साह हुआ और फलतः इतिहास को एक नयी दिशा मिली। किन्तु विडंबना यह है कि लोगों का यह उत्साह नितांत अस्थायी होता है और अधिसंख्य लोग महापुरूषों का अनुगमन कर सकने में असमर्थ होते हैं। अतः शीघ्र ही महापुरूषों के उच्चानुभवों को व्यक्त करने वाले प्रतीकों, धारणाओं आदि को परम्परा के ही सामान्य स्तर पर घसीट लिया जाता है (इसे ही श्री अरविन्द 'आदिम स्थिति में लौटना' कहते हैं)। यीशु और बुद्ध के अनुयायियों के साथ यही हुआ। संबंधित परम्पराओं में उनके अनुभवों के प्रतीक अभी भी विद्यमान हैं और उनकी सही समझ द्वारा उच्चस्तरीय अनुभवों की उपलब्धि भी अभी सम्भव है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि सामान्यजनों के लिए वे मात्र पारम्परिक प्रतीक हैं जिनका अर्थ कहीं अतीत में खो गया है और जिसे ढूँढ़ निकालने वाले लोग विरले हैं।

अतः 'संस्कृति का इतिहास' एक तरह से सांस्कृतिक असफलता का इतिहास है। असाधारण प्रतिभा–सम्पन्न और सृजनशील व्यक्ति (महापुरूष) इसमें उन्नत शिखरों की तरह हैं जो चतुर्दिक् साधारण मानवता की असफलता वाली विस्तृत भूमि से घिरे हैं। इन

व्यक्तियों द्वारा की गई उन्नति से परम्परा (इतिहास) आगे बढ़ती है; किन्तु उनके बाद शेष रह गये उनके प्रतीकों के बल पर यह प्रगति कायम नहीं रह सकती ?

7. पाश्चात्य परम्परा : प्रकृति, ईश्वर और आकार

स्पेंगलर का यह मत कि विभिन्न परम्पराएँ परस्पर–'सम्बद्ध (सुज़ामेन–हाँग) होती हैं, ठीक जान पड़ता है, यद्यपि इससे यह आशय नहीं निकाला जाना चाहिए कि इतिहास में बस एक ही सांस्कृतिक धारा बहती दिखाई देती है। इसका आशय यह है कि विशिष्ट परम्परान्तर्गत विचार–प्रवाह और शिक्षा आदि एक सांस्कृतिक सन्दर्भ में अनुस्यूत होते हैं। जैसे पश्चिम में इसका रूप बौद्धिकता के सतत प्रवाह के रूप में है, चीन में यही विद्वत्ता व प्रशासन के सतत प्रवाह के रूप में हैं, तथा भारत में यह सततता धर्म की आधारभूत धारणा के रूप में है। पुनः, इन सब विविध रूपों–पश्चिमी बुद्धिवाद, चीनी मानवतावाद तथा भारतीय तत्त्ववाद – के पीछे भी कोई एक आधारभूत एकतामूलक तत्त्व सक्रिय हो सकता है।

प्रकटतः परम्पराएँ अनेक होती हैं और उनकी अनेकता का आधार होता है अनुभवों के विविध स्तरों पर होने वाले नानाविध सम्मिश्रण और उनकी विविध व्याख्याएँ। वह जिसे पाश्चात्य परम्परा कहा जाता है, सूक्ष्म भौतिक और जैविक स्तरीय अनुभवों के बीच की खाई को एक विशेष बौद्धिक व्याख्या द्वारा पाटने के प्रयास से विशिष्ट हुई है। इसे इस तरह समझा जा सकता है : सूक्ष्म भौतिक का अनुभव आभास रूप है जिसमें बुद्धि भ्रमित व आशंकित रहती है। इस अनुभव की वस्तु में भी स्पष्टता का अभाव होता है। यह स्थिति उस मनुष्य के लिए मरण–तुल्य कष्टकारक होती है जिसे अभी अनुभव–जगत् के बन्धन काट सकने वाला ज्ञान नहीं हो पाया है– अर्थात् यहाँ मनःस्थिति अंधकार में आसन्न संकट की आशंका से मिलती–जुलती है। सूक्ष्म भौतिक के स्तर पर होने वाला यह आदिम अनुभव अज्ञात यथार्थता के सन्दर्भ वाला 'मृत्यु–भाव' है जिसका वैपरीत्य सीधे जैविक स्तर के आत्म–चेतना रूप अनुभव के 'जीवन–भाव' से है, जो उतना ही आदिम है। जैविक स्तरीय अनुभव मानव–जीवन के मूल्य वाले पक्ष से जुड़ा है। अनुभव के ये दोनों (सूक्ष्म भौतिक तथा जैविक) स्तर तथा इनमें प्रकट दोनों (मृत्यु और जीवन) भाव, तथा उनके बीच का वैपरीत्य, न केवल आदिम मनुष्य में सहजतः विद्यमान् है वरन् उतनी ही सहजता से उन आधुनिक सभ्य मनुष्यों में भी विद्यमान है जो अभी पर्याप्त बौद्धिकता और ऐन्द्रिक उदासीनता अर्जित नहीं कर पाये हैं। सामान्यतः पाश्चात्य मान्यता के अनुसार, मनुष्य में बौद्धिकता का अभ्युदय वातावरण में व्याप्त संघर्ष से निबटने के लिए तथा उसे समझ कर तदनुकूल अपने को ढाल सकने के लिए हुआ। अतः इस सन्दर्भ में सत् की बौद्धिक धारणा शक्ति या कारणता के रूप में हुई जिसे अन्ततः सर्वशक्ति–सम्पन्न ईश्वर की ख्याति मिली। इस तरह जीवन और मृत्यु के भावों के बीच समन्वय के प्रथम प्रयास में ही सर्वशक्ति–सम्पन्न–ईश्वर और सीमित शक्तियुक्त मनुष्य के बीच द्वन्द्व की स्थिति पैदा हो गई है और इस द्वन्द्व की स्थिति की और भी अधिक जटिलता 'प्रकृति' के स्थान और भाव को लेकर पैदा हुई।

सीमित मानव–शक्ति और अधिकार की दृष्टि से रहस्यमय प्रकृति मनुष्य के लिए एक चुनौती है। ईश्वर और प्रकृति के बीच एक ओर सृष्टिकर्त्ता और सृष्टि का सम्बन्ध है, जबकि दूसरी ओर इन दोनों के बीच में पड़ा मनुष्य एक अनावश्यकता की तरह लटक कर रह गया है। उसे निर्वैयक्तिक प्राकृतिक शक्तियों से संचालित होना ही पड़ता है; किन्तु साथ ही वह ईश्वर का पुत्र भी है जो प्रकृति पर विजय और शासन के लिए पैदा हुआ है, और शासन व विजय की यही सम्भावना अन्ततः उसे ईश्वर के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में स्थिर कर देती है। विज्ञान के उदय और सफलता के साथ–साथ मनुष्य का यही रूप अधिकाधिक स्पष्ट हुआ है। स्मरणीय है कि प्रतिद्वन्द्विता की इस स्थिति के पहले सहज समन्वय का आधार प्रकृति थी, जहाँ मनुष्य और ईश्वर के बीच भेद उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना कि मृत्युकारक और जीवनकारक शक्तियों के बीच का भेद था।

जब ईश्वर को आदिकारण या आदिशक्ति के रूप में मान्य किया गया तो वह सृष्टिकर्त्ता भी बना–प्रकृति के साथ–साथ मनुष्य का भी सृष्टिकर्ता। फलतः ईश्वर की सृष्टि का ही अंश होकर मनुष्य अपनी शक्ति व भाव में सीमित हो गया, सभी दृष्टियों से निश्चित व निर्धारित। उसमें अनिवार्यतः कमी और कमजोरी है ; अवश्य उसे ईश्वरीय नियमों के साथ–साथ सिरजा गया है, किन्तु वह पाप की ओर भी प्रवृत्त हो सकता है। वह अनिवार्यतः जीवन–मरण के बन्धन से बंधा है। और इसी का दूसरा पक्ष स्वयं मनुष्य की दृष्टि में यह है कि पश्चात्य परम्परा का यह ईश्वर ईर्ष्यालु है– वह अपने समकक्ष किसी अन्य देवता को सहन नहीं कर पाता। ईसाई और इस्लाम धर्मों में यह बौद्धिक विचार–असहिष्णुता के रूप में– सततरूपेण विद्यमान रहा है।

मनुष्य में अपनी सीमाओं व कमजोरियों का बोध दो तरह की प्रतिक्रियाएँ पैदा कर सकता है– या तो वह अपने–आप को पाप–प्रवृत्त और दयनीय स्थिति में पाकर असहाय समझता है, या फिर वह जादू–टोने या विज्ञान द्वारा ईश्वर के समकक्ष होने का यत्न करता हुआ ईश्वरीय सार्वभौमता के प्रति विद्रोह करता है। इन दो चरम स्थितियों के बीच ईश्वर–मानव के रूप में यीशु की समन्वयकारक प्रतिष्ठा हुई है, जो मर कर भी जी उठने के कारण मृत्यु आक्रांत मनुष्य के लिए एक आशाप्रद स्थिति का सूचक है। विज्ञान और ज्ञान से सुसज्जित मनुष्य को ईश्वर का यह मानव–रूप सह्य नहीं है। आज विज्ञान–तकनीक में तीव्र विकास के फलस्वरूप पश्चिम में मनुष्य अधिकाधिक विद्रोह के मार्ग पर आगे बढ़ रहा है। किन्तु विज्ञान के आधुनिक उत्कर्ष के भी पहले इस मार्ग के चुने जाने के कुछ ऐतिहासिक कारण थे। जिस प्राचीन मिश्र और पश्चिम एशिया के प्रभाव में यूरोप की पुरानी सभ्यताएँ थीं उस परम्परा का 'ईश्वर' स्वयं इन यूरोपीय सभ्यताओं के 'ईश्वर' से काफी पुराना पड़ता था और यह स्थिति इन सभ्यताओं के स्वाभिमान के अनुकूल नहीं थी। यही कारण था कि मिश्र के प्राचीनतम लेखबद्ध इतिहास की तुलना में हेरोडोटस ने अन्वेषणात्मक व समीक्षात्मक इतिहास पर बल दिया जिसका मूलाधार सन्देहवाद और बुद्धिवाद था। वस्तुतः इसे हम पाश्चात्य जगत् के ग्रीक, रोमन और आधुनिक बुद्धिवादियों द्वारा वहाँ

अपने–अपने काल में प्रचलित लोक–धर्म (जो साधारणतः बाहर से आया) के विरोध की सामान्य प्रवृत्ति का ही एक विशिष्ट उदाहरण कह सकते हैं।

पाश्चात्य विचारधारा में ईश्वर की धारणा के बारे में यह भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि वह मनुष्य–संबंधी धारणा का ही एक विशदीकृत रूप है। मानव–तत्त्व के रूप में ग्रीक 'बुद्धि' (नूस) और क्रिश्चियन परम्परा में 'संकल्प'(विल) इसी ढंग के मूल्यसूचक विशदीकरण हैं। आधुनिक वैज्ञानिक मानवतावादी दृष्टिकोण में उक्त बुद्धि का मूल्यनिरपेक्ष ज्ञान में और संकल्प का इच्छा में रूपान्तरण हो गया है। फलतः आधुनिक पाश्चात्य मनुष्य अपने–आप को अबौद्धिक प्रवृत्तियों (इच्छाओं) से संचालित पाता है, जबकि तार्किक वैज्ञानिक बुद्धि उसका दिशा–निर्देशन करती है। इस तरह श्रद्धा–विरहित बुद्धि अंध–प्रवृत्तियों की मात्र ऐसी आवाज बन कर रह जाती है जो व्यवस्थित ढंग से उन्हें सन्तुष्ट कर सके। पाश्चात्य जनमानस की यही आन्तरिक, आध्यात्मिक असहायता वहाँ बार–बार अधिनायकवाद और खूनी क्रान्तियों के रूप में प्रकट हुई है। बुद्धि पर ऐकान्तिक जोर के कारण वहाँ सूक्ष्म आध्यात्मिकता को त्याग कर भौतिकवाद का ग्रहण हुआ है, तथा जैविक को पूर्णतः अबौद्धिक मान लिया गया है और इसका परिणाम यह हुआ है कि जैविक अन्तर्विरोधपूर्ण है तथा बौद्धिक आध्यात्मिक–नैतिक लोक के प्रति अन्धता से ग्रस्त। इसी के फलस्वरूप एक ओर आत्मा को बुद्धि से एकीकृत और दूसरी ओर बुद्धि का शुद्ध आकारिकता से तादात्म्य मान लिया गया है। अवश्य इसी पाश्चात्य परम्परा में श्रेयस् की धारणा वाली बुद्धि (नूस) का भी, जो 'आकारों का आकार' है, स्थान रहा है तथा इसी में क्रिश्चियन 'प्रेम' की भी धारणा रही है, और ये दोनों ही मूलतः उच्चस्तरीय अनुभव के द्योतक हैं, किन्तु बुद्धिवाद के निरन्तर और प्रबल विरोध के कारण आज वे केवल प्रतीकमात्र बन कर रह गये हैं। बुद्धिवाद से पूर्णतः प्रभावित पाश्चात्य परम्परा के अन्तर्गत जीवन–पद्धति यह–अथवा–वह' की द्वन्द्वात्मक स्थिति वाली है। सम्भवतः इस द्वन्द्व का आधार उस परम्परा के मनस्–भौतिक (अन्तर्बाह्य) के बीच का असमन्वित द्वैत है और यह द्वैत स्वयं उस ईश्वर–मनुष्य की ऐतिहासिक प्रतिद्वन्द्विता पर आधारित हो सकता है जो उस परम्परा में काफी गहरी पैठी हुई है।

8. अन्य समकालीन परम्पराएँ और समन्वय की समस्या

जैसा कि पहले कहा गया, पाश्चात्य परम्परा अनेक परम्पराओं में से एक है। उसमें प्रकृति की धारणा एक अशान्त समुद्र के रूप में की गई है– रहस्यमय और अज्ञात को अपने हृदय में छिपाने वाली और मानव–हृदय को आशंकाओं से उद्वेलित करने वाली। दूसरी ओर, चीनी परम्परा में प्रकृति पूर्णतः शान्त और समन्वित है। यहाँ प्रकृति के प्रति मानव–दृष्टिकोण अनुभूतिमूलक है, निरपेक्ष बुद्धिमूलक नहीं। प्रकृति संवेद्य अनुभवों की ठोस अन्तर्वस्तु है। इस सन्दर्भ में बौद्धिक वृत्ति वाली पाश्चात्य परम्परा में नितान्त अमूर्त भाषाओं के विकास की तुलना चीनी परम्परा में विकसित अत्यन्त ठोस चित्रलिपि वाली भाषा के उत्कर्ष से की जा सकती है। इसी तरह यह भी द्रष्टव्य है कि अभी भी चीन में तकनीकी ज्ञान केवल साधन

रूप में मान्य है, पश्चिम की तरह जीवन–दर्शन के तत्त्व के रूप में नहीं। वस्तुस्थिति यह है कि पश्चिम में मनुष्य ने अपनी अपेक्षा प्रकृति को अधिक अच्छी तरह समझा है, जबकि चीन में ठीक इसके विपरीत हुआ है। पश्चिम में विज्ञान के प्रभुत्व के कारण मनुष्य का नैतिक व आध्यात्मिक जीवन लगातार सन्देह और अनास्था की ओर खिसकता चला गया है, वहाँ तत्त्वमीमांसा के बदले प्राकृतिक अनुभववाद का बोलबाला है। दूसरी ओर, चीन में विज्ञान की प्रगति के बावजूद ठोस मनुष्य–रूप केंद्र–भ्रष्ट नहीं हुआ है। अपनी सामाजिकता और पारंपरिकता के सहित वह अपने मूल रूप में सुरक्षित है। पश्चिम में ठोस मनुष्य किसी–न–किसी अमूर्त बौद्धिक सिद्धान्त के सामान्य ढाँचे में ढल कर अपना विशिष्ट अस्तित्व खो देता है, जबकि चीनी दृष्टिकोण के अन्तर्गत मानव–जीवन की ठोसता को नैतिक–अनुभूतिमूलक क्षितिज से परिवेष्टित कर वह विशिष्टता प्रदान की जाती है जो किसी बौद्धिक सामान्यीकरण का शिकार नहीं हो सकता। चीनी परम्परा अपनी इस सामाजिक बुद्धिमता से विशिष्ट है : परिवार पूरे समाज का अणु–रूप है और प्रकृति की तरह एक व्यवस्थित समग्रता है। पश्चिम में समाज और सामाजिक इतिहास भी वैज्ञानिक अध्ययन का विषय बन गया है, क्योंकि वहाँ की मान्यता के अनुसार विज्ञान व प्रकृति ही शक्ति व ज्ञान के स्रोत हैं। दूसरी ओर, चीन में आरम्भ से ही समाज और सामाजिक इतिहास का अध्ययन जीवन–कला और राज्य–शासन के सहायक तत्त्वों के रूप में होता रहा है। वस्तुतः वहाँ समाज की धारणा नैतिक संबंधों वाले एक ठोस जगत् के रूप में की गई है। यही कारण है कि पश्चिम की तरह वहाँ क्रान्तियों या प्रशासनिक उलट–फेर को नैतिक मूल्यों में हेर–फेर के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। चीनी दृष्टि में परम्परा स्वतः एक जीवंत यथार्थता है, जिसे अधिक व्यवस्थित और सुगठित करना मानव–विकास या प्रगति का लक्षण है। यहाँ तक कि आधुनिक कम्युनिस्ट चीन में भी परम्परा के प्रति यही मूल दृष्टि कायम है : यहाँ कम्यून की धारणा पारम्परिक परिवार की धारणा का ही विशिष्ट विस्तार है।

भारतीय परम्परा पश्चिमी और चीनी दोनों ही परम्पराओं से अपनी इस दृष्टि के कारण विशिष्ट है कि मनुष्य के लिए उच्चतम का बोध आवश्यक है। मानव–आत्मबोध के लिए न तो भौतिक और जैविक अर्थाभ्युपगम पर्याप्त हैं और न ही बौद्धिकता में उनका स्पष्टीकरण (जो विज्ञान या नैतिकता के सन्दर्भ वाला हो सकता है) पर्याप्त है। मनुष्य का अपना अन्तिम लक्ष्य न तो प्रकृति है और न ही समाज। प्रकृति पर विजय का अर्थ मानव–प्रकृति पर विजय होना चाहिए। इसी तरह निःसर्ग या धर्म पर आधारित सामाजिक समन्वय को स्वयं अपने अन्दर अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त करना चाहिए जिससे सामाजिक संबंधों का आधार सार्वभौम प्रेम और करूणा बन सके। मानव–जीवन का लक्ष्य समाज की कोई भावी विकसित आस्था नहीं है वरन् आत्मबोध में काल से परे निकल जाना है। यही 'परत्व' परमार्थ है; और चूँकि पूर्ण परत्व पूर्णतः व्यक्तिमूलक (आत्म–रूप) है, जो समस्त विविधता व विस्तार के मूल में है, परत्व की खोज मानव–भाव के विभिन्न स्तरों पर सक्रियता और

सन्तोष की विरोधी नहीं है। किन्तु इन विविध स्तरों पर उपलब्ध मूल्य पुरूषार्थ होते हुए भी परमार्थ नहीं हैं, यद्यपि उन्हें भी प्रकाश इस परम मूल्यरूप परमार्थ से ही मिलता है। मूल भारतीय मनस् का यह रूप भारतीय परम्परा में निहित आश्रम के सिद्धान्त को उसके पुरुषार्थ के सिद्धान्त से जोड़ कर सहज ही देखा जा सकता है। इस दृष्टि से उसमें एकान्त अद्वैतवाद या सन्यासवाद पर दिया गया ज़ोर केवल दिशाभ्रम ही होगा।

यहाँ 'प्रगति' के संबंध में यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि उसका जो आधुनिक रूप मान्य है वह वस्तुतः अत्यन्त विशिष्ट है और उसका सन्दर्भ पश्चिमी परम्परा है। आधुनिक धारणा के अनुसार प्रगति सभ्यता के विकास से जुड़ी हुई है, संस्कृति के विकास से नहीं। सभ्यता के मूल्य हैं जीवन–क्षमता और सम्पन्नता, अर्थात् भौतिक–ज्ञान के विकास द्वारा प्रकृति पर नियन्त्रण और सम्पत्ति की वृद्धि द्वारा अधिकाधिक ऐन्द्रिक सन्तुष्टि। दूसरी ओर, संस्कृति का सन्दर्भ उच्चतर मूल्यपरक है और तदनुसार इतिहास है। अर्थान्वेषण और ऐतिहासिक प्रक्रिया सृजनात्मक, सम्प्रेषणात्मक और समालोचनात्मक है। अतः श्री अरविन्द का यह मत बिल्कुल ठीक है कि सभ्यता की प्रगति के साथ हम उसमें संस्कृति के लिए संकट (आदिम स्थिति में लौटने का) पैदा हुआ पा सकते हैं। (वस्तुतः वर्तमान भारतीय समाज के संदर्भ में सम्भवतः इसी प्रकार का सांस्कृतिक संकट पैदा हुआ है, क्योंकि उसका प्रबुद्ध वर्ग अपने को अधिकाधिक जीवन–क्षमता और संपन्नता की खोज में खोता जा रहा है।)

9. भारतीय सामाजिक परम्परा

भारतीय परम्परा की सही जानकारी के लिए न तो उसके प्रदेश की जानकारी, न उसकी तकनीकी उपलब्धियों का ज्ञान और न ही उसकी जातिगत (आर्य–अनार्य, आदि) मूल का ज्ञान आवश्यक या पर्याप्त है। भारतीय समाज में आनुवांशिक सम्मिलन और सहवास के प्रमाण हड़प्पा–मोहनजोदड़ो सभ्यता में भी मिलते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद में आर्य–दास का भेद जातिगत भेद न होकर सांस्कृतिक भेद है। इन भेदों का रूप ठीक–ठीक न समझ पाने का कारण साधारणतः 'संस्कृति' को 'भाषा' और 'शरीर–लक्षण ज्ञान' के साथ गड्डमगड्ड कर देने की प्रवृत्ति रही है।

भारत का सही सांस्कृतिक एकीकृत रूप उसकी सामाजिक परम्परा में मिलता है। भारतीय सामाजिक परम्परा युगों से जीवित चली आयी है क्योंकि उसने इतिहास–प्रवाह में अपने–आप को इस या उस धारणा के साथ अनिवार्यरूपेण बांध कर नहीं रखा। इसीलिए यहाँ प्रत्येक युग में धर्म के स्वरूप में परिवर्तन की मान्यता रही। फिर, आदि ग्रन्थों पर टीकाओं–व्याख्याओं का जो विशाल और सतत वृद्धिमान् भण्डार यहाँ उपलब्ध है उसके पीछे यही विचार है कि अवश्य मृत भूतकाल को भुला दिया जाये, किन्तु साथ ही जीवंत भूत को वर्तमान के अनुकूल और भविष्य की आकांक्षा के सन्दर्भ में नये रूप से ग्रहण किया जाये। तदनुसार इसमें सभी विशिष्ट संस्थाओं, आस्थाओं आदि का केवल सीमित व सापेक्षिक महत्त्व है; केवल सार्वभौम और नित्य आत्मा ही अमर और निरपेक्षतः ध्यातव्य, ज्ञातव्य और प्राप्तव्य है। अपनी वास्तविकता या इतिहास से तात्त्विक वैराग्य की यह प्रवृत्ति

ही भारतीय परम्परा की अक्षुण्ण सततता का रहस्य है। इसे ही पहले आर्य–धर्म, सनातन–धर्म, सद्–धर्म आदि कहा गया; और यही कारण है कि उसकी ठीक–ठीक पहचान आज के भौगोलिक–राजनीतिक 'भारत' के आधार से कर पाना मुश्किल है। उसे समझने का केवल एक ही मार्ग है– इस जीवंत परम्परा में हमारा अंशग्रहण, जिसे 'साधना' के नाम से जाना जाता है। रहस्य के प्रति फाउस्टीय प्रवृत्ति और चेष्टा के लेखे–जोखे के रूप में आधुनिक परम्परा (जो आज निरन्तर वृद्धिमान लोभ, श्रम व मानसिक परेशानी का कारण है) इस भारतीय परम्परा से बिल्कुल भिन्न है जो अर्जुन, बोधिसत्वों या गाँधी की आध्यात्मिक अनुभूतियों और चेष्टाओं का इतिहास है। बौद्धिकता के प्रवाह में बहने वाले पाश्चात्य मनस् के जीवन और दृष्टिकोण असामंजस्यपूर्ण अन्तर्विरोधों से फंस जाते हैं जिससे उसकी ऐकांतिक चयन की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है और फलतः जन–जीवन में क्रान्तिकारी तथा तीव्र गति वाले सामाजिक परिवर्तन घटते हैं। दूसरी ओर भारतीय परम्परा अपने सामाजिक सम्बन्धों को एकांत बौद्धिक चयन से परिचालित न कर अन्तर्बोध, समझौते और समन्वय पर बल देती है। नयी चुनौतियों का सामना पुराने साधनों को ठुकरा कर नहीं वरन् उनमें आवश्यक संशोधन कर किया गया है। वह प्रकृति पर विजय के लिए उत्सुक नहीं वरन् एक स्तर (व्यवहार) पर उससे समझौते और अन्य स्तर (परमार्थ) पर उससे मुक्ति का आग्रही है। उसमें स्वतन्त्रता की उपलब्धि शक्ति से नहीं, आत्म–निग्रह से होती है। कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व से सम्पन्न होकर भी भारतीय मनस् जंगल के एकान्त की पुकार सुन सकने की योग्यता रखता है। यहाँ तकनीकी व्यवस्था के साथ–साथ मूल नैतिक व्यवस्था को भी सक्रिय रखा जा सकता है।

भारतीय परम्परा को इस उक्ति के आधार से समझा जा सकता है : 'धर्मो रक्षति रक्षितः'। धर्म वह उच्च वृत्ति या मूल्य है जो मनुष्य अपनी अधोवृत्ति पर आरोपित करता है। आध्यात्मिक दृष्टि–सम्पन्न व्यक्ति इसे अपने अन्दर ढूँढ़ कर उसका स्वभावेन अनुगमन करता है जबकि जनसाधारण इसी का अनुगमन समाज द्वारा स्थापित कर्तव्यों के पालन के रूप में करता है। किसी भी स्थिति में इसे उन ''चारों आश्रमों' के सिद्धान्त में निहित माना जा सकता है जो वस्तुतः भारतीय परम्परा का मूल आशय व्यक्त करते हैं। काफी पहले से ही इनकी अवहेलना होती रही है, किन्तु इनकी असफलता का आंशिक कारण यह मान्यता भी है कि जीवन के गहरे आध्यात्मिक मूलाधारों में दृष्टि मात्र से जीवन की समस्याएँ हल हो जायेंगी। अवश्य यहाँ मनुष्य के सन्दर्भ में तो धर्म को ठीक–ठाक समझ लिया गया है– धर्म, जो आन्तरिक बोध का रूप है, जो नीचे स्तर पर कर्त्तव्य–बोध के रूप में निषेध–नियम–मूलक होकर सक्रिय होता है तथा उच्च स्तर पर कल्याण, करूणा, प्रेम आदि रूपों में मानव–भाव का ही सक्रिय अंश बन जाता है। किन्तु यहाँ प्रकृति के सन्दर्भ वाले उस धर्म की अवहेलना हुई है जो बौद्धिक नियामकता के रूप में प्राकृतिक जगत् का आधार है। यहाँ तक कि कालान्तर में उसकी यथार्थता तक से इन्कार कर दिया गया। भारतीय परम्परा में व्यक्ति–सन्दर्भ से भविष्य–विशेष के प्रति उदासीनता का कारण यही

अवहेलना है : प्रकृति को एक बार तत्त्वतः आगन्तुक मान लेने पर स्वयं मनुष्य पर भी उसके प्रभाव को केवल आगन्तुक माना गया और इसलिए इस दिशा में संश्लेषण–विश्लेषण की आवश्यकता नहीं समझी गई। पर इसके साथ–साथ हमें यह तथ्य स्मरण रखना चाहिए कि विदेशी आक्रमण और शासन की लम्बी अवधि में भारतीय परम्परा जीवित इसलिए रह सकी क्योंकि उसके अन्तर्गत मनुष्य–व्यवहार के क्षेत्र में 'धर्म' की दृष्टि स्पष्ट रही। पुनः, स्वतः धर्म की सततता के सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि वह केवल पारम्परिक नहीं है शायद वैसा होने की स्थिति में वह विद्वेषपूर्ण वातावरण में अधिक समय तक जीवित भी नहीं रह पाती, वरन् उसकी सततता का एक प्रमुख कारण यह है कि इसके अन्तर्गत विविध कालों में वे सन्त (गाँधी, विनोबा आदि) होते रहे जिन्होंने इसमें आवश्यकतानुसार सुधार किये।

10. परंपरा और आधुनिकता

आधुनिक काल में अत्यधिक तीव्र गति से होने वाले परिवर्तनों के कारण किसी भी परंपरा की सततता के पति शंका होना स्वाभाविक है। वह जिसे आजकल आधुनिकता कहा जाता है, सतत् सर्जनात्मक परिवर्तन का ही नाम है। इसका सीधा प्रयोग पश्चिमी जन–समाजों की परंपरा में देखा जा सकता है, जहाँ वैज्ञानिक–तकनीकी–विकास द्वारा निश्चय ही उनका एक विशिष्ट रूप बन गया है। किन्तु बृहत्तर एशियाई–अफ्रीकी समाजों की परंपरा में, जो अधिक प्राचीन हैं, वह आधुनिकीकरण पाश्चात्यीकरण के आरोपण का ही रूप ले पाया है; और फलतः इन दो परंपराओं व संस्कृतियों के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा हो गयी है।

किसी भी समाज में परंपरा का वही स्थान है जो व्यक्ति में स्मृति का होता है। परंपरा समाज में संस्थागत और शैक्षणिक सततता के रूप में जीवित रहती है और कालक्रम से उसमें नये तत्त्व जुड़ते रहते हैं। जिस गति से ये नये तत्त्व उसमें जुड़ते हैं, उसी अनुपात में उसका भूतकालिक संदर्भ वाला अंश पीछे हटता चला जाता है; जबकि उसका जीवंत भूतकालिक पक्ष उसके वर्तमान में ही अंशभूत रहता है। प्रथम दृष्टि से परंपरा का स्मृत–रूप ऐतिहासिक स्मृति का होता है और द्वितीय के अर्थ में उसका स्मृत–रूप अंतःस्मृति का होता है। दोनों ही स्थितियों में वह जीवित संप्रेषण नहीं बन पाती, जब तक कि उक्त ऐतिहासिक प्रवृत्ति को किसी सोद्देश्य सांस्कृतिक प्रयास से प्रतिबद्ध नहीं किया जाता। उल्लेखनीय है कि भूतकालिक स्मृति के आलावा परंपरा एक और भी महत्त्वपूर्ण ढंग से स्मृति के रूप में सक्रिय होती है– राष्ट्रीय या सांस्कृतिक एकरूपता के बोध के रूप में। जिस समाज को अपने भूतकाल के साथ अपनी एकरूपता का बोध नहीं, उसकी कोई सांस्कृतिक या राष्ट्रीय चेतना भी असंभव है।

कभी–कभी कहा जाता है कि आधुनिक बनने के लिए हमें परंपरा का मोह छोड़ना ही होगा। इस धारणा के पीछे अपनी परंपरा को पिछड़ा समझने की मान्यता स्पष्ट है। किन्तु यह गलत है–गाँधी या कुछ अन्यों को कभी अपने सांस्कृतिक पिछड़ेपन का बोध नहीं हुआ। अवश्य 1947 के बाद से भारत में उन लोगों का प्रभाव बढ़ा है जो अपने–आपको

'अर्ध विकसित' समझते हैं और इसलिए विकास की पश्चिमी मान्यता के अनुकूल बनना श्रेयस्कर समझते हैं। पर वे ग़लती कर रहे हैं: वे भूल जाते हैं कि अपने भूत और वर्तमान को समझने का मार्ग हमारी अपनी परंपरा के क्षेत्र में से होकर गुज़रता है, और इसीलिए अपने मूल्य–बोध पुरुष के क्रमिक विकास की तरह है जो क्रमशः स्फुटित होता है। परंपरा का सार–तत्त्व भी यही है, वह मूल्य के आधारभूत अनुभव का विकासमान संवाद है। अतः उचित यही है कि हम समाज का सही रूप उसकी आत्मचेतना या संस्कृति में खोजें, उस संस्कृति में जो स्वतः विशिष्ट मूल्यबोध में प्रतिष्ठित होती है। यह उच्च मूल्य ही परमात्मा है और उसके संदर्भ वाला विशिष्ट अनुभव ही समाज की उस 'सांस्कृतिक विश्व–दृष्टि' का निर्धारण करता है जो समाज की संस्थाओं, आस्थाओं और प्रतीकों में अभिव्यक्ति पाती है। अतः परंपरा और आधुनिकता का संघर्ष वस्तुतः एकाधिक विशिष्ट मूल्यों व मूल्य–बोधों–परम्पराओं–का ही संघर्ष है। पश्चिम में वह क्रिश्चियनिटी और वैज्ञानिक भौतिकवाद के बीच है तो भारत में वही भारतीय और पश्चिमी संस्कृतियों के बीच विरोध के रूप में उपस्थित है।

पश्चिम में सदैव एक ऐसी निरंकुश संरचना के प्रति मोह रहा है जिसमें सभी कुछ समा जाये। ग्रीकों के नगर (पोचिस), मध्य युग के चर्च और आजकल राष्ट्र या राजनीतिक दल के रूप में राज्य इसी तरह की संरचनाएँ हैं। इसी तरह वहाँ एक ही प्रणाली या प्रविधि को प्रमाणिक अथवा सत्य मानने की प्रवृत्ति रही है– प्राचीन काल में नगर–धर्म, मध्य काल में क्रिश्चियनिटी और आज विज्ञान के प्रति यही धारणा है। प्रमाण और सत्य के प्रति अपने इसी एकांतिक आग्रह के चलते ही पश्चिम ने सदैव, जब भी उसे मौका मिला, अपनी विश्व–दृष्टि, संस्थाओं, आस्थाओं, प्रतीकों, को दूसरों पर थोपना चाहा। ग्रीकों, रोमनों और क्रिश्चियनों ने यही किया और आज भी पश्चिमी राष्ट्र अपनी भौतिक सफलता और शक्ति के प्रभाव से यही करने में संलग्न हैं, यद्यपि अधिक सूक्ष्मतापूर्वक। इतिहास–क्रम को एक सीधी रेखा में गतिमान समझने के पीछे भी मूलतः यही धारणा है। किन्तु यह सब एक सांस्कृतिक दंभ है। सही वस्तु–स्थिति यह है कि वैज्ञानिक–तकनीकी विकास और भौतिक समृद्धि स्वतः मूल्य–निरपेक्ष है; किन्तु चूँकि वे वातावरण में नये तत्त्वों का समावेश करने में समर्थ हैं, वे हमारे मूल्यों को नये रूपों में प्रस्तुत करने वाले प्रेरक तत्त्व का भी काम करते हैं। इसके विपरीत, यदि उन्हें स्वतः ही मूल्यों या मूल्य–बोध के रूप वाला मान लिया जाये तो सांस्कृतिक संघर्ष की स्थिति अवश्यम्भावी है।

आज पश्चिम में सर्वाधिक शक्तिशाली विज्ञान तथा तकनीकी–ज्ञान की परंपरा में 19वीं–20वीं सदी के विकसित मानवतावाद का केंद्रीय स्थान है, जिसके अनुसार मनुष्य ईश्वर का पुत्र न होकर प्रकृति का प्राणी मात्र है, जो भाग्य द्वारा परिचालित न होकर अबौद्धिक कारणों व आकस्मिक घटना–प्रवाहों से परिचालित है। उसकी आध्यात्मिक चेतना बस यही समझने में है न कि किसी परम सत्य की कल्पना में। इसमें पराभौतिकी (तत्त्वमीमांसा) का पतन और व्यवहारवाद की प्रतिष्ठा है। यही आज का वैज्ञानिक

मानवतावाद है, जिसकी सामाजिक–ऐतिहासिक जड़ इस प्राचीन धारणा में है कि समस्त अर्थों और मूल्यों का प्रतिमान मानव–बुद्धि व क्रिया है, जबकि जगत् अपने–आप में मूल्य–निरपेक्ष है। इसी धारणा से अंततः मानस में अबौद्धिकता, व्यर्थता, एकाकीपन और निरर्थकता के भाव पैदा होते हैं।

द्रष्टव्य है कि सभी प्राचीन समाजों–ग्रीक, भारतीय, चीनी आदि– में विज्ञान का विकास एक सीमा तक हुआ; क्योंकि ये समाज भौतिक सफलता और समृद्धि को एक सीमा तक ही श्रेयस्कर मानते थे। उनकी दृष्टि में अधिक श्रेयस्कर कोई दार्शनिक या अभौतिक आदर्श रहा जिसके सहारे मनुष्य का उच्चतर विकास हो सके। दूसरी ओर, आज की वैज्ञानिक और औद्योगिक क्रांतियाँ मानो अन्य सब–कुछ को डुबा देने के लिए ही पैदा हुई हैं। विज्ञान 17वीं सदी में ज्ञान की सार्वभौम विधि के रूप में अवतरित हुआ था और आज निरंतर कायाकल्प से पुष्ट हुआ वह ज्ञान का सार्वभौम प्रतिमान बना हुआ गरज रहा है। जिस तरह पहले के समाज प्रकृति– संबंधी अपने ज्ञान–विज्ञान को भी मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना के ही रूप वाला मान लेने के कारण उस क्षेत्र में देवताओं, भूत–प्रेतों, उद्‌देश्यमूलक जैविकता आदि के आरोपण से पिछड़े रह गये उसी तरह, किंतु उससे ठीक उलटे, आज पाश्चात्य जगत् में ज्ञान का विपरीत प्रतिमान स्वीकार कर लेने से आध्यात्मिक क्षेत्र में भौतिक–ज्ञान के मापों की अनुपयुक्तता के कारण उसके अस्तित्व से ही इन्कार किया जाने लगा है और उसकी जगह सामाजिक विज्ञानों की दुहाई दी जाने लगी है।

सभी समाजों में, अर्थात् सभी सांस्कृतिक दृष्टिकोणों के संदर्भ में, विज्ञान–तकनीकी को एक–जैसा बढ़ावा मिल सकना संभव नहीं (जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है)। अभी तक केवल पश्चिमी समाजों में उसे इस तरह का बढ़ावा मिल सका है कि वह वहाँ सतत् क्रांति और प्रगति की स्थिति में है, और अंततः सांस्कृतिक दृष्टिकोण में ही अंशभूत हो गया है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि भारत सहित दक्षिण–पूर्व एशियायी देशों में जहाँ विज्ञान–तकनीकी को वैसा बढ़ावा नहीं मिला है, उसकी प्रतिष्ठा का अर्थ ही पाश्चात्यीकरण है। और ठीक इसीलिए भारत जैसे देशों में सतत वैज्ञानिक क्रांति और उस पर आधारित सतत् औद्योगिक क्रांति की संभावना न्यूनतम है। सतत औद्योगिक क्रांति को बनाये रखने के लिए जो मूल्य–चेतना जरूरी है वह अधिकाधिक सुविधा–सेवित भौतिकता–परक है। अर्थात् वह न केवल सतत वैज्ञानिक क्रांति पर वरन् साथ–साथ उस सतत सामाजिक क्रांति पर भी निर्भर है जिसमें आर्थिक मूल्यों की सर्वोपरिता, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष और तीव्र परिवर्तन सामाजिक गति के लक्षण हैं। यह न्यूनतम आवश्यकता पर नहीं, अधिकतम आवश्यकता पर आधारित जीवन है। आधुनिक काल में जनता की राजनीतिक प्रतिष्ठा का भी औद्योगिक क्रांति के एक प्रेरक तत्त्व के रूप में निर्णायक हाथ रहा है। सीधा–साधा जन–कल्याण का दर्शन आज सर्वाधिक प्रभावकारी है, जिसके चलते उच्च मूल्यों के दर्शन फीके पड़ जाते हैं। अब समाज का परिचालन नैतिक नियमों से नहीं, वरन् उन नियमों से होता है जिन्हें मानने के लिए किसी संकल्प मूलक आत्म–संयम की बाध्यता नहीं होती, वरन् बहुमत का भय होता है। आधुनिक राजनीतिक क्रिया–कलाप भी इस सरल मान्यता पर आधारित है : वह सब, जिससे जन–समर्थन मिल सके, विधि के रूप में प्रचलन के योग्य है।

आधुनिकता की धारणा के भीतर से हमें 'व्यक्ति' और 'स्वतंत्रता' की आवाज़ भी काफी तेज सुनाई देती है, अतः एक दृष्टि उन पर भी डालना आवश्यक है। वस्तुतः व्यक्तिवाद का आधार तथाकथित स्वतंत्रता का सिद्धांत है। मनुष्य धरती पर उच्चतम प्राणी है और मूलतः व्यक्तिरूप है। वह सभी कुछ का चरम प्रतिमान बनने में प्रवृत्त होता है। इस दृष्टि से उसे ही जन–नीतियों व कानूनों का भी अंतिम निर्णायक होना चाहिये। इसी तरह सतत् वृद्धिमान् ज्ञान के क्षेत्र में भी उसे अपने सुझाव–सम्मति की स्वतंत्रता होनी चाहिये। इस क्षेत्र में ग्रीक दार्शनिकों का परिप्रेक्ष्य कुछ और था : मनुष्य को अपनी मूल स्वतंत्रता का उपयोग आत्म–ज्ञान के लिए करना चाहिये। उनके अनुसार, 'लोकमत' (उपनियम) और 'ज्ञान' के बीच आवश्यक भेद हैं; 'लोकमत' के अंतर्गत मनुष्य परछाइयों की दुनियाँ में रहता है, जहाँ से निकल कर उसे सत् की दुनियाँ में आना चाहिये। यह सत् की दुनियाँ अनुभव की अस्थिरता से दूर तत्त्व रूप बौद्धिक अभिधारणाओं की दुनियाँ है, जहाँ शाश्वत सत्य का बोध होता है। इधर आज भी पश्चिम में बौद्धिकता की दुहाई दी जा रही है किन्तु यह ग्रीकों की बौद्धिकता से बिल्कुल भिन्न है। आज वह इंद्रियानुभवों द्वारा प्रदत्त परछाइयों के ही सूक्ष्म और सूक्ष्मतर विश्लेषणों में फंसी हुई है। प्रत्ययों या बौद्धिक अभिधारणाओं द्वारा सत्य का आभास भी अब असंभव है : वे मात्र अर्थ–क्रिया के संदर्भ वाली रचनाएँ हैं, और इसलिए सत्य भी वही है जिससे सफलतापूर्वक सक्रिय रहा जा सके। तदनुसार अब व्यक्ति है कम या अधिक दक्षता वाला कारीगर। यह व्यक्ति का सामूहीकरण करने वाला दृष्टिकोण है, और अवश्य मनुष्य इसके विरुद्ध अपनी स्वतंत्रता की आवाज ऊँची कर सकता है। किन्तु वस्तुतः वह ऐसा करता नहीं है, क्योंकि समूह के साथ रह कर ही उसकी सुविधाओं की सुरक्षा है।

इस तरह स्पष्ट है कि आधुनिकता की धारणा विरोधाभासों से परिपूर्ण है। वस्तुतः उसकी नींव ही बुद्धि और चेतना को प्राकृतिक कोटि रूप मानने के भ्रम पर रखी गई है। यदि हम सही ऐतिहासिक दृष्टि से उसे एक परंपरा के रूप में देखें तो तुरंत स्पष्ट होगा कि मानव–इतिहास में यह कोई अत्यंत विशिष्ट और अपरिहार्य चरण नहीं है, वरन् केवल एक प्रायोगिक स्थिति है जिसे लांघ कर मनुष्य आगे बढ़ेगा। इस आधुनिक परंपरा की तुलना में एक आध्यात्मिक परंपरा है जो सभी समाजों में कमोवेश रूप में विद्यमान है, भारतीय समाज में सर्वाधिक सशक्त रूप में, और जो अभी भी उस ऐतिहासिक काल की प्रतीक्षा में जहाँ उसे स्पष्ट और सार्वभौम अभिव्यक्ति मिल सके। आधुनिकता के अंतर्गत आध्यात्मिक तटस्थता स्वाभाविक है। और यह तटस्थता बीसवीं सदी से लिए नयी चीज भी नहीं है : बहुत पहले यह प्रकाश में आ चुकी थी, जब लियोनार्दो दा विंची ने केवल धर्म को छोड़ सभी क्षेत्रों में निपुणता हासिल की, जब मार्टिन लूथर ने मानव–संकल्प को नितांत पापयुक्त और इसलिए शुभ कार्य के अत्यंत अयोग्य बताया, जब फ्रांसिसी राज्य–क्रांति के आदर्श के रूप में एक ऐसे जनराज्य की कल्पना की गई जो बौद्धिकता का उपासक हो, जब रूसी क्रांति में धर्म को मिटा देने का व्रत लिया गया। इसी प्रवाह में आज भारत में

भी धर्म की बात को प्रतिक्रियावादी समझा जाता है और पाश्चात्यीकरण की संभावना के संदर्भ में आध्यात्मिक तटस्थता की बात कही जाती है।

अवश्य आधुनिक सभ्यता मनुष्य के उस चिरकालीन प्रयास की ऐतिहासिक संपूर्ति है जो उसने भौतिक सुरक्षा और सामाजिक न्याय के लिए किया; और इस दृष्टि से अवश्य उसकी सफलता उल्लेखनीय है। किन्तु तब सम्भवतः यह अपने आध्यात्मिक स्रोत और मानव–लक्ष्य की दृष्टि से अभाव–वृत्ति वाली है और इसलिए मानव–इतिहास से संघर्ष की स्थिति में है। इससे न केवल धर्म पर ग्रहण लगा हुआ है वरन् ठीक उसी के फलस्वरूप मनुष्य की आंतरिक शांति भी नष्ट हो गई है और उसकी बाह्य शांति के लिए सतत खतरा पैदा हो गया है। अतः इस संघर्ष की स्थिति से बचने के लिए एकमात्र उपाय बस यही है कि मानव–जीवन में मूल्य–निरपेक्ष विज्ञान साधन–रूप से ग्राह्य हो, जबकि आध्यात्मिकता उसमें चरम मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित रहे : अर्जुन शर–संधान करें, पर सारथी कृष्ण ही बने रहें।

11. समीक्षा

पांडेजी द्वारा की गई संस्कृति की व्याख्या में स्पष्ट ही हीगेल–संप्रदाय के आदर्श–परम–सत्तावाद, बौद्ध–दर्शन के विज्ञानवाद और श्री अरविंद के मानव–चक्र–सिद्धांत का काफी प्रभाव है। दूसरी ओर, चूँकि पांडेजी इतिहासज्ञ भी हैं, उन्होंने कतिपय प्रसिद्ध आधुनिक इतिहासज्ञों– मुख्यतः स्पेंगलर और टॉयनबी– की संस्कृति–संबंधी व्याख्याओं का भी ध्यान रखा है। किंतु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि उनकी अपनी व्याख्या उपर्युक्त सभी दृष्टिकोणों या सिद्धांतों का एक सम्मिश्रण मात्र है। इसके विपरीत वस्तुस्थिति यह है कि उनकी स्वयं अपनी कुछ मूल मान्यताएँ और उनके विशिष्ट प्रयोग हैं जिनके प्रकाश में ही उक्त विविध मतमतान्तरों का स्वस्थ समन्वय सम्भव हो पाया है। संक्षेप में, उनकी अपनी मूल मान्यताएँ इस प्रकार हैं: कि मनुष्य स्वरूपतः श्रद्धामय (आस्थामय) है, न कि बुद्धि या श्रम (कर्म) से तत्त्वतः विशिष्ट अर्थात् मनुष्य की भाववत्ता का अनिवार्य लक्षण किसी–न–किसी उच्चतर भाव (मूल्य) की चेतना है, न कि वास्तविकता–मूलक विश्लेषणात्मक–संश्लेषणात्मक बौद्धिक चेतना, और न ही वास्तविकता की उपयोगमूलक ग्राह्यता के लिए किया जाने वाला मानव–कर्म और उसके संदर्भ में फल–चेतना। यहीं पांडेजी[7] के लिए एक और मूल मान्यता भी आवश्यक हो उठती है, जिसे उन्होंने रहस्यवाद कहा है और जिसका आशय है कि भौतिक–जगत् की वास्तविकता से तत्वतः अलग चेतन मानस का एक आत्मबोधात्मक जीवन्त जगत् है। संस्कृति का आधार यही आत्मबोधात्मक जीवन्त जगत् है, क्योंकि आत्मबोध अनिवार्यतः मूल्यविद्ध है। और इसीलिए पांडेजी के लिए एक और भी मूल मान्यता की स्वीकृति आवश्यक है– यह कि सत्, की जिसका सीधा–साधा अर्थ यह है कि मानव–विकास और संप्रेषण की प्रमाणिकता स्वंय शुद्ध आत्मबोध या सत् के स्वरूप पर आधारित है, किसी व्यक्ति–विशेष या समूह की इच्छा या कल्पना पर नहीं। अब हम इन मूल मान्यताओं और पांडेजी द्वारा इनके विशेष प्रयोग पर जरा विस्तार से विचार करेंगे।

स्पष्ट है कि स्वतः आत्मबोध में मानस्क्रियाओं के आधार से विकास मानना आत्मबोध

को प्रकृति में होने वाली क्रिया–प्रतिक्रियामूलक गति से तत्त्वतः पृथक रूप में प्रस्तुत करना है; क्योंकि प्रथम सदैव उद्देश्यमूलक आत्म–संपूर्ति के लिए होती है जबकि द्वितीय यांत्रिक क्रिया है जो कारणात्मक या आकस्मिक होती है। आत्म–संपूर्ति की दृष्टि से आत्म–बोध में भविष्य की चेतना का केंद्रीय स्थान रहता है, जबकि यांत्रिक गतिशीलता के कारण प्रकृति के संदर्भ वाला काल भूतकाल विशिष्ट (कारणात्मक अवगमन की स्थिति में) या वर्तमान कालविशिष्ट (आकस्मिकता की अवस्था में) होता है। अतः स्वाभाविक है कि आत्मबोध के संदर्भ में चेतना का विकास 'प्रगति' (प्र–गति, अर्थात् भविष्योन्मुख गति) कहलाये, जबकि प्रकृति में होने वाले परिवर्तन को केवल 'विकास' (ऐसा कारण मूलक परिवर्तन जिसमें उपर्युक्त 'प्रगति' का अर्थ न हो) कहा जाये। यह सब कहने में ऐसा लगता है जैसे हम कोई स्वतः सिद्ध बात कह रहे हों; वस्तुतः पांडेजी की उपर्युक्त द्वितीय मूल मान्यता का रूप यही है। किन्तु बात सचमुच वैसी नहीं है। यह प्रश्न करना कि आखिर किस आधार पर हम आत्म–बोध की उद्देश्यमूलक क्रिया और प्रकृति की यांत्रिक गति के बीच तात्त्विक अंतर कर सकते हैं, एक पूर्णतः उचित प्रश्न है।

पांडेजी कहते हैं कि मनुष्य की आरंभिक चेतना में सूक्ष्म–भौतिक, जैविक तथा बौद्धिक स्तरों के अनुभवों और उन पर आधारित धारणाओं का सम्मिश्रण होता है। पाश्चात्य परंपरा में साधारणतः बुद्धि को जीवन के साथ विशिष्टतः संलग्न माना जाता है, जैसे मनुष्य को 'बौद्धिक जीव' कहने से प्रकट है; किन्तु भारतीय परंपरा में सामान्य प्रवृत्ति बुद्धि को सूक्ष्म प्राकृतिक मानने की रही है जिसके फलस्वरूप शुद्ध चेतना के अतिरिक्त जीव का पूर्णतः सूक्ष्म प्राकृतिक में ही अंतर्भाव हो जाता है। भारतीय परंपरा की इसी मूल धारणा पर पांडेजी की तीन मूल मान्यताएँ आधारित हैं, और प्रकटतः वे तीनों ही 'बुद्धि' के संबंध में एक विशिष्ट दृष्टिकोण की उपज हैं। अतः जब वे इन मूल मान्यताओं के आधार से बुद्धि के संबंध में पश्चिमी धारणा की विवेचना करते हैं, उसमें कई भ्रमों के लिए अवकाश हो जाता है। जैसे यह कि चूंकि यह बुद्धि भौतिक विशिष्ट 'मृत्यु' भाव और वैदिक विशिष्ट 'जीवन–भाव' के द्वंद्व को क्रमशः प्रथम पर द्वितीय की विजय के रूप में बदलती जाती है, और इसी बीच स्वयं अपनी आकारिकता की वृद्धि करती जाती है, वह अंततः आध्यात्मिक रूप से तटस्थ और मूल्य–सर्जन (उच्चानुभव–अर्जन) की दृष्टि से बांझ हो जाती है और यह भी कि इस बुद्धि की आकारिक क्रियाशीलता के फलस्वरूप संभव हुए विज्ञान–तकनीकी से आध्यात्मिकता का किसी–न–किसी प्रकार का तात्त्विक विरोध अनिवार्य है। मेरी दृष्टि में ये दोनों धारणाएँ ठीक नहीं– जैसा कि बाद में स्पष्ट होगा। अभी हमें देखना चाहिये कि बुद्धि के संबंध में ये दो परस्पर विपरीत दृष्टिकोण न केवल 'सांस्कृतिक प्रगति' और 'प्राकृतिक परिवर्तन' के अंतर का कारण समझाते हैं वरन् साथ ही यह भी दिखाते हैं कि इस अंतर को कई तरह से समझा जा सकता है। पश्चिम में शुद्ध चेतना, शुद्ध भाव, के प्रति अधिकाधिक उदासीनता (वस्तुततः प्राचीन ग्रीक दर्शन में पारमिनीडीज और हेराक्लितस के बाद से) का कारण यही है कि वहाँ किसी भी गति को

अनिवार्यतः बुद्धि की गति–प्रक्रिया के आधार से समझा गया और इसलिए 'ज्ञान' की सर्वोच्च स्थिति (विवेक) को शुद्ध सैद्धांतिक रूप वाला माना गया (देखिये, हुस्सर्ल का एक महत्त्वपूर्ण लेख '.फेनोमिनॉलाजी एंड मॉडर्न यूरोपियन क्राइसिस')। यह बौद्धिक गति 'विश्लेषणात्मक–संश्लेषणात्मक' रूप से होती है, अर्थात् विश्लेषणात्मक संदर्भ से आकारिक विकास तथा संश्लेषणात्मक संदर्भ से रचनात्मक या सर्जनात्मक विकास होता है : जैसे, प्रथम आधुनिक गणित–शास्त्र और तर्कशास्त्र में अभिव्यक्त है, जबकि द्वितीय विज्ञान की विविध शाखाओं में (संभवतः ललित कलाओं की आधुनिक प्रवृत्तियों में भी) ये दोनों गतियाँ प्रायः साथ–साथ या आगे–पीछे होती हैं। अब यह देखना चाहिये कि बुद्धि की संश्लेषमूलक रचनात्मक गति केवल आकारिकता के सहारे आगे नहीं बढ़ सकती, क्योंकि शुद्ध आकारिक गति पूर्वमान्य की पुनरुक्ति मात्र है–केवल इसके सहारे किसी नयी चीज की उद्‌भावना असंभव है, जबकि प्रत्येक बौद्धिक संश्लेषमूलक रचना में कुछ नयापन होता है। यह नयापन उसे उस 'अंतर्दृष्टि' से मिलता है जो शुद्ध चेतना से एकरूप है। वैज्ञानिक विधि के अन्तर्गत 'अंतर्दृष्टि' का तत्त्व पूर्णतः मान्य है, और इसलिए ज्ञानरूप में विज्ञान को कभी पूर्णतः आध्यात्मिकता से तटस्थ नहीं माना जा सकता (आधुनिक फिनोमिनालॉजिकीय दर्शन का यह एक प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है)। और यही कारण है कि वैज्ञानिक विकास को भी 'सांस्कृतिक प्रगति–परक समझ लिया जाता है, यद्यपि उसकी क्षमता का पूर्ण रूप प्रकृति में परिवर्तन कर सकने या उसमें होने वाले परिवर्तनों को नियंत्रित कर सकने की उसकी शक्ति में प्रकट होता है। परंतु यह विज्ञान का अनुप्रयोग रूप तकनीकी है जिसे हमें स्वतः ज्ञानरूप विज्ञान से एकीकृत नहीं मानना चाहिये, यद्यपि वह उससे अनिवार्यतः संबंधित अवश्य है। और जब हम ज्ञानरूप विज्ञान को उसके अनुप्रयोग रूप तकनीक से पृथक् करते हैं तब हमें– पश्चिमी विज्ञानवादी परंपरा में भी 'सांस्कृतिक प्रगति और 'प्राकृतिक परिवर्तन' का अंतर एक सीमित रूप में स्पष्ट होता दीख पड़ता है : प्रथम में बौद्धिक क्रिया के अंतर्गत अंतर्दृष्टि की उपस्थिति से तथा द्वितीय में बौद्धिक क्रिया की यांत्रिकता के कारण (द्रष्टव्य है कि प्राकृतिक परिवर्तन को कारणात्मक या आकस्मिक समझना बौद्धिकता के ही कारण संभव है)।

दूसरी ओर, भारतीय परंपरा में बुद्धि के प्रकृति के ही अंशभूत होने की मान्यता के कारण बुद्धि अपनी विश्लेषणात्मक– संश्लेषणात्मक क्रिया के लिए स्वतंत्र अवश्य है किन्तु चूँकि उसमें चेतना स्वतः अपने शुद्ध रूप की उपलब्धि की दिशा में स्पष्ट होती है इसलिए न तो बुद्धि की विश्लेषणमूलक आकारिकता की प्रवृत्ति को पर्याप्त बढ़ावा मिल पाता है और न ही उसकी संश्लेषमूलक रचनात्मकता को अंतश्चेतना या अंतर्दृष्टि से पर्याप्त सहायता मिलती है। शायद यही कारण है कि भारत में बौद्धिक आकारिकता और रचनात्मक उपलब्धियाँ एक विशेष सीमा से आगे नहीं बढ़ सकी हैं जबकि वहीं आध्यात्मिकता का काफी विकास हुआ है। पांडेजी के द्वारा किया गया 'सांस्कृतिक प्रगति' और प्राकृतिक परिवर्तनों' का भेद इसी भारतीय दृष्टिकोण पर आधारित है जिसे उन्होंने क्रमशः मानसिक–काल

और भौतिक–काल में क्रिया और गति में भेद से (वस्तुतः काल संबंधी शुद्ध मतानुसार) समझाया है और कहा है कि प्रथम अनिवार्यतः उच्च मूल्य के संदर्भ वाला है जबकि द्वितीय में इस संदर्भ का अभाव होता है। यही कारण है कि उन्होंने 'विज्ञान–तकनीकी..' को मूलतः मूल्य–निरपेक्ष माना है, यद्यपि अवश्य वे इनसे सफलता और सम्पन्नता जैसे अपेक्षाकृत 'निम्नस्तरीय' मूल्यों को स्वीकार भी करते हैं तथापि सभी प्रकार के मूल्य, सफलता और सम्पन्नता सहित, अनिवार्यतः आत्मबोध मूलक होते हैं, और जहाँ भी आत्मबोधात्मक प्रक्रिया होती है वहाँ सांस्कृतिक चेतना अनिवार्य है और इसलिए ज्ञानरूप विज्ञान (भले ही वह सर्वोच्च ज्ञान न हो) कभी मूल्य–निरपेक्ष नहीं हो सकता। (यद्यपि इस 'ज्ञान' से भिन्न समझे गये तकनीक की मूल्य–निरपेक्षता अवगम्य है)। संभवतः विज्ञान के संबंध में पांडेजी के विचार, विशेष रूप से जहाँ वे भारतीय संस्कृति से उसके संघर्ष की बात कहते हैं, पश्चिम और पूर्व की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के बीच ऐकान्तिक अंतर की धारणा पर आधारित हैं, जबकि मेरी दृष्टि में उनमें यह अंतर केवल इसलिए पैदा हुआ है क्योंकि उनमें बुद्धि की एकरूप क्रियाओं को दो पृथक् परिप्रेक्ष्यों से देखा गया है, और अन्य चीजें दोनों के समान हैं। अतः यह सर्वथा संभव है कि कोई एक सांस्कृतिक स्थिति से दूसरी सांस्कृतिक स्थिति में संक्रमण करे और फिर भी अपनी मूल संस्कृति का परित्याग न करे। शायद आज पूर्व और पश्चिम में आगे सांस्कृतिक प्रगति कुछ इसी रूप में संभव है। किन्तु स्मरणीय है कि सांस्कृतिक प्रगति की यह धारणा एकदम नयी नहीं है। पश्चिम के संदर्भ में यह बहुत पहले ही प्लेटो और साक्रेटीज द्वारा 'आत्म–ज्ञान' के आदर्श, सत् के स्मृति–ज्ञान के रूप में, रहा है जो अंततः समग्र प्रत्ययों की एक श्रेणीबद्ध मूल्य–तालिका के रूप में अभिव्यक्ति पाता है। भारत में इसकी धारणा आश्रम–विशिष्ट पुरूषार्थों के रूप में की गई है, जिसकी ओर पांडेजी ने कई बार संकेत किया है, किन्तु इनकी स्पष्ट विवेचना से कई ऐसी बातें मालूम हो सकती हैं जो शायद पांडेजी के किन्हीं मतों से मेल नहीं खाती। आगे कुछ विस्तार में हम इनकी विवेचना करेंगे।

यह तथ्य महत्त्वपूर्ण और रोचक है कि पश्चिम में मनुष्य की चेतना में ही विशिष्ट हुई बुद्धि ने वहाँ आध्यात्मिकता की राह में बाधाएँ डालीं, जबकि भारत में वह अचेतन प्रकृति में स्थित होकर भी आध्यात्मिकता की विरोधी नहीं बनी। इसका कारण हम समझ सकते हैं यदि हम ध्यान रखें कि पश्चिम में बुद्धि–विशिष्ट होकर ही मनुष्य अपने–आपको सब–कुछ का मापदंड बना सकने का साहस जुटा सका; बुद्धि ही यह मापदंड बनी और उसने प्रकृति के साथ–साथ अंततः चेतना को भी नाप कर अपने अनुकूल बना लिया। दूसरी ओर, भारतीय परंपरा में बुद्धि का प्रथम महत्त्वपूर्ण चरण एक निर्वैयक्तिक नैतिक व्यवस्था (ऋत) थी; आगे चल कर यह महाकाव्यों के काल में अपने पूर्ण रूप में एक मानवीय नैतिक व्यवस्था के रूप में विकसित हुई, जो और भी आगे धर्मशास्त्रों के काल में केवल सामाजिक व्यवस्था–आकारिकता–में समृद्ध हुई, किन्तु मानव–चेतना भी व्यक्ति–स्वातंत्र्य की दृष्टि से दीन बन कर रह गई। इसीलिए यह बाद वाला काल भारतीय इतिहास में आध्यात्मिक

प्रगति की दृष्टि से ऊसर काल है; यद्यपि बौद्धिक आकारिकता में वृद्धि से संभवतः यह काल वैज्ञानिक तकनीकी क्षेत्र (स्मरणीयः आर्यभट्ट का सूर्यसिद्धांत) तथा आयुर्वेद, गणितशास्त्र, व्याकरणशास्त्र आदि क्षेत्रों में इस काल में उच्च विकास, तथा साथ ही विभिन्न प्रकार के विद्याओं के तकनीकी क्षेत्रों में इस कालान्तर्गत विशिष्ट विकास (जिसके चलते भारतीयों ने भारतीय उपनिवेश स्थापित किये) में सर्वाधिक उत्पादक काल रहा। अतः यह सोचना बिल्कुल तर्कसंगत है कि यदि इसी बीच प्रबल विदेशी आक्रमण और प्रशासन के विरोधी तत्त्व इस वर्धमान बौद्धिक प्रवृत्ति की राह में बाधा न बनते तो भारत में यह वैज्ञानिक–तकनीकी विकास और भी आगे चलता। वस्तुतः यह विकास भारतीय मूल संस्कृति की आध्यात्मिकता का विरोधी नहीं है, जैसाकि पांडेजी समझते प्रतीत होते हैं, क्योंकि यहाँ बुद्धि एक अलग प्रेरक तत्त्व के रूप में सर्वप्रथम महाकाव्यों के काल में उदित हुई, जहाँ उसका रूप नैतिक नियामकता का है, यद्यपि वहाँ ईश्वर की सशरीर उपस्थित से उसकी प्रतिष्ठा आध्यात्मिक–तत्त्व पर की गई है (यह वैदिक कालीन सार्वभौम नियामक तत्त्व 'तत्' का मानव–क्षेत्र में प्रयोग है, जिससे भारतीय संस्कृति में 'अवतारवाद' संभव हो पाया है)। आशय यह कि भारतीय संस्कृति में बौद्धिकता की प्रतिष्ठा के साथ–साथ मानव–चेष्टा और परिवेश के संदर्भ में, जो बुद्धि की क्रिया के क्षेत्र हैं, क्रमशः सफलता और सम्पन्नता को स्वतंत्र ऐहिक मूल्यों (पुरुषार्थ के रूप में काम और अर्थ) का रूप मिल चुका है; किन्तु चूँकि उनका आधार अभी भी मूल आध्यात्मिकता है, उन्हें 'धर्म' के अतिक्रामक मूल्यों के सहारे परमार्थ (भावरूप आध्यात्मिक या शुद्ध चेतना) के परम मूल्य से संबंधित समझा गया है। किंतु इससे आगे के कालों में– जैसे धर्मशास्त्र काल में–जहाँ बुद्धि की क्षमता और शक्ति अपेक्षया बढ़ी हुई है, उपर्युक्त संबंध का स्वरूप क्रमशः शिथिल होता गया है, और यही कारण है कि एक ओर परमार्थ से संबंधित सन्यासाश्रम कलियुग में वर्जित–सा हो गया है और दूसरी ओर परमार्थ के भाव–रूप अभाव के कारण स्वतः धर्म को चरम आध्यात्मिकता के रूप वाला माना गया है। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति का वैदिक काल है जहाँ ऐहिक, अतिक्रमिक और परम मूल्य परस्पर इतने संश्लिष्ट हैं कि उन्हें पुरूषार्थों के रूप में अलग–अलग स्तर से समझने की आवश्यकता नहीं हुई है, न ही जीवन को आश्रमों में बांटने पर जोर दिया गया है। वस्तुतः वास्तविकता और आदर्श का इतना पूर्ण समन्वय उस–काल में हुआ है कि उस काल के मनुष्य को ईश्वर की स्तुति में अपने लिए भोग्य पदार्थों की आकांक्षा व्यक्त करने में, यज्ञ (त्याग) में सोम–रूप आनंद के उपभाग में भी अड़चन नहीं होती। यह अकारण नहीं कि भारतीय–संस्कृति के अंतर्गत वैदिक काल को 'सतयुग' समझा जाता है और उसे भारतीय संस्कृति का आधार माना जाता है। आज भी प्रायः वही स्थिति है, यद्यपि आज उपलब्ध भारतीय परंपरा में उस काल के केवल प्रतीक रह गये है (जैसे, 'ऊँ', 'पुरूष', 'प्रकृति' आदि), जिनका मूल आध्यात्मिक अर्थ या तो लुप्त हो चुका है ('ऊँ' जैसे प्रतीकों का), या सीमित हो गया है ('पुरुष' जैसे शब्दों का) या बिल्कुल परिवर्तित हो चुका है ('प्रकृति' आदि शब्दों का बिल्कुल नया प्रयोग प्रकृति–विज्ञानों के अंतर्गत)।

अब यह स्पष्ट किया जा सकता है कि क्यों पांडेजी विज्ञान–तकनीक को मूल्य–रूप में भारतीय संस्कृति की मूल–आध्यात्मिकता का विरोधी मानते हुए उसे केवल साधन के रूप में सीमित कर देना चाहते हैं। हम उपर दिखा आये हैं कि न तो आधारभूत पुरूषार्थों की धारणा से ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है, यदि ऐहिक मूल्यों (सफलता और सम्पन्नता के आदर्श) को परम मूल्य से धर्म के अतिक्रामक मूल्यों द्वारा संयुक्त किया जाय, और न ही भारतीय परंपरा में उस आकारिक बौद्धिकता की अनुपलब्धि है केवल जिसके सहारे विज्ञान–तकनीक आगे बढ़ते हैं। वस्तुतः यदि हम वैदिक धारणा का भी स्मरण रखें तो यह मानने का भी कोई कारण नहीं है कि ऐहिक मूल्य किसी तरह 'निम्न–स्तरीय' हैं– जैसाकि पांडेजी समझते हैं। किन्तु पांडेजी का यह दृष्टिकोण भारतीय सांस्कृतिक विकास की एक विशेष स्थिति पर आधारित है : बौद्धिकता में आकारिकता की वृद्धि के फलस्वरूप जब ऐहिक मूल्यों का परम मूल्य से संबंध शिथिल होने लगता है तब इन ऐहिक मूल्यों के प्रति मोह बढ़ता जाता है और उसी अनुपात में आध्यात्मिक अंधता मनुष्य में बढ़ती जाती है– इसकी शुरूआत हम महाकाव्यों के काल में ही देखते हैं जो अंततः परीक्षित के उदाहरण (कलियुग के आरंभ) में अपने पूर्ण रूप में प्रकट है– और यही वह काल है जहाँ भावरूप आध्यात्मिकता (परमार्थ) की जगह अभाव रूप आध्यात्मिकता (धर्म) को मिल जाती है, क्योंकि अंधता की स्थिति में उचित मार्ग–निर्देश केवल आदेश–निषेध–निर्देश के रूप में ही संभव है। इसी 'धर्म' का ऐकांतिक विरोध 'विज्ञान–तकनीक से होता है, जहाँ निषेध–मूलक आदेशात्मक–निर्देशात्मक दृष्टिकोण प्रत्येक इच्छा–पूर्ति और साधन–वृद्धि को आशंका और भय की दृष्टि से देखता है। इसकी तुलना में शुद्ध भावरूप आध्यात्मिकता, शुद्ध चेतना रूप ज्ञान की स्थिति है जिसकी सम्यक् उपलब्धि की दृष्टि से यह आवश्यक समझा गया है कि प्रथम कर्मरूप 'अ–ज्ञान' (=विज्ञान=असम्भूति=विनाश) द्वारा मृत्यु को पार किया जाय और फिर शुद्ध ज्ञान (=आत्म ज्ञान=सम्भूति) द्वारा अमृत का आनंद लिया जाय। (इस दृष्टिकोण की अद्‌भुत विवेचना ईशावास्योपनिषद् में मिलती है।) यहाँ स्पष्ट है कि भावरूप आध्यात्मिकता के प्रकाश में कर्म–अर्थ–संबंधी ज्ञान (अर्थात् विज्ञान) स्वतः मूल्य के रूप वाला है क्योंकि वह स्वतः अपने उद्‌देश्य या आदर्श से चालित है।

अब हम पांडेजी की तृतीय मूल मान्यता पर जरा विचार करें, अर्थात् उनके इस मत पर कि सत् सांस्कृतिक या ऐतिहासिक प्रक्रिया से परे है।[8]। इस मत में ऐसा–कुछ नहीं जिसे शुद्ध व्याख्या की दृष्टि से आपत्तिजनक माना जाय। किंतु पांडेजी ने इसका विकास और प्रयोग इस तरह किया है कि उसके निहितार्थ में कई मतभेदों के लिए जगह निकल आती है। इसका विकास उन्होंने हीगेल की इस धारणा के आधार पर किया है कि सत् विविध–स्तरीय अनुभवों में कमोवेश व्यक्त होता है, और केवल धर्म के स्तर पर वह रहस्यमय अनुभूति के रूप में पूर्ण अभिव्यक्ति पाता है। इस पूरी प्रक्रिया में स्वतः सत् को भावरूप से स्वरूपस्थ समझने का कारण यह है कि यद्यपि अनुभव–प्रक्रिया में तात्त्विक उद्‌देश्यमूलता के कारण क्रमशः उच्च मूल्यों का उन्मेष संभव होता है, तथापि स्वतः ये मूल्य अनुभवों की

प्रक्रिया के भीतर ही स्वतंत्ररूपेण संरचित नहीं होते और इसलिए मूल्यों के भाव के संबंध में यह विचित्र स्थिति पैदा होती है कि स्वतंत्र मानव–चेतना से अनिवार्यतः संलग्न होकर भी वे उस चेतना में अपचयित नहीं समझे जा सकते। अवश्य प्लेटो–साक्रेटीज़ प्रभृति ज्ञान के स्मृतिवादी सिद्धांत और हीगेल के परम मनस् के स्वयं ज्ञान के सिद्धांत के प्रकाश में इस तरह के संभावित अपचयन का रूप समझा जा सकता है किन्तु यह संभावना इतनी रूक्ष या अवैयक्तिक है कि इसे साधारण मानव–मनस् के आदर्श–बोध की शक्ति और सीमा के परे मानना अनुचित नहीं। वस्तुतः ऐसा अपचयन प्रस्तुत संदर्भ में न केवल अनिवार्य नहीं है वरन् उसका वैसा न होना ही संस्कृति की सार्थक व्याख्या के लिए आवश्यक है; क्योंकि अन्यथा सांस्कृतिक उत्थान–पतन, सांस्कृतिक उत्क्रांति–जड़ता, तात्विक और आकस्मिक ऐतिहासिकता के लिए कोई प्रमाणिकता नहीं रहेगी। यहाँ तक तो सब ठीक है और पांडेजी के मत के अनुकूल है, किंतु जब वे इस आधार से सांस्कृतिक अर्थाभ्युपगमों के संबंध में स्तर–भेद की चर्चा चलाते हैं, बात कुछ और हो जाती है। अवश्य उन्होंने स्वीकार किया है कि उनके पास सांस्कृतिक स्तर–भेद–मूलक अर्थाभ्युपगमों के बारे में कोई पूर्णतः विकसित सिद्धांत नहीं है, किन्तु वे समझते हैं कि मूल्यों के बीच स्तर–भेद मानना चाहिये।[9] उदाहरणार्थ वे कांट के शुद्ध अवगमनात्मक अर्थाभ्युपगमों की कोटि से भिन्न समझेंगे– प्रथम प्राकृतिक अनुभव–संदर्भ वाला और द्वितीय आत्मचेतन अनुभव–क्रिया के संदर्भ वाला–और परम मूल्य के अर्थाभ्युपगम को इन दोनों ही प्रकार के अर्थाभ्युपगमों से उच्च मानेंगे। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि ये स्तर, अपने शुद्ध अनुभव–रूप में, इतने झीने हैं कि साथ–साथ रख कर देखने से इनके बीच कोई सीमाएँ नज़र नहीं आतीं, जबकि पृथक्–पृथक् अनुभव–रूप होने से अवश्य उनमें अंतर्वस्तुमूलक भेद है। प्रथम स्थिति इससे स्पष्ट है कि स्वतः हीगेल के उच्चस्तरीय अर्थाभ्युपगम कांट के शुद्ध अवगमनात्मक अर्थाभ्युपगमों को इस तरह अपने अंदर समेट लेते हैं कि वे अपनी वृत्ति कायम रखते हुए भी भावरूपात्मक अर्थाभ्युपगमों से अलग–अलग नहीं रह पाते, और भारतीय परंपरा में परमार्थ (परम मूल्य) से ही अन्य पुरूषार्थों (मूल्यों) को स्थिर मूल्य की स्थिति मिलती है (जैसाकि मैंने अन्यत्र प्रतिपादित किया है, विशेष विस्तार के लिए देखें मेरा लेख 'प्रगतिः एक विश्लेषण', तत्त्व–चिन्तन, अंक 1, 1967)। तात्पर्य यह है कि स्वतः मूल्य की दृष्टि से, स्वतः सत् की निर्देश अभिव्यक्ति की दृष्टि से, मूल्यों का स्तर–भेद कोई महत्त्व नहीं रखता; किन्तु एक विशिष्ट अनुभव–प्रक्रिया से होकर गुजरने वाली मानव–चेतना की दृष्टि से अवश्य मूल्यों के बीच स्तर–भेद का एक सापेक्षिक महत्त्व होता है– सापेक्षिक इसलिए क्योंकि ऐतिहासिक प्रक्रिया के अंतर्गत वास्तवीकृत मूल्यों को त्याग कर उच्चतर मूल्यों की उपलब्धि नहीं की जाती। वरन् उच्चतर मूल्यों के प्रकाश में क्रमशः वास्तवीकृत मूल्यों का अर्थ भी बदलता रहता है; यहाँ तक कि परम मूल्य की वास्तवीकृत स्थिति तक पहुँची चेतना में भी पहले के वास्तवीकृत मूल्य एक विशिष्ट रूप में सक्रिय रहते हैं (द्रष्टव्य, भगवद्गीता में श्री कृष्ण द्वारा स्वयं अपनी सांसारिक सक्रियता के रूप की विवेचना)। इसका निहितार्थ यह है कि

भावरूपेण मूल्य अनैतिहासिक सत् के रूप वाला होकर भी केवल ऐसे अनुभव में से और अनुभव के द्वारा प्रकाश में आता है जिसकी सप्रयास उपलब्धि करनी होती है और जिस उपलब्धि की स्थिति में मनुष्य को कभी नीचा नहीं देखना पड़ता–कर्मक्षेत्र के बाहर मूल्य उपलब्ध नहीं होते, और कर्मक्षेत्र के भीतर उनकी उपलब्धि से स्वतः कर्म में गुणात्मक विकास होता है, और पुनः कर्मक्षेत्र में मूल्य तभी उपलब्ध होते हैं जबकि वही कर्मक्षेत्र धर्मक्षेत्र भी हो। स्पष्ट है कि पांडेजी द्वारा संस्कृति के अर्थाभ्युपगमों की पूरी विवेचना और भी अधिक विकास की अपेक्षा रखती है।

पांडेजी ने एक और भी महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि संस्कृति को केवल उसमें भागीदार होकर समझा जा सकता है, जो बिल्कुल ठीक है। किन्तु आश्चर्य यह है कि उन्होंने संस्कृति को जैविक या भौतिक प्रतिमान के आधार से समझने के पश्चिमी प्रयास को वहाँ की आधुनिक सांस्कृतिक– आध्यात्मिक जड़ता (उसे केवल आध्यात्मिक तटस्थता कहना अपर्याप्त है) के प्रकाश में समझने का कोई यत्न नहीं किया। 'संस्कृति' की कोई सर्वमान्य परिभाषा न तो सम्भव है न ही उचित : उन्होंने ठीक ही कहा है कि वह स्वरूपेण परिभाषित है, अर्थात् प्रत्येक संस्कृति का पारिभाषिक रूप उसी में तत्त्वतः प्रकट है। अतः यह भी स्पष्ट है कि किन्हीं वस्तुतः दो भिन्न संस्कृतियों की परिभाषा एक नहीं हो सकती : इस तरह के कथन कि 'संस्कृति मूल्यों या आत्मबोध की परम्परा है, वस्तुतः हमारे लिए कोई अर्थ इसीलिए रखते हैं क्योंकि हम किसी विशेष सांस्कृतिक परम्परा में अपना स्थान समझते हैं– एक भारतीय भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में, एक चीनी चीनी सांस्कृतिक परम्परा में, एक पाश्चात्य पश्चिमी सांस्कृति परम्परा में। अवश्य कोई इतिहासज्ञ काल्पनिक भागीदारी से अपनी वास्तविक सांस्कृतिक परम्परा से अलग अन्य सांस्कृतिक परम्पराओं में भी हिस्सा ले सकता है किन्तु इसका अर्थ यही नहीं है कि वह संस्कृति की कोई ऐसी सर्वमान्य परिभाषा या समझ दे सकता है जो सभी संस्कृतियों पर समानरूपेण लागू हो। यदि पश्चिमी मनुष्य जैविक या भौतिक आधार से अपनी संस्कृति की समझ प्राप्त करता है तो उसे कभी गलत नहीं ठहराया जा सकता, जब तक कि उसके सांस्कृतिक जगत् में कोई गुणात्मक परिवर्तन न हो। जैसा कि पहले कहा गया, आधुनिक पाश्चात्य मनुष्य पारम्परिक रूप से भी अपने–आप को एक 'बौद्धिक जीव' रूप वाला समझता है– और इसी के अनुसार वह अपने लिए 'पाद्रार्थिक या भौतिक जगत्' तथा 'सांस्कृतिक जगत्' का रूप स्थिर करता है, इस तरह कि वह अपनी बौद्धिक रचना की क्षमता द्वारा एक जगत् से दूसरे जगत् में स्वतन्त्रतापूर्वक संक्रमण कर सके, यहाँ तक कि सिद्धान्ततः एक जगत् का दूसरे में अंतर्भाव भी कर सके। यह बाद वाली सम्भवना ही वह स्थिति पैदा करती है जब वह संस्कृति के लिए जैविक या भौतिक प्रतिमान प्रस्तुत करना अनुचित नहीं समझता। मूलतः यह एक सैद्धान्तिक प्रवृत्ति है जिसका आधार यह धारणा हैं कि वैज्ञानिक विधि ही ज्ञानोपलब्धि की सर्वोच्च विधि है। विज्ञान के एक क्षेत्र में (जैसे प्राणीविज्ञान, समाज–विज्ञान आदि में) यह विधि प्रधानतः सादृश्यमूलक है; जबकि एक अन्य क्षेत्र में (भौतिकी, गणितशास्त्र

आदि में, जहाँ स्वयं मनुष्य गवेषणा का विषय नहीं) यही विधि प्रधानतः निगमनात्मक है। तनिक और ध्यान दें तो पायेंगे कि विज्ञान की वे शाखाएँ, जो सीधे स्वतः मनुष्य से संबंधित हैं, प्रधानतः सादृश्यमूलक विधि का ही प्रयोग करती हैं, यद्यपि वहाँ भी साधारण मान्यता यही है कि शुद्ध और निश्चित ज्ञान के लिए निगमनात्मक विधि आवश्यक (यद्यपि सदैव पर्याप्त नहीं) है। अतः यह केवल अत्यन्त स्वाभाविक है कि विज्ञान की विधि से पूर्णतः प्रभावित पश्चिमी बुद्धिजीवी संस्कृति और इतिहास जैसे मानवक्षेत्रीय विषयों को जैविक जीवन के संरचनात्मक सादृश्य के आधार से समझने की चेष्टा करें, या फिर यदि वे अधिक महत्त्वाकांक्षी हैं तो भौतिक वास्तविकता की अधिक आधारभूत संरचना में संस्कृति और इतिहास के आधारभूत प्रत्ययों का अन्तर्भाव कर दें। व्याख्या के इन दोनों ही प्रकारों के बीच यह मान्यता समान है कि मूल्य अतात्त्विक और सापेक्ष होते हैं, और इसलिए वर्तमान मूल्यों में अपरिवर्तन की स्थिति ही सांस्कृतिक जड़ता या अवरोध का कारण है। चाहे जैविक प्रतिमानवादी हों या भौतिक प्रतिमानवादी, चाहे नीत्शे हो चाहे मार्क्स, वे सभी मानते हैं कि सप्रयास परिवर्तन सांस्कृतिक जगत् के जीवन के लिए अनिवार्य है। मूल्य भी एक सार्वभौम प्रक्रिया द्वारा जन्म लें और मरें, जब तक कि ऐसे अपेक्षया स्थिर मूल्यों की प्रतिष्ठा न हो जाय जिनकी उद्भावना के लिए उस प्रक्रिया का आरम्भ हुआ। संस्कृति और इतिहास इसी प्रक्रिया का नाम है, मानव–दृष्टि से सोद्देश्य, किन्तु जीवन–चक्र या परिवर्तन–चक्र की दृष्टि से यांत्रिक; और चूँकि पश्चिम में संस्कृति और इतिहास की यह प्रक्रिया अभी भी गतिमान् है, यह मानने का उचित आधार नहीं है कि वहां की सांस्कृतिक धारा में सफलता और सम्पन्नता को परम मूल्य की मान्यता मिल चुकी है। वस्तुस्थिति वहाँ प्रकट सांस्कृतिक जड़ता के बावजूद इतनी गम्भीर नहीं है; क्योंकि सफलता और सम्पन्नता की स्पृहणीय प्रतिष्ठा के चलते, शायद उसी के कारण, वहाँ अन्दर–बाहर का द्वन्द्व, मानसिक अलगाव और उद्देश्यशून्यता की तीव्रता इतनी विस्तृत और बढ़ी–चढ़ी है कि वहां निकट भविष्य में 'सांस्कृतिक क्रान्ति' अनिवार्य है। वैसे इसकी सैद्धान्तिक भूमिका पहले भी अतिमानव के उच्च संकल्प या सामाजिक न्याय और समता के रूप में रखी जा चुकी है और ये दोनों ही मानव–भाव में ऐसे गुणात्मक परिवर्तन की अपेक्षा रखते हैं जिससे शुद्ध आन्तरिकता या आध्यात्मिकता का विकास (सांस्कृतिक प्रगति) सम्भव है।

सारांश यह है कि संस्कृतियों की टकराहट या संघर्ष, चाहे वह पश्चिम में भौतिकवाद, और धर्म के बीच हो या भारत में पारम्परिकता और तथाकथित आधुनिकता के बीच हो केवल एक ऐसी ऐतिहासिक स्थिति है जिसमें नये मूल्यों के उन्मेष और प्रतिष्ठा द्वारा सांस्कृतिक प्रगति का अवसर उपस्थित होता है। और वह केवल इसलिए सम्भव हो पाता है क्योंकि संस्कृतियाँ एक ऐसी 'विश्वदृष्टि' की उद्भावना में लगी होती हैं जिसकी मूल्यवत्ता सार्वभौम हो सके। अतः 'सांस्कृतिक ढ़ोंग' केवल वहीं उपस्थिति होता है जहाँ किसी एक विशिष्ट ऐतिहासिक सांस्कृतिक स्थिति को ही सार्वभौम मान लिया गया है, और स्पष्ट ही पश्चिम में यही ढ़ोंग 18वीं सदी, 19वीं सदी और वर्तमान 20वीं सदी के प्रथम

आर्धांश तक बड़ा प्रबल रहा है। भारत में भी अभी यह प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में प्रकट है और यही कारण है यहाँ का बुद्धिजीवी वर्ग अपने–आप को 'या तो यह या वह': या तो पश्चिमी सभ्यता–संस्कृति या भारतीय परम्परा : के द्वन्द्व से मुक्त नहीं कर पाता, और फलतः या तो उसे आत्म–वंचना में पड़ना होता है या फिर विशेष प्रकार की उपलब्धियों (भौतिक सफलता और सम्पन्नता) से वंचित रहना होता है। किन्तु ये दोनों ही आवश्यक नहीं हैं, और वस्तुतः भारतीय संस्कृति के बारे में यह कहा जा सकता है कि उसमें उत्पन्न होने वाला प्रत्येक गतिरोध इस बात का सूचक है कि उसकी परम्परा जारी रखने वाले बुद्धिजीवियों ने कहीं–न–कहीं उसकी व्याख्या में गलती की है और उसे ठीक किया जाना चाहिए जिससे कि उसमें नये मूल्यों की उपलब्धि का मार्ग खुल सके। यह द्रष्टव्य है कि आध्यात्मिकता के राजमार्ग पर अग्रसर मन के रथ के सारथी कृष्ण भी अपने नर–रूप अर्जुन का शर–संधान युद्ध–जय और राज्योपभोग (सफलता और सम्पन्नता) के लिए ही चाहते थे।

***

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

1. *दी मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर – पृ0 141*
2. *वही0 पृ0 141*
3. *वही0 पृ0 142*
4. *वही0 पृ0 174*
5. *वही0 पृ0 175*
6. *वही0 पृ0 54*
7. *वही0 पृ0 32*
8. *वही0 पृ0 33*
9. *वही0 पृ0 32*

दयाकृष्ण का समाज-दार्शनिक विमर्श

यशदेव शल्य

प्रोफेसर दयाकृष्ण की गणना समकालीन भारतीय दर्शन के क्षेत्र में प्रथम कोटि के बहुत थोड़े से विचारकों में की जाती है, किन्तु वास्तव में वे उनमें भी विशिष्ट स्थान रखते हैं। उन्हें यह विशिष्टता उनके दो गुण देते हैं। एक है नितान्त अपारंपरिकता, सर्जनात्मकता और सहज मूलगामिता। अपनी इस प्रकृति के कारण दया जी नित्य नवीन और आधारभूत प्रश्न उठा पाते हैं। यह वास्तव में उनके व्यक्तित्व का ही गुण है, केवल दार्शनिक विचार का नहीं, जो उन्हें निराग्रही, सरल और दंभ–रहित बनाता है। उनकी दूसरी विशेषता दृष्टि की व्यापकता और अन्यान्य विषयों को समझने और उन पर विचार करने की सामर्थ्य है। उन्होंने दर्शन के परम्परागत प्रश्नों पर विचार करने के अतिरिक्त समाज, अर्थव्यवस्था, राजनीति, प्रशासन, कला, भारत–विद्या आदि अनेक विषयों पर विचार किया है। विभिन्न विषयों पर विचार की सामर्थ्य वैसी बात नहीं है जैसी एक मकान में अनेक कमरे होना या एक डिब्बे में अनेक रंगों की गोलियाँ होना। यह सामर्थ्य दृष्टि की व्यापकता में प्रतिफलित होती है और विषयों के ऐसे आयाम और स्तर प्रकट करती है जो इस सामर्थ्य से रहित दृष्टि के लिए अगम्य होते हैं। अथवा कहें, ज्ञान में प्रत्येक विषय दूसरे को आलोकित करता है और प्रत्येक अन्य विषय से आने वाला आलोक प्रस्तुत विषय में नये आयामों को प्रकट करता है। दृष्टि की व्यापकता का यही अर्थ है। जिस दृष्टि में ऐसा नहीं होता वह मात्र संग्रहात्मक–विवरणात्मक होती है। स्पष्टतः दयाजी इस दूसरे प्रकार के लोगों में नहीं हैं, बल्कि प्रथम प्रकार के लोगों में भी अग्रणी हैं।

मुझे दयाजी के बहुत से लेख और पुस्तकें पढ़ने का और बहुत बार उनके साथ परिचर्चाओं में भाग लेने का अवसर मिला है। मैं अधिकांशतः अपने को उनसे असहमत पाता रहा हूँ, कभी–कभी तो झुँझलाहट भी होती है कि ''ये भी क्या बात करते हैं।'' किन्तु वास्तव में यही दयाजी को प्रिय भी है–दूसरे को छेड़ना, उकसाना और कुछ अलग सोचने को मजबूर करना। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक 'दि नेचर ऑफ फिलॉसफ़ी' में लिखा था कि 'दर्शन का कार्य नये प्रश्न उठाना है,' और यही उनका मत आज भी है किन्तु मेरी यह असहमति उनकी मूल दृष्टि से उतनी नहीं होती जितनी उस दृष्टि की व्याख्या के कुछ सूत्रों से होती है, यद्यपि कभी–कभी मूल दृष्टि से भी होती है। उदाहरण के लिए समाजदर्शन

पर उनकी पहली पुस्तक "सोसल फिलॉसफ़ीः पास्ट एण्ड फ्यूचर"[1] तथा समाजदर्शन विषयक उनकी दूसरी पुस्तक 'कंसिडरेशंस् टूवाड्र्स थ्योरी ऑफ चेंज' में व्यक्त दयाजी की मूल दृष्टि से प्रायः मेरे मतैक्य हैं, उस दृष्टि की व्याख्या से भी मेरा प्रायः मतैक्य ही है, किन्तु उसके कुछ सूत्रों से मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ, यहाँ मैं मुख्य रूप से उन स्थलों की ही चर्चा करूँगा, दयाजी को कबीर के एक दोहे–'निन्दक नियरे राखिये' का स्मरण कराते हुए।

दयाजी ने अपनी इन पुस्तकों में समाज के स्वरूप–विषयक निम्न प्रश्न उठाये हैं – क्या यह मनुष्य के एतद्विषयक विचार या अवधारणा–प्रकार से पूर्णतः स्वतंत्र सत्व है या कि यह इससे बहुत गहराई से प्रभावित होने वाला सत्व है? या कि वह इस विचार का ही फल होता है? दूसरे शब्दों में, क्या इसका कोई अपना तत्त्व भी है या कि यह उसी प्रकार तत्त्व से रहित है जिस प्रकार अस्तित्ववादियों के अनुसार मानव–व्यक्ति तत्त्व से रहित है और उसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के असंख्य चयनों से घटित या रचित होता है जिस प्रकार मानव–व्यक्ति अपने चयन से, अपने वरण से घटित या रचित होता है? इन प्रश्नों का दयाजी का उत्तर है कि समाज व्यक्तियों के आत्मचेतन चयनों का फल होता है और परिणामतः यह एक अवस्तु या असत्व है। "चयन का फल" होने से यह 'प्रकृति' से विपरीत हो जाता है, क्योंकि 'प्रकृति' का उनके अनुसार अर्थ ही है ऐसा सत्व जो मनुष्य के विचार और अवधारणों के लिए प्रदत्त है, उनसे प्रभावित या रचित होने वाला नहीं। विचार–सृष्ट होने से यह वही रूप लेता है जैसी इसकी कल्पना होती है, जैसा अवधारण होता है। दयाजी इस विचार को आगे बढ़ाते हुए प्रश्न करते हैं, उन क्षेत्रों में अवधारण–क्रिया अनिवार्यतः मूल्यात्मक होती है, यह वस्तु की घटक होती है, हम कहना चाहेंगे कि यह वस्तु को उसके प्रतिमान के अनुसार देखती है और उसके अनुसार ही घटित करती है। दूसरे शब्दों में कहें, इसका प्रतिमान ही इसका सत्व होता है, प्रस्तुत–रूपता नहीं। सोसल फिलॉसफी[2] पुस्तक के प्रथम व्याख्यान के अन्त में दयाजी व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का प्रश्न उठाते हैं और कहते हैं "यह प्रश्न कि समाज क्या है इस प्रश्न से निकट रूप से सम्बन्धित है " कि व्यक्ति क्या है?" और तब वे कहते हैं कि "सब सर्जनों का स्रोत व्यक्ति ही होता है; समाज केवल व्यक्ति के इस कार्य के क्रियान्वयन के लिए साधन बनता है।" उनके अनुसार प्रायः ही समाज– वैज्ञानिक समाज को मुख्य और व्यक्ति तथा उसके मूल्यान्वेषण अथवा सृजन–कर्म को उसमें साधन–भूत तथा गौण मानते हैं, और क्योंकि हम ऐसे सत्व हैं कि हमारे विचार हमारा सृजन करते हैं इसलिए इन दो अवधारण–रूपों में चुनाव मूल्यात्मक चुनाव ही हो जाता है। ऐसी अवस्था में इसमें ज्ञानात्मक अन्वेषण के लिए यही अवकाश रह जाता है कि विभिन्न अवधारणों के मूल्यात्मक परिणामों को स्पष्ट करके संभाव्य उपलब्धियों और विकृतियों को प्रकट किया जाय।

यहाँ कुछ प्रश्न विचारणीय हैं : प्रथम यह कि क्या समाज इस प्रकार का सत्व है कि वह ज्ञान–विषय नहीं होकर आदर्श–कल्पना या मूल्यात्मक रूप से अक्षिप्त मात्र है ? दूसरे, यदि यह आक्षिप्त मात्र है तो इसका आक्षेपक कौन है ? व्यक्ति या कि स्वयं समाज ही ? तीसरे क्या प्रकृति अपनी अवधारणा से स्वतंत्र सत्व है ? चतुर्थ, यदि वह अवधारणा–

सापेक्ष होने पर भी मूल्यात्मक रूप से आक्षिप्त नहीं है तो क्या समाज भी मूल्य–निरपेक्ष अवधारणात्मक सत्व नहीं हो सकता ? पाँचवें, यदि समाज को मूल्यात्मक रूप से आक्षिप्त ही मान लिया जाय तो भी क्या वह उसी प्रकार का सत्व है जिस प्रकार का सत्व मानव व्यक्ति है ? छठे, समाज को व्यक्ति के आत्म–चरितार्थन का साधन कहने का क्या अर्थ है, क्या साधन के रूप में वह व्यक्ति से स्वतंत्र सत्व है ? या कि व्यक्ति–समवाय का फलन मात्र है ? दया जी ने इन व्याख्यानों में इनमें से किसी भी प्रश्न पर स्पष्ट विचार नहीं किया है, किन्तु अपनी दूसरी पुस्तक 'कंसिडरेशंस्....' में इनमें से पहले तीन प्रश्नों पर विचार किया है, यद्यपि वहाँ भी पर्याप्त और व्यवस्थित विचार नहीं किया गया है। उदाहरणतः कंसिडरेशंस् में वे कहते हैं :

"तब समाज इस अर्थ में शिल्प के समान भी है कि यह अनिवार्यतः (मनुष्य की) अस्तित्व–रक्षा की समस्याओं से सम्बन्धित है जो समस्याएँ अन्य सब प्रश्नों से प्रथम होती हैं, और यह महान कला–कृतियों के समान भी है, जिनका सम्बन्ध मूल्यों और आदर्शों से होता है जिनके बिना ये निस्सत्व होती हैं। किन्तु यह इन दोनों से इस बात में भिन्न भी है कि यह पूर्ण कृति नहीं होता जिसे देश में सब दृष्टि–बिन्दुओं से देखा जा सकता है, अथवा जिसे इनमें रूचि रखने वाला कोई भी व्यक्ति इसको पूर्णता में जान सकता है। संस्कृतियों और सभ्यताओं के इतिहासकार इन्हें इस रूप में (इनकी पूर्णता में) भी देख सकते हैं, विशेष रूप से तब जब ये अतीत और मृत हो चुकी होती हैं। किन्तु ये (समाज) अपने ढंग का एक अनुठा विषय है, और यद्यपि इसमें इन सब विषयों के कुछ गुण हैं किन्तु यह उनसे कुछ मूलभूत गुणों में भिन्न भी है। प्रकृति के कारण–कार्यात्मक सन्दर्भ में प्रतिष्ठित, अपने सदस्यों की जीवन–रक्षा और संवृद्धि के प्रति चिन्तित, केवल अपने स्वप्नों में मुदित और केवल अपने आदर्श के अनुसरण में गर्वित यह उन निरन्तर अग्रसर सन्ततियों की आत्मचेतन कृति होता है जो इससे एक–साथ प्रेम भी करती हैं और इससे भिन्न भी होती हैं।"[99]

दयाजी द्वारा समाज की यह परिभाषा और निरूपण सम्भवतः उनका स्पष्टतम और सर्वाधिक प्रतिनिधि निरूपण है। सम्भवतः इसे इस अर्थ में पूर्ण भी कहा जा सकता है कि वे इस विषय पर इससे बाहर प्रायः और कुछ भी नहीं कहते । किन्तु यह निरूपण कितना अयुक्त और आत्म–प्रसंगत है यह देखना भी सतर्क दर्शन के लिए कठिन नहीं है : इस उद्धरण के आरंभ में दयाजी समाज को शिल्प–कृति और कला–कृति से इस आधार पर भिन्न कहते हैं कि यह इन दो प्रकार की कृतियों के समान आद्यन्तयुक्त नहीं होता, इस आधार पर नहीं कि एक व्यक्ति–कृत होती है और दूसरी व्यक्तिकृत नहीं होती। किन्तु इसके तुरन्त बाद वे अतीत सभ्यताओं और समाजों को आद्यन्तयुक्त पाते हैं तब कला–कृति आदि से भिन्नता के लिए दूसरा आधार खोजते हैं कि एक जीवित समाज स्वयं अपने को अन्तवन्त के रूप में नहीं देखता। किन्तु कलाकृति भी अपने आदि, मध्य और अन्त को कहाँ देखती है? स्वयं को देखना या स्वयं का अवधारण करना आत्मचेतन विषयी का गुण है, कृति का नहीं। कहा जा सकता है कि आत्मचेतन भी अपना अवधारण स्वयं करता है और

इस कारण वह स्वयं भी अपनी कृति होता है। हमने इस मत का प्रतिपादन अन्यत्र[3] किया है और तब व्यक्ति और संस्कृति दोनों को आत्मकृत विषयी कहा है। किन्तु दयाजी ऐसा नहीं कहते। वे समाज को अंशतः कला–विषय के रूप में और अंशतः उससे भिन्न विषय के रूप में ही देखते हैं। किन्तु इसी अनुच्छेद में थोड़ा आगे चलकर वे पुनः समाज को विषय कहते हुए उसके सम्बन्ध में ऐसे बात करने लगते हैं जैसे मानो वह विषयी हो "अपने सदस्यों की जीवन–रक्षा के लिए चिन्तित" आदि। किन्तु उन्होंने समाज को कहीं विषयी नहीं कहा है, परिणामतः उनके उपर्युक्त वाक्य काव्यात्मक उत्प्रेक्षा मात्र प्रतीत होते हैं। इस दृष्टि से दयाजी –'सोसल फिलॉसफी' पुस्तक में अधिक आत्म–संगत हैं क्योंकि इसमें वे समाज को मानव–विषयी के आत्मसर्जन के अनुरूप आत्मसृष्ट कहते हैं। किन्तु सही बात यह है कि वे इनमें यही साम्य देखते हैं कि इन दोनों का सत्व तद्विषयक विचार से प्रभावित होता हैं। इसी से वे साथ ही समाज को मानव–व्यक्तियों के विचारों, अवधारणाओं या चयनों का संयुक्त फल भी कहते हैं। अब, अनेक व्यक्तियों की अवधारणाओं और चयनों का संयुक्त फल आत्मसृष्ट नहीं हो सकता। सच पूछा जाय तो एक व्यक्ति के सब कर्म–फल भी आत्मचेतन नहीं होते, तब उन्हें आत्मसृष्ट कहने का तो प्रश्न ही कहाँ रहता है, और यदि कुछ अनेक व्यक्तियों के चयन का फल हो तब तो फिर बात ही क्या है! उदाहरण के लिए कौन–सी पुस्तकें मेरे पुस्तकालय में हों, अथवा कौन सा कपड़ा मेरे तन पर हो यह आत्मचेतन चयन है किन्तु मेरे पुस्तकालय या कमीज आत्मचेतन नहीं हैं। और यदि थोड़ा गहराई में जाएँ तब तो हम पायेंगे कि हमारे बहुत से चयन भी 'वास्तव में हमारे चयन' नहीं होते–हम बड़े प्रयत्न से कोई कपड़ा चुनकर लाते हैं किन्तु घर में आकर अनुभव करते हैं कि यह तो ठीक नहीं है, इसका रंग पता नहीं क्यों वहाँ मुझे जँच गया! और यदि यह चयन वस्तु का नहीं होकर दूसरे व्यक्ति का हो–मित्र का, पति या पत्नी का – तब तो बहुत बार जो फल होता है उसे सब जानते ही हैं : हम पाते हैं, यह "वह व्यक्ति" नहीं है "जो मैंने देखा था," या "जो समझा था।" और वास्तव में होता यह है कि हमने अपनी चाह, भावना या एषणा को ही नहीं समझा होता। और सबसे प्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण "आत्मचेतन चयनों का फल कहना" भोले भाव की पराकाष्ठा ही कही जा सकती है। दूसरे 'आत्मचेतन चयन का फल' और 'आत्म–सर्जक' एक ही बात नहीं है, क्योंकि मेरा पुस्तकालय जबकि आत्मचेतन चयन का फल होता है, यह आत्म–सर्जक नहीं होता, आत्म–सर्जक केवल मानव–व्यक्ति होता है, संभवतः संस्कृति को भी कहा जा सकता है, किन्तु पुस्तकालय को नहीं, समाज को तो और भी नहीं। किन्तु व्यक्ति भी किस अर्थ में आत्मसृष्ट होता है, दयाजी ने कहीं स्पष्ट नहीं किया–मनोविश्लेषकों के अनुसार तो हमारे व्यक्तित्व का भी अधिकांश अचेतन, अवचेतन और अर्धचेतन मानस से घटित है। तीसरे, 'अवधारणाओं का फल' और 'चयन का फल' एक ही बात नहीं है। क्योंकि जैसाकि हम आगे देखेंगे, प्रकृति को भी अवधारणाओं का फल तो कहा जा सकता है किन्तु चयनों का फल नहीं कहा जा सकता।

समाज को 'प्रकृति–भिन्न' कहने से दयाजी का एक तथा मुख्य प्रयोजन इसे ज्ञान

विषय से भिन्न मूल्यान्वेष्य कहना भी है। किन्तु यह विचारणीय है कि क्या केवल प्रकृति ही ज्ञान–विषय होती है ? और क्या मूल्यान्वेष्य साथ ही ज्ञान–विषय भी नहीं होता? द्रष्टव्य है कि स्वयं दयाजी ने ही अपने प्रथम व्याख्यान के अन्त में समाजविज्ञान का कार्य समाज विषयक विभिन्न मूल्यात्मक अवधारणाओं के निहित आपादनों (इम्प्लीकेशंस्) को प्रकट करना कहा है और इस कर्म को ज्ञानात्मक (कॉग्नीटिव) कहा है। इतना ही नहीं, अपने अन्तिम व्याख्यान में उन्होंने इस कर्म की ज्ञानात्मकता और मूल्य–निरपेक्षता पर बहुत बल दिया है। किन्तु निश्चय ही इस ज्ञान के विषय को वे प्राकृतिक नहीं कहेंगे। और पुनः अपने अन्तिम व्याख्यान के अन्त में उन्होंने आत्मचेतन को स्वयं आत्म का विषयकरण कहा है, इस विषयकृत आत्मा को भी वे प्राकृतिक नहीं कहेंगे, यह स्पष्ट है। जैसाकि हमने अन्यत्र[4] देखा है, वास्तव में यही विषय आद्य मूल्य और अन्य सब मूल्यों का आधार है। जहाँ तक समाज को आत्मचेतन कर्म की कृति कहने का सम्बन्ध है, इसकी अयुक्तता हमने ऊपर इसे चयन का फल कहने की अयुक्तता के प्रसंग में दिखायी ही है किन्तु समाज वास्तव में एक और बहुत गहरे अर्थ में मनुष्य के आत्मचेतन कर्म से कृत नहीं है : जैसाकि हमने अन्यत्र[5] दिखाया है, यह मानव–चेतना की अतिक्रामी संरचना में अंतर्निहित है।

दयाजी के समाजविषयक प्रतिपादनों में सबसे आधारभूत प्रतिपादन उसका अप्राकृतिक होना है, क्योंकि प्रकृति उनके अनुसार विचार या अवधारणा से स्वतंत्र सत्व है जबकि समाज विचार–कृत, अवधारणानुसारी और भाव्य सत्व है। किन्तु वे प्रकृति के स्वरूप पर कहीं भी गहराई से विचार नहीं करते। प्रकृति के सम्बन्ध में वे केवल इतना ही कहते हैं कि उसके सम्बन्ध में "हम यह कभी नहीं कहते कि वह कैसी होनी चाहिए, वह जैसी है उसे हम वैसा ही स्वीकार करते हैं।" किन्तु यह उतना सही नहीं है जितना प्रथम दृष्टि में प्रतीत होता है। सर्वप्रथम यह द्रष्टव्य है कि वे नेचर (प्रकृति) शब्द को बड़े 'एन' अक्षर के साथ लिखते हैं। जिसका अर्थ है कि वे इस बात पर बल देना चाहते हैं कि इस शब्द को एक सत्व के अर्थ में ही समझा जाय, विभिन्न वस्तुओं या स्थितियों के संघात के अर्थ में नहीं। इसी प्रकार दयाजी ने 'मैंन' शब्द भी बड़े 'एम' अक्षर के साथ लिखा है और यह कहीं स्पष्ट नहीं किया है कि इससे उनका क्या अर्थ है –व्यक्ति, जाति, चेतना के स्तर का स्तर–विशेष, अथवा कुछ और ? यदि इसे विट्गेन्स्टाइन के "फैमिली रिजेम्बलेंस" के अर्थ में लिया जाय जैसा कि दयाजी ने लिया भी है[78] तो मनुष्य व्यक्ति से अधिक कुछ हो भी नहीं सकता, और तब बड़े 'एम' अक्षर का प्रयोग निरर्थक हो जाता है। किन्तु विट्गेन्स्टाइन के लिए तो 'प्रकृति' शब्द भी उतना ही वाच्य–रहित होगा जितना 'मनुष्य' शब्द, किन्तु इस प्रसंग को यहाँ छोड़ते हुए हम प्रकृति की अवधारणा–निरपेक्षता के प्रश्न पर ही संक्षेप में विचार करेंगे।

दयाजी ने प्रकृति की विचार–सापेक्षता या अवधारणा–सापेक्षता की सम्भावना के निराकरण के सन्दर्भ में एक स्थान पर परमाणु–भौतिकी का उल्लेख किया है। अन्यत्र वे अनिर्मित भौतिक वस्तुओं–मिट्टी, जल, वायु, आदि का और निर्मित भौतिक वस्तुओं–मेज, कुर्सी आदि का प्रकृति के रूप में उल्लेख करते हैं, किन्तु क्या ये सब 'प्रकृति' कही जा

सकती हैं? ये सब अधिक से अधिक प्राकृतिक तो कही जा सकती हैं (यद्यपि निर्मित वस्तुओं को, उनके निर्मित पक्ष की उपेक्षा किये बिना, प्राकृतिक भी कैसे कहा जा सकता है यह बात हमें समझ में नहीं आती) किन्तु ये प्रकृति कैसे कही जा सकती हैं? अब जहाँ तक प्राकृतिक का सम्बन्ध है, मानसिक घटनाएँ उतनी ही प्राकृतिक हैं जितनी भौतिक घटनाएँ, और मानसिक ही वह क्षेत्र है जिसे दयाजी विचार से निर्धार्य के रूप में देख रहे हैं। जहाँ तक भौतिक वस्तुओं का सम्बन्ध है, दिङ्नाग और कांट ने इन वस्तुओं को भी क्रमशः अतिक्रामी वासनाओं और वर्गणाओं से रचित दिखाया है। दयाजी इसकी उपेक्षा करते हैं, जिसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि ये अतिक्रामी होने से आत्मचेतन, स्वेच्छया नियुक्त विचार की विषय नहीं हैं। किन्तु इस विचार की विषयभूत प्रकृति भी नितान्त निरपेक्ष सत्व नहीं है जिसका प्रमाण विभिन्न संस्कृतियों में, और एक ही संस्कृति के इतिहास के विभिन्न चरणों में इसकी अवधारणाओं का विभिन्न होना है।[6] किन्तु यहाँ दयाजी कह सकते हैं कि सब अवधारणाओं में प्रकृति 'यथातथ' के रूप में, जैसा है वैसा ही' के रूप में ही देखी गई है, 'जैसा होना चाहिए वैसा' के रूप में नहीं। किन्तु ऐसा भी नहीं है, यांत्रिकी का संपूर्ण इतिहास प्रकृति को 'जैसा होना चाहिए' के रूप में ग्रहण का इतिहास ही है। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि प्रकृति यांत्रिकी के लिए उपादान है और उपादान को उसके स्वरूप में निरपेक्षतः समझ कर ही उसका उपयोग करना होता है। किन्तु तब इस दृष्टि से प्रकृति और समाज में मौलिक अन्तर नहीं रहता—समाज को हम अवश्य ही 'जैसा होना चाहिए' इस अपेक्षा से ही देखते हैं किन्तु इस अपेक्षा की पूरी संरचना इस प्रकार है : "यह जैसा है इसे वैसा नहीं होना चाहिए।" अवश्य यांत्रिकी और कला में अन्तर है किन्तु अवधारण—सापेक्षता और विचार—निर्धायता की दृष्टि से इनमें कोई अन्तर नहीं है। यदि हम स्वयं कलाओं में भौतिक के उपयोग की ओर भी ध्यान दें—मूर्ति—कला में पत्थर—मिट्टी, चित्रकला में रंग और संगीत में ध्वनि, और दूसरी ओर क्रमशः हाथ, कूँची और कंठ आदि—तो स्थिति और भी बदल जाती है।

प्राकृतिक का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष कारणात्मकता है। अब, कारणात्मकता सिद्धान्त के रूप में विचार—निर्धार्यता की और व्यवहार में प्रस्तुत और विशिष्ट के अप्रस्तुत और सामान्य में विलय की वाचक होती है। उदाहरणतः लॉन में पड़ा यह पत्थर, आँख में छलक आया यह आंसू, मन में सहसा उभर आयी यह उद्विग्नता 'क्यों' प्रश्न उत्पन्न होते ही अपनी प्रस्तुत स्पष्टता और विशिष्टता खोकर विचार—ग्राह्य और सामान्य घटनाओं की श्रृंखला में एक अविशिष्ट कड़ी हो जाते हैं, और इन सबसे ऊपर है प्राकृतिक वस्तुओं की अधिष्ठात्री देवी (व्यक्ति—नाम—वाच्य प्रकृति) का सत्व जो केवल शुद्ध विचार—ग्राह्य विचार—रचित होता है। यहाँ दयाजी कह सकते हैं कि हमारा प्रकृति—विषयक विचार'—भेद प्रकृति के स्वरूप को भिन्न नहीं करता, विचारक के स्वरूप को भिन्न करता है, वह विचारक को वैज्ञानिक, पौराणिक या कवि बनाता है, प्रकृति तो वही रहती है। किन्तु ऐसा कहना प्रकृति को केवल विचार के और अधिक सूक्ष्म स्तर का विषय बनाना होगा, विचार—निरपेक्ष वस्तु बनाना नहीं।

इस प्रकार दयाजी के समाज के स्वरूप–विषयक दृष्टि के विवेचन में बहुत से सूत्र उतने युक्त नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि उनकी दृष्टि में कोई युक्तता है ही नहीं, उनका मूल बोध वास्तव में सही है, कि समाज प्राकृतिक विज्ञानों के विधि का विषय नहीं हो सकता, 'सामाजिक यांत्रिकी' जैसे पद भ्रामक और अहितकर हैं, क्योंकि समाज आदर्शानुसरण और मूल्यान्वेषण का क्षेत्र है, किन्तु वे यह सब नहीं कहकर समाज और प्रकृति की विपरीतता पर ही बल देते हैं। वे यह भूल ही जाते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक की प्रकृति एक विशेष पूर्वाग्रहमूलक प्रकृति ही है, अन्यथा प्राचीनों द्वारा प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु देवताधिष्ठित भी देखी गई है, वनस्पतियाँ और पशु–पक्षी मनुष्य के ही क्रम में देखे गए हैं।

समाज को मूल्यात्मक सत्व के रूप में देखने के समान ही उनकी यह दृष्टि भी मार्मिक है कि 'मनुष्य' और समाज का स्वरूप इस बात में बहुत कुछ समान है कि दोनों आत्मसर्जनात्मक हैं।' किन्तु वे यह नहीं बताते कि ऐसा कैसे है? इतना ही नहीं, मनुष्य से, विशेषतः बड़े आद्यक्षर द्वारा नामित मनुष्य से, उनका क्या अभिप्राय है यह भी वे स्पष्ट नहीं करते। यह 'मनुष्य' पद 'समाज' को अपने अर्थ में कैसे सम्मिलित नहीं करता? इसी प्रकार, क्या 'समाज' और 'संस्कृति' पद समानार्थक हैं? यदि नहीं, जैसाकि स्पष्ट है कि वे नहीं हैं, तो क्या 'आत्मसर्जक' विशेषण 'समाज' के बजाय 'संस्कृति' का होना उचित नहीं है?

दूसरे व्याख्यान का शीर्षक है "दो अवांछित परिणाम" (टू प्रेडिकामेंट्स)। दो अवांछित परिणाम दो अतिवादों के हैं। एक अतिवाद है समाज–केन्द्रकता का और दूसरा आत्म–केन्द्रकता का। 'आत्म' से यहाँ अभिप्राय वैयक्तिक 'स्व' से नहीं होकर 'आत्मा' से है। दयाजी के अनुसार प्रथम अतिवाद पाश्चात्य समाज की विशेषता है औद दूसरा अतिवाद भारतीय समाज की। प्रथम अतिवाद का मूल यह मान्यता है कि 'व्यक्ति जो भी कुछ होता है वह समाज की बदौलत, समाज के कारण ही होता है, यहाँ तक कि उसका मनुष्य होना तक समाज के कारण ही सम्भव होता है। दूसरे शब्दों में, वह पूरी तरह समाज से निर्धारित और निर्मित होता है। इसलिए, इस मान्यता के अनुसार, व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपना सब कुछ समाज को अर्पित कर दे और समाज के शुभाशुभ के लिए अपने को उत्तरदायी माने। दयाजी के अनुसार, इस मान्यता में स्पष्टतः अन्तर्विरोध है–यदि व्यक्ति पूर्णतः समाज से निर्धारित, उसका कार्य, है तो उसके विचार, भावनाएँ और संकल्प स्वतंत्र नहीं हो सकते, वह समाज रूपी सागर का एक कण मात्र रह जाता है। अब, यदि यह बात स्वीकार की जाये तो व्यक्ति को उत्तरदायी कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि 'उत्तरदायित्व' अनिर्धारितता को, अकारितता को, पूर्वकल्पित करता है।' पश्चिम के इस अतिवादी चिन्तन के उदाहरणों के रूप में दयाजी "अपोलोजी" संवाद के सुकरात की, ईसाइयों की आद्य पाप (ओरिजनल सिन) की, और दूसरों के पापों के लिए भी उत्तरदायी होने की अवधारणाओं का, तथा मार्क्सवाद की व्यक्ति के एक साथ इतिहास की उपज और भविष्य के लिए उत्तरदायी होने की अवधारणा का उल्लेख करते हैं। इस अतिवाद और अन्तर्विरोध की चर्चा दयाजी ने 'कंसिडरेशंस' पुस्तक में भी की है और वहाँ सामाजिक उत्तरदायित्व का निरूपण इस प्रकार किया है कि हम जो कुछ भी करते हैं, बल्कि कहें

हमारे जाने–अनजाने हमसे जो कुछ भी घटित होता है, उसके सामाजिक परिणाम होते हैं, जो देश और काल की असीमता के कारण असीम होते हैं। इसे वे एक 'मिथ' कहते हैं जिसको उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न करने के उसके कर्तव्य और भगवत्कृपा–विषयक कैथोलिक ईसाई–सिद्धान्त का उल्लेख भी करते हैं। यह भी उनके अनुसार उसी प्रकार की एक अन्तर्विरोध–पूर्ण स्थिति है।

दयाजी का इस अतिवाद का और इसके अन्तर्विरोध का निरूपण, हमारे विचार में, बहुत सतही है और उसी स्तर पर वह ठीक भी लगता है, किन्तु थोड़ा गहराई से देखने पर ये तथाकथित अतिवाद और अन्तर्विरोध वास्तविक नहीं रहते। इसके लिए हम यहाँ तीनों उदाहरणों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

सुकरात का उदाहरण दयाजी ने समाज–केन्द्रकतापरक अतिवाद के लिए दिया है। सुकरात को एथेंस के युवकों को बहकाने के लिए न्यायालय ने मृत्युदंड दिया था। सुकरात इस निर्णय को असत्य पर आधारित मानता था और न्यायपालकों को भ्रांत मानता था। ऐसी अवस्था में उसे, दयाजी के अनुसार, जेल से भागने का अवसर मिलने पर भाग जाना चाहिए था। किन्तु वह नहीं भागा उस कानून की रक्षा के लिए जिसे वह पूर्ण रूप से अस्वीकार करता था। यह दयाजी के अनुसार स्पष्टतः सामाजिकता को परमता का स्थान देना है। किन्तु यह सही नहीं है। सुकरात के निर्णय के वास्तविक तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए हम महात्मा बुद्ध का उदाहरण देंगे जो दयाजी ने आत्मकेन्द्रकता के अतिवाद के रूप में दिये है : बुद्ध राज्य, पत्नी और बच्चे को छोड़कर आत्म–साधना के लिए चले गए थे। इस पर न केवल उन्हें किसी ने अनुचित नहीं कहा बल्कि उन्हें उच्चतम सम्मान दिया। किन्तु मान लें कि वे बिना दोष के जेल में डाल दिये जाते और इस कारण वे जेल से भाग जाते, तो क्या उन्हें कोई इस आत्मकेन्द्रित समाज में भी आदर देता? हमारा विचार है कि वह नहीं देता, क्योंकि इससे किसी मूल्य की रक्षा नहीं होती : अब, यह दूसरा प्रसंग प्रथम से मौलिक रूप से भिन्न है–पहला प्रसंग उच्चतर मूल्य के त्याग का है और दूसरा मूल्य के लिए आत्म बलिदान करने या उसे मूल्य स्वीकार नहीं करने की बीच चुनाव का। कोई कह सकता है कि यदि कानून या उसके निर्णायक अधिकारी भ्रांत हैं तो उस निर्णय को स्वीकार करने में क्या औचित्य है? इसका उत्तर होगा कि मूल्य उस भ्रांति का निराकरण करने में है, अपने शरीर की रक्षा में नहीं। इसका उत्तर हो सकता कि इस भ्रांति का निराकरण जेल से भाग कर और तब लोगों को समझा कर भी किया जा सकता था, ऐसा करने से आत्मरक्षा के मूल्य का भी अनुसरण होता और भ्रांति का निराकरण भी। इसका उत्तर होगा कि सुकरात के आत्मबलिदान ने सुकरात को नैतिकता की उच्चतम भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया, भागने का कर्म उसे निम्नतम् भूमि पर नहीं तो लोक–साधारण भूमि पर तो ला ही देता–केवल दूसरों की दृष्टि में ही नहीं उसके अपने तत्त्व में भी, और इससे इतिहास दिव्य कर्म के एक महानतम उदाहरण से वंचित रह जाता। प्लेटो के अपोलोजी, क्रीटो और फीडो संवादों को पढ़कर कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि सुकरात के लिए सर्वोपरि आत्मा नहीं थी। ("मित्र के प्रति वफादारी" को यदि कोई अन्य–केन्द्रकता के रूप में देखता है तो

वह मैत्री के तत्त्व को समझने की असमर्थता ही प्रकट करता है।) यहाँ गांधीजी का उदाहरण उपयोगी होगा–गाँधीजी भारत के लिए विदेशी सरकार द्वारा बनाए गए कानून के प्रति कोई प्रतिबद्धता अनुभवं नहीं करते थे। इसी प्रकार जयप्रकाश नारायण और सुभाषचन्द्र बोस भी नहीं करते थे। इसी से तीनों इन कानूनों के कानूनों को तोड़ते थे। अब जयप्रकाश नारायण और सुभाष बोस जेल तोड़कर भाग गये जो इस कानून के प्रति अप्रतिबद्धता से संगत बात थी,किन्तु गाँधीजी नहीं भागे, क्योंकि गाँधीजी जेल से भागकर नहीं, जेल में रहकर उस कानून की अनुचितता अधिक गहराई से प्रकट कर रहे थे और दूसरी ओर सुकरात की इस दुष्टि के अनुसार देख रहे थे कि "अनुचित का प्रतिपादन अनुचित से नहीं करना चाहिए।" (क्रीटो) स्पष्टतः यह सब समाज–केन्द्रकता नहीं है।

अब ईसाइयों की आद्य पाप की अवधारणा के सम्बन्ध में : इस अवधारणा का कोई भी सम्बन्ध समाज से नहीं है, यह मनुष्य होने मात्र से है। और यह अवधारणा इससे कहीं अधिक गहरी बौद्धों के द्वादश निदान चक्र और अनादि वासना के सिद्धान्तों में और वेदान्त की अनादि अविद्या की अवधारणा में मिलती है। जहाँ तक प्रयत्न और भगवत्कृपा की अवधारणाओं में अन्तर्विरोध का सम्बन्ध है, यह अन्तर्विरोध किस प्रकार उन अन्तर्विरोधों में से एक है जो मानव–परिस्थिति में ही अन्तर्निहित हैं। इस पर यहाँ हम विचार नहीं कर केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि यह अवधारणा उतनी ही वैष्णव धर्म में भी मिलती है।

इस प्रकार समाज–केन्द्रकता और व्यक्ति की निर्धारितता एवं उत्तरदायित्व में अन्तर्विरोध के उदाहरणों में केवल मार्क्सवाद ही शेष बचता है। किन्तु द्रष्टव्य है कि न तो समाज–केन्द्रकता और उपर्युक्त अन्तर्विरोध में कोई अनिवार्य संबंध है और न यह अन्तर्विरोध ही उतना वास्तविक है जितना प्रकट है। उदाहरण के लिए प्लेटो का रिपब्लिक अत्यधिक समाज केन्द्रक है किन्तु उसमें व्यक्ति को समाज–निर्धारित नहीं माना गया है। इसी प्रकार 'लोकसंग्रह', 'महाजनो येन गतः सः पंथाः' और 'ऋण–त्रय' आदि की भारतीय अवधारणाएँ मूल्य व्यवस्था में समाज के महत्त्वपूर्ण स्थान की द्योतक हैं। यद्यपि यह सही है कि ये अवधारणाएँ समाज–निर्धारितता–परक नहीं हैं किन्तु उसी प्रकार सुकरात और प्लेटो की भी नहीं हैं। जहाँ तक निर्धारितता और उत्तरदायित्व में अन्तर्विरोध का प्रश्न है यह अंतर्विरोध मानवीय परिस्थिति का आकलन करने के बहुत से और प्रयत्नों में भी देखा जा सकता है जैसाकि हमने ऊपर भी कहा। ऊपर मानव–प्रयत्न और भगवत्कृपा का उदाहरण हम देख ही चुके हैं, इसी प्रकार अनादि अविद्या और मुक्ति की अन्वेष्यता में, कर्मफल के अटूट चक्र और कर्म के प्रति उत्तरदायित्व में भी यह विरोध देखा जा सकता है। किन्तु ये सब अन्तर्विरोध वास्तविक नहीं हैं। उदाहरण के लिए समाज–निर्धारितता और समाज के प्रति उत्तरदायित्व को ही लें। सर्वप्रथम, समाज के प्रति उत्तरदायित्व का सम्बन्ध समाज के प्रति ऋण से है, समाज से निर्धारितता से नहीं। प्रतिपत्ति यह है कि 'व्यक्ति जो कुछ है वह समाज की बदौलत है' तब उसका भी कर्तव्य है कि वह उसे कुछ दे'। ठीक यही बोध यज्ञ की अवधारणा में भी है। प्रतिपत्ति यह नहीं है कि 'क्योंकि समाज व्यक्ति का कारण और व्यक्ति समाज का कार्य है इसलिए व्यक्ति समाज के प्रति

उत्तरदायी है।' अब जहाँ तक इस तथ्य का संबंध है कि यदि व्यक्ति समाज से निर्धारित है तो वह स्वतंत्र कर्ता कैसे हो सकता है, अथवा मार्क्सवाद की पदावली में कहें तो, यदि मेरे विचार वर्ग–निर्धारित हैं तो वे सही और गलत कैसे हो सकते हैं? और यदि वे स्वयं में सही और गलत नहीं हैं तो फिर मेरे लिए कुछ कर्तव्य कैसे रह जाता है ? तो इसका उत्तर होगा कि समाज से निर्धारण में युक्त चिन्तन और उचित–अनुचित के विवेक की सामर्थ्य भी सम्मिलित है, यह निर्धारण न भौतिक प्रकार का है और न पाशव प्रकार का, यह मानवीय प्रकार का है। उदाहरणतः हम भाषा समाज से सीखते हैं, उसके बिना कोई व्यक्ति भाषा–ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता, भाषा के बिना वह विचार में समर्थ नहीं हो सकता। किन्तु न तो भाषा की समाजात्मकता व्यक्ति द्वारा उसके प्रयोग की स्वतन्त्रता की निषेधक होती है, न विचार की भाषा–मूलकता (और समाजमूलकता भी) व्यक्ति के स्वतंत्र चिन्तन में बाधक होती है, इससे वह उचित–अनुचित के विवेक में भी समर्थ होता है। इस प्रकार वास्तव में सामाजिक निर्धारण व्यक्ति–स्वातंत्र्य की तर्कतः चाहे न भी सही किन्तु तथ्यतः अनिवार्य पूर्वापेक्षा है। वास्तव में निर्धारण और स्वातंत्र्य में अन्तर्विरोध देखने में भ्रांति का आधार 'मानव' और 'समाज' पदों का परस्पर विरोधी पदों के रूप में प्रयोग है, जो कि दयाजी ने किया है और प्रायः सभी करते हैं। किन्तु यह सही नहीं है। 'मानव' पद 'व्यक्ति' और 'समाज' दोनों पदों का समावेश करता हैं और इससे दोनों का समान रूप से विशेषण भी हो सकता है, और दूसरे, 'व्यक्ति' और 'समाज' पद भी सब प्रसंगों में परस्पर विरूद्ध नहीं हैं, कुछ प्रसंगों में ये सहयोगी हैं, कुछ में पूरक, और कुछ में विरूद्ध भी हैं। किन्तु इनको अधिकांशतः विरूद्धों के रूप में ही देखा गया है, क्योंकि तार्किक विचार का स्वभाव है कि वह परस्पर व्यावर्त्तक युगलों के द्वारा ही उपचारित होता है। किन्तु ऊपर हमने भाषा का ही उदाहरण दिया, यह व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति का भी माध्यम होती है और व्यक्तियों में परस्पर संप्रेषण की भी, किन्तु अपने सत्व में यह निर्वैयक्तिकतया सामाजिक होती है। भाषा का केवल एक ही पद व्यक्तिवाचक है और वह है 'मैं'। किन्तु यह सर्वनाम भी है और केवल तभी निजवाचक होता है जब वक्ता स्वयं उद्देश्य होता है। किन्तु इस प्रयोग में यह निजता भी नितान्त निजी नहीं होती, यह 'अन्य के प्रति' निजता होती है, दूसरी ओर स्वयं भाषा में यह 'सर्वनाम' मात्र है जिसके लिए सब निजताएँ समान हैं।

किन्तु 'व्यक्ति' और 'समाज' पद कुछ स्थितियों में विरूद्ध भी होते हैं। उदाहरणतः 'प्रजातंत्रवाद मुख्यतः व्यक्ति–केन्द्रक व्यवस्था है और समाजवाद समाजकेन्द्रक। रूसो और जोह्न रॉल्स' की समाज की अवधारणाएँ, जो प्रजातंत्रवादी अवधारणाएँ हैं, समाज को व्यक्ति निर्णयमूलक के रूप में कल्पित करती हैं। प्रजातंत्रवाद और समाजवाद के विपरीत सामन्तवाद व्यक्ति –निरपेक्ष सामाजिकता है और इसलिए वह समाज–केन्द्रक व्यवस्था नहीं है। समाज–केन्द्रक व्यवस्था या तो प्लेटो के रिपब्लिक में है अथवा मार्क्स–एंजल्स के ग्रन्थों में, किन्तु ये दोनों आदर्श कल्पनाएँ हैं, पाश्चात्य सभ्यता की वास्तविक स्थिति नहीं।

किन्तु दयाजी कह सकते हैं कि उन्होंने 'समाज–केन्द्रक' पद का प्रयोग केवल उस अवधारणा के लिए किया है जिसमें अर्थ का केन्द्र 'अन्य' या 'हम' होते हैं, 'मैं' नहीं।

उदाहरण के लिए ईसा ने अन्यों को पाप के फल से मुक्त करने के लिए आत्मबलिदान किया, दूसरी ओर बुद्ध ने आत्मज्ञान के लिए अन्यों के दुःख की उपेक्षा की। दूसरे, अन्यों के पाप की अपने बलिदान द्वारा शांति की भारत में अवधारणा ही नहीं है। यह सही है, किन्तु क्या यह ईसाई अवधारणा वास्तव में पाश्चात्य सभ्यता के व्यवहार, अथवा उसके विचार को भी, विशेषित करती है, उदाहरण के लिए, किसी पाश्चात्य दार्शनिक ने अपनी नीति मीमांसा में इस अवधारणा को आधार नहीं बनाया, दूसरी ओर, यह अवधारणा भारत में कहीं भी नहीं मिलती है, यह बात भी नहीं है। उदाहरण के लिए शिव के गरल–पान में इस अवधारणा का संकेत है, इसी प्रकार, अपने ऊपर आपत्ति लेकर पुत्र, पत्नी आदि पर आने वाले दैव कष्टों का निवारण करना, परिवार के किसी व्यक्ति के कर्म–जन्य कष्टों के निवारण के लिए किसी अन्य का तपस्या करना या जप करना, ये विधान यहाँ प्रायः सर्वत्र मिलते हैं। किन्तु ये हमारे समाज या दर्शन में प्रतिबिम्बित नहीं मिलते। जहाँ तक मार्क्सवाद या अन्य समाज–चिन्तनों में व्यक्ति को समाज के प्रति उत्तदायी मानने का प्रश्न है, वह सर्वथा दूसरी बात है और यह विचार हमारे यहाँ तीन ऋणों के रूप में प्रतिष्ठित मिलता है।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति को दयाजी ने समाज–केन्द्रक के विपरीत आत्म–केन्द्रक कहा है। इस केन्द्रकता का एक मुख्य लक्षण उनके अनुसार 'अन्य के प्रति चिन्ता' का अधिकतम अवमूल्यन है। यदि पाश्चात्य सभ्यता को "अन्य की उपस्थिति के प्रति चिन्ता" से लक्षित करें और "चिन्ता" का अर्थ "महत्त्व की चेतना" करें तो सम्भवतः यह पाश्चात्य संस्कृति का अधिक सही निरूपण होगा और यह भारतीय संस्कृति से उसकी भिन्नता को भी अधिक सार्थक रूप से व्यक्त करेगा। किन्तु यहाँ हम पाद–टिप्पणी के रूप में यह और जोड़ना चाहेंगे कि यह लक्षण या वैशिष्ट्य ऐसा ही है जैसा मनुष्य की शरीर–व्यवस्था में अन्य सब प्राणियों से भिन्न हँसने की योग्यता का प्रावधान होने से मनुष्य को उससे परिभाषित करना।

भारतीय संस्कृति का 'आत्मकेन्द्रक' संस्कृति के रूप में चित्रण अंशतः उपयुक्त है, किन्तु केवल अंशतः ही, क्योंकि यज्ञ की अवधारणा को भी इसी संस्कृति ने जन्म दिया था जिसमें 'अन्य की चिन्ता' आधारभूत है और 'अन्य' केवल मानवीय ही नहीं बल्कि सार्वभौम है। उत्तरवैदिक काल में 'अहं' और 'त्वं' के तात्त्विक अभेद की दृष्टि का आविर्भाव हुआ, किन्तु यह दृष्टि आरंभ में मुख्यतः बौद्धों में प्रतिष्ठित हुई, ब्राह्मणों में नहीं। उदाहरणतः संस्कृत काव्यों, पुराणों और स्मृतियों में यह दृष्टि प्रायः अनुपस्थित मिलती है। दयाजी अवतार और बोधिसत्व की अवधारणाओं को अपवाद कहते हैं जबकि वास्तव में ये अवधारणाएँ काव्य, पुराण और सामान्य जन जीवन की प्राण थीं। यहाँ आवन्तरतः यह भी द्रष्टव्य है कि अर्थशास्त्र और कामसूत्र इसी काल के जीवन्त ब्राह्मण–मानस की उपज थे 'अतिक्रामी आत्मा की अवधारणा के फलस्वरूप क्षय–ग्रस्त' मानस की नहीं, जैसा कि दयाजी कहते हैं।

इसके बावजूद भी आत्मकेन्द्रकता भारतीय संस्कृति को महत्त्वपूर्ण रूप से विशेषित करती है, इसमें संदेह नहीं। केवल इसी ने बौद्ध और वेदांतिक अद्वैत–दृष्टि और सांख्यीय

अतिक्रामी प्रेक्षकत्व और विवेक–दृष्टि पायी और शंकर के बाद यह दृष्टि भारतीय समाज की प्रमुखतम दृष्टि बन गई। दयाजी द्वारा इस दृष्टि का निरूपण प्रायः प्रायः सही है, किन्तु इससे सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष से हम सहमत नहीं हैं। वह यह कि "अन्य के प्रति चिन्ता (अन्य–परकता) नीति का मूल है और परिणामतः भारतीय संस्कृति नैतिक नहीं होकर अतिनैतिक है।" यदि ऐसा है तब "आत्मार्थे सर्वत्यजेत्" में कैसा आदेश है? दयाजी का उत्तर है कि यह नीति के अतिक्रमण का आदेश है। मान लें, किन्तु तब 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे' में कैसा आदेश है ? दयाजी कम से कम इसे नैतिक आदेश ही मानेंगे। तब यह आदेश अन्तिम आदेश के लिए आवश्यक है या नहीं ? वास्तव में वेदांत–ग्रन्थों में अधिकारी की चर्चा में नीति के अतिक्रमण में नीति की अनिवार्य पूर्वापेक्षा सर्वत्र स्वीकृत है। यदि ऐसा है तब भारतीय संस्कृति में नीति की अवहेलना नहीं होकर उससे उच्चतर भूमि पर आरोहण की दृष्टि है।

किन्तु वास्तव में नीति की परिभाषा 'पर हित चिन्ता' नहीं की जा सकती, यह परिभाषा 'आत्म–सिद्धि' करना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। यहाँ प्लेटो के क्रीटो संवाद का स्मरण स्थाने होगा जिसमें सुकरात जेल से भागने के परामर्श को अस्वीकार करते हुए कानून तोड़ने से जिनको हानि होगी उनमें आत्मा की गणना सबसे पहले करता है, उसके बाद मित्र और देश का उल्लेख करता है। इसके अतिरिक्त, सर्वसम्मत रूप से स्वीकृत नैतिक आदर्श ब्रह्मचर्य, सत्य और निष्कामता को लिया जा सकता है। इनमें पहले और तीसरे में स्पष्टतः अन्य की अपेक्षा नहीं है और दूसरे में केवल प्रकटतः ही अपेक्षा है, वस्तुतः नहीं, क्योंकि सत्य का तत्त्व सही कहने में नहीं है बल्कि स्वयं में सत्यपरायण होने में है। दयाजी के नीति–विषयक मत के पक्ष में अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है यह लौकिक जीवन की साधना है अति–लौकिक जीवन की नहीं, और इसमें पर–हित भी सम्मिलित होता है, जबकि अतिलौकिक की भारतीय अवधारणा में इतर केवल अनात्म है। किन्तु नीति की लौकिकता विषयक अवधारणा में भी पर–चिन्ता स्वयं में नहीं बल्कि श्रेयस् की सिद्धि के रूप में ही गृहीत होती है।

इस प्रसंग में एक और उदाहरण उन अस्तित्ववादियों का लेना स्थाने होगा जिनके अनुसार अन्य की विद्यमानता उद्विग्नताजनक और भयावह होती है। नैतिकता का आधार परनिष्ठा होने पर अस्तित्ववाद का यह सिद्धान्त अनैतिक हो जाएगा। किन्तु यह संप्रदाय नीति का तत्त्व पर–निष्ठा में नहीं देखकर आत्मप्रतिबद्धता और आत्मप्रामाणिकता में देखता है। इसी प्रकार कांट नीति का तत्त्व संकल्प की शिवता या श्रेयस्ता में देखता है जो आत्मा की अपने अत्यन्तातिक्रामी स्वरूप (ट्रांसेडेंटनेस) में प्रतिष्ठा और इस प्रकार व्यवहार (फिनॉमिनेलिटी) से मुक्ति है। यद्यपि अस्तित्ववादी सार्त्र की बैड–फेथ की अवधारणा कांट की अवधारणा के ठीक विपरीत जैसी है किन्तु पर–निष्ठता की दृष्टि से ये दोनों समान हैं : इनमें नीति का मूल पर की विद्यमानता नहीं है, वे सूत्र वास्तव में नैतिक बोध की निरहंकारता और अतिक्रामी आत्मतत्त्व में आत्म–पर के अभेद के प्रतिपादक कहे जा सकते हैं, इतर के इतरत्व की अनिवार्यता के नहीं। कांट के नीति–विषयक सभी सूत्र संस्कृत के नीति–विषयक सुभाषित–संग्रहों में कहीं भी देखे जा सकते हैं।

यह सही है कि भारत के दार्शनिकों ने नीति पर विचार नहीं किया, इसे वे केवल स्मृतिकारों का विषय ही मानते थे। किन्तु इसका अर्थ यह है कि 'नैतिक आचरण क्या है–क्या नहीं' इसे वे सामाजिक परम्परा द्वारा निर्धार्य मानते थे और नीति का तत्त्व आत्म–साधना में मानते थे। निश्चय ही इस दृष्टि से बहुत अहित भी हुआ, यहाँ नैतिक आचरण सृजनात्मकता से रहित, जड़ और परमार्थ से विच्छिन व्यवहार का विषय हो गया जिससे परमार्थ और व्यवहार में ऐसे अन्तर्विरोध का निर्वाह भी सम्भव हो सका कि आत्म–पर–भेद को अविद्यामूलक उपाधि मानने वाले वेदांती भी व्यवहार में वर्ण–जाति–भेद को अलंध्य मानकर चल सके। किन्तु इसका वास्तविक कारण आत्मकेन्द्रकता नहीं थी बल्कि सांस्कृतिक वार्धक्य था। अन्यथा व्यवहार और परमार्थ का और इस प्रकार नैतिक बोध और नैतिक आचरण के तत्त्वों के आधारभूत विच्छेद कांट में भी मिलता है, और वह नीतिमीमांसा के सन्दर्भ में ही। वह भेद किसी भी अर्थ में वेदांत से कम और सांख्य से भिन्न नहीं है। किन्तु यह भेद–बोध कभी अनीति के लिए छूट के रूप में नहीं देखा गया। दूसरी ओर कांट के समान ही भारत में भी नैतिक आचरण के मानदंड के रूप में 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' को स्वीकार किया गया और भारत के समान ही पश्चिम में मध्ययुगों में नैतिक जड़ता और वर्तमान काल में अनैतिकता की कोई कमी नहीं मिलती। एक गाल पर तमाचा मारने वाले को दूसरा गाल दिखाने का आदेश देने वाले ईसा के अनुयायियों ने जिस प्रकार ईसाइयत का प्रसार किया और जिस प्रकार वे "शांति के लिए शस्त्र–संग्रह" के सिद्धान्त और व्यवहार का प्रतिपादन और आचरण कर रहे हैं वह सब हम देख ही रहे हैं। जहाँ तक दार्शनिकों द्वारा नैतिक चिन्तन का प्रश्न है, पश्चिमी दर्शन के एक प्रमुख सम्प्रदाय अनुभववाद ने नैतिक बोध को निराधार, अथवा रियायत करते हुए, 'अविचार्य' माना है और मनोविश्लेषण, अस्तित्ववाद और फिनॉमिनालोजी आदि में इसके प्रति असहानुभूति की कोई कमी नहीं है।

तीसरा व्याख्यान कर्म पर है। इस व्याख्यान में कर्मविषयक केवल हिन्दू–दृष्टि पर ही विचार किया गया है। किन्तु उस दृष्टि का भी यह नितान्त अपर्याप्त, और कुछ स्थलों पर अयुक्त भी, निरूपण है। इसकी अपर्याप्तता विशेषतः यज्ञीय कर्म को लेकर है, उसके स्वरूप पर दयाजी ने तनिक भी विचार नहीं किया है। उन्होंने मुख्यतः गीता पर ही विचार किया है जो हमें नितान्त अयुक्त प्रतीत होती है। किन्तु व्याख्यान के आरंभ में उन्होंने कर्म में इतर व्यक्ति के स्थान और परिणामों पर थोड़ा विचार किया है। दो शब्द उसके सम्बन्ध में यहाँ कहना भी आवश्यक प्रतीत होता है। कर्म में अन्य व्यक्ति साधक या बाधक के रूप में प्रस्तुत होते हैं। अब, दयाजी के अनुसार कर्म–सिद्धि के लिए बाधक व्यक्तियों को या तो हमें अनुनय से मनाना होता है अथवा बलात् हटाना होता है। उनके अनुसार, दोनों ही रूपों में यह अन्य की (व्यक्ति के रूप में) अन्यता का हनन है और उसका अपने उद्देश्य की पूर्ति में साधन के रूप में प्रयोग है। अन्य का साधन के रूप में यह प्रयोग उस कर्म को, जो कर्म के नैतिक उद्देश्य से आरंभ किया गया था, अनैतिक बना देता है।"[27] अब, हमें यहाँ जो बात समझ में नहीं आयी वह यह कि विरोधी अन्य का

विरोध अनुनय अथवा बल–प्रयोग से ही क्यों हटाया जा सकता है, समझा कर क्यों नहीं हटाया जा सकता! और दूसरे, अनुनय या बल–प्रयोग उसे अन्य व्यक्ति के साधन या उपकरण में कैसे बदल देते हैं! अनुनय न तो हम पशु से करते हैं और न पत्थर से, केवल व्यक्ति से ही करते हैं, और उसमें युक्ति यही होती है 'कि यदि आप मेरी बात से सहमत नहीं हैं तो न सही, किन्तु मुझे अपने विचार के अनुसार कार्य करने दें, क्योंकि व्यक्ति के रूप में मुझे अपने विचार के अनुसरण का वैसा ही अधिकार है जैसा आपको!" बलात् हटाने में अन्य की अन्यता का निषेध अवश्य दीखता है किन्तु वास्तव में यह वहाँ भी नहीं है। इसमें यदि यह ध्यान रखा जाता है कि मेरे कर्म से विरोध करने वाले के उचित स्वार्थ का हनन नहीं हो रहा है और वह व्यर्थ मेरी स्वतंत्रता में बाधा डाल रहा है तब यह 'अनैतिक व्यक्ति' है और इस कारण वह 'अन्य व्यक्ति' ही है, क्योंकि हम यह समझ सकने की सामर्थ्य स्वीकार कर रहे हैं कि वह अनैतिक है और वह अपनी इस सामर्थ्य का उपयोग नहीं कर रहा है।

आगे दयाजी कहते हैं कि "व्यक्ति जब परिवार, समाज या देश के सदस्य के रूप में कार्य करता है तब उसके लिए एक सीमा तक मिथ्याचार (हिपोक्रेसी) अनिवार्य हो जाती है जोकि अनैतिक है।"[28] दूसरे शब्दों में, किसी समूह के सदस्य के रूप में हमारे लिए अनैतिक आचरण अनिवार्य हो जाता है। यहाँ भी सम्भवतः दयाजी नैतिक स्थिति में एक अपरिहार्य अन्तर्विरोध की ओर ही ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि एक ओर नैतिक आचरण के लिए समुदाय–समाज अनिवार्यतः पूर्वापेक्षित है और दूसरी ओर समुदाय का होना अनैतिकता को अनिवार्य बना देता है। किन्तु यदि दयाजी थोड़ा गहराई से देखें तो यह समझने में देर नहीं लगेगी कि साधारणतः समुदाय और उसके सदस्य नैतिकता को शिथिल रूप से ही अपनाते हैं और उसका सुविधा से संतुलन बनाये रखते हैं। दूसरे शब्दों में, साधारणतः समाज में, और साधारण वैयक्तिक जीवन में भी, व्यवहार–नीति का आचरण होता है प्राज्ञनीति का नहीं जो वास्तविक नैतिकता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति नैतिकता के प्रति पूर्णतः प्रतिबद्ध है–आठों पहर जागता रहता है तो उसे मिथ्याचार, अथवा कहें दिखावे, की आवश्यकता नहीं रहती, रहती भी हो तो वह उसे बरतता नहीं। 'उसे आवश्यक नहीं रहती' का अर्थ है कि समाज भी उससे इसकी अपेक्षा नहीं करता।

अब हम उनकी गीता की आलोचना पर संक्षेप में विचार करेंगे : दयाजी के अनुसार गीता में कर्म के विषय में दो विरोधी निर्देश हैं, एक कर्म–फल के प्रति ताटस्थ्य का और दूसरा ईश्वरार्थता अथवा धर्मसंस्थापनार्थता का। उनके अनुसार दूसरा आदेश प्रथम के विपरीत है क्योंकि दूसरे में सोद्देश्यता है। [(31–33)] इस आलोचना में 'निष्कामता' और 'ईश्वरार्थ' दोनों को समझने में कमाल की असमर्थता प्रकट होती है। 'निष्कामता' का अर्थ 'निष्प्रयोजन' है ऐसा दयाजी ने पता नहीं किस आधार पर समझा है, इसका अर्थ केवल प्रयोजन–सिद्धि के प्रति निरुद्विग्नता है। एक साधारण स्तर पर 'स्पोर्ट्समैन्स् स्पिरिट' में भी यह स्पष्ट है। अन्यथा, कोई कर्म निरुद्देश्य किया ही कैसे जा सकता है? हम उठकर चलेंगे भी तो या तो कहीं पहुँचने के लिए चलेंगे या फिर भ्रमण के लिए चलेंगे, जब तक इतने

विक्षिप्त नहीं हों कि बस यों ही उठकर चल दें। इस 'यों ही चलने' को तब 'कर्म' नहीं कहा जाएगा। अब इस निष्कामता या 'फलानासक्ति' का ही दूसरा नाम 'ईश्वरार्थता'– 'भगवत्समर्पण–भाव' है। 'ईश्वरार्थ' का अर्थ है 'कर्म को ईश्वर का आदेश मानकर करना' और उसके परिणाम–निर्धारण को अपनी सामर्थ्य से बाहर जानते हुए उसके प्रयत्न के विरूद्ध होने पर उद्विग्न नहीं होना।' इस प्रकार यह वास्तव में 'ईश्वरार्थता' निष्कामता' की व्याख्या मात्र है। कर्म के प्रति निष्कामता सार्थक तभी हो सकती है यदि कामना को या तो 'अनात्म' माना जाय अथवा भगवत्समर्पित भाव से किया जाय। इनमें पहली दृष्टि 'सांख्य योग' है और दूसरी 'भक्ति योग'। आगे दयाजी कर्म की 'दुःखजनकता' के सिद्धान्त की बात करते हैं, जो वे ही कर सकते हैं, क्योंकि उनकी बात का भारतीय मानस से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'कर्म मनुष्य को आत्म–बाह्य रखता है' इस विचार को प्रस्तुत करने के बाद वे कहते हैं–"कर्म का यह पक्ष इसे और गहरा मोड़ देता है–यदि कर्म नैतिक हो; क्योंकि तब दूसरों के दावे चेतना को निरन्तर व्याकुल रखेंगे और हम उस थोड़े से सुख से भी वंचित हो जाएंगे जो जीवन में हमें मिलता है। मानवता विशाल है और इसके कष्ट अपार हैं। इनसे बचने के लिए व्यक्ति को अपने में एक मानसिक अंधापन और बहरापन लाने का अभ्यास करना चाहिए जिससे वह अन्यों के दुःख–दर्द को देख–सुन नहीं सके।

"इसके अतिरिक्त, यदि कर्म नैतिक है तो व्यक्ति के लिए अपने कर्मों के फल की चिन्ता करना अनिवार्य है। ऐसे सन्दर्भ में निस्पृहा अनैतिकता का लक्षण है और इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि यह चिन्ता कर्म करने वाले के मन की शांति को भंग करती है या नहीं। बल्कि, मनुष्य को ऐसी परिस्थिति में उद्विग्न होना ही चाहिए, और यदि कोई दूसरों के दुःख से उद्विग्न नहीं होता तो वह मनुष्य नहीं है। गीता इस मौलिक अन्तर्द्वन्द को एक ओर छोड़ देती है और भगवदर्थ तथा निष्काम दो प्रकार के कर्म करने का उपदेश करती है।" (32) यहाँ हम सर्वप्रथम इससे आरंभ करेंगे कि गीता इस प्रश्न से बचकर नहीं निकलती बल्कि निरुद्विग्न रहने के लिए स्पष्टतः कहती है। अर्जुन का विषाद बन्धु–बान्धवों की मृत्यु और समाज में अव्यवस्था फैलने की सम्भावनाओं को लेकर ही था। इस विषाद के परिणामस्वरूप उसमें त्याग और करुणा की उदात्त भावनाओं का ही उदय हुआ था, कायरता और तामसिकता का नहीं और कृष्ण ने इसी मनोभाव पर कहा था कि "तू अशोचनीय पर शोक कर रहा है।" यदि थोड़ा ध्यान से देखा जाए तो कांट भी यही कहता है– उसके अनुसार, 'यदि आप पर–दुःख–कातर होकर दूसरे की सहायता करते हैं तो आपका वह कर्म "नैतिक" नहीं होगा क्योंकि तब आप अपनी भावुकता की प्रेरणा से वह कार्य कर रहे होंगे, प्राकृतिक मानसिकता (सेंसीबिलिटी) से ऊपर उठकर कर्तव्य–बोध से नहीं।" इस तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त से पृथक् भी, पर–दुख–कातर होने में नैतिक गौरव कैसे है ? यह क्या अधिक गौरव की बात नहीं है कि कोई दुखद परिस्थिति को विधि का विधान माने और दुःख निवारण को अपना कर्तव्य या विधाता का आदेश मानकर करे ? पर–दुःख–कातर होना और उससे प्रेरित होकर कुछ करना मानवीय है, अकातर भाव से अपने को निमित्त मानकर करना अतिमानवीय। यहाँ सहसा गाँधीजी के एक आचरण का

ध्यान आता है : क्वेटा में भयानक भूचाल आया था और उसमें बहुत लोग मरे और घायल हुए थे। गांधीजी ने इसे 'हमारे कर्मों का फल' ही कहा। इस पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर बहुत खफा हुए और उन्होंने इसे गांधी जी की भावना–शून्यता कहा। किन्तु भूचाल से आहत लोगों की सहायता गांधीजी ने सबसे अधिक की। अब इसे कर्म–फल की वैश्व व्यवस्था मानकर, या प्रभु की लीला मानकर यदि कोई निरुद्विग्न भाव से दुःखी लोगों के दुःख–निवारण के लिए अग्रसर होता है तो यह उच्चतर नैतिकता होगी या कि दुःख–कातर–भाव से कर्म–प्रवृत्ति उच्चतर नैतिकता होगी?

किन्तु इसका अर्थ यह कभी भी नहीं है कि दूसरों के दुःख–निवारण में प्रयत्नशील नहीं हुआ जाय, यद्यपि यह भी आवश्यक नहीं है कि हुआ ही जाय। यह उस सन्दर्भ या भूमिका पर निर्भर करता है जिसमें आप हैं। उदाहरण के लिए क्वेटा के भूचाल–पीड़ितों के सहायता के लिए गांधीजी गए, श्री अरविन्द नहीं गए, शायद उन्होंने कोई सहानुभूति भी प्रकट नहीं की। इससे श्री अरविन्द अनैतिक या नैतिकता के प्रति उदासीन नहीं हो गए, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कोई चित्रकार, दार्शनिक या कवि अपने देश पर आक्रमण होने पर यदि सेना में भर्ती नहीं होता तो वह राष्ट्र–विरोधी नहीं हो जाता।

चौथे व्याख्यान का शीर्षक है– "स्वातंत्र्य के परिप्रेक्ष्य।" इसमें स्वातंत्र्य–विषयक भारतीय और पाश्चात्य दृष्टियों का निरूपण है। पाश्चात्य दृष्टि को दयाजी ने स्पैंग्लर के अनुरूप 'फाउस्टीय' विशेषण दिया है और भारतीय दृष्टि का प्रतिनिधि वेदांत और सांख्य को माना है। स्वातंत्र्य का स्वरूप वे 'अन्य के पराभव' में देखते हैं। सो, वेदांतीय स्वातंत्र्य अन्य की सत्ता के निषेध में है और फाउस्टीय अन्य के नाशन में। दयाजी इन दो में मौलिक अन्तर नहीं देखते किन्तु तब भी, उनके अनुसार, इनमें यह भेद है कि फाउस्टीय में इतर की सत्ता अस्वीकृत नहीं है, क्योंकि वह होने पर ही उसके प्रति उद्विग्नता और उसके नाश की प्रेरणा हो सकती है।

अब, स्वातंत्र्य को अन्य के अभाव या पराभव के रूप में देखने का क्या औचित्य है, यह दयाजी ने नहीं बताया। यदि स्वतंत्रता का अर्थ या उसकी अनिवार्य पूर्वापेक्षा अनन्यता हो तो समाज का अस्तित्व ही नहीं हो। स्वातंत्र्य की इस अवधारणा के अनुसार समाज की विद्यमानता स्वातंत्र्य में बाधा की विद्यमानता होगी। ठीक बात यह है कि दयाजी ऐसा ही मानते हैं यद्यपि ऐसा वे स्पष्टतः कहते नहीं हैं। स्वातंत्र्य को अनन्यता या अन्याभाव से परिभाषित करने के मूल में तत्त्वमीमांसा के इस सिद्धान्त से व्यामिश्र होना है कि एक से अधिक द्रव्यों की विद्यमानता का अर्थ है उनका परस्पर सीमित होना। किन्तु यह परिसीमितता सदैव स्वातंत्र्य–बाधक नहीं होती, यह कांट और डेकार्ट के दर्शनों से और वेदान्त और सांख्य से भिन्न भारतीय दर्शनों से स्पष्ट है। व्यावहारिक स्तर पर अवश्य इतरत्व स्वातंत्र्य में बाधक हो सकता है किन्तु वह उसमें साधक भी हो सकता है, जैसे सुकरात के संवादों में और सत्संग की अवधारणा में उसे देखा जा सकता है। भक्ति–संम्प्रदाय में ईश्वर की अन्यता भी स्वातंत्र्य–बाधक रूप में नहीं देखी गई है। और फिर, यदि नैतिकता के लिए इतर की विद्यमानता को आवश्यक मानें, जैसाकि दयाजी मानते हैं, तब नैतिकता

भी स्वतंत्रता की बाधक होगी, इसी प्रकार स्वतंत्रता में चुनाव के लिए भी स्थान नहीं होगा। क्योंकि चुनाव भी चुनी जाने वाली वस्तुओं या वस्तुस्थितियों की अन्यता को पूर्वापेक्षित करता है।

जहाँ तक पाश्चात्य सभ्यता को 'फाउस्टीय' और 'फाउस्टीय' को "अन्य के नाश में आत्मलाभ देखने वाली" के रूप में परिभाषित करने का प्रश्न है, यह भी युक्त प्रतीत नहीं होता। इसे पाश्चात्य सभ्यता के मानस की एक वृत्ति तो कहा जा सकता है किन्तु उसका सामान्य स्वभाव नहीं कहा जा सकता। क्योंकि न तो सुकरात, प्लेटो या अरस्तू में इसकी कोई ध्वनि मिलती है और न ईसाई धर्म में, जिसमें मानव–भ्रातृत्व का सर्वोच्च स्थान है। हेगल और मार्क्स का द्वन्द्वन्याय भी एक पक्ष द्वारा दूसरे के ध्वंस में आत्मलाभ का न्याय नहीं है बल्कि दोनों पक्षों के उच्चतर स्तर पर संश्लेषण में आत्मलाभ का न्याय है।

मान लें कि पश्चिम में स्वातंत्र्य का परिप्रेक्ष्य 'अन्य के अस्तित्व के प्रति सशंकता' पर प्रतिष्ठित है और इस प्रकार पश्चिम का इतिहास "एक पक्ष द्वारा दूसरे को पराभूत करने के निरन्तर प्रयत्न का इतिहास है।" [42] तब इसका अर्थ होता है कि भारत का इतिहास संघर्ष से बचने के प्रयत्न का इतिहास होगा। किन्तु ऐसा है नहीं। तब दयाजी अद्वैतीय और फाउस्टीय दृष्टि–भेद को एक दूसरी मनःस्थिति में प्रतिफलित पाते हैं। उनके अनुसार, भारतीय इतिहास में लड़े गए युद्ध "चाहे कितने भी उग्र और सुदीर्घ रहे हों, ये कभी सिद्धान्तों के आधार पर नहीं लड़े गए, जैसे पश्चिम में।" [43] किन्तु इसके लिए प्रमाण ? दूसरे, फाउस्टीय में इतर क्या वैचारिक–सैद्धान्तिक है या कि जैविक? दयाजी के अनुसार यह वैचारिक–सैद्धान्तिक ही है, विरोधी व्यक्ति और समुदाय मूल्यों के ही वाहक हैं। किन्तु ऐसा आप किस आधार पर कहते हैं? दयाजी के अनुसार 'भारतीय दृष्टि के लिए व्यवहार–लोक असत् है और परिणामतः उसके संघर्ष और अन्य चर्याएँ भी निरर्थक हैं, जबकि पश्चिम के लिए व्यवहार–लोक वास्तविक है और परिणामतः उसके संघर्ष भी वास्तविक हैं, उसके लिए ये आदर्शों और मूल्यों के चरितार्थन के संघर्ष हैं। यहूदी, ईसाई, हेगेलीय और मार्क्सीय दृष्टियाँ सब इतिहास को एक सार्थक और मूल्यात्मक प्रक्रिया के रूप में देखती हैं। किन्तु तब भारत में भी रामायण और महाभारत के युद्ध आदर्शो और मूल्यों के लिए लड़े गए थे। इस पर दयाजी का कहना है कि वे ऐहिक युद्ध के रूप में नहीं बल्कि धर्म–युद्धों के रूप में देखे गए हैं जिनमें ईश्वर पापात्माओं को परास्त करता है और मनुष्य केवल मूक दर्शक है। [43-44] अब यह भी दोनों सभ्यताओं का भ्रांत निरूपण है। ईसाई, हेगेलीय, और मार्क्सीय दृष्टियाँ इतिहास को अवश्य लक्ष्योन्मुख प्रक्रिया के रूप में देखती हैं। बल्कि, उनके अनुसार इतिहास–वाहक व्यक्ति और समुदाय स्वार्थों और ईर्ष्या–द्वेषवश ही लड़ते थे, किन्तु उनसे एक अतिक्रामी ऐतिहासिक प्रयोजन भी सिद्ध होता था–वे इतिहास के उपकरण बनते थे। जहाँ तक संघर्षों की और इतिहास की धर्म–मूलकता का सम्बन्ध है, ईसाई इतिहास–दृष्टि पूर्णतः धर्म–दृष्टि है और हेगेलीय दृष्टि अतिक्रामी चित्सत्–मूलक। दूसरी ओर, बाल्मीकीय रामायण और महाभारत के युद्ध देव–दानवों के युद्ध नहीं हैं, रामायण का युद्ध सामाजिक मर्यादा की रक्षा के लिए उस मर्यादा के ध्वंसकों

के विरूद्ध लड़ा गया था और महाभारत का युद्ध अपने न्याय–संगत अधिकारों की रक्षा के लिए; और एकमात्र ये ही युद्ध विचारों और आदर्शों के लिए नहीं लड़े गए, इधर निकटवर्ती इतिहास में गुरू गोविन्द सिंह, शिवाजी और महाराणा प्रताप शुद्ध रूप से विचार और आदर्श के युद्ध लड़े। इस प्रकार भारत और पश्चिम में यह भेद नहीं है कि पहले के इतिहास के संघर्ष संघर्षकर्ताओं में मूल्यबोध के अभाव में हुऐ और दूसरे में मूल्य–बोध के आधार पर, बल्कि यह अंतर है कि पहले के लिए इतिहास की कोई अतिक्रामी सत्ता नहीं है और दूसरे के लिए इसकी एक अतिक्रामी सत्ता है।

पाँचवें व्याख्यान का शीर्षक है ''मानदंड की खोज।'' अब, मानदंड गुणात्मक भी हो सकता है और मात्रात्मक भी, और दोनों से भिन्न नैतिक, तार्किक आदि भी। किन्तु मात्रात्मक के अतिरिक्त सब मानदंडों को गुणात्मक में संगृहीत करते हुए कहा जा सकता है कि इस मानदंड को 'उत्कृष्टतर– निकृष्टतर' पदों से अभिहित किया जाता है और मात्रात्मक को 'अधिक और कम पदों से। किन्तु वास्तव में 'अधिक' और 'कम' पद सब प्रयोगों में मात्रात्मक नहीं होते, जैसे 'राम श्याम से अधिक सुन्दर है' में। अब 'स्वातंत्र्य' के साथ मात्रात्मक मानदंड का प्रयोग उचित है या कि गुणात्मक का ? इसका उत्तर हो सकता है कि यदि प्रसंग बाह्य बाधाओं का हो तो मानदंड मात्रात्मक होगा और यदि अनुभूति या संकल्प का हो तो मानदंड गुणात्मक होगा।

किन्तु स्वातंत्र्य की कोई भी अनुभूति या स्थिति उपस्थित, अनुपस्थित या संभाव्य बाधा के बिना हो सकती है? और क्या कोई भी बाधा स्वातंत्र्य की अनुभूति के प्रसंग के बिना हो सकती है ? यदि उत्तर नहीं में हो तो दोनों ही अवस्थाओं में मानदंड मात्रात्मक नहीं हो सकता। यह मात्रात्मक तभी हो सकता है यदि व्यक्तियों से प्रश्न करके उनके उत्तरों की तालिका को स्वातंत्र्य या उसके अभाव का वाचक माना जाय। अब इसे मानदंड मानना, जैसा कि आज माना जा रहा है, बुद्धि–विपर्यास ही माना जा सकता है, और कुछ नहीं। जो भी हो, स्वतंत्रता का मानदंड मात्रात्मक कैसे हो सकता है, इसके लिए दयाजी ने कोई युक्ति नहीं दी, कोई सिद्धान्त देना तो दूर की बात है। किन्तु यह उन्होंने अवश्य बार–बार दुहराया है कि यह दूसरों को खोजना चाहिए और जो उन्होंने नहीं खोजा वह उनके प्रमाद का द्योतक है। इसके लिए यहाँ हम एक उद्धरण देंगे। उनके अनुसार, ''राजनीति विज्ञान में शक्ति के उचित प्रयोग की समस्या सदैव आधारभूत मानी गई है। इसलिए यह आश्चर्य की बात है कि तब भी राजनीतिक स्वतंत्रता (लिबर्टी) के मात्रात्मक मानदंड खोजने की दिशा में कोई कार्य नहीं हुआ है।''[63–64] इसी प्रकार, ''इनमें से प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्ट स्वतंत्रता है जिसे परिभाषित और स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करना आवश्यक है.... इन क्षेत्रों के बीच और इनमें से प्रत्येक में अन्तर्निहित स्वतंत्रताओं के बीच और इन स्वतंत्रताओं के उद्‌भव की परिस्थितियों के बीच परस्पर सम्बन्धों की जाँच करना तथा इन्हें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के अध्ययनों का विषय बनाना आवश्यक

है।"[53] किन्तु इसे आवश्यक मानने पर भी दयाजी ने न केवल यही नहीं किया बल्कि यह किस प्रकार किया जा सकता है यह भी नहीं बताया।

इस व्याख्यान में दयाजी ने एक बात बहुत आधारभूत कही है, जो यद्यपि स्वतः स्पष्ट और सर्वविदित जैसी है किन्तु जो मात्रात्मक मानदंड की खोज के लिए, जो खोज दयाजी को यहाँ अभीष्ट है, बहुत घातक है। उनके अनुसार, "विभिन्न देशों और संस्कृतियों में (स्वतंत्रता को) मापने के लिए कोई एक मानदंड खोजना स्पष्टः गलत है।"[59] बिल्कुल ठीक, किन्तु संस्कृतिमूलक इस भेद का आधार क्या है ? यही नहीं कि प्रत्येक संस्कृति की विषयिता अपनी विशिष्ट होती है ? उदाहरणतः एक संस्कृति के व्यक्तियों के लिए पति–पत्नी का दूसरों के द्वारा चयन स्वतंत्रता पर बहुत बड़ा आघात होगा और दूसरी संस्कृति के व्यक्तियों के लिए यह एक स्वाभविक बात हो सकती है? आश्चर्य की बात यह है कि पिछले व्याख्यान में दयाजी स्वातंत्र्य की भारतीय अवधारणा को 'स्वरूप में अवस्थिति' के रूप में देखकर भी उसके लिए मात्रात्मक मानदंड की बात कर रहे हैं। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि वे व्यक्ति और समाज दोनों की सत्ता प्राकृतिक के बजाय मूल्यात्मक मानकर भी स्वातंत्र्य को, जो उन्हीं के अनुसार मनुष्यत्व का और सामाजिकता का सार है, किसी भी प्रकार मापनीय मानते हैं। जहाँ तक पश्चिम का प्रश्न है, उसके आधुनिक युग में ही मात्रात्मक मापनीयता को सत्ता का लक्षण मानने का आग्रह उत्पन्न हुआ है, किन्तु उसमें भी प्रजातंत्रवाद और मार्क्सवाद दोनों का दावा मनुष्य को स्वतंत्रता देने का ही है, और इन दोनों व्यवस्थाओं के पक्षधर इस बात पर एक–दूसरे का गला काटने पर उतारू हैं कि दूसरी मनुष्य की स्वतंत्रता का हनन करती है। तब ये किसी एक मात्रात्मक मानदंड को कैसे स्वीकार कर सकते हैं, यह बात समझ में नहीं आयी।

प्रकृत प्रसंग में दया जी के छठे और अन्तिम व्याख्यान का शीर्षक है "समाज : वास्तव या कि आदर्श–कल्पना ?" (रिआलिटी और उटोपिया!) इस विषय पर दयाजी ने 'सोसल फिलॉसफ़ी : पास्ट एण्ड फ्यूचर' के पहले अध्याय में भी विचार किया है। इसलिए इस व्याख्यान में कोई नया विचार होने की सम्भावना नहीं होनी चाहिए थी, केवल अधिक विस्तार और विवेचन ही हो सकता था। किन्तु ऐसा नहीं है, इसमें दयाजी पूर्व प्रतिपादित विचार से बहुत कुछ विरोधी बात भी कहते हैं। यद्यपि वे इन दो विरूद्ध प्रतिपादनों में संगति बैठाने का प्रयत्न भी करते हैं किन्तु वैसा वे कर नहीं पाते, क्योंकि वैसा किया जा ही नहीं सकता। इस व्याख्यान का आरंभ वे पूर्वप्रतिपादित की पुनरावृत्ति के साथ करते हैं : "समाज का क्या स्वरूप है! अथवा समाज की सही अवधारणा किस प्रकार की जा सकती है। .... यह प्रश्न ज्ञानात्मक प्रश्न के रूप में नहीं देखा जा सकता, इसे ज्ञानात्मक प्रश्न के छद्म–वेश में मूल्यात्मक प्रश्न के रूप में ही देखा जाना चाहिए। इस प्रश्न को ठीक प्रकार से समझा जाए तो यह मूल्यात्मक निर्णय की मांग है। इसमें परिपृच्छा है कि आप कैसा समाज चाहेंगे, अथवा कैसे समाज को श्रेष्ठतर समाज कहेंगे।"[68] किन्तु

आगे वे प्रश्न उठाते हैं, जोकि वास्तव में बहुतों ने उठाया है, कि तब समाज–विषयक सत्य का, यथार्थ का, कोई प्रश्न नहीं रहता, इसे वांछनीय रूप में गढ़ने का प्रश्न ही रहता है।

किन्तु तब समाचार और विचार पर ऐसा नियंत्रण नितांत उचित हो जाता है जो समाज को 'सही' दिशा में ले जाने के लिए उपयुक्त हो। अधिनायकवादी सरकारें वास्तव में यही करती हैं। ऐसी अवस्था में हिटलर और स्टार्लिन को दोष देना व्यर्थ हैं, क्योंकि ऐसे समाचारों और वक्तृताओं पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो जाता है जो समाज को अवांछनीय दिशा में ले जाएँ। दूसरे शब्दों में, समाज की उपर्युक्त अवधारणा के अनुसार 'सत्य वही है जो उसे होना चाहिए।' अपने मत के इस अनभिप्रेत निष्कर्ष का समाधान दयाजी इस प्रकार करते हैं–'स्पष्टतः यह वैज्ञानिक विषयनिष्ठता के उस प्रत्यय को छोड़ना होगा जो आधुनिक ज्ञान के अधिकांश क्षेत्रों में स्वीकृत है। यह हताशा की पराकाष्ठा है, यह विषयनिष्ठता और सत्य की खोज को एकबारगी और पूरी तरह से मृगतृष्णा मान लेना है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है। समाजवैज्ञानिक को समाजवैज्ञानिक के रूप में ऐतिहासिक प्रक्रिया में कोई पक्षपात नहीं करना चाहिए। आत्मचेतन विचार में यह महत् शक्ति है कि यह सब कुछ का विषयकरण कर सकता है, और तब इसका कोई कारण दिखाई नहीं देता कि यह क्यों उस विचित्र परिस्थिति के सामने, जो सामाजिक विज्ञानों में सामाजिक यथार्थ के रूप में उपलब्ध होती है, अपने को अशक्त पाये।

पुनः दृष्टव्य है कि "यह बोध कि सामाजिक विज्ञानों में सैद्धान्तिक अभ्युपगम अनिवार्यतः एक मूल्यात्मक आयाम से आविष्ट रहते हैं, इसे प्रकाश में लाने की चुनौती प्रस्तुत करता है। किन्तु वैज्ञानिक को इन अभ्युपगमों में निहित मूल्यात्मक परिणामों तथा मूल्य–प्रतिबद्धताओं के साथ अपने को नहीं जोड़ना चाहिए। उसका कार्य विभिन्न वैकल्पिक अभ्युपगमों और उनसे सम्बन्धित विभिन्न मूल्यात्मक परिणामों के तार्किक निगमन प्रकट करना है।"[71] यह स्पष्टतः दयाजी के पूर्व प्रतिपादन के विपरीत है। निश्चय ही आत्मचेतन विचार सब कुछ का विषयकरण करता है किन्तु उसकी विशिष्टता अपना विषयकरण करने की योग्यता है। यह विषयकरण विचार और अध्यवसायात्मक ज्ञान का आधार है। यह ज्ञान तथाकथित वैज्ञानिक और आधुनिक युग के पहले भी लोगों को था और उनमें विषयनिष्ठता की सामर्थ्य भी आधुनिक वैज्ञानिक युग जैसी ही थी। यदि 'विषयनिष्ठता की एक अनिवार्य पूर्वापेक्षा निराग्रहता को माना जाए तो यह बात विवादास्पद हो सकती है कि आधुनिक युग विज्ञानाग्रह–ग्रस्त नहीं है। किन्तु इस बात को छोड़ते हुए, जो यहाँ अवांतर है, यहाँ प्रश्न है कि यदि समाज वैज्ञानिक समाज, मूल्यान्वेषण आदि को मूल्य–निरपेक्ष विषयनिष्ठता के साथ देख सकता है तब समाज की अनिवार्य मूल्यविषयता (वैल्यू–ऑब्जेक्टनेस) का क्या अर्थ है ? दयाजी कहते हैं कि समाजवैज्ञानिक मूल्यनिरपेक्ष भाव से समाज के लिए वैकल्पिक निदर्श (आल्टर्नेटिव मॉडल्स) या आदर्श प्रकारताएँ (आइडियल टाइप्स) कल्पित कर सकता है और तब समाज के नेता उनमें से अपनी पसन्द के अनुसार निदर्श का वरण कर सकते हैं। इस प्रकार वह ज्ञानात्मक स्तर पर बना रह

सकता है। हम दयाजी के इस प्रस्ताव का विरोध नहीं करना चाहते, हमें यह भी मालूम है कि उनके इस प्रस्ताव का अनुसरण बहुत लोग बड़े प्रयत्न से करते हैं। किन्तु हमारा प्रश्न है कि तब दयाजी के इस विचार का क्या होगा कि समाज आधारभूत रूप से मूल्य–विषय है और समाज के सम्बन्ध में कोई भी प्रज्ञप्ति अनिवार्यतः मूल्यात्मक होती है! दयाजी इस अन्तर्विरोध की स्थिति से निकलने के लिए एक रास्ता निकालते हैं। वे कहते है कि "आदर्श प्रकारता आदर्श के साथ संयुक्त हो जाएगी और वह कर्म के लिए मूल्यात्मक निर्देशक बनेंगी।" (74) इतना ही नहीं, वे आगे कहते हैं "किन्तु यह सोचना कि कोई समाजविज्ञानों में किसी आदर्श–प्रकारता की रचना उसके आदर्श में परिणत होने की संभावना का वरण करते हुए कर सकता है, समाज विज्ञानों की प्रकृति को नहीं समझना है। ...... हम 'आर्थिक मानव', 'कामी मानव', 'वर्ग–मानव', 'जाति–मानव', आदि आदर्श प्रकारताओं (आइडियल टाइप्स) की रचनाओं से परिचित ही हैं। फायड और मार्क्स बीसवीं शताब्दी के घरेलू नाम हैं।" (75–76) मान लें कि यह सही है, किन्तु–आदर्श प्रकारता के आदर्श में कार्यान्वित होने से आदर्श–प्रकारता की मूल्य निरपेक्षता में क्या अन्तर पड़ता है, और किसी प्रकारता के मूल्य में क्रियान्वित होने में क्या कोई तार्किक अनिवार्यता है ? यह क्रियान्वयन क्या केवल एक संयोगिक बात नहीं है?

किन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि क्या उपयुक्त प्रकारता–रचनाएँ वास्तव में मूल्य–निरपेक्ष हैं? क्या ये गहरे मूल्यात्मक पूर्वाग्रहों, अथवा कहें विपर्यस्त पूर्वाग्रहों की उपज नहीं थीं? इसी प्रकार, क्या वैज्ञानिकता धार्मिकता से कम मूल्यात्मक है ? फिर चाहे वह कैसी भी मूल्यात्मकता क्यों नहीं हो। उदाहरणतः स्वातंत्र्य का मात्रा–परिमाण–योग्य वस्तु में रूपान्तरण और नापने के लिए मानदंड की खोज क्या कम कष्टसाध्य कार्य है? इसीलिए दयाजी ने यह कार्य किया भी नहीं है, केवल दूसरों को परामर्श दिया है कि उन्हें करना चाहिए। अब भला कोई यह कष्ट क्यों उठायेगा यदि उसके प्रति उसकी बहुत गहरी मूल्य–निष्ठा नहीं हो तो? किन्तु दयाजी से यहाँ हमारी दूसरी अपेक्षा है और वह यह कि वे यह बतायें कि वे समाज की मूलगामी मूल्यात्मकता–विषयक अपनी प्रतिपत्ति में और उसके मूल्य–निरपेक्ष वैज्ञानिक निर्धारण और वैकल्पिक निर्देशों के रूप में मूल्य–निरपेक्ष विषयकरण में कैसे संगति देखते हैं।

जैसाकि हमने दयाजी के समाज दार्शनिक चिन्तन की समीक्षा के प्रारंभ में कहा है कि, हमें दयाजी की समाज–विषयक दृष्टि पूर्णतः युक्त प्रतीत होती है, उसका विशदीकरण भी सामान्यतः युक्त ही प्रतीत होता है, किन्तु कहीं–कहीं उनसे हम अपने को असहमत पाते हैं। यहाँ हमने उन्हीं स्थलों पर अपना मत प्रस्तुत किया है जहाँ हम अपने को उनसे असहमत पाते हैं। लेकिन इस प्रकार की असहमति से उस विचार का महत्त्व कम नहीं होता बल्कि आगे बढ़ता है। फिर यह क्या कम महत्त्वपूर्ण है कि दयाजी सम्भवतः उस वर्ग में पहले दर्जे के व्यक्ति हैं जिन्होंने स्वातंत्र्योत्तर काल में अपने समाज दार्शनिक विमर्श को इतने आधारिक रूप में प्रस्तुत किया है। यह सम्भव है कि हमारी ये आलोचनाएँ पूर्णतः

भ्रांतिमूलक हों, हमने दयाजी की युक्तियों को ठीक से समझा ही नहीं हो। ऐसा भी होता है कि हम किसी वस्तुस्थिति को जैसे देख रहे होते हैं वह उसका केवल एक पक्ष होता है और दूसरा उसका दूसरा पक्ष प्रस्तुत कर हमें चकित कर देता है। सम्भव है हम केवल यही कर रहे हों! परन्तु यदि हम अपने उपर्युक्त प्रयास में ऐसा ही करते रहे हैं तब भी हमने जो प्रश्न उठाये हैं, उसका उत्तर दयाजी और उनके उत्तर–पूर्व सहयात्री विचारकों से अवश्य अपेक्षित है।

***

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

1. *सोसल फिलॉसफी : पास्ट एण्ड फ्यूचर का अर्थ तो भविष्यत् या भावी होता है किन्तु इस पुस्तक में वास्तव में समाज दर्शन की भावी स्थिति का अनुमान नहीं दिया गया है बल्कि समाजविषयक आदर्श संकल्पना के स्वरूप पर विचार है।*
2. *आगे इस पुस्तक की चर्चा नाम के उल्लेख के बिना होगी, पुस्तक की पृष्ठ संख्या को सन्दर्भांकित किया जायेगा। कंसिडरेश्न .... पुस्तक की चर्चा उसके नाम के उल्लेख के साथ होगी।*
3. *(क) द्रष्टव्य यशदेव शल्य, संस्कृति : मानव कर्तृत्व की व्याख्या , अ. 2. राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1969.*
   (ख) सत्ता विषयक अन्वीक्षा, अ. 11 और 12, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, 1987.
4. *सत्ताविषयक अन्वीक्षा, अ. 11 तथा ज्ञान और सत् अ. 11, राजकमल प्रकाशन, 1967.*
5. *सत्ता विषयक अन्वीक्षा अ. 12*
6. *प्रकृति की अवधारणासापेक्षता के लिए हमारी पुस्तक संस्कृति : मानव कर्तृत्व की व्याख्या के पौराणिकता और प्राकृतिक विज्ञान अध्याय द्रष्टव्य।*
7. *जोह्न रॉल्स – ए थ्योरी ऑफ जस्टिस, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी, प्रेस, 1972.*

संगमलाल पाण्डेय की गहन-ज्ञानमीमांसा

अम्बिकादत्त शर्मा

अद्वैत वेदान्त की लोकोत्तर से लोकायन तक की दार्शनिक चेतना से अनुप्राणित प्रो. संगमलाल पाण्डेय की दर्शन–साधना पर विचार–विमर्श का शुभारम्भ करते हुए हम आपका ध्यान एक छोटी–सी पुस्तिका ''प्रॉब्लेम्स ऑफ डेप्थ ऐपिस्टेमोलॉजी'' की ओर आकृष्ट करना चाहेंगे, जिसका सम्पादन उन्होंने 1987 में किया था। इस पुस्तिका में 1923 से 1953 के मध्य इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शन–विभाग से सम्बद्ध तीन वरिष्ठ आचार्यों– प्रो. पी.एस. बरेल्ल, प्रो. आर. डी. राणाडे, प्रो. ए.सी. मुखर्जी एवं इन तीनों आचार्यों से दीक्षित प्रो. आर.एन. कौल के एक–एक (कुल चार) निबन्धों का संकलन किया गया है। ''इसमें से तीन निबन्धों का प्रकाशन पहली बार कभी ''यूनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद स्टडीज''[1] में हुआ था और प्रो. राणाडे का निबन्ध ''वेदान्त, द कल्मीनेशन ऑफ इण्डियन थॉट'' नामक पुस्तक का कुछ अंश है। इस पुस्तक का सम्पादन प्रो. पाण्डेय ने 1970 में किया था। इसकी सामग्री वे नोट्स रहे हैं जिनका संग्रह प्रो. पाण्डेय ने स्वनामधन्य आचार्य राणाडे के साथ अध्ययन के दौरान किया था। इस प्रकार ''प्रॉब्लेम्स ऑफ डेप्थ एपिस्टेमोलॉजी'' के स्रोत चाहे जो भी रहे हों, इसका सम्पादन एवं इसकी विस्तृत भूमिका को लिखने का कार्य प्रो. पाण्डेय ने बड़े उत्साह के साथ किया है। यद्यपि इसमें संकलित चारों निबन्धों की प्रदत्त विषय–वस्तु एवं प्रो. पाण्डेय की प्रस्तावना में दिखाये गये उनकी निष्पत्तियों के मध्य सामरस्य को लेकर अनेक प्रश्न खड़े किये जा सकते हैं, तथापि प्रो. पाण्डेय की प्रस्तावना अपने–आप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। महत्त्वपूर्ण इस अर्थ में कि प्रो. पाण्डेय ने पहली बार इस उत्साही भूमिका के माध्यम से ''तुलनात्मक ज्ञानमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में इलाहाबाद स्कूल ऑफ फिलॉसफी को ''डेप्थ एपिस्टेमोलॉजी'' अर्थात् ''गहन ज्ञानमीमांसा'' के रूप में घोषित किया है।[2] प्रो. पाण्डेय अपने स्कूल की गहन ज्ञानमीमांसा को 1913 से 1953 के बीच विकसित हुआ मानते हैं। यह बात बहुत सराहनीय है कि इसी परम्परा के एक योग्य उत्तराधिकारी ''पूर्वांचल के किंवदन्ती'' प्रो. पाण्डेय का ध्यान इस ओर 1987 में गया और संसदीय रूप से इसकी घोषणा हुई। इतने लम्बे अन्तराल में प्रतिनिधि रूप चार ही निबन्धों को प्रो. पाण्डेय ने अपनी गवेषणात्मक भूमिका के साथ संकलित किया है, यह भी कम चौंकाने वाली बात नहीं, जबकि इसकी पृष्ठभूमि में उन सभी आचार्यों एवं उनके परवर्तियों

की महत्त्वपूर्ण कृतियों या उनके अंशों को भी रखा जा सकता था, जिनका उल्लेख प्रो. पाण्डेय अपने सम्पादन में कहीं भी नहीं करते हैं। यह बात विचारणीय है और स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखती है। इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि प्रो. पाण्डेय "गहन–ज्ञानमीमांसा" के प्रस्ताव को उस लघु–ग्रन्थिका के चार निबन्धों और उसमें भी विशेष रूप से केवल अपनी भूमिका तक सीमित मानते हैं। यदि सीमित नहीं तो, कम से कम, इस भूमिका को गहन–ज्ञानमीमांसा के उपोद्‌घात्‌ रूप में तो अवश्य प्रस्तुत किया गया है। उपोद्‌घात्‌; जैसा कि शंकराचार्य एवं वात्स्यायन ने लिखा और पहले से चली आ रही विचार–परम्परा को एक विशेष दिशा में मोड़ दिया। अतएव स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि इलाहाबाद स्कूल ऑफ फिलॉसफी के अन्तर्गत गहन–ज्ञानमीमांसा जैसे एक विचार का सूत्रपात तो हुआ, लेकिन उसके विकास की गति बहुत धीमी रही है। 1913 से 1953 और 1954 से 1987 तथा 1988 से आज 2005, लगभग एक शताब्दी का लम्बा समय अकादमिक रूप से किसी स्कूल के सूत्रबद्ध, व्यवस्थित एवं समीक्षित रूप से समृद्ध होने के लिए पर्याप्त होता है। इतने लम्बे समय में इस स्कूल के साक्षात्‌ उत्तराधिकारियों के द्वारा न तो इसको प्रचारित किया गया और न ही इस पर आगे विचार–विमर्श का ही कोई लेखा–जोखा प्राप्त होता है।

प्रस्तुत निबन्ध के माध्यम से हमारा उद्‌देश्य प्रो. पाण्डेय द्वारा प्रस्तावित गहन–ज्ञानमीमांसा के निहितार्थ को उसके अन्तस्‌ में जा कर समझना है। ध्यातव्य है कि "प्रॉब्‌लेम्स ऑफ डेथ्थ एपिस्टेमोलॉजी" नामक पुस्तिका में जिन चार निबन्धों को प्रतिनिधि आलेख के रूप में संकलित किया गया है, उनमें अधिकांशतः प्लेटो से लेकर काण्ट एवं हेगल और यहाँ तक कि विट्‌गेन्सटाइन तक के ज्ञानमीमांसीय चिन्तन की कुछ पहलुओं की चर्चा हुई है, लेकिन प्रो. पाण्डेय की भूमिका में गहन–ज्ञानमीमांसा का विचार जिस रूप में प्रस्तावित हुआ है, वह भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन की गहनता की ओर अधिक झुका हुआ है। वास्तव में यह तुलनात्मक ज्ञानमीमांसा है और इस दृष्टि से प्रो. पाण्डेय का प्रस्ताव महत्त्वपूर्ण, भविष्योन्मुख एवं बहुआयामिक कहा जा सकता है। अतएव इलाहाबाद स्कूल का दार्शनिक चिन्तन अपनी विशिष्टता में तुलनात्मक ज्ञानमीमांसा ही है। प्रो. राणाडे, प्रो. मुखर्जी एवं अन्य आचार्यों की रचनाओं में इस विशेषता को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्रो. मुखर्जी तो – "नेचर ऑफ सेल्फ" एवं "सेल्फ, थॉट एण्ड रियालिटी" में इस विधा के अग्रणी आचार्य प्रतीत होते हैं। इनकी तुलना मूलगामी है, जो उस भावभूमि की खोज करता है, जिसके कारण दो भिन्न मूल में प्रतिष्ठित ज्ञान सिद्धान्तों के विन्यास में समानता और एक ही मूल में प्रतिष्ठित ज्ञान सिद्धान्तों में भिन्नता प्रकट होती है। प्रो. पाण्डेय[3] भी गहन–ज्ञानमीमांसा के क्रमबद्ध अध्ययन का जो सुझाव देते हैं, उससे भी यही प्रतीत होता है कि पश्चिम की ज्ञानमीमांसा में गहरे उतरने, उसके "इथॉस" को समझने और फिर उससे उबरने के पश्चात्‌ ही भारतीय ज्ञानमीमांसा की गहनता एवं खुलेपन का अवगाहन किया जा सकता है। इतने

बड़े आह्वान के साथ प्रो. पाण्डेय ने भारतीय ज्ञानमीमांसा की गहनता को उद्घाटित करने के लिए जिन बिन्दुओं को विशेष रूप से रेखांकित किया है, उन्हीं बिन्दुओं की जाँच–पड़ताल यहाँ अभिप्रेत है।

(1) प्रथमतः प्रो. पाण्डेय की गहन–ज्ञानमीमांसीय दृष्टि द्विस्तरीय– ज्ञान–सिद्धान्त पर आधारित है।[4] साधारणतया हम अपनी संज्ञानात्मक उपलब्धियों को वस्तुनिष्ठ एवं आत्मनिष्ठ नामक दो प्रकारों में विभाजित कर सकते हैं। वस्तुनिष्ठ ज्ञान के अन्तर्गत प्रत्यक्षादि आनुभविक प्रमाणों से प्राप्त यावत् उपलब्धियों को रखा जा सकता है। यह हमारे सामान्य अनुभव का क्षेत्र अथवा अन्तर्वैयक्तिक जगत् है। यहाँ चेतना का अर्थ किसी वस्तु की चेतना होना, उसके नितान्त सविषयक होने से है। प्रो. पाण्डेय इसे ज्ञानमीमांसा का उत्तल धरातल "सर्फेश एपिस्टेमोलॉजी" कहते हैं। भारतीय दर्शन में प्रमाणों के स्वरूप, विभाग, विषय एवं विनियोग सम्बन्धी चिन्तन को उन्होंने इसी धरातल पर रखा है। साथ ही साथ प्रो. पाण्डेय के अनुसार पाश्चात्य दर्शन में बुद्धिवाद, अनुभववाद, समीक्षावाद तथा समकालीन पाश्चात्य दर्शन की वस्तुवादी, नव्य–वस्तुवादी, समीक्षात्मक वस्तुवादी, प्रत्ययवादी एवं अर्थक्रियावादी प्रवृत्तियों का ज्ञानमीमांसीय चिन्तन भी उत्तल धरातल की ज्ञानमीमांसा को ही प्रस्तुत करता है। ज्ञानमीमांसा का दूसरा धरातल आत्मनिष्ठ ज्ञान का है, जिसे प्रो. पाण्डेय गहन ज्ञानमीमांसा "डेप्थ एपिस्टेमोलॉजी" कहते हैं। आत्मनिष्ठ पद यद्यपि भ्रामक है लेकिन आत्मनिष्ठ (Subjective) ज्ञान से उनका तात्पर्य प्रथमदृष्टया विमर्शात्मक अन्तर्बोध, प्रतिबोधविदितं अथवा आत्मसंवित्ति से है।[5] यहाँ चेतना का अर्थ किसी वस्तु की चेतना नहीं, बल्कि स्वयं पर दृष्टिपात करने वाली प्रत्यङ्मुखी चेतना है। यह वही चेतना है जो अपनी ज्ञानमीमांसीय भूमिका में समस्त वस्तुनिष्ठ अनुभवों के प्रकाशन को सम्भव बनाते हुए अपनी तात्त्विक प्रस्थिति में "आत्मचैतन्य" में प्रतिष्ठित होती है। यूरोपीय ज्ञानमीमांसीय चिन्तन में अधिक से अधिक इसे ज्ञान की तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में सीमित कर दिया गया है, जबकि वास्तव में यह आधारभूत चेतना है। औपनिषद् चिन्तन में इसे विषय एवं विषयी के द्वैत से परे आत्मज्योति, स्वयंज्योति के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रो. पाण्डेय की गहन ज्ञानमीमांसा की सम्यक् अन्तर्वस्तु यही आत्म–चैतन्य है, जिसका बहुविध बखान उपनिषद् से अद्वैत वेदान्त पर्यन्त "तमेवभान्तंमनुभाति सर्वं, तस्यभासा सर्वभिदं विभाति" के रूप में किया गया है। इस सन्दर्भ में केनोपनिषद्, ज्योतिर्ब्राह्मण एवं तत्त्वप्रदीपिका विशेष रूप से दृष्टव्य है। वस्तुतः प्रो. पाण्डेय की गहन–ज्ञानमीमांसा का मूलभूत उद्देश्य स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्व की सिद्धि, उसकी ज्ञानमीमांसीय भूमिका एवं तत्त्वमीमांसीय प्रस्थिति को ही पुनरोद्घाटित करना है।[6] भारतीय ज्ञानमीमांसा के इसी पहलू को उजागर करते हुए उसे यूरोपीय ज्ञानमीमांसीय चिन्तन के शिखर पर स्थापित किया जा सकता है।

(2) द्वितीयतः, गहन ज्ञानमीमांसा पर विचारणीय महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि

उपर्युक्त द्विस्तरीय ज्ञान सिद्धान्त के विभाजन का युक्ति–युक्त आधार क्या है ? ध्यातव्य है कि इस प्रकार का कोई भी विभाजन अन्ततः सत्ता के स्तरीकरण का ही अनुगमन करता है। यदि यह स्वीकार किया जाये कि ज्ञानमात्र की उपलब्धि वस्तुनिष्ठ रूप से और वस्तुनिष्ठ प्रारूप में ही होती है, तो ऐसा मोनोलिथिकल ज्ञान–सिद्धान्त हमें उत्तल और गहन ज्ञानमीमांसीय स्तर के विभाजन की अनुमति नहीं देता। परन्तु यदि द्विस्तरीय ज्ञानसिद्धान्त अपेक्षित और उचित है, तो यही मानना पड़ेगा कि वस्तुनिष्ठ ज्ञान और आत्मनिष्ठ ज्ञान में मौलिक अन्तर है। किसी वस्तु का ज्ञान जिस रूप से और जिस प्रारूप में उपलब्ध होता है, उसी रूप और उसी प्रारूप में आत्मा के ज्ञान की सुसंगत व्याख्या नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि प्रत्येक वस्तुनिष्ठ ज्ञान में आत्मा का ज्ञान "प्रतिबोधविदितम्" के रूप में सन्निविष्ठ रहता है। अतएव आत्मा, जो नितान्त विषयी है, उसे एक अन्य विषय के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इलाहाबाद स्कूल के दार्शनिक चिन्तन में इस भेद को विभिन्न नामों एवं भिन्न–भिन्न तरीकों से उत्थापित किया गया है लेकिन उनकी सामान्य सहमति इस बात पर है कि आत्मा और उसके ज्ञान को एस. अलेक्जेण्डर के "डेमोक्रेसी ऑफ आइडियाज" के प्रदेश में नहीं रखा जा सकता, जहाँ सभी विचार एक समबद्धता और समान स्तर का उपभोग करते हैं।[7] ऐसा करना वास्तव में "ट्रांसेन्डेन्टल डिस्लोकेशन" के दोष से ग्रसित हो जाना है।[8] प्रो. पाण्डेय इसी दृष्टि को आत्मसात् करते हुए अपने विभाजन को शेष और अशेष प्रमाण के नाम से अभिहित करते हैं।[9] शेष प्रमाण से उनका तात्पर्य आनुभविक प्रमाण और उनकी अपूर्णता से है, जो वस्तुनिष्ठ रूप से ही किसी वस्तु की उपलब्धि कराने में ही उपरत हो जाते हैं। इसके विपरीत अशेष प्रमाण से उनका आशय आत्मसाक्षात्कारमूलक अपरोक्षानुभूति से है। प्रो. पाण्डेय इसे पूर्ण प्रमाण कहते हैं, क्योंकि यह वही शुद्धबोध है, जिसकी पूर्वापेक्षा में एवं जिससे अनुप्राणित होकर समस्त प्रमाण–प्रमेय व्यवहार फलित होते हैं। यहाँ हम टिप्पणी करना चाहेंगे कि भारतीय दर्शन में प्रमाणों का ऐसा स्तरीकरण अन्य रूपों में भी प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, वेदान्त–परिभाषाकार ने तत्त्वावेदक एवं अतत्त्वावेदक प्रमाणों का स्पष्ट विभाजन किया है।[10] वाल्लभ वेदान्त के प्रस्थानरत्नाकर नामक ग्रन्थ में अबाधितज्ञान एवं बाधयोग्यव्यतिरिक्त ज्ञान का विभाजन मिलता है।[11] बौद्ध नैयायिक एक ही प्रमाण की ग्राह्यता एवं प्रापकता में विलक्षण भेद करते हैं।[12] एक सीमा तक नैयायिकों का व्यवसाय एवं अनुव्यवसाय भी विशिष्ट प्रकार का भेद है, क्योंकि अनुव्यवसाय एक प्रत्यक्ष ही नहीं "सेकेन्ड ऑर्डर परसेप्शन" है।[13] यह बात ठीक है कि प्रो. पाण्डेय का द्विस्तरीय ज्ञान–सिद्धान्त अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से प्रभावित है, और उसमें सचमुच कुछ ऐसी विशिष्टतायें हैं, जिनके चलते उसे ज्ञानमीमांसीय चिन्तन में व्यापक स्थान प्रदान किया जा सकता है, तथापि उपर्युक्त रेखांकित भेदों के सन्दर्भ में भी उत्तल और गहन ज्ञानमीमांसा का विचार किया जाना चाहिये। ये भेद भी अपने आपमें गहरी ज्ञानमीमांसीय दृष्टि के साथ प्रसूत हुए हैं।

(3) तृतीयतः, प्रो. पाण्डेय की गहन ज्ञानमीमांसीय दृष्टि का एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु "लक्षणमीमांसा" है।[14] उनकी दृष्टि में लक्षणमीमांसा न केवल प्रमाणमीमांसा की पूर्वगामी, बल्कि एक मूलगामी अवधारणा है। इस बात को प्रो. पाण्डेय ने भारतीय प्रमाणमीमांसा के सन्दर्भ में और विट्गेन्सटाइन के क्रायटेरियोलॉजी के परिप्रेक्ष्य में जितनी गहनता के साथ प्रस्तावित किया है, उतनी ही गहराई के साथ यह विचारणीय भी है। प्रचलित अर्थ में लक्षण का प्रयोजन व्यावृत्ति और व्यवहार माना जाता है। लक्षण के इस प्रयोजन के आधार पर उसे किस प्रकार प्रमाणमीमांसा के लिए आधारभूत अवधारणा के रूप में स्वीकार किया जाये, यह बात समझ में नहीं आती। यदि हम कहें कि यह क्या है, जिसके चलते प्रमाणों में भेद होता है और यह भेद किस प्रकार ज्ञापित होता है, तो भी लक्षणमीमांसा से हम इस प्रश्न का समाधान नहीं कर सकते। हम सभी प्रमाणों का व्यवहार करते हैं और उनका भेद एक अनुभूत तथ्य है। जब हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो आनुषंगिक रूप से यह भी ज्ञान होता है कि हमें यह किस माध्यम से उपलब्ध हुआ। दूसरे, वह क्या है, जो प्रमाणों में भेद को उत्पन्न करता है, तो इसके लिए हमें लक्षणमीमांसा की शरण में नहीं, बल्कि करणमीमांसा की शरण में जाना पड़ता है। पुनः, प्रो. पाण्डेय अपने समर्थन में एक प्रसिद्ध वाक्य (लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तु सिद्धिः) का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि वस्तु की सिद्धि लक्षण और प्रमाण से होती है। यह बात न्याय परम्परा परीक्षा के प्रसंग में कहीं जाती है। इसका सीधा–सीधा तात्पर्य इतना ही है कि पहले हम किसी वस्तु का लोकप्रसिद्ध असाधारण धर्म के आधार पर लक्षण करते हैं, तदुपरान्त प्रमाणों के द्वारा उसकी परीक्षा करते हैं कि लक्ष्यार्थ वास्तव में किये गये लक्षण के अनुरूप है या नहीं। यहाँ प्रमाणमीमांसा को लक्षणमीमांसा पर आधारित करने से प्रमाणों की भूमिका लक्षण और लक्ष्यार्थ के मध्य साम्य–वैषम्य तक सीमित हो जाती है। जबकि "प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्" की दृष्टि से प्रमाणों की भूमिका व्यापक है।[15] हाँ, मानाधीनामेयसिद्धिः मानसिद्धिश्च लक्षणात्" को धान में रखते हुए प्रमाणमीमांसा के लिए लक्षणमीमांसा को महत्त्व प्रदान किया जा सकता है।[16] इस अभ्युपगम पर कुठाराघात करने वाले दार्शनिकों ने भी लक्षणमीमांसा को प्रमाणमीमांसा के लिए आधारभूत माना है। उदाहरण के लिए जयराशिभट्ट और श्रीहर्ष ने प्रमेयों की सत्ता को असिद्ध करने के लिए प्रमाणलक्षणों पर मार्मिक प्रहार किया है। उनकी तार्किक दृष्टि यह रही कि यदि प्रमाणों का सद्लक्षण सिद्ध न हो सके तो प्रमाण व्यवस्थित नहीं हो सकेंगे और प्रमाणों की व्यवस्था न होने पर प्रमेयवर्ग की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकेगी।[17] अतः यदि लक्षणमीमांसा को प्रमाणसिद्धि के लिए आधारभूत अभिगम मान भी लिया जाय तो तत्त्वोप्लवसिंह एवं खण्डनखण्डखाद्य के लक्षणोच्छेदक अभियान के समक्ष कोई लक्षण स्थिर नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति में यही कहना पड़ेगा कि लक्षणमीमांसा महज एक कामचलाऊ अवधारणा है। हम जैसे–जैसे उन पर विचार करते हैं, वैसे–वैसे वे विशीर्ण होते जाते हैं। पुनः, प्रो. पाण्डेय का अभिमत है कि प्रमाणों का विचार

आवश्यक रूप से प्रमाणों की परिभाषा के विचार को पूर्वापेक्षित करता है और परिभाषा एक प्रकार से लक्षण ही है।[18] यह बात अनुभव के प्राकृविमर्शी धरातल पर उचित नहीं कही जा सकती, जहाँ पामर भी प्रमाणों को सुनिश्चित रूप से परिभाषित किये बिना ही उनका नितरां प्रयोग कर रहे होते हैं। हाँ, विमर्शात्मक अनुभव के धरातल पर जहाँ हम अवधारणीकरण की प्रक्रिया से गुजरते हैं, वहाँ प्रमाणों को सुविचारित रूप से परिभाषित करने की आवश्यकता होती है। अतएव विमर्शात्मक अनुभव के धरातल पर लक्षणमीमांसा को कथंचित् प्रमाणों को परिभाषित करने हेतु उपादेय माना जा सकता है, क्योंकि अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भवादि दोषों से रहित किसी वस्तु का लक्षण ही उसका निजी स्वरूप होता है। यहाँ विचारणीय है कि जब प्रमाण उपलब्ध हो जाते हैं, तब हमें उनके लक्षण या परिभाषा की जरूरत पड़ती है। प्रमाणों के उपलब्ध होने से पूर्व ही उनके लक्षण या परिभाषा की जिज्ञासा, जैसा कि प्रो. पाण्डेय का अभिमत है, काकदन्तपरीक्षा के समान व्यर्थ नहीं तो और क्या है? एतदर्थ प्रमाणों की परिभाषा से ज्यादा महत्त्वपूर्ण प्रश्न प्रमाणों की उपलब्धता का है। इस प्रसंग में गहन–ज्ञानमीमांसीय प्रश्न यह होना चाहिए कि प्रमाण उपलब्ध ही कैसे होते हैं। यदि प्रमाण उपलब्ध हों तो अपनी सुविधानुसार उनका लक्षण बनाया जा सकता है, और उनके समुचित विनियोग से बहुत सारी समस्याओं का समाधान हो सकता है। लेकिन उनके उपलब्ध होने के पश्चात् ही यदि प्रमाणों की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाया जाये तो इसका समाधान स्वयं प्रमाणों की सीमा में रहते हुए नहीं किया जा सकता। इसके समाधान के लिए हम जिन प्रमाणों का आह्वान करेंगे, उनके विरोध में भी वही प्रश्न खड़ा रहेगा। ऐसी स्थिति में हमें प्रमाणों की परिधि से बाहर जा कर प्रमा और अप्रमा के मानदण्डों (क्राइटेरिया) को निर्धारित कर उनका आगमनात्मक सामान्यीकरण करते हुए प्रमाणों के प्रामाण्य को निश्चित करना होगा। अतएव प्रमाणनिरपेक्ष मानदण्डों के आधार पर प्रमाणों को प्राप्त करना हमारी बाध्यता हो जाती है, क्योंकि मानदण्डों को प्रमाणप्रसूत मानने पर अनवस्था और चक्रक दोष की प्रसक्ति होगी। इस प्रक्रिया में हमें लक्षणमीमांसा से कोई सहयोग प्राप्त होता नहीं दिखता। उदाहरण के लिए, यदि हम यह कहें कि यथार्थ वस्तु का अविसंवादी ज्ञान "प्रमा" है, तो हमें पहले ही जानना होगा कि वह यथार्थ क्या है, जिसके अनुरूप यह हमारा ज्ञान है। तभी हम कह सकते हैं कि यदि यथार्थ वस्तु ऐसी है, तो उसके अनुरूप यह ज्ञान प्रमा है, और यदि यह ज्ञान प्रमा है, तो वह जिस माध्यम से उत्पन्न होता है, उसे प्रमाण कहा जा सकेगा। इस प्रकार प्रमाणों के अवधारणीकरण का सम्पूर्ण प्रयास उनके सम्भावित लक्षण को पूर्वापेक्षित न कर इस बात पर आधारित हो जाता है कि हमारी तत्त्वमीमांसा कैसी है,[19] यथार्थ विषयक हमारी तात्त्विक पूर्वमान्यता क्या है ? यदि कोई कहे कि क्या तत्त्वमीमांसा के बगैर ज्ञानमीमांसा की चर्चा सम्भव नहीं, तो हम यही कहेंगे कि सत्ताशून्य जगत् में तर्क और प्रमाण का अन्वेषण व्यर्थ है। इस प्रकार यदि प्रमाणमीमांसा का आधार लक्षणमीमांसा होती, तो प्रमाणों के स्वरूप,

संख्या, विषय एवं विनियोग सम्बन्धी असमझौतापूर्ण विवाद अब तक कायम नहीं रहते। इस पर एक सामान्य सहमति बनायी जा सकती थी। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं हो सका। अतएव हमारे प्रमाणमीमांसीय प्रश्न और निष्कर्षों की विभिन्नता मात्र लक्षणमूलक नहीं है। उनका वास्तविक स्रोत भिन्न–भिन्न प्रकार के तत्त्वमीमांसीय लंगरों से बंधा होना है। दूसरे शब्दों में तत्तद् प्रमाणमीमांसीय सिद्धान्तों का तत्तद् तत्त्वमीमांसा में निगड़ित होना है। भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में प्रमाणों की वैकल्पिक विविधता एवं खुलेपन का समर्थन, जैसा कि प्रो. पाण्डेय करते हैं, उसका रहस्य वास्तव में यही है।

(4) चतुर्थतः, इलाहाबाद स्कूल की गहन ज्ञानमीमांसा के सन्दर्भ में भाषा–दर्शन एवं प्रमाणमीमांसा का अन्तःसम्बन्ध भी एक महत्त्वपूर्ण विचार्य बिन्दु है। प्रो. पाण्डेय इसे "फोकल प्वायंट ऑफ डेप्थ एपिस्टेमोलॉजी" कहते हैं, जिसका विकास 1954 के बाद हुआ है।[20] इस परवर्ती विकास को किस व्यक्ति की मेधा का सह प्राप्त हुआ है, प्रो. पाण्डेय इसका उल्लेख भी नहीं करते हैं। यह बात सही है कि ज्ञानमीमांसा की मूलभूत समस्या ज्ञान और सत् से सम्बन्धित है, तो भाषादर्शन एवं प्रमाणमीमांसा का आन्तर सम्बन्ध भी अपने अन्तिम विश्लेषण में भाषा और सत् के आन्तर सम्बन्ध में ही पर्यवसित हो जाता है। इस तरह ज्ञान, भाषा एवं सत् एक–दूसरे से परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में इतिविषयक किसी एक सिद्धान्त का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। यदि हम यह स्वीकार करें कि अनुभविक भाषा से अनुविद्ध होकर ही हमारे सभी ज्ञान भासित होते हैं और इस रूप से आकारित ज्ञान "सत्" को उसके स्वस्वरूप में प्रदर्शित करता है, जैसा कि नैयायिकों का मानना है, तो ऐसे समस्त ज्ञान को, यहाँ तक कि आत्मा के ज्ञान को भी, वस्तुनिष्ठ प्रारूप में ही उपलब्ध ज्ञान कहा जायेगा। तब प्रो. पाण्डेय इसे उत्तल धरातल पर भाषादर्शन एवं प्रमाणमीमांसा का सम्बन्ध कहेंगे, जबकि उनका वास्तविक अभिप्राय इसके माध्यम से गहन–ज्ञानमीमांसा की ओर संकेत करना है। दूसरे, यदि हम यह स्वीकार करें कि भाषा–व्यवहार वस्तुनिष्ठता का भ्रम पैदा करता है, जैसा कि बौद्ध (विकल्प योनयः शब्दाः, विकल्पाः शब्द योनयः) मानते हैं, तो सत् का अवगाही ज्ञान और उसकी मीमांसा भाषा के आयाम का अतिक्रमण कर जाती है। तब यही कहना पड़ेगा कि भाषा "सत्" को व्यक्त करने के बजाय उसे विकृत करती है या सत् को ख्यापित करती है। "अत्यन्तासत्यऽपिह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि" भाषा में ऐसी सामर्थ्य को नकारा भी नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में भाषादर्शन और प्रमाणमीमांसा में सकारात्मक सम्बन्ध के बदले ज्ञानमीमांसीय प्रयासों का निहितार्थ यह हो जाता है कि वह भाषा से परे के सत् का संकेत करे, ज्ञान की उस अवस्था की खोज करे, जहाँ भाषा से अननुविद्ध सत् उपलब्ध होता हो और इस बात को भी विश्लेषित करें कि भाषा "सत्" को आवृत कर उसका भ्रम किस प्रकार करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रो. पाण्डेय का भाषादर्शन और प्रमाणमीमांसा के अन्तःसम्बन्ध विषयक अभिमत ऐसा नहीं रहा है। वास्तव में प्रो. पाण्डेय

व्याकरण दर्शन के स्फोटवाद से प्रभावित होकर परावाक्, परासंवित् और परमतत्त्व में अभेद को भाषादर्शन और ज्ञानमीमांसा के अन्तःसम्बन्ध के रूप में देखते हैं और उसी का सामान्यीकरण कर देते हैं।[21] यहाँ उल्लेखनीय है कि परावाक् एवं परासंवित् तथा परमतत्त्व का अभेद कोई ज्ञानमीमांसीय स्थिति नहीं, बल्कि तत्त्वमीमांसीय स्थिति है। "अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वायदक्षरम्, विवर्तते अर्थभावेन् प्रक्रिया जगतो यतः" – ज्ञानमीमांसीय धरातल पर तो वाक् एवं संवित् दोनों तत्त्व के विवर्त को प्रदर्शित करते हैं। अतः भाषादर्शन एवं ज्ञानमीमांसा के आन्तर सम्बन्ध विषयक प्रो. पाण्डेय का अभिमत एकदेशीय है, और उसका सामान्यीकरण करते हुए भारतीय प्रमाणमीमांसा की गहनता एवं खुलेपन के साथ न्याय नहीं किया जा सकता। इसके बावजूद विश्लेषणात्मक भाषिकी, भाषा–दर्शन एवं ज्ञानमीमांसा का अन्तःसम्बन्ध एक गम्भीर दार्शनिक समस्या है और भारतीय परम्परा में एतद्विषयक गम्भीर विचार अपेक्षित है लेकिन उतने विस्तार के लिए यहाँ अवकाश नहीं।

(5) पंचतः, प्रो. पाण्डेय की गहन ज्ञानमीमांसा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बिन्दु आत्मतत्त्वमीमांसा है। उनके पूर्ववर्ती आचार्यों (प्रो. राणाडे, प्रो. ए.सी. मुकर्जी) ने आत्मचैतन्य की ज्ञानमीमांसीय भूमिका एवं तत्त्वमीमांसीय परिणति का गहन परीक्षण करते हुये एक विशिष्ट प्रकार के प्रत्ययवादी दर्शन "भारतीय प्रत्ययवाद" को उद्‌घाटित करने का प्रयास किया है। ऐसा प्रत्ययवाद जो केवल चेतना के परप्रकाशक सिद्धान्त पर आधारित नहीं, बल्कि स्वयंप्रकाश आत्मा की आधारभूत सत्ता और जगत् में उसकी केन्द्रीय स्थिति पर आधारित है। ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से आत्मा की केन्द्रीय स्थिति उसके स्वयंप्रकाश होने में निहित है, क्योंकि स्वयंप्रकाशता की अवधारणा अनुभवप्रकाश की व्याख्या के लिए अपनाये गये तमाम सिद्धान्तों के मध्य सर्वोत्तम सैद्धान्तिक आधार को प्रस्तुत करती है। इससे भी आगे बढ़कर जब हम आत्मचैतन्य की प्रतिष्ठा सर्वसाक्षी के रूप में करते हैं, जो वस्तु की ज्ञात और अज्ञात दोनों ही अवस्थाओं का साक्षी होता है, तो सम्पूर्ण जगत् की आद्य नियामक सत्ता के रूप में आत्मा वस्तुनिष्ठता की व्याख्या के लिये व्यापक आधार प्रदान करती है। वस्तुतः सम्पूर्ण लोकप्रदर्शन का मूल सन्दर्भ होना ही स्वयंप्रकाश तत्त्व का साक्षित्व है। तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से आत्मा की आधारभूत सत्ता इस रूप में सिद्ध होती है कि सब कुछ को आत्मा के होने में घटित किया जा सकता है, लेकिन आत्मचैतन्य को किसी अन्य में घटित किया जाना सम्भव नहीं। ऐसी सत्ता जिसे किसी अन्य में न घटाया जा सके वही आधारभूत सत्ता होती है। "न हि ज्ञाने असति ज्ञेयं नाम भवति कस्यचित्"[22]। यदि ज्ञान की ही सत्ता को स्वीकार न किया जाये तो भला किसी को भी ज्ञेय कैसे कहा जा सकेगा। सर्वनिषेध भी एक मूलभूत निषेधक चेतना को पूवापेक्षित करता है।[23] प्रो. पाण्डेय के अनुसार ऐसे आत्मतत्त्व को अतीन्द्रिय तो कहा जा सकता है, लेकिन वह कदापि अज्ञेय नहीं।[24] "विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्" आत्मा विषयता रूप से सार्वभौमिक ज्ञेयता का अपवाद है, फिर भी वह अज्ञेय नहीं, बल्कि अपरोक्ष व्यवहार योग्य है। इसकी

अज्ञेयता केवल विषयता रूप से ही है। शंकराचार्य जब यह कहते हैं कि "नायं आत्मा एकान्ततः अविषयः, अहं प्रत्ययगोचरत्वात्" तो इसका तात्पर्य भी विषयता रूप ज्ञेयता का ही निषेध है क्योंकि अहं प्रत्यय रूप से गोचर होना विषय रूप में ज्ञेय होना नहीं है, बल्कि विषयी रूप में अपना 'प्रतिबोध विदितं' रूप से आत्मप्रकाशन है। किसी वस्तु की चेतना, स्वयं चेतना के स्वचेतन होने की अपेक्षा करता है। यह कहना कि मैं जानता हूँ, वास्तव में यह कहना है कि मुझे ज्ञात है कि मैं जानता हूँ। अतएव प्रत्येक संज्ञानात्मक स्थिति में आत्मा अपने को विषयिता के रूप में प्रकाशित करते हुए विषय को अपने से पृथक् प्रकाशित करता है। आत्मज्ञान के सन्दर्भ में यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा सकर्मक ज्ञान क्रिया में प्रदत्त होते हुये अपने में ही ज्ञेय–आत्मा और ज्ञाता–आत्मा का विभाजन करे; स्वयं आत्मा अपने ही कुछ अंशों का ज्ञाता और स्वयं ही कुछ अंशों में ज्ञेय रहे। आत्मा सम्पूर्ण रूप से केवल और केवल शुद्ध विषयी है। इसकी सत्ता का न तो बाध सम्भव है न ही दृष्टा की दृष्टि का विपरिलोप, क्योंकि यह नित्य साक्षी है। जहाँ प्रकाश के सारे स्रोत निरस्त हो जाते हैं वहाँ आत्मज्योति ही शेष रहती है। यही आत्मज्योति हमारे अनुभव की सभी अवस्थाओं से अनन्य रहते हुये जाग्रतावस्था में चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा देखती है, वही बिना चक्षु के स्वप्न में देखती है और सुषुप्तावस्था में कुछ भी न देखते हुए स्वयं अनुपस्थित और अत्यन्ताभावापन्न भी नहीं रहती।

इस प्रकार यदि इलाहाबाद स्कूल ऑफ फिलॉसफी की कोई गहन ज्ञानमीमांसा है तो उसका निहितार्थ यही आत्मतत्त्व–मीमांसा है। यद्यपि परंपरागत भारतीय दर्शन में इतिविषयक गम्भीर विचार–विमर्श हुए हैं, लेकिन इलाहाबाद के आचार्यों ने यूरोपीय ज्ञानमीमांसा के तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में ज्ञान की स्वयंप्रकाशता एवं आत्मा की आधारभूत सत्ता को प्रतिपादित करने का जो प्रयास किया है, वह एक ऐसे मार्ग को प्रशस्त करता है जिससे होकर भारतीय ज्ञान–दर्शन एवं तत्त्व–दर्शन को विश्वदर्शन के मंच पर न केवल स्थापित किया जा सकता है, बल्कि यूरोपीय दर्शन के साथ अपनी शर्तों पर सार्थक संवाद भी कायम किया जा सकता है।

***

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

1. *प्रॉब. ऑफ डेप्थ एपि. के चारों निबन्ध क्रमशः इस प्रकार हैं – दी क्राइटेरियन–प्रो. पी.एस. बरेल्ल; डॉक्ट्रीन ऑफ क्राइटेरियन– प्रो. आर.डी. राणाडे, दी फाउण्डेशन ऑफ नालेज – प्रो. ए.सी. मुखर्जी और कोहरेन्स वर्सेज डायलेक्टिक –प्रो. आर.एन. कौल।*
2. *प्रॉब. ऑफ डेप्थ एपि. – भूमिका, पृ. 9, पंक्ति 1 से 4.*
3. *वही, प्रस्तावना, पृ. vii - प्रो. पाण्डेय ने प्रकृत अवधारणा के क्रमबद्ध अध्ययन के लिए 20सहायक अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्यात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन का सुझाव दिया है।*

4. वही, भूमिका –3, पृ. 2.
5. प्रो. पाण्डेय – इसके लिए ट्रांसरिफ्लैक्टिव शब्द का प्रयोग करते हैं, जो अपने स्वरूप में वस्तुतः ट्रांस ऑब्जेक्टिव एवं ट्रांस सब्जेक्टिव एक साथ है। वही, भूमिका–2, पृ.2.
6. वही, भूमिका–2, पृ. 2.
7. वही, प्रो. ए.सी. मुखर्जी– दी फाउण्डेशन ऑफ नालेज, पृ. 61.
8. वही, भूमिका, पृ. 13– प्रो. पाण्डेय सूचित करते हैं कि फैलेसी ऑफ ट्रांसेन्डेन्टल डिस्लोकेशन को प्रो. ए.सी. मुखर्जी ने अन्वेषित किया है।
9. वही, भूमिका–3, पृ. 3.
10. वेदान्त परिभाषा– धर्मराजाध्वरिन्द्र – सम्पा.+अनु.– विद्यानन्द जिज्ञासु, दिल्ली–1967, पृ. 334 एवं निरूपित प्रमाणं प्रामाण्यं। द्विविधं, व्यावहारिक तत्त्वावेदक पारमार्थिक तत्त्वावेदक चेति।
11. प्रस्थानरत्नाकर – प्रमाण प्रकरण।
12. धर्मोत्तर, न्यायबिन्दु टीका, 1/12.
13. इण्डियन रियलिज्म – प्रो. पी.के. मुखोपाध्याय, पृ. 23, के.पी. बागची, कलकत्ता।
14. प्रॉब. ऑफ डेप्थ एपि.–भूमिका–4, पृ. 4.
15. न्यायभाष्य– वात्स्यायन, अनुबन्ध–चतुष्टय की आरम्भिक पंक्ति।
16. चित्सुखाचार्य– तत्त्वप्रदीपिका–2/18.
17. जयराशिभट्ट–तत्त्वोपप्लव सिंह, पृ. 1–सल्लक्षण निबन्धनं मानव्यवस्थापनम् माननिबन्धना च मेयस्थिति, तदभावे तयोः कथं सद्व्यवहार विषयत्वम्। एवं श्रीहर्ष–खण्डनखण्डखाद्य, पृ. 126–लक्षणाधीना तावल्लक्ष्य–व्यवस्थितिः लक्षणानि चानुपपन्नानि।
18. प्रॉब. ऑफ डेप्थ एपि.– भूमिका–4, पृ. 4.
19. दृष्टव्य– प्रमाण–सम्प्लव एवं प्रमाण–व्यवस्था नामक निबन्ध–अम्बिकादत्त शर्मा एण्ड संजय शुक्ला, जे.आई.सी.पी.आर–2, 1997, पृ. 83–84.
20. प्रॉब. ऑफ डेप्थ एपि.–भूमिका–14, पृ.15.
21. वही, भूमिका–14, पृ. 15.
22. प्रो. ए.सी. मुखर्जी– नेचर ऑफ सेल्फ, पृ. 118.
23. अभावस्याऽपि ज्ञेयत्वात् ज्ञानाभावे तदनुपपत्तेः– वही, पृ. 118.
24. प्रॉब. ऑफ डेप्थ एपि.– भूमिका, पृ. 3.

आचार्य बदरीनाथ शुक्ल का देहात्मवाद

बलिराम शुक्ल

न्याय–वैशेषिक शास्त्रों के प्रामाणिक ग्रन्थों के पर्यालोचन से 'आत्मा' के विषय में यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि आत्मा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् (दिशा) और मन से भिन्न नवम् द्रव्य है। वह दो प्रकार का है – जीवात्मा और परमात्मा। उनमें से जीवात्मा प्रत्येक (सजीव) शरीर में भिन्न है, शरीर, इन्द्रिय, मन तथा प्राण से भी भिन्न है; सभी मूर्त–द्रव्यों के साथ वह संयुक्त होता है तथा वह कर्ता एवं भोक्ता है। सभी मूर्त–द्रव्यों के साथ उसका सम्बन्ध होने पर भी जिस देह के साथ उसका पूर्व–अर्जित अदृष्ट के कारण विलक्षण संयोग रूप भोगनियामक सम्बन्ध स्थापित होता है उसी देह से पूर्वकर्मों के ऊँच–नीच, सुख–दुखात्मक फलों को भोगता है, तथा नये–नये कर्मों को करते हुए पुण्य–पाप रूप धर्माधर्मों से अपने कोश में वृद्धि करता रहता है। नये–नये अनुभव से प्राप्त संस्कार की राशि में वृद्धि करता रहता है। सभी प्रकार के क्रिया–कलापों से उसके अदृष्ट से आकृष्ट मन उसकी सहायता करता है।

न्याय–वैशेषिक दर्शनों के अनुसार जीवात्मा ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, सुख, दुख इन नौ विशेष तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग इन पाँच सामान्य गुणों के आश्रय माना जाता है। वह अपने कर्म के अनुसार विभिन्न योनियों में उत्पन्न होता है। मनुष्य अपने शरीर में आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से अपवर्ग अथवा निःश्रेयस् का अधिकारी बनता है तथा देही, प्राणी, जीव आदि शब्दों से व्यवहृत होता है।

परमात्मा जीवात्मा से भिन्न, अद्वितीय (एक मात्र), जगत् का कर्ता, वेद–प्रणेता और उपासना से जीवों को भौतिक तथा दिव्य सुखों को देने वाला है, जीवों को उनके अर्जित कर्म के फलभोग तथा मोक्षलाभ में सहायक है, नित्यज्ञान, इच्छा, प्रयत्न तथा संख्या,परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग इन आठ गुणों का आश्रय है। वह ईश्वर प्रभु, भगवान् आदि शब्दों से जाना जाता है। जगत् की सृष्टि, रक्षा और संहार–रूपी कर्मों के कारण क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शंकर नामों से जाना जाता है।

बाल्यकाल में अनुभूत का वार्धक्यावस्था में स्मरण न होने से तथा मृत देह में विद्यमान न होने से ज्ञान देहाश्रित नहीं है। ज्ञान–मूलक होने से (आत्मा के) अन्य विशेष गुण भी देहाश्रित नहीं हैं। एक इन्द्रिय से अनुभूत का उस इन्द्रिय का नाश होने पर भी स्मरण होने से, तथा एक शरीर में अनेक इन्द्रियों की सत्ता होने से (यदि उनमें से हरेक

को आत्मा के रूप में स्वीकार किया जाये तो एक ही शरीर में अनेक जीवात्माओं की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी) तथा (उनके द्वारा) देह को एक साथ विपरीत दिशाओं में ले जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होने की सम्भावना होने से, और देह के विनाश की आपत्ति के कारण ज्ञान आदि गुण इन्द्रियाश्रित नहीं हैं। मन अणु (परिमाणी) होने से तथा उसमें आश्रित ज्ञान आदि गुणों का प्रत्यक्ष (ज्ञान) न होने से ज्ञान आदि गुण मन के भी नहीं कहे जा सकते। परन्तु इनसे भिन्न आत्मा ही ज्ञानादि का आश्रय है।

यहाँ यह विचार किया जा रहा है कि न्याय–वैशेषिक ग्रन्थों में उपलब्ध आत्मवाद पर विचार करने से न्याय परम्परा में स्वीकृत आत्म–सिद्धान्त स्थिरता को प्राप्त करता नहीं दिखायी देता। मन के सहयोग से शरीर को आत्मा मानना सम्भव है। उसी प्रकार आत्मा अतिरिक्त द्रव्य नहीं है;देह और मन के द्वारा ही आत्मा से सिद्ध होने वाले प्रयोजनों का निर्वाह शक्य है। इस मत में देह ही बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न इन प्रत्यक्ष–योग्य गुणों का आश्रय है। प्रत्यक्ष–योग्य न होने वाले धर्म, अधर्म, भावना का आश्रय मन है। पृथ्वी के विशेष गुण कारण गुणों से अथवा पाक से उत्पन्न होने वाले होने के कारण बुद्धि आदि गुण पार्थिव मनुष्यादि शरीर के विशेष गुण नहीं हो सकते, शरीर के अवयव जड़ होने के कारण और वे बुद्धयादि से रहित होने से उनके गुणों से देह में बुद्धि आदि की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। पाक से भी देह में उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है क्योंकि पाकज गुण अपने सजातीय गुणों का विनाश करके ही उत्पन्न होते हैं। ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि बुद्धि आदि शरीर के सामान्य गुण माने जाते हैं। पृथ्वी के सामान्य गुणों की उत्पत्ति में अवयवों के सजातीय गुण या पाक की आवश्यकता नहीं होती; शरीर में उत्पन्न होने वाले अन्य सामान्य गुणों की तरह प्रकारान्तर से बुद्धि आदि की उत्पत्ति सम्भव है। बुद्धि आदि को शरीर का सामान्य गुण मानने पर रूप आदि की तरह जबतक शरीर रहता है तबतक उनके रहने जैसी–आपत्ति सम्भव नहीं है। शरीर में रहने वाले संयोग आदि सामान्य गुणों के समान ही उसमें रहने वाले बुद्धि आदि का भी शरीर के रहते हुए भी विनाश सम्भव है।

बुद्धि आदि को देह का धर्म मानने पर उसे उसका विशेष गुण ही क्यों न माना जाय यह शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि विशेष–गुण के लक्षण के अनुसार उनका उसमें समूह नहीं होता है। साथ ही साथ विशेष–गुणत्व का अर्थ है–द्रव्य का विभाजन करने वाली उपाधि से सम्बन्धित जातियुक्त गुणत्व। द्रव्य विभाजक उपाधि से जाति दो प्रकार के सम्बन्धों से सम्बन्धित होती है : एक सम्बन्ध है 'स्वाश्रयवृत्तितावच्छेदकत्व' (उपाधि के आश्रय से निर्देशित वृत्तिता का अवच्छेदक होना) तथा दूसरा है 'स्वनाश्रयवृत्तितानवच्छेदकत्व' (उपाधि के आश्रय से भिन्न के द्वारा प्रदर्शित वृत्तिता का अवच्छेदक न होना) जैसे, गन्धत्व, नीलत्व, पाकज अनुष्णाशीतस्पर्शत्व, पाकजमधुरत्व आदि द्रव्य का विभाजन करने वाली पृथ्वीत्व उपाधि से युक्त उभय सम्बन्धों से सम्बन्धित है, अतः उन गन्धत्वादि जातियों के आश्रय गन्ध आदि गुण पृथ्वी के विशेष गुण हैं। शीतत्व, स्नेहत्व, सांसिद्धिकद्रवत्व, अपाकारणमधुरत्व आदि द्रव्य–विभाजक जलत्व उपाधि से उक्त उभय सम्बन्धों से सम्बन्धित हैं। अतः उनके आश्रय शीतस्पर्श,सांसिद्धिकद्रवत्व आदि गुण जल के विशेष गुण हैं। उष्णत्व, भास्वरशुक्लत्व उक्त दो सम्बन्धों से द्रव्य विभाजक उपाधि तेजस्त्व से

सम्बन्धित होने से उक्त जातियों के आश्रय उष्ण, स्पर्श, भास्वरशुक्ल–रूप तेज' के विशेष गुण हैं। अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्शत्व जाति द्रव्य की विभाजक वायुत्व उपाधि से उक्त उभय सम्बन्धों से सम्बन्धित होने से उस जाति का आश्रय अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्श वायु का विशेष गुण है। शब्दत्व जाति का आश्रय शब्द आकाश का विशेष गुण है। बुद्धि देहगत मानने पर उसे पार्थिव,जलीय, तैजस् वायवीय देहों में विद्यमानता होने से बुद्धित्व आदि जातियाँ पृथ्वीत्व आदि किसी भी द्रव्य–विभाजक उपाधि से उक्त दोनों सम्बन्धों के माध्यम से सम्बन्धित नहीं हैं, अतः उन जातियों के आश्रय बुद्धि आदि गुण पृथ्वी आदि द्रव्यों का विशेष गुण नहीं हैं, बल्कि वे शरीर के सामान्य गुण हैं यह बात स्पष्ट हैं।

धर्म, अधर्म और भावना ये गुण इस मत में मन के गुण होने से धर्मत्व आदि जातियाँ द्रव्य–विभाजक मनस्त्व उपाधि से उक्त उभय सम्बन्धों से सम्बन्धित होने से उनके आश्रय धर्मादि मन के विशेष गुण हैं।

बुद्धि आदि को शरीर का गुण मानने पर रूप आदि के समान चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों से उनका ग्रहण होना चाहिए यह शंका योग्य नहीं हैं। क्योंकि शरीर के गुणों का किसी एक इन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होता है इस प्रकार का नियम न होने से चक्षु से रूप का, त्वचा से स्पर्श का, ध्राण से गन्ध का, रसना से रस का जैसे प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार मन से बुद्धि आदि का प्रयत्क्ष होता है, ऐसा मानने में बाधा नहीं है।

शरीर के गुणों का बाह्य इन्द्रिय से ही ग्रहण होता है, यह नियम होने से मन के द्वारा ग्राह्य बुद्धि आदि शरीर के गुण नहीं हो सकते, यह कहना भी योग्य नहीं है। शरीर को बुद्धि आदि का आश्रय स्वीकार करने पर उनके ग्राहक मन को भी बाह्य द्रव्य के गुण का ग्राहक मानने पर उसे भी बहिरिन्द्रिय कहा जाना चाहिए। उसे अन्तरिन्द्रिय इसलिये कहा जाता है कि वह शरीर के अन्दर रहता है।

अथवा शरीर के बाह्यभाग में विद्यमान गुण ही बाह्य इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होते हैं, यह नियम मानने पर बुद्धि आदि गुण शरीर के आभ्यन्तर भाग में उत्पन्न होते हैं। अतः उनके ज्ञान के लिए अन्तरिन्द्रिय की ही आवश्यकता होने से रूप आदि के समान अथवा शय्या के साथ शरीर के संयोग के समान बाह्य इन्द्रिय से इनके ज्ञान की आपत्ति नहीं प्रस्तुत की जा सकती।

ऐसा कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार सांख्य दर्शन में इन्द्रियाँ ज्ञान और कर्म रूप प्रयोजनों के भेद से दो प्रकार की होती हैं और दोनों प्रकार की इन्द्रियों का सहकारित्व होने से मन जिस प्रकार उभयात्मक माना जाता है उसी प्रकार बुद्धि आदि देह के गुण होने से और मन बाह्य द्रव्य के गुणों का प्रत्यायक होने से बाह्य इन्द्रिय तथा शरीर के अन्दर रहनेवाला होने से अन्तरिन्द्रिय भी कहा जा सकता है।

शरीर को ज्ञान आदि का आश्रय मानने पर उसका रूप आदि गुण जिस प्रकार दूसरों से देखे जाने वाले हैं वैसे ही ज्ञान आदि भी दूसरे से देखें जाने वाले होने चाहिये, यह शंका भी नहीं होनी चाहिये। क्योंकि एक शरीर में रहने वाले रूपादि गुणों का अन्य शरीर में होने वाले चक्षु आदि के समीप होने के कारण दूसरे के द्वारा उनका प्रत्यक्ष होने पर भी एक शरीर में रहने वाले ज्ञान आदि का दूसरे के शरीर में रहले वाले अणु–परिमाणी मन

के समीप न होने से (उसे उनका ज्ञान होने की) उक्त आपत्ति संभव नहीं है। किसी भी प्रत्यक्षात्मक अनुभव का विषय इन्द्रिय से सम्बन्धित पदार्थ ही होते हैं। शरीर को ज्ञानादिमान् मानने पर बाल्यकाल में अनुभूत वस्तुओं का वार्धक्यावस्था में स्मरण नहीं होना चाहिये, बाल्य और बृद्ध शरीर दोनों भिन्न होने से बाल्य शरीर के अनुभव से उत्पन्न संस्कार वृद्ध शरीर में नहीं रहते, इस प्रकार की आशंका भी उचित नहीं है। शरीरात्मवाद में शरीर अनुभव से उत्पन्न संस्कार मन में मानने से बाल शरीर गत मन वृद्ध शरीर में प्रविष्ट होने से मन में रहने वाले संस्कार की महिमा से बाल्यकाल में अनुभूत वस्तुओं का वृद्धशरीर में स्मरण हो सकता है।

देहात्मवाद में संस्कार के लिये अनुभव 'स्वाश्रयविलक्षण–संयोग सम्बन्ध' से तथा स्मृति के लिए अनुभव 'स्वाश्रयविजातीय–संयोग सम्बन्ध' से कारण है। इन्द्रियों के साथ या शरीर के अवयवों के साथ जो मन का संयोग है वह मन और देह के संयोग का कोई प्रकार नहीं है। अतः इन्द्रियों में अथवा शरीर के अवयवों में संस्कार या स्मृति की उत्पत्ति की आपत्ति नहीं है।

वर्तमान शरीर से सहयोगी मन उस शरीर से उत्पन्न अदृष्ट के कारण उत्पन्न नूतन बालक शरीर में विजातीय संयोग सम्बन्ध से प्रविष्ट हो कर उसमें भी पूर्वशरीर के द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण होने में कोई बाधा न होने से सद्यःजात शिशु की दुग्धपान–प्रवृत्ति में भी कोई बाधा नहीं है। पूर्व–शरीर में स्थित मन, जो कि पूर्वशरीरगत स्तनपान के विषय में इष्टसाधनताज्ञान के फलस्वरूप उत्पन्न संस्कार से युक्त है, शिशु–शरीर में प्रविष्ट होने से, उसमें रहने वाले आधार से वहाँ स्तन्यपानविषयक इष्टसाधनताज्ञान के फलस्वरूप उत्पन्न संस्कार से युक्त है, अतः शिशु–शरीर में प्रविष्ट होने से उसमें रहने वाले आधार से वहाँ स्तन्यपानविषयक इष्टसाधनता का स्मरण होने में कोई विरोध नहीं हैं।

देहात्मवाद स्वीकार करने पर पूर्व शरीर में अनुभूत वस्तु की पश्चात् शरीर से स्मृति होती है यह स्वीकार करने पर चैत्र (एक व्यक्ति) के द्वारा अनुभूत वस्तु का मैत्र (अन्य व्यक्ति) को स्मरण होने की आपत्ति प्रस्तुत करना भी संभव नहीं है, क्योंकि चैत्र के द्वारा अनुभूत संस्कार चैत्र के मन में ही होते हैं और वे मैत्र के शरीर में नहीं रहते।

वर्तमान देहस्वरूप आत्मा आजीवन विविध कर्मो में व्यापृत रहता है, परन्तु सभी कर्मो का फल उसे प्राप्त नहीं होता है। देह के नष्ट हो जाने पर उसके अभुक्त फल वाले कर्मो की व्यर्थता हो जाने से कृतप्रणाश, तथा नूतन देहस्वरूप आत्मा के जन्मकाल से ही अकृत कर्मों का फलोपभोग करने से अकृताभ्यागम का देहात्मवाद में परिहार नहीं है, यह भी कहना उचित नहीं है। वर्तमान शरीर से किये गये अभुक्त फलवाले कर्मों का फल, धर्माधर्म व्यापार के आश्रय मन के दूसरे शरीर में प्रवेश करने पर उसी शरीर में उत्पन्न होने से वे सार्थक हैं। बिलकुल नये शरीर में भी पूर्वदेह–कृत कर्मों के ही फल उत्पन्न होने से अकृताभ्यागम दोष नहीं होता है। देहात्मवाद में यह नियम नहीं है कि जो जिस कर्म को करता है वही उसका फल प्राप्त करता है। उक्त नियम अतिरिक्त आत्मवाद में चिरकाल से उत्पन्न संस्कार–मूलक है। उसके स्थान पर यह नियम माना है कि जिस मन–अधिष्ठित देह से जो कर्म किया जाता है उसका फल उस मन के आश्रित देह के द्वारा ही भोगा जाता

है। मन के देहाधिष्ठित होने का अर्थ है देह अनुयोगीवाले विजातीय संयोग का प्रतियोगी होना तथा देह का मन अधिष्ठित होने का अर्थ है मन जिसका प्रतियोगी है ऐसे विजातीय संयोग का अनुयोगी होना।

शरीर के द्वारा किये गये विहित तथा निषिद्ध कर्म मन में न रहने से वहाँ पर तज्जनित पाप–पुण्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है, तथा मन में रहने वाले पाप–पुण्य से उनसे रहित नवीन शरीर में सुख–दुःखात्मक फल प्राप्ति कैसे हो सकती है, यह शंका भी यहाँ सम्भव नहीं है क्योंकि शरीर के कर्म से शरीर के साथ मन के विजातीय संयोग से अदृष्ट (पाप–पुण्य) के लिए मन में रहने वाला अदृष्ट भी विजातीय संयोग सम्बन्ध से कारण मानने पर उपर्युक्त शंका की संभावना नहीं रहती है।

अनुभव, संस्कार और स्मृति में तथा कर्म और अदृष्ट–फल में जो साक्षात् सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से कार्यकारण–भाव है वह पूर्वोक्त सम्बन्ध से होने वाले कार्यकारण की अपेक्षा लघु होने से उसके आधार पर अतिरिक्त–आत्मवाद ही मानना अधिक उचित है, यह कथन भी सुचारू नहीं है। स्वीकृत पदार्थ के आधार पर लघु और गुरू इन दो प्रकार के कार्यकारण–भावों के उपस्थित होने पर उनमें से लघु को स्वीकार किया जाता है। जैसे, मीमांसक मत में, 'साध्यव्याप्त हेतु' 'हेतुमान पक्ष' ये दोनों वादी–प्रतिवादी–सम्मत ज्ञान अनुमति के लिए कारण माने जाते हैं। न्याय मत में 'साध्यव्याप्यहेतुमान् पक्षः' यह एक ही ज्ञान वादी–प्रतिवादी –सम्मत अनुमिति के लिए कारण माना गया है। इस प्रकार दोनों पक्षों की उपस्थिति होने पर (कल्पना) लाघव के आधार पर नैयायिक सम्मत कार्यकारण भाव ही स्वीकार किया जाता है। उनके मत में कार्यकारणतावच्छेदक गर्भ में तत्–तत् पुरूष का प्रवेश नहीं होता है। समवाय सम्बन्ध से उन्होंने अनुमिति के लिये उक्त–ज्ञान (साध्यव्याप्यहेतुमान् पक्षः) को कारण मानने पर एक के उक्त ज्ञान से दूसरे की अनुमिति की उत्पत्ति की सम्भावना नहीं रहती है। मीमांसक के मत में एक व्यक्ति को व्याप्ति–ज्ञान और अन्य व्यक्ति को पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर तथा एक हेतु में व्याप्तिज्ञान और दूसरे हेतु में पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर अनुमिति की आपत्ति का निराकरण करने के लिये उस व्यक्ति का अभिप्रेत पक्ष में अभिप्रेत हेतु के ज्ञान को जानना पड़ेगा, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति के भेद से अनन्त कार्य–कारणभाव उत्पन्न होने से (कल्पना) गौरव के कारण मीमांसकों को मान्य कार्यकारण–भाव छोड़ा जाता है।

अथवा एक विषय योग्यता–ज्ञान से अन्य विषयक शाब्दबोध की आपत्ति का निराकरण करने के लिए कार्यकारणभावावच्छेदक शरीर में धर्मितावच्छेदकों (घटत्व, पटत्व आदि) का समावेश करना आवश्यक हो जाता है, जिसके फलस्वरूप शाब्दबोध और योग्यता–ज्ञान का आत्मा में रहने वाले सम्बन्ध से कार्यकारणभाव धर्मितावच्छेदक भेद–मूलक अनन्तता के गौरव–दोष से ग्रस्त हो जाता है। यदि धर्मितावच्छेदक में रहने वाले सम्बन्ध के आधार पर कार्यकारण–भाव स्वीकार किया हो तो एक व्यक्ति के ज्ञान से दूसरे व्यक्ति को होने वाले शाब्दबोध की आपत्ति के परिहार के लिये तत्पुरुषीयत्व का निवेश होने पर भी तत्–तत् पुरुष से भिन्न धर्मो का कार्यकारणभावच्छेदक शरीर में प्रवेश न होने

से लाघव होता है, इसलिए आत्मनिष्ठ सम्बन्ध से कार्यकारण–भाव अस्वीकार कर के धर्मितावच्छेदकनिष्ठ सम्बन्ध से ही उनमें कार्यकारणभाव स्वीकार किया जाता है।

प्रकृत पक्ष (मत) में ऐसी स्थिति नहीं है; अतिरिक्त आत्मा वादी और प्रतिवादी दोनों के लिये ही अस्वीकार्य होने से अनुभव, संस्कार, स्मृति तथा कर्म अदृष्ट–फल में साक्षात् सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से कार्यकारण–भाव प्राप्त ही नहीं है। उसकी प्राप्ति के लिये अनन्त विभु आत्माओं की कल्पना अत्यन्त गौरव–ग्रस्त है। इसलिये उनमें उक्त सम्बन्ध से ही कार्यकारण–भावरूप एक ही पक्ष प्राप्त होने से उसे स्वीकार करना ही न्याय है।

दूसरी बात यह है कि अतिरिक्त आत्मवाद में 'मैं जाता हूँ' (अहं गच्छामि) 'मैं जानता हूँ' (अहं जानामि) इत्यादि प्रयोगों में आख्यातार्थ की भिन्नता की कल्पना से प्रयुक्त गौरव भी दुर्निवार्य है। प्रथम उदाहरण में कृति तथा द्वितीय उदाहरण में आश्रयता को आख्यातार्थ माना जाता है। इसके विपरीत देहात्मवाद में दोनों ही स्थलों में आश्रयता ही आख्यातार्थ होती है।

इसके अलावा, चैत्र (एक व्यक्तिवाचक) पद चैत्रशरीगत चैत्रत्व जाति प्रवृत्ति–निमित्तक होने से और चैत्र व्यक्ति शरीर होने से "चैत्रो गच्छति" इस वाक्य से चैत्र व्यक्ति में गमन की आश्रयता का ज्ञान सम्भव होने पर भी 'चैत्रो जानाति' इस वाक्य से चैत्र में ज्ञानाश्रयता का बोध अतिरिक्त आत्मवाद में सम्भव नहीं है।

'ज्ञा' धातु के बाद प्रयुक्त आख्यात का परिच्छेदकत्व अर्थ स्वीकार करके उक्त वाक्य से यथार्थ शाब्दबोध का आपादन सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में ईश्वरीय ज्ञान नित्य होने से 'अनवच्छिन्न' होने के कारण 'ईश्वरः' सर्वं जानति' इस वाक्यार्थ–बोध की अनुपपत्ति का प्रसंग उपस्थित होगा।

चैत्र पद को स्वाश्रयत्व स्वाश्रयावच्छेद्यत्वान्यतर सम्बन्ध से शरीरगत चैत्रत्वादि जातिवाचक तथा प्रवृत्ति निमित्तक मानने से उसे शरीर तथा आत्मा इस उभय–परक स्वीकार करके भी 'चैत्रो जानाति' 'चैत्रो गच्छति' इन वाक्यार्थों के बोध का उपादन सम्भव नहीं है। क्योंकि 'चैत्रो न जानति' इस वाक्यार्थ को समझने पर भी 'चैत्रो जानाति' इस बोध की आपत्ति का प्रसंग होगा। प्रथम की शरीर को ले कर तो द्वितीय की आत्मा को लेकर एकसाथ उत्पत्ति सम्भव है।

देहात्मवाद को लेकर कोई यह शंका उपस्थित कर सकता है कि संस्कार को स्वाश्रयसंयोग सम्बन्ध से स्मृति के लिये कारण मानने पर उस सम्बन्ध से उसके शरीर में रहने के समान इन्द्रिय में भी रहने से इन्द्रिय में भी स्मृति की उत्पत्ति होनी चाहिये। इन्द्रिय को स्मृति का आश्रय स्वीकार करने पर ज्ञान के आश्रय के रूप में उसे भी आत्मा मानने की आपत्ति होगी। परन्तु यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय देहावयव आदि को छोड़कर रहने वाले स्वाश्रयविजातीय संयोग सम्बन्ध से संस्कार के लिये अनुभव तथा स्मृति के लिये संस्कार को कारण मानने पर उक्त आपत्ति सम्भव नहीं है।

इसलिये वस्त्रादि के साथ मन का संयोग होने पर उनमें भी स्मृति की सम्भावना होने से उनको भी आत्मा मानने की आशंका सम्भव नहीं है। कारणता के नियामक के रूप में स्वीकार किये गये मन के साथ होने वाले विजातीय संयोग का वहाँ अभाव है।

समानकालीनत्व (एक ही काल में होना), एकज्ञानविषयत्व (एक ही ज्ञान का विषय होना) आदि भी स्वाश्रय–संयोग सम्बन्ध के समान होने से उन सम्बन्धों से भी स्मृति के लिये संस्कार–कारण होने से सम्पूर्ण जगत् ही ज्ञानाश्रय होने से 'आत्मा' होगा, यह शंका दुःसाहस की सूचक है। अतिरिक्त आत्मवाद में भी मूर्तमात्र के साथ का संयोग होने पर तथा उसका समकक्ष समकालीनत्व सम्बन्ध घट आदि पदार्थों के साथ होने पर जैसे घट आदि में ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती है, अपितु उस–आत्मा के साथ होने वाले शरीर के विजातीय संयोग से ही शरीर में ही ज्ञानोत्पत्ति होती है, इसलिये शरीर को ही ज्ञान का नियामक माना जाता है, घट, पट, आदि को नहीं। उसी प्रकार देहात्मवाद में मन का संयोग एक ओर शरीर के साथ तथा दूसरी ओर घट, पट आदि के साथ होने पर भी उससे स्मृति आदि की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु संस्कार के आश्रय मन के विजातीय संयोग के आश्रय शरीर में ही स्मृति की उत्पत्ति होती है। यह बात अनायास जानी जा सकने वाली होने से उपर्युक्त आपत्ति अज्ञानमूलक है।

देहात्मवाद पर आक्षेप करने वाला कोई यह कह सकता है कि देह और मन से भिन्न आत्मा के निराकरण का प्रयास देह और मन इन दोनों को आत्मा सिद्ध करने में पर्यवसित होता है। तथापि यह स्वीकार करने योग्य नहीं है। क्योंकि देह अनित्य है, मन नित्य है; ऐसी स्थिति में देह और मन दोनों को मिलाकर आत्मा मानने पर आत्मा को भी नित्य और अनित्य दोनों ही मानना पड़ेगा। कभी 'मैं नित्य हूँ' तो कभी 'मैं अनित्य हूँ' इस प्रकार की अनुभव–विरूद्ध प्रतीतियाँ होने लगेंगी; तथापि यह कथन स्वीकार्य नहीं है। देहात्मवाद में गौतम के सूत्र 'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानात्मनो लिङ्गम्' से आत्मा के चिन्ह के रूप में कथित वे गुण देहात्मवाद में देह ही में होने से और उसी को आत्मा मानने से तथा मन को उनका आश्रय न मान कर धर्माधर्म, भावनामात्र का आश्रय स्वीकार करके तथा उसे कारण मान कर देह और मन से जीवात्मा के निराकरण का प्रयास देह और मन इन दोनों को आत्मा मानने में पर्यवसित होता है, यह कथन बुद्धि की अनवधानता के कारण निष्पन्न होता है।

मन अणु–परिमाणी होने से तथा वह शरीरव्यापी न होने से नख से लेकर शिखा तक सर्वत्र अनुभूत होने वाली बुद्धि की उत्पत्ति समग्र शरीरव्याप्त आत्मा को अस्वीकार करने पर नहीं हो सकेगी, यह शंका भी उचित नहीं है। अतिरिक्त आत्मवाद में आत्मा और मन का संयोग शरीर के किसी एक भाग में होने पर जैसे सम्पूर्ण शरीर में बुद्धि प्रादुर्भूत होती है उसी प्रकार देहात्मवाद में भी उसकी उपपत्ति होने में किसी बाधक की सम्भावना नहीं रहती।

आपामर साधारण अनुभव के अनुसार मन अन्तरिन्द्रिय हैं। 'मन से करता हूँ' अथवा 'मन से निश्चित करता हूँ' इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर वह करण मात्र है। करण को आत्मा के रूप में स्वीकार करना लोकप्रसिद्ध आत्मा के कर्ता होने के अनुभव के विरूद्ध है, यह शंका भी उचित नहीं है। देहात्मवाद में देह को ही आत्मा तथा मन को उसका उपकरण मात्र माना है। वह आत्मा नहीं है, यह बात इसके पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है।

मन में वर्तमान अदृष्ट को शरीर में चैतन्य का उत्पादक मानें तो मृत शरीर में भी

नियमतः चैतन्य का अनुभव होना चाहिये, क्योंकि शरीर के मरने पर भी चैतन्य का जनक और अदृष्ट का आधार मन विद्यमान रहता है, इस शंका के लिये भी अवकाश नहीं है। क्योंकि शरीर के मरणकाल में नियमपूर्वक उसके साथ मन के सम्बन्ध का विनाश उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार अतिरिक्त आत्मवाद में शरीर के मरणकाल में उसके साथ होने वाला आत्मा का विजातीय संयोग नष्ट हो जाता है।

यदि शरीर आत्मा है तो 'राहु का सिर' के समान 'मेरा सिर' इस प्रयोग को यद्यपि लाक्षणिक मान कर उसका समर्थन किया जा सकता है तथापि 'मैं शरीर हूँ' यह प्रयोग कभी भी कहीं भी क्यों नहीं होता है, यह प्रश्न दुरूत्तर है। इस कथन का कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि शब्दप्रयोग शब्दार्थविज्ञान के आधार पर होता है। 'मैं शरीर हूँ' इस प्रकार का ज्ञान न होने से उस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं होती है। जब शरीर ही आत्मा है तो उस प्रकार का ज्ञान क्यों नहीं होता? यह शंका भी सम्भव नहीं है। 'अहं' इस पद के अर्थ का ग्रहण 'स्व' में रहने वाले प्रत्यक्षगुणों के आश्रय के रूप में ही होने का नियम होने से "मैं स्थूल हूँ" "मैं कृश हूँ", "मैं सुखी हूँ", "मैं दूःखी हूँ" इत्यादि रूप में "मैं आत्मा हूँ" यह प्रत्यय सभी लोगों को नहीं होता। अतिरिक्त आत्मवाद में "मैं आत्मा हूँ" यह प्रत्यय सभी लोगों को नहीं होता है; अन्यथा यह विवाद का विषय नहीं होता। इसीलिये भाषापरिच्छेद में विश्वनाथ ने कहा है "अध्यक्षों विशेषगुणतः"–योग्य विशेषगुणों–ज्ञान, सुख, दुःख आदि–के सम्बन्ध से ही आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, किसी दूसरे प्रकार से नहीं।

क्षिप्त, विक्षिप्त आदि चित्तभूमियों में शरीर के अवयवों से समग्र शरीर से सर्वानुभव–सिद्ध आत्मप्रत्यय के विनाश का देहात्मवाद में समर्थन करना सम्भव नहीं है, यह चिंता भी निराधार है। देहात्मवाद में भी उस प्रकार की चित्तभूमियों की संभावना होने से तन्मूलक उक्त आत्मबुद्धि के विनाश की सम्भावना में कोई बाधा नहीं है।

मैं हूँ या नहीं इस प्रकार से किसी को सन्देह नहीं होता। शरीर आत्मा है या नहीं इस प्रकार का सन्देह विचारवान् मनीषियों को भी होता है। यदि शरीर ही आत्मा है तब उसमें आत्मत्व का सन्देह होने पर "मैं हूँ या नहीं" इस प्रकार का सन्देह क्यों नहीं होता? यह प्रश्न भी उचित नहीं है। क्योंकि अतिरिक्त आत्मवाद में शरीर अनात्मा है यह निश्चय है, तथा देहात्मवाद में शरीर आत्मा है यह निश्चय है। अतः दोनों ही सिद्धांतों में उक्त संदेह आहार्य है तथा 'मैं' का निश्चय अनाहार्य है, यह दोनों ही सिद्धान्तों में समान है। वह निश्चय मैं हूँ या नहीं इस संशय का विरोधी है। इसलिये शरीर में कोई बाधा नहीं होने से उस प्रतिबन्धक के समान होने के कारण उक्त संशय उत्पन्न नहीं हो सकता है।

वस्तुतः कहने का आशय यह है कि "मैं" इस शब्द का उच्चारण करने वाला ही "मैं" का अर्थ होता है। इसलिये अतिरिक्त आत्मवाद में "मैं" इस शब्द का प्रयोग करने वाला अतिरिक्त आत्मा ही "मैं" शब्द का अर्थ है; इसके विपरीत देहात्मवाद में "मैं" शब्द का प्रयोग करने वाला शरीर ही "मैं" शब्द का अर्थ होता है। दोनों ही सिद्धान्तों में अपने–अपने मत के अनुसार "मैं" का अर्थ सुनिश्चित है। अतः मैं हूँ या नहीं इस प्रकार के स्वरूप में पर्यवसित होने वाला, "मैं हूँ अथवा नहीं" इस प्रकार का संशय, "मैं हूँ" इस निश्चय से

प्रतिबध्य होने के कारण उसकी उत्पत्ति की संभावना नहीं रहती है। शरीर को आत्मा मानने के आहार्य संशय के रहने पर भी "मैं हूँ" इस प्रकार का निश्चय अक्षुण्ण है।

शरीर ही "मैं शरीर हूँ या नहीं" इस प्रकार की शंका करता है यह कथन देहात्मवाद में अतिविचित्र प्रतीत होता है। उससे देहात्मवाद का खण्डन अच्छा नहीं लगता है, क्योंकि अतिरिक्त आत्मवाद में "मैं शरीर नहीं हूँ" यह निश्चय है तथा देहात्मवाद में मैं शरीर हूँ यह निश्चय है। इसलिए दोनों ही सिद्धान्तों में उक्त विमर्श आहार्य होने से देहात्मवाद में शरीर ही "मैं शरीर हूँ या नहीं" इस प्रकार का सन्देह करता है यह कथन कहाँ तक विचित्र है यह वही कह सकता है।

"मैं" यह प्रतीति कभी सिर से होती है तो कभी सिर की मज्जातन्तुओं से उत्पन्न होती है इसलिए देहात्मवाद में "मैं मेरा सिर हूँ" या "मैं मेरा मज्जातन्तु हूँ" इस प्रकार के अनुभव की उत्पत्ति अनिवार्य है, यह कथन भी पाण्डित्य के अनुरूप नहीं है क्योंकि सिर से उत्पन्न होने वाली प्रतीति भी उससे भिन्न देह नामक अवयवों में विद्यमान होने से और वही "मैं" का अर्थ होने से यहाँ भी "मैं" का अर्थ ज्ञानाश्रय नियत है।

"मैं" यह प्रतीति अन्य सभी शरीर सुख–दुःखादि प्रतीतियों से बिल्कुल भिन्न है, यह बात सभी समझते हैं। अतः शरीर तथा मन से भिन्न कोई वस्तु उसका अधिष्ठान होना आवश्यक है यह कथ्थन भी बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। केवल "मैं" इस प्रकार की प्रतीति अतिरिक्त आत्मवादी भी नहीं मानते। "मैं" इस श्ब्द से होने वाला बोध "मैं" शब्द का उच्चारण करने वाले के विषय में होने से देहात्मवाद में "मैं" शब्द का उच्चारण करने वाले देह के विषय में ही वह होता है। ऐसी स्थिति में उसके लिये किसी भी दूसरे अधिष्ठान की क्या आवश्यकता है?

स्वप्न के समान किसी चैतन्यावस्था में बाह्य पदार्थों की ही नहीं अपितु स्व–शरीर की सत्यता भी सन्दिग्ध तिरोहित विपर्यस्त प्रतिषिद्ध होती हुई प्रतीत होती है, परमात्मा की सत्यता उस प्रकार से प्रतीत नहीं होती है। यदि शरीर आत्मा है तो उसकी भी सत्ता उस प्रकार से क्यों नहीं उपलब्ध होती? यह शंका भी निःसत्व है। सत् पदार्थों की सत्यता की उन रूपों में प्रतीति भ्रमात्मक होने से जिस दोष की वजह से वह प्रतीति होती है उसी दोष के कारण उस काल में शरीर में आत्मा की बुद्धि का विरोध हो जाने से अनात्मरूप शरीर की सत्ता की सन्दिग्धता नहीं होती है। यह ठीक है कि शरीर में आत्मा है और वे दोनों भिन्न नहीं है। किन्तु चेष्टाश्रयता यह जो शरीर का लक्षण है तथा ज्ञानादि का आश्रयता यह जो आत्मा का लक्षण है यें दोनों परस्पर भिन्न हैं। उक्त प्रकार की (स्वप्नवत्) चैतन्यावस्था में उस प्रकार की प्रतीति के लिये कारण–दोषों की वजह से उस समय देह में आत्मा की प्रतीति नहीं होती है, किन्तु देह की ही बुद्धि होती है इसलिए शरीर के रूप में गृहीत होने वाले देह की ही सत्यता सन्दिग्ध आदि होती है, आत्मा के रूप में प्रतीत होने वाले (अन्य किसी) की नहीं।

देहात्मवाद में शरीर की सुख–समृद्धि सम्पन्नता का सम्पादन ही परमपुरुषार्थ है। उसकी उपेक्षा करके लोक–कल्याण के लिए दुःख सहने की जो मानव–प्रवृत्ति दिखायी देती है वह इस वाद में कैसे संभव है? यह प्रश्न भी देहात्मवाद में असमाधेय नहीं है क्योंकि

जैसे अतिरिक्त आत्मवाद में लोगों की प्रवृत्ति प्रायः स्व–सुख तथा स्व–निर्दू:खिता के संपादन में ही होती है, कुछ ही विवेकियों की स्व–सुख की उपेक्षा करके दूसरों के दुःखों को दूर करने के लिये स्वयं दुःख उठाने की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार देहात्मवाद में भी उसकी उत्पत्ति होने में कोई बाधा नहीं है। अतिरिक्त आत्मवादी जिस प्रकार से दूसरों के हित में स्वकींय सुख की इच्छा को शिथिल करके प्रवृत्त होता है, दुःख सहन करता है उसी प्रकार देहात्मवादी भी यदि सुशिक्षित, सुसंस्कृत तथा विवेकी हो तो स्व–सुख की इच्छा न करते हुये परहित के लिये प्रवर्तित होता है, दुःख सहन करता हैं। संसार में देहात्मवादियों का एक बहुत बड़ा ऐसा वर्ग है जिसके सदस्यों में से बहुत से लोग लोकहित के लिये अपनी बड़ी धनराशि खर्च करके विद्यालय, चिकित्सालय आदि का निर्माण करवाने में आनन्द का अनुभव करते हैं।

कोई विद्वान् यह शंका कर सकता हैं कि देहात्मवाद से अदृष्ट और भावना को मन में स्वीकार करने से सुषुप्ति की अवस्था में मन का पुरीतति नाड़ी में प्रवेश होने पर उस समय श्वास–प्रश्वास की गति सम्भव नहीं होगी। इसीलिये अदृष्टादि के आश्रय के रूप में अतिरिक्त आत्मा की स्वीकृति आवश्यक है। उसको स्वीकार करने पर उसके प्रयत्न से श्वास–प्रश्वास की क्रिया सम्पन्न हो सकेगी। परन्तु यह शंका भी निर्जीव ही है क्योंकि त्वचा और मन का संयोग ज्ञान मात्र के लिये ही कारण है। सुषुप्ति के ज्ञान के उत्पन्न न होने से तन्मूलक इच्छादि भी उत्पन्न नहीं होते। परन्तु श्वास–प्रश्वास के कारण जीवन–योनि–यत्न को ज्ञान की आवश्यकता न होने से तथा वह जीवनादृष्टमूलक होने से पुरीतति नाड़ी में स्थित मन में जीवनादृष्ट से उत्पन्न शरीर–यत्न से श्वास–प्रश्वास की क्रिया होने में कोई बाधा नहीं है।

देहात्मवाद में मनुष्य की आजीवन कर्म में प्रवृत्ति नहीं होगी, अन्तिमावस्था में किये जाने वाले, तत्काल फल न देने वाले कर्मों से जीवन में फलप्राप्ति सम्भव नहीं है, यह भी शंका उचित नहीं है। क्योंकि अपने से अधिक जीने वाले तथा बाद में उत्पन्न होने वालों को उन कर्मों की फलप्राप्ति की कामना से आजीवन कर्म में लगे रहना सम्भव है। मनुष्य सब कुछ अपने लाभ के लिये ही करता है, यह नहीं कह सकते। लोकहित के लिये भी अनेक कार्यों में मानव की प्रवृत्ति देखी जाती है जो लोकहितकारक कार्य व्यक्ति के वर्तमान जीवन में उसके अपने लाभ के लिए नहीं होते, उनसे प्राप्त पुण्य से जन्मान्तर में फल की कामना से वे कर्म किये जाते हैं यह स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वर्तमान जीवन के अन्त तक ही अपना अस्तित्व मानने वाले और जन्मान्तर में विश्वास न रखने वाले लोगों के द्वारा किये गये लोक–हितावह, अतिवित्तव्ययसाध्य कर्म प्रत्यक्षसिद्ध हैं।

"शरीर दूसरों के लिये है क्योंकि वह संघात है, शय्या के समान" इस अनुमान से सिद्ध होने वाला 'पर' अर्थात् शरीर से भिन्न आत्मा वाणी मात्र से या युक्त्याभास–जाल से निराकृत नहीं हो सकता है, यह भी कथंन योग्य नहीं है। परार्थता की व्याख्या कठिन हैं, क्योंकि परार्थता का अर्थ अगर स्व–भिन्न का भोग–साधन होना है तो दृष्टान्त शय्या में वह घटित नहीं होता है। उक्तानुमान के पूर्व आत्मा का स्व–भिन्न के रूप में ज्ञान नहीं

होता है। स्वभिन्न के रूप में शरीर के ग्रहण करने पर अतिरिक्त आत्मवाद में उसका भोग अप्रसिद्ध है (क्योंकि वहाँ भोग करने वाला आत्मा है)। यदि परार्थता का अर्थ 'भोग का आश्रय' न हो कर 'भोग का साधन होना' यह है तो पक्ष शरीर में हेतु न रहने से हेत्वासिद्धि है, क्योंकि अतिरिक्त आत्मवाद में शरीर संघात नहीं है। यदि संघात को छोड़ कर जन्यता हेतु कहें तो व्याप्यत्वासिद्ध नामक दोष होता है क्योंकि जड़ता वहाँ उपाधि है।

देहात्मवाद में यज्ञादि में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये, यह कहना भी उचित नहीं है। वर्तमान जीवन में फल देने वाले पुत्रेष्टि आदि यागों में प्रवृत्ति होने में तो कोई बाधा नहीं है। जो याग स्वर्गफल देनेवाले माने गये हैं उनमें भी प्रवृत्ति की अनुपपत्ति नहीं है। यथावर्णित स्वर्ग सभी के लिये स्पृहणीय होने से देहात्मवादियों की भी उक्त प्रकार की कामना हो सकती है और उनकी भी उक्त यागों में प्रवृत्ति सम्भव है। यदि देहात्मवाद में देह के रहने पर स्वर्ग नहीं मिलता हो तो न मिले, लेकिन यह भी आनुषंगिक ही है। उद्देश्यभूत फल भी कर्ता के शरीर में स्थित मन के दूसरे शरीर में प्रवेश करने पर मिलता ही है। दूसरों के लिये लाभ पहुँचाने वाले कर्म में सहृदयों की प्रवृत्ति का बाहुल्य लोकसिद्धि होने से उस प्रकार के यज्ञों में मनुष्य की प्रवृत्ति ठीक ही है।

देहात्मवाद में पुनर्जन्म की कल्पना नहीं लागू होगी, यह भी शंका नहीं की जा सकती। अतिरिक्त आत्मवाद में भी पुनर्जन्म का समर्थन नहीं किया जा सकता। अपने आश्रय–क्षण के ध्वंस के अनाश्रयक्षण के सम्बन्ध रूप जन्म नित्य आत्मा में घटित नहीं हो सकता है क्योंकि उसके आश्रय सभी क्षण उसके पहले–पहले के आश्रयक्षणों के ध्वंस के आश्रय होने से उसके आश्रयक्षण के नाश का अनाश्रयक्षण अप्रसिद्ध है। यदि नये उत्पन्न देह के साथ आत्मा का प्रथम विलक्षण संयोग ही जन्म के रूप में माना जाय तो उस प्रकार के जन्म का उपचार मन के द्वारा देहात्मवाद में भी लागू हो सकता है। उस वाद में देह का उस रूप में जन्म न होने पर भी देहोत्पन्न अदृष्ट से युक्त मन भावी देह के साथ उस प्रकार का सम्बन्ध संभव है और उस सम्बन्ध को ही जन्म माना जा सकता है।

देहात्मवाद में बन्ध–मोक्ष–व्यवस्था के न होने की आपत्ति भी सम्भव नहीं है क्योंकि दूसरे शरीर से भोगने योग्य फलोपयोगी अदृष्टोत्पादक कर्म का कर्ता होना ही बन्ध है, तथा उसका आभाव ही मोक्ष है। इस रूप में बन्ध–मोक्ष की व्याख्या की जा सकती है। अतः जिस देह को देहात्मतत्त्व का योग से उत्पन्न साक्षात्कार नहीं हुआ है वह शरीरान्तर में भोग्यफल के लिये कारण होने वाले अदृष्ट के उत्पादक कर्म करने के कारण बद्ध होता है। और जो उस आत्मतत्त्व के साक्षात्कार को करके उस प्रकार के कर्म से विमुख है वह मुक्त है। बद्ध के समान मुक्त भी नष्ट होता है तो कोई भी देह मुक्ति–हेतु तत्त्वसाक्षात्कार के लिये वैषयिक सुख की उपेक्षा क्यों करें, यह शंका भी नहीं करनी चाहिये। क्योंकि अतिरिक्त आत्मवाद में भी मुक्तात्मा मृतक के समान होने से वहाँ भी वह शंका हो सकती है। देहगत अनुभव से उत्पन्न संस्कार तथा देहकृत कर्मों से उत्पन्न का वाहक नित्य मन के सम्बन्ध से नवीन शरीरों में पूर्व देहों में अनुभूत पदार्थों का स्मरण तथ कृत कर्मों के फलों का भोग आदि कह कर देहात्मवाद की स्थापना का कोई लाभ नहीं है, यह कथन भी उचित

नहीं है। न्याय वैशेषिक परम्परा में नित्य, विभु, अनंत जीवात्माओं को स्वीकार करने की अपेक्षा देहात्मवाद में बहुत लाघव है। अतिरिक्त आत्मवाद में नित्य, अनन्त जीवों का अनन्त मूर्त द्रव्यों के साथ अनन्त काल क्षणों के साथ अनन्त सम्बन्ध तथा उनकी उत्पत्ति आदि की कल्पना करने में महागौरव है।

इसके अलावा अतिरिक्त आत्मवाद में प्राणी अपने पूर्वोर्जित कर्म से उत्पन्न अदृष्ट के आधीन होने से, स्वस्थिति–परिवर्तन में उनको स्वतन्त्रता न होने से उन्हें दूसरे के द्वारा किये गये शोषण, उत्पीड़न आदि को उन्हें मौन–भाव से सहना पड़ेगा। सामाजिक, आर्थिक विषमता का प्रजा के सुख–सुविधा से उदासीन रहनेवाले शासनतन्त्र के उन्मूलन में शोषित–पीड़ित की प्रवृत्ति नहीं होगी। किन्तु देहात्मवाद में यह स्थिति नहीं होगी क्योंकि उसमें मनुष्य के लिये यह बोध सुकर है कि वह तो पहली बार ही उत्पन्न हुआ है, उसका पूर्वकृत कुछ भी कर्म नहीं है जिसके कारण वह दूसरों के द्वारा किये जाने वाले शेषण, उत्पीडन को अपने कर्म का फल मान कर निष्क्रिय रहे। फलस्वरूप देहात्मवादी समुदाय अपनी परिस्थिति को बदलनें में स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त हो सकता है। इस प्रकार प्रवृत्त हो कर न्यायपूर्ण, परस्पर हितावह सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था को जन्म दे कर अति सुन्दर विश्व का निर्माण कर सकता है।

देहात्मवाद में अपना सुख सबको अभीष्ट होने से तथा मरणोत्तर उत्तरदायित्व न रहने से मनुष्य निरंकुश हो कर अपने हित के लिये सदा प्रयास करेगा, दूसरे के हित के लिये चेष्टा नहीं करेगा और यदि परोत्पीड़न से उसका अभ्युदय होता हो तो उसे करने से भी बाज नहीं आयेगा, यह शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि लोकहित के लिये कार्य करने वालों को उनके मरने के बाद उसकी लोगों में होने वाली सम्मान के साथ चर्चा तथा इतिहास में उनका आदर के साथ होने वाला उल्लेख आदि को देख कर अपने सुख की अभिलाषा को शिथिल करके लोकोपयोगी कार्यों में प्रवृत्ति संभव होने से उपर्युक्त भय निराधार है।

देहात्मवाद में एक अन्य भी गुण है। मनुष्य अनैतिक, कदाचार–कलुषित, स्वार्थी जीवन–यापन करने वालों की होने वाली लोकनिंदा को देखकर मरण के बाद त्रुटि–परिहार का कोई अवसर न रहने से वर्तमान देहपात के पूर्व ही अपने जीवन को नैतिक तथा निर्दोष बनाने के हेतु सचेष्टा हो सकता है।

अतिरिक्त आत्मवाद में भावी जन्म में वर्तमान जीवन की त्रुटियों के परिहार के अवसरप्राप्ति की संभावना से वर्तमान जीवन को सुखी बनाने की अभिलाषा से उस सुख के लिये अपेक्षित समृद्धि को प्राप्त करने के लिये कोई अनैतिक कर्मों में भी प्रवृत्त हो सकता है। इस प्रकार से देहात्मवाद में जीवन में नैतिकता की स्थापना की अधिक सम्भावना होने से यही वाद (मत) लोकहितार्थ के लिये स्वीकार करने योग्य है, यह बात स्पष्ट है।

***

सुरेन्द्र बारलिंगे की सौन्दर्य-तत्त्व मीमांसा

पृथ्वीराज शास्त्री

प्रस्तुत विवेचना सुरेन्द्र बारलिंगे जी की दो तात्त्विक पुस्तकें – जो हिन्दी में भी प्रकाशित हैं (किन्तु अब शायद बाजार में आसानी से उपलब्ध नहीं) उनकी ही सारवत्ता पेश करने का एक संक्षिप्त प्रयत्न है। पुस्तकों के शीर्षक हैं : "सौन्दर्य–तत्त्व और काव्य–सिद्धान्त"; "कला और सौन्दर्य"। क्रमशः 1963 और 1990 में इनका अनूदित और मौलिक रूप में संग्रथन हुआ था। किन्तु अभी तक अधिकांशतः इनका महत्त्व मौजूद है। अतः मेरी राय में, इनका एकत्रीकृत और भी एक "चुस्त–दुरूस्त" नया संस्करण सुकाम्य है।

यह ठीक है, कि पिछले एक–दो दशकों में संस्कृति की पाँच मुख्य धारणाओं में बहुत–कुछ चिन्तन हुआ है; और वह सभी तरह, सर्वत्र सदा विचार्य रहेगा। बारलिंगे जी ने इनसे संबंधित जो बुनियादी एवं मौलिक ऊहापोह की है वह सचमुच बेजोड़ है। उनकी दार्शनिक मनीषा की और विविध क्षेत्रों में अर्जित अनुभूति– समृद्धि की यही तो अन्यतम विशेषता थी कि वे सर्वथा अपनी सब पर छाप छोड़ जाती है। मसलन, उनकी दो अन्य अंग्रेजी में प्रकाशित पुस्तकें लें : (1) Beliefs, Reasons & Reflections (1983); (2) Poverty, Power & Progress (1983) ! किसी भी कृति में बारलिंगे जी के सुलझे सुझावों की स्वल्पता नहीं है। शुरू से ही "गुरूजी" के अनुभव–अनुभूतियों का धरातल इतना व्यापक रहा कि उसमें सब कुछ समा लेने की स्वतः स्फूर्त शक्ति संचित बनी रही।

भारतीय प्रज्ञा–परिधि में अमूर्त का मूर्तिविधान कब, कहाँ और कैसे तथा कैसा हुआ और होता आ रहा है यह प्रायः सभी जानते हैं। शायद इसीलिए कुछ लोग तो व्यक्ताव्यक्त और भेदाभेद के द्वन्द्व से अभी तक उबर ही नहीं पाये। अथवा, उनमें वे कोई सामंजस्य नहीं खोज पाते। उन्हें यह बहुत–कुछ 'अद्‌भुत एवं रहस्यमय' लगता है। बारलिंगे जी इस 'मर्ज' से अछूते रहे हैं। वे अपनी तर्क–युक्ति–प्रतिष्ठित विचार–विद्या से अमूर्त–मूर्त की गुत्थियाँ सुलझाने में सदा अग्रणी बने रहे। कहना चाहिए कि 'वागर्थ की प्रतिपत्ति' में वे अनवरत जीवन भर व्यस्त ही रहे। जैसे, सृष्टि–स्थिति–संहार; सत्–असत्–सदसत् ; ब्रह्म–जीव माया; धर्म–अर्थ–काम; या कि फिर, ब्रह्म–विष्णु–महेश की दिव्य मिथकीय प्रतीक अवधारणाएँ– सभी शाब्दिक "प्रत्ययों" पर उनके साथ बहस करने और उनकी नई–नई उद्‌भावनामयी व्याख्याएँ सुनने से उनके सभी शिष्यों को बौद्धिक लाभ प्रायशः हुआ करता था। मैं भी उनमें से एक हूँ। हमेशा ही उनके प्रति कृतज्ञ रहूँगा।

यहाँ हम उनकी दो हिन्दी पुस्तकों पर आधारित एवं शीर्षक से सम्बन्धित कुछ विषयों अर्थात् आनन्द, कला, काव्य, रस और सौन्दर्य की संक्षिप्त चर्चा करने के लिए पुरुतः प्रवृत्त हैं। पहले आनंद ही को लें–अकारादि क्रम से। 'भरत मुनि के रस–सिद्धांत' नामक लेख में इसकी अच्छी–खासी चर्चा है। आनन्द या हर्ष रसास्वाद का सहचर या परिणाम होता है। 'कलाकार और कलासर्जकों की मानसिक स्थितियों में भी इसका साहचर्य रहता है, वैसे ही अभिनेतृवृन्द और सूत्रधार आदि जो रंगकर्मी नाट्यनिर्मिति पेश करते हैं उस वक्त भी आनन्द का अनुभव हो सकता है। किन्तु ये तीनों प्रकार के आनन्द समान–गुणधर्मा नहीं हैं। ध्यान रहे कि यहाँ "आनन्दं ब्रह्म। आनन्दात् हि वा इमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयान्ति, अभिसंविशन्ति वा" इन औपनिषद उक्तियों में, या रस को 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहनेवालों की धारणाओं में, 'सच्चिदानन्द'रहनेवालों की मान्यताओं में संदर्भित 'आनन्द' की बातें यहाँ नहीं की जा रही हैं। बारलिंगे जी भी यह नहीं मानते थे कि आनन्द समस्त कलाओं का एकमात्र उद्‌देश्य या हेतु है। किन्तु वे अभिनवगुप्त के आनन्द–सिद्धान्त को भी नहीं नकारते थे। उनका आशय अपने लेख में सिर्फ इतना ही रहा था कि भरत के नाट्यशास्त्र में 'रस' शब्द का उपयोग आनन्दवाचक नहीं है। भरतमुनि केवल यही मानते थे कि रस के बिना कोई अर्थ नहीं सधता। रस व अर्थ वागर्थ की तरह संपृक्त हैं। यह संपृक्ति वागर्थ–प्रतिप्रत्ति के लिए जरूरी है। हमें यहाँ कालिदास के 'रघुवंश' का प्रथम श्लोक – "वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ–प्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।"तथा एक लोकोक्ति –"अरसिकेषु कवित्व–निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख" याद आते हैं।

बारलिंगे जी तो उत्तम कोटि के कला–काव्य–सौन्दर्य–मर्मज्ञ थे। मनोज्ञता में माहिर, रसज्ञता में बेजोड़। इसीलिए वे प्रथा, परम्परा, प्रयोग, परीक्षण, इन सब में युक्तियुक्त, संगति के, अथवा केवल चिरागत "मुक्ति" ही नहीं "मुक्ति"के पक्षधर थे। उनका यह मत है कि 'रस' और 'आनन्द' एक नहीं हैं। उनमें कार्य–कारणवत् या कालवाचक संबंध हो सकता है जैसा कि रस और अर्थ में है।

उन्हें पंडितराज 'रसगंगाधर के प्रणेता' जगन्नाथ की यह परिभाषा कि "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अधिकांशतः सही लगती थी। वाक्यं रसात्मकं काव्यम् और काव्येषु नाटकं रम्यम्' – इन दोनों बातों में संगति भी बैठ सकती है, यदि हम यह मान लें कि रस का अर्थ नाटक में, नाट्यकला में, 'स्थायीभाव' है।

वे यह भलीभाँति जानते थे कि उनका यह मत आनन्दवाद–सुखवाद (Hedonism) नहीं है। आनन्द तो दुख–सुख कि द्वन्द्वात्मकता से परे की "वस्तु" या आस्वाद्य है। प्रकृत या सचमुच अनुभूत आनन्द के अधिकारी तो वे ही हो पाते हैं, जो "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः" होते हैं। किन्तु इसका यह मतलब भी नहीं कि आनन्द परमात्मा परमतत्त्व या परब्रह्म की तरह "अवाङ्.मनसगोचर", अज्ञेय एवं अव्याख्येय, अथवा एकदम अगम्य है। आखिरकार सर्जना या सृजन (एकोऽहं बहुस्याम्) भी तो आनन्द का ही एक स्रोत है।

या कहें कि आनन्द कला, शिल्प एवं सृष्टि का स्रोत है। यह ''अण्डा या मुर्गी–कौन प्रहेलिका है, नीहारिका में रूप एवं आकृति की खोज है, प्रकृति–पुरूष का सामंजस्य है। निरन्तर ज्ञान–गमन प्राप्तिस्वरूपा, अनवरत गतिशीला आत्मिक अनुभूति है आनन्द–परमास्वाद्य, परमाराध्य। इसीलिए तो ये वाक्य हैं–''नेति, नेति। चरैवेति, चरैवेति'' जो किसी भी साधना के मंत्र बन सकते हैं।

एक वाक्य में कहें तो, बारलिंगे जी के अनुसार, किसी भी 'रस'की तरह 'आनन्द' भी आस्वाद्य उपभोग्य है एवं प्राप्य होने के नाते उसका स्वातंत्र्य समुपेक्षित है– आस्वादक और आस्वाद्य की अधीनता कतई नहीं। किन्तु आस्वाद्यत्व आनन्द का धर्म है, गुण नहीं जैसे वस्तु की वस्तुता या वस्तुत्व वस्तु का धर्म है, गुण नहीं।

कला को हम सामान्यतः शिल्पी या कलाकार, सृजनशील, प्रतिभाशाली कवि अथवा अन्य किसी भी सर्जक व्यक्ति के मनोभावों, अनुभवों एवं अनुभूतियों, कल्पनाओं का रूपायन, मूर्त्तिकरण अथवा वस्त्वीकरण समझते हैं। कलाओं के माध्यम तो वे सभी द्रव्य बन सकते हैं जो अपने–अपने तन्मात्र–शब्द, रस के आधार हों। बारलिंगे जी कहते थे : ''किसी भी अर्थ में स्पर्श, गन्ध जिनका क्षेत्र हो ऐसी कोई भी ललित कला नहीं है, वे भी शब्द, रूप तथा रस में अन्तर्भूत हो जाते हैं। उत्कृष्ट अभिनय एवं नाट्यकला द्वारा गन्ध एवं स्पर्श के आनन्द को भी ''आस्वाद्य'' बनाये जाते हैं। आज कल तो वस्तुतः ऐसा कुछ भी नहीं रहा जो रंगशाला में रंगमंच पर रंगकर्मियों द्वारा ''पेश'' नहीं किया जा सके। सिनेमा भी उसी का एक तकनीकी प्रकार एक सीमा तक देखा जाता है।

किन्तु बारलिंगे जी ने एक काफी अच्छा नमूना पेश कर अपनी बात समझाई है : ''खेल का नियम दर्शन है और उस खेल का प्रस्तुतिकरण कला है।'' यदि हम दार्शनिक दृष्टि से समस्त सृष्टि को 'लीला–खेल'मान लें (''लीला–खेलमिदं जगत्'') तो अभिव्यक्तिमात्र कला कही जा सकती है। कला के माध्यम कुछ भी हो सकते हैं। कलाएँ भी केवल ललित कलाएँ ही नहीं रही हैं। वे मानवता की अवच्छेदिकाएँ हैं : ''संगीत–साहित्य–कला–विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छ–विषाग–हीनः'' (भर्तृहरि)। आज सर्वाधिक सार्वकालिक, सार्वत्रिक, सत्य, शिव, सुन्दर की सम्वाहिका, सम्प्रेषिका, समुपस्थापिका कलाएँ सारे ज्ञान–विज्ञानों, तकनीकों एवं संसाधनों के उपयोग पर पिल पड़ी हैं। असल में, यह ही है जो कृतियों में भंगुरता के बावजूद शाश्वतता, सातत्य का समावेश करती है।

बारलिंगे जी ने बड़े पते की एक बात यह कही है कि ''भाषा विचार संप्रेषण का एक साधन है। वास्तव में सभी कलागत वस्तुएँ भी संप्रेषण की साधिकाएँ मानी जाती हैं। मूलतः भाषा हमारे ज्ञान का एक प्रतीकात्मक चित्रण अथवा रचना है। सामान्यतः एक चित्र, मूर्ति, नृत्य अथवा एक नाटक भी भाषा की तरह हमारे ज्ञान एवं विचार–संप्रेषण के माध्यम हैं। एक दृष्टि से समस्त कलागत वस्तुएँ भाषा की ही एक प्रकार हैं।'' सचमुच, शब्द या नाद, चाहे व्यक्त हो या अव्यक्त, सर्जना और सम्प्रेषण का युगपत्सामर्थ्य रखते हैं। अतः मोटे तौर पर शब्द की तीन शक्तियाँ–अभिधा, लक्षणा और व्यंजना स्वीकृत हैं। वस्तुतः ये

असीम, अनन्त हैं। संगीत ही नहीं, आहें, चीखें, अस्फुटित स्वर सभी के द्वारा ये शक्तियाँ प्रतिफलित होती रहती हैं। जैसे प्राकृतिक ऊर्जा, ताप, प्रकाश और शब्द या ध्वनि के द्वारा 'ऊर्जा और शक्ति' स्वतः अभी तक अपरिभाषेय ही हैं। इनके सारे रूप और कार्य आदि परस्पर परिवर्त्य हैं। इसीलिए इनकी ठीक–ठाक परिभाषा की गुत्थी कोई नहीं सुलझा सका, या सकता है। पदार्थ–विज्ञान को भी अन्ततः "शून्य" ही हाथ लगता है।

कलाकृतियों द्वारा कलाकार अपने अनुभव, अनुभूति, कल्पना, विचार संप्रेषित करते हैं, संवादित या संभाषित नहीं। अन्यथा उनमें दर्शक श्रोतृ वर्ग या संग्राहकों की प्रतिक्रियाओं का तुरंत असर पड़ता। उनमें परिवर्तन किए जा सकते हैं। वस्तुतः ऐसे परिवर्तन नई अभिव्यक्तियाँ बनकर ही पेश होते हैं– प्रदर्शनी और समीक्षाओं के बाद।

संप्रेषण की संरचना सभी सजीवों को प्राकृतिक भाव से उपलब्ध रहती है। किन्तु इसका सफल, समर्थ विकास मानवजाति में ही सर्वाधिक होता है। प्रशिक्षण से उसमें चार चाँद लग जाते हैं। "नव–नवोन्मेषशालिनी" प्रतिभा के उपयोगार्थ कलाकार जितना सशक्त रमणीय नित नये प्रयोग करते हैं, वे उतने ही पुरस्कृत और यशस्वी होते रहते हैं। किसी कवि ने कहा है :'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।'

कला का मूल्यांकन; सच पूछिए तो, एक–दो शब्दों के वाक्य द्वारा हो सकता है, इसके लिए "वर्णनात्मक भाषा या आलोचना की जरूरत नहीं। आलोचना से साहित्येत्तर कला का सौंदर्य बढ़ता नहीं घटता है।" कला का सांगोपांग विवरण कला में निकृष्टता पा सकता है। सौंदर्यानुभूति नष्ट–सी हो जाती है। किसी कलाकृति के बाह्य आयाम लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, रंग, आकृति आदि के भाषिक वर्णन से आलोचना नहीं विडम्बना ही जाहिर होती है। बारलिंगे जी का यह मत कोई फतवा नहीं यथातथ्य विचार है।

किन्तु साहित्यिक कृतियों की समालोचकीय भाषा से उसके मूल्यांकन में सहायता मिलती है। वह दुबारा अनुभवनीय हो उठती है। 'आलोचना को वस्तुतः खुर्दबीनी (माईक्रोस्कोप) कार्य करना चाहिए। साहित्यिक कलाकृति के समग्र सौन्दर्य को सामान्य अनुभविता के समक्ष विवर्धित रूप में पेश करने से मूल्यनिर्णय में मदद मिलती है। "साहित्य–समालोचक तो लेखक और पाठक के बीच दुभाषिया है।"अतः साहित्य समालोचना भी दोयम दर्जे की ही सही, 'सर्जना' ही मानी जाती है।

साहित्य–कला का माध्यम भाषिक होने से उसमें सर्वांगीण गतिशीलता आ जाती है, उसमें भाषा विषयक अवधारणाएँ भी समाविष्ट रहती हैं। अतएव साहित्यिक समालोचना को कृति की "भाषा" की संपूरिका होना जरूरी है । यदि कृति की भाषा गूढ़, दुरूह हो तो वह समालोचना द्वारा सर्वतः स्पष्ट एवं अर्थ की गरिमा से अनुप्रणित की जा सकती है। किन्तु जहाँ कृति का भाषिक कलेवर सीधा, सादा, निरालंकार, प्रसाद गुण–समन्वित है, वहाँ आलोचना की भाषा यदि दुरूह या लफ्फाजी हो उठे तो वह "मघवा मूल बिडौजा टीका" जैसी बात है। बारलिंगे जी ने यह एक वाक्य में कह दिया हैः "अर्थवाही होना भाषा का आद्य लक्षण है।"–उनकी राय में आलोचना शब्दाडम्बर से मुक्त रहनी चाहिए। भाषा वही

फलती है जब और जो अपनी अभिव्यक्ति एवं संप्रेषण क्षमता नहीं खो देती। वह अपनी प्रतीकात्मकता बरकरार रखती है। उसे ध्वनि, भावमुद्रा, नृत्य, चित्र, स्वर–संघात आदि में रूपांतरित कर सकते हैं। किन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं कि किसी भी शब्द को मनमाना या अप्रचलित अर्थ देकर भाषा–विकास के नियमों की निरंकुशता प्रदर्शित करने से निछक पाण्डित्य ही प्रमाणित होता है। बारलिंगे जी ने यह स्पष्ट किया है कि शब्द और शब्द–प्रतीक–ध्वनि में अभेद और शब्द तथा अर्थ में भेद मानने या समझने से अनेक भाषिक विकृतियाँ सामने आती हैं। उनका यह विचार भी अवधेय है कि साहित्यिक कलाकृतियों की आलोचना में जैसी संवाद–लय आ सकती है वैसी साहित्येत्तर कलाओं की आलोचना में नहीं आ सकती। हां, यह अवश्य संभव है कि साहित्येतर कलाओं का विवरणात्मक स्पष्टीकरण छात्रों के प्रशिक्षणार्थ किया जाय। वे यह भलीभाँति बतलाते हैं कि साहित्येतर कलाओं में साभिप्राय अर्थ गौण रहता है किन्तु साहित्य और उसकी आलोचना में भाषिक स्तर सामान्यतया अर्थाभिमुखी रहता है। साहित्यिक कृति की अर्थ–मीमांसा में मूल्यांकन निहित रहता है किन्तु साहित्येतर कलाकृतियों के मूल्यांकन भाषिक संप्रेषण की समस्या नहीं रहती, वह प्रत्येक व्यक्ति की निजी बात बन जाती है।

कला की सर्वमान्य परिभाषा असंभाव्य मानकर बारलिंगे जी अपना अभिप्राय यथासंभव इस वाक्य से करते हैं : गीत, वाद्य, नृत्य (संगीत), साहित्य, नाट्य (अभिनय), चित्र, वास्तु (स्थापत्य) आदि कला प्रकारों से अभिव्यक्त सारे अनुभव कला शब्द से जाने जाते हैं। हरेक कलात्मक अनुभव अनन्य हो सकता है। मुझे उनकी यह बात बहुत पसन्द है कि कोई भी कलाकृति और कृति के आस्वादक के बीच का खेल है।

एक तरह से देखें तो लगता है कि कला तो मात्र खेल, खिलाड़ी, खिलौनों का समन्वय है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय–इस त्रिपुटी की लय है जैसे समस्त व्यक्त सत्ता। कला इस सत्य का हृद्य, मनोरम, व्यावहारिक रूपायन है। कलाकार या कला–स्रष्टा, कलानिर्माता, कलाविधि, कला–तकनीक, कला–कारीगरी, कलाशिल्प, कलाकारिता, कला–विद्या, कला–मर्मज्ञ, कला–रसिक (दर्शक, भोक्ता, श्रोता, अवगाहक, आस्वादक, प्रशंसक, मूल्य–निर्णायक) , कलाकृति, कलात्मक वस्तु, कला का प्रचार–प्रसार, कला प्रशिक्षण–सभी हमें कला को जानने, पहचानने, समझाने की ओर प्रवृत्त करते हैं।

और एक तरह से देखें तो कलाकृतिकार से लेकर कलाकृति के रसिक (आस्वादक, भोक्ता, दर्शक, श्रोता आदि) के बीच के सारे क्रियाकलाप में कला–व्यापार अपने विशेष माध्यमों द्वारा संपन्न होती हैं। कभी–कभी में इन जिन माध्यमों द्वारा संपन्न होते हैं, उन माध्यमों को ही कलाओं के विभिन्न नामों का गौरव मिल जाता है। इसीलिए कला को क्रीड़ा माना जाये तो ठीक ही है। कला–माध्यम कला–संदेश को मूर्तता देता है। कला को अभिव्यक्ति समझना भी इसलिए भूल नहीं स्वीकृति है। कलाभिव्यक्ति यदि ठीक से संप्रेषणक्षम न हो तो वह नकल या कौशल अथवा कारीगरी ही मानी जाती है। इसीलिए

निर्मित वस्तुमात्र कलाकृति नहीं बन पाती। कलाकृति में मनोभाव, वस्तुता और आस्वाद्यता इसीलिए अत्यन्त जरूरी है।

कला के स्वरूप, लक्षण, ज्ञान और कला का सम्बन्ध; कला–निर्मित या प्रस्तुति, उद्देश्य, आवश्यकता; भावनामय अनुभव, सौंदर्य, विधाएँ; तथा कला की भाषा और पद्मबन्ध पर विचारते समय बारलिंगे जी की प्रवणता के अनुभव होते हैं। हर कदम महसूस होता है कि कुछ नया पाया।

समस्त कलाओं के निरपवाद गुण जानकर भी कला की सर्व–सम्मत व्याख्या अथवा परिभाषा मुश्किल है। कारण, कला शब्द अब नानार्थक हो गया है। कला तो निरवयव वस्तु नहीं अतः उसके सारे घटकों का निश्चयन भी आसान नहीं है। फिर भी कला के गुणों का आकलन जरूरी है। सौंदर्यानुभूति इनमें सर्वप्रथम, कल्पना द्वितीय, नवीनता तृतीय, व्यक्ति–निर्भरता चतुर्थ, ज्ञान से समानता पंचम। कारण, व्यक्ति–निर्भर होने के साथ ही कला वस्तुनिष्ठ भी होती है। प्राकृतिक वस्तुओं की तरह कलाकृतियाँ भी प्रतिवस्तु कही जा सकती हैं–व्यक्ति–कल्पना से मण्डित, प्राकृतिक अथवा कृत्रिम उपादानों से समायोजित, निर्मित, विहित, प्रस्तुत। कला एक तरह से वस्तु की ही अभिव्यक्ति है–सम्प्रेष्य एवं कल्पनामयी, सुंदर एवं आनन्द–प्रद । कला सचमुच ही निछक सर्जना होती है। कलाकार में या कला–सर्जक में निर्मातृत्व या विधातृत्व और रसिकता दोनों समाहित रहती है। किन्तु मात्र रसिक में आस्वादकत्व ही होता है; सर्जकत्व विशेष नहीं, कलाकारिता तो एकदम नहीं होती। सर्जना और आस्वादन पृथक्–प्रक्रियाओं की अपेक्षा रखते हैं। "कला–संवेदन ज्ञान–सदृश होने पर भी सदा ही ज्ञान से भिन्न होता है।" इन्द्रिय–सन्निकर्ष लगभग दोनों में ही समानतया रहता है। परंतु "सृष्टि के वैयक्तिक अनुभवों को अपनी भावनाओं के साँचों में उड़ेलकर" साकारता प्रदान करते हैं केवल कलासर्जक। स्वभावतः कला यथातथ्य ज्ञान से अलग है। कला की यही अनन्यता या विशेषता है। कला की अभिव्यक्ति में अनुभव अहं–सापेक्ष या अहं–निरपेक्ष यह निस्संदेह परमविशिष्ट तथ्य है कि प्रत्येक कलाकृति में कृति के प्राण फूँके रहते हैं। इसी से वह नैसर्गिक वस्तु–ज्ञान से अधिक प्रभाव डाल पाती है। वह तर्क–कर्कश नहीं, भाव–मृदुल होती है। कला की सृजन–प्रक्रिया में अनुभूतियाँ शुष्क ज्ञान से नहीं, भावना, कल्पना, सौंदर्य से अनुप्राणित सशरीरी हो उठती हैं।

हम यह कह सकते हैं कि अत्याधुनिक "कम्प्यूटर–कला–कृतियों की अपेक्षा वैयक्तिक कलाकृतियाँ सदा ही उत्कृष्ट रहेंगी। कारण वे पूर्णतः नियोजित नहीं होती हैं। मूलतः कलाकार की अनुभूति जैसे मूर्त हो पाती हैं– माध्यम कुछ भी हों–वह ठीक वैसी नहीं होती जो अभिव्यक्ति से पहले किसी भी कृति के मनोगगन में धुँधली सी छाई रहती हैं। इसी तरह कला मात्र कारीगरी नहीं; और न वह अनुसंधानी गवेषणा या कुछ नये की आविष्कृति कही जा सकती है। वह तो वस्तुतः सौन्दर्य की सशक्त अभिव्यक्ति एवं प्रतिमूर्ति ही बनती है। देवता की प्रतिमा की तरह प्राण–प्रतिष्ठा से सम्पुटित स्वकीयता से ओत–प्रोत।

किन्तु सौन्दर्य भी कला का अनन्य व्यक्च्छेदक नहीं है। कुछ सौन्दर्यतत्त्वज्ञ,

कलामर्मज्ञ भले ही ऐसा मानें और निसर्ग या प्रकृति को सर्वोच्च कलाकार कहें, बारलिंगे जी का मत ऐसा नहीं है। कारण, यह शब्द "सुन्दर" विशेषण के रूप में भले ही एक हो, अर्थ में एक नहीं होता। उनकी दृष्टि से नैसर्गिक सूर्यास्त का सौन्दर्य और उसके श्रेष्ठ चित्रण का सौन्दर्यानुभव भी "यकसाँ" नहीं होते और न ही सूर्यास्त पर लिखी कविता या तत्संबंधित स्वरबद्ध रचना द्वारा संगीत की अभिव्यक्ति। वैसे, समस्त ज्ञान–प्रक्रिया में अनुभव–अनुभूति तो रहते ही हैं। विज्ञान भी यह अब स्वीकार रहा है कि द्रष्टा या दृष्टि से प्रभावित ही रहता हैं कोई भी दृश्य। बारलिंगे जी भी यह स्वीकारते हैं कि नैसर्गिक सौन्दर्य और कलाभिव्यक्ति के सौन्दर्य में आधाराधेय जैसा कोई संबंध है; अन्यथा, सौन्दर्य–कल्पना ही दुरूह होगी। अपनी तार्किक बुद्धि से वे यह भी मानते हैं कि "सौन्दर्य कला का भावात्मक लक्षण न होकर असुन्दरता (अवश्य ही) कला का निषेधात्मक लक्षण है।" सौन्दर्य को कलाकृति का अंश मानने में उन्हें कभी कोई आपत्ति नहीं रही।

किन्तु सुन्दर को वह भाववाचक विशेषण नहीं मानते हैं। इसी से सौन्दर्य को कलाकृति का एकमेव घटक भी नहीं स्वीकारते हैं। सौन्दर्य की व्याख्या वे साम्य, विरोध, समतुल्यता इत्यादि शब्दों द्वारा करना ठीक नहीं समझते हैं। उनकी राय में ऐसे सारे शब्द जो सौन्दर्य को स्पष्ट करते हैं, उसे परिभाषित नहीं कर पाते। वे सौन्दर्य के वस्तुतः अर्थ नहीं, चिह्न मात्र हैं। उनका कहना है कि, "कलाकृति का कलाकृतित्व निश्चित करते समय उसे केवल सौन्दर्य की कसौटी पर कसने से काम न चलेगा, "क्योंकि साम्य, विरोध, समतुल्यता आदि से निर्धारित सौन्दर्य तो निसर्गकृतियों में कलाकृतियों जैसे ही दिख पड़ता है।

कलाकृतियों और निसर्ग–कृतियों में पर्याप्त अन्तर बारलिंगे जी सौन्दर्य से नहीं निर्माण–प्रक्रिया से करते हैं। कला–सौन्दर्य की विशिष्टता वैयक्तिक निर्मातृत्व से आती है। यह ठीक है कि निसर्ग की प्रतिकृतियाँ भी सुन्दर होती हैं। किन्तु ये तो कला के प्राथमिक मूर्तिकरण में ही शामिल हो पाती हैं। इसी प्रकार साम्य, विरोध और समतुल्यता के अतिरिक्त वे अंगांगि–भाव सम्बन्ध और सगतिक (गति–प्राणा) स्थिति को भी सौन्दर्य चिह्नों में ही शुमारते थे। मसलन, पंखुड़ियोंवाले प्रसून और अगतिक स्थितिमयी विद्युल्लता। ऐसा नैसर्गिक सौन्दर्य कलाकृतियों की सुन्दरता में कलासर्जक भी भावनाप्लुत होकर पेश करते हैं। अतः उनका सौंदर्य विशिष्ट हो उठता है। यह तत्त्व चित्र, काव्य,मूर्ति, सांगीतिक स्वर–संगठन, नृत्य आदि सभी में विराज सकता है। प्रकारभेद की बात अलग है। प्रक्रियाएँ भी अलग तरह की हो सकती हैं। इसी प्रसंग में बारलिंगे जी का यह कथन अवधेय है : "पार्थिव साम्य पर आधारित कलासौन्दर्य अत्यन्त प्राथमिक स्वरूप का होता है, यह समझाने की आवश्यकता नहीं है।" परन्तु प्राकृतिक साम्य से धीरे–धीरे हम इस वैचारिक अथवा मानसिक साम्य की ओर आकृष्ट होते जाते हैं और सत्य के साक्षात्कार से हमें सौन्दर्य का वास्तविक दर्शन भी होता है।" स्पष्ट है कि ऐसा सौन्दर्य–दर्शन हमें केवल किसी कलाकृति में ही प्राप्त हो सकता है। कहना न होगा कि बारलिंगे गुरूजी ने इस तरह

तथाकथित "अमूर्त कला"(Abstract art) का महत्त्व भी स्पष्ट प्रतिपादित कर दिया है। उनका यह निर्देश और भी अधिक महत्त्व रखता है कि, नैसर्गिक और कलाकृति का साम्य ही नहीं वैषम्य भी कला द्वारा सुन्दर हो उठता है। निसर्ग की कुरूप वस्तु का चित्रण भी सुन्दर हो पाता है। सत्यसृष्टि की कुरूप एवं सुन्दर वस्तुएँ कभी यकसाँ नहीं होती। परन्तु उनकी प्रतिकृतियाँ हमें प्रायः समानतया सुन्दर लगती हैं। कलाकारिता ही विभिन्न साम्य–विरोध–संतुलनों का ठीक उपयोग करके नई–नई सुन्दर वस्तुएँ बना देती है। कला द्वारा वस्तुतः प्रतिसृष्टि होती है।

कला सौन्दर्य–प्रतीति के प्रसंग में प्रतिनिधित्व या पुनर्निर्माण, संश्लेषण–विश्लेषण, प्रतिक्रिया अथवा व्याख्या के प्रश्नों पर विचार बहुत आवश्यक है। किन्तु मुख्य बात यह है कि हम कला के सभी अंगों को स्फुट अवयव मानकर विचार नहीं करते, वरन् उन पर समग्रतया ही सोचते–समझते हैं। समग्रता की अनुभूति में ही सौन्दर्य निहित रहता है जिसे कलाकृतियाँ स्पष्ट करती हैं। इसीलिए नैसर्गिक असुन्दर वस्तु का भी सुन्दरीकरण संभव होता है। अथवा, यों कहिए, प्रकृति में असुन्दर नहीं अपूर्ण संघटित पदार्थ होता है – प्रायः रूप–बन्ध–रहित।

कला के घटक चाहे पार्थिव हों या मनोमय उनकी प्रभावशालिता जरूरी है। जाहिर है कि उन्हें अस्तित्ववाचक होना पड़ता है, अन्यथा वे कला के काम नहीं आ सकते। सौन्दर्य उनका उद्देश्य होता है विधेय नहीं। कला में इसीलिए व्यक्ति–निर्मातृत्व या व्यक्ति–तंत्र का करिश्मा कभी अस्वीकारा नहीं जा सकता। परिणाम यह कि कला–सौन्दर्य भी अंगांगि–भाव–सम्बन्ध की मनोमयता के आधिक्य से उभरता है। कला के अंग, अंश अवयव, नैसर्गिक हो या काल्पनिक–उनकी एक समग्र में रूपांतरित स्थिति ही अपनी गतिमयता के साथ निरवयव सौन्दर्य को प्रकट करती है। वही उसका यथातथ संप्रेषण भी करती है।

कला–मीमांसा करते वक्त जो मुख्य प्रश्न उमरते हैं वे ये हैं : कला और कारीगरों (कौशल, शिल्प) का पारस्परिक संबंध, कला का सांस्कृतिक मूल्य, कला की मानसी (मानुषी) पृष्ठभूमि, कला–निर्मित–संबद्ध समस्याएँ, कलास्वादन की विशेषताएँ इत्यादि। बारलिंगेजी कहते हैं कि कला–निहित अधिकाधिक गुणों का अन्वेषण एवं वर्गीकरण, तथा भ्रान्तिनिराकरण भी कला–मीमांसा की समस्याएँ हैं जो दिन–प्रतिदिन उभरती आ रही हैं। और वे अपने हल सदा–सर्वत्र ढूँढती हैं। आखिरी बात तो कभी नहीं कही जा सकती है, न ही वह जरूरी है। विवेचना जारी रहना चाहिए–सर्वथा।

यों तो सारी कलाओं के सारे माध्यम "कला–भाषा" इस सामान्य संज्ञा से अभिहित हैं। लेकिन यह बहुत ही विवादास्पद एवं संदिग्ध संज्ञा शब्द है। इसके चल पड़ने का कारण शायद यह है कि "भाषा"कहने से हम सूक्ष्म भाषिक व्याख्यानुरूप विचार कर सकते हैं। रंग एवं रेखाएँ चित्रकला की, स्वर एवं श्रुतियाँ संगीत की "भाषा" कहलाते हैं। बारलिंगे जी इस बारे में अपनी नापसंदगी जाहिर करते हुए कहते हैं कि कला सृजन के समय हुई

सारी संकल्पना पूर्वानुभव, पूर्वचिन्तन, निहित उद्देश्य, संप्रेषणता आदि का विचार एवं मानदण्ड – ये सभी वे "कला की भाषा" में शुमारते हैं किन्तु मुख्य तत्त्व है वह कौशल, जो कला की संप्रेषणीयता को सक्षम करता है। और इसका आधारभूत होती है, मानवीय प्रतिभा एवं कुशलता। कुशल, प्रतिभाशाली व्यक्ति आदि नकल ही करें तो भी उसमें एक प्रकार की कुशलता, तपस्या, शिल्पाभ्यास समाहित रहते हैं।

यही वजह है कि प्रत्येक कलाकृति सामान्य नहीं विशिष्ट वस्तु बन जाती है और उसका मूल्यांकन भी वैसा ही होता है, होने लगता है। इस विशिष्ट या मौलिक कलावस्तु के ढाँचे–साँचे–में या ऊपर ढली बनी चीजें नकल या प्रतिकृति कहलाती हैं और उनका मूल्यांकन भी हर तरह से तदनुरूप होता है। इनमें मूल कलाकृति जैसा कौशल भी नहीं होता है। व्यक्तता या विशेष व्यक्त्याकृति ही कला की अपनी विशेषता है। प्रत्येक कला का कौशल ही नहीं संप्रेषण भी विशिष्ट हो जाते हैं। वे स्वार्थ और परार्थ दोनों एक साथ संप्रेषित करते हैं। कलास्वाद तो प्रत्येक व्यक्ति का पृथक् हो सकता है। किन्तु अपना अनुभव–वैविध्य दूसरों तक संप्रेषित कर सकना ही कला एवं कलाकृति की अन्यतम विशेषता है। यदि ऐसा न होता तो कलास्वाद ही नहीं बल्कि उसके बारे में बातचीत भी असंगत हो उठती।

कला–संप्रेषण भी द्विविध होता है : एक तो स्वतः, दूसरा, अन्यान्य कला वस्तुओं द्वारा उन्हीं को माध्यम बना कर, जैसा कि नाटकों में होता है। कलाओं के शारीरिक (आंगिक) एवं ग्राह्यता (आशय) तत्त्वों की विचारणा से यह तथ्य जाना–समझा जा सकता है। कला का शारीरक उसे 'वस्तुता' देता है। किन्तु कला का स्वरूप–निर्धारण एवं मूल्यांकन तथा मानदण्ड–निश्चिति या निर्णय–ग्राह्यता (आशय) तत्त्व से ही होते हैं। कला के नये अर्थ उद्घाटित होते हैं। नये अर्थों की उद्भावनाएँ केवल मानवीय कौशल से ही नहीं अपितु मानसी या भाव–विश्व से भी होती है।

बारलिंगे जी वामनकृत 'काव्यालंकार सूत्र' के चार सूत्रों का हवाला देकर और काव्यकृतियों के निदर्शनों से अपनी बात भलीभाँति प्रमाणित करते हैं। वामन काव्य की आत्मा "रीति" और रीति का लक्षण विशिष्ट पदलक्षणा बताकर जहाँ काव्यकला का आंगिक (शारीरकत्व) समझाते हैं वहाँ काव्य को अलंकार द्वारा ग्राह्य और अलंकार को काव्य का सौन्दर्य मानकर उसकी संप्रेष्यता भी व्यक्त करते हैं। उपमोत्प्रेक्षादि अलंकारों को तो वे "गौण"मानते हैं, "प्रधान उद्देश्य" नहीं।.... खेद है कि वामन की बातें प्रायः ठीक से समझी नहीं गईं।

बारलिंगे जी कहते हैं कि "सौन्दर्य नाम की कोई ऐसी वस्तु नहीं है , जिसका बाहर से आरोपण कलाकृति के आंगिकों पर किया जा सके। वह तो 'कलावस्तु' में – यदि वह इस नाम के योग्य है–स्वयं ही निखर आती है। इसी सौन्दर्य के प्रति प्रेक्षक, आस्वादक, सभ्य, सहृदय आकृष्ट हो जाते हैं" । ऐसे सौन्दर्य का समुपस्थापन–संप्रेषण ही कलाकृतिकार और अन्य सभी वस्तु–व्यक्ति (जो उससे थोड़े भी संबद्ध हो)" का परम कर्त्तव्य है। इसीलिए

कहा जाता है कि, कलाकृति का वस्तुपक्ष लौकिक और कलापक्ष अलौकिक मान सकते हैं। इनका सामरस्य–घोलमेल ही कला की सामर्थ्य बनता है। कलाकृतिकार की सृजनी या प्रतिभा भी एक तरह की ''जुगाली'' है, कल्पनाशक्ति है। कलासृष्टि ज्ञान–विज्ञान की सृष्टि नहीं, यद्यपि वे इसके भूल में रह सकते हैं, जिसे हम कला–संचेतना के विविध स्तर भी कह सकते हैं।

भवभूति ने अपने 'उत्तररामचरित' नाटक में कहा है : ''एको रसः करूण एव निमित्तभेदात् भिन्नः पृथक्स्पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान् ।'' आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान्विकारान्, अम्मो यथा सालिलमेव तु तत्समग्रम्।''– बारलिंगे जी भी कुछ ऐसी ही बात कहते हैं जब वे यह जोर देकर कहते हैं कि मानवी–मानसी कलासृष्टि के मूल में दुःख की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। दुःख से उनका मतलब ''दर्द या दैन्य'' से नहीं, 'करूणा' से है। मनुष्य के भाव–विश्व में समाधानों का विनाश, अपेक्षित वस्तुओं का नितांत अभाव और सामान्यतः विविध दुःखदैन्य का प्राचुर्य–ऐसे अनेक कारणों से जगती के प्रति मानवीय प्रतिक्रिया जो करूणा का रूप धरती है, अधिकांशतः उसकी परिणति कलासृष्टि में भी होती है। अपनी बात की पुष्टि में बारलिंगे जी वाल्मीकि और क्रौंचवध की कथा याद करते हैं, बुद्ध के 'आर्य–सत्य–चतुष्टय' के भूल में गौतम के दुःख–साक्षात्कार की कथा याद दिलाते हैं। वैसे भी संत्रास का सातत्य स्वीकारने वालों की तादाद दुनियाँ में कम नहीं है। चाहे आप इसे बदकिस्मती कहें, दुर्दैव या कर्मफल मानें।

उनकी यह बात भी बड़े काम की है कि, अनुभवों का प्रस्तुतीकरण (सृजन एवं उपस्थापन) भी स्वतः एक नया अनुभव है, चाहे वह कितना भी विकृत क्यों न हो गया हो। ऐसे मूर्त्तिकरण में दिक् (स्थान, देश) और काल (समय) के अनुभव भी बने रहते हैं, अथवा पूर्णतयाः नष्ट नहीं होते, नहीं किए जा सकते। कलासृष्टि में प्रकट या प्रच्छन्न (निहित) रूप से गतिशीलता के लिए यही आवश्यक है।

कला के इतिहास से उनका तात्पर्य कला–विषय (कला–क्रिया–क्रम) तथा उसकी संकल्पना–संरचनाओं की रीति से होता है। इतिहास–संचेतना यद्यपि ऐतिहासिक वस्तु या व्यक्ति अथवा दोनों के सह–अस्तित्व पर निर्भर करती है परन्तु कला संकल्पना का केन्द्र–बिन्दु (मुख्यतत्त्व) व्यक्ति की संवेदना ही है, कारण कला एक प्रकार का व्यक्तितंत्र है। व्यक्ति मानव और उसके स्वभाव–चरित्र दोनों पर ही दार्शनिक एवं नृवंशतत्त्व के प्रभाव स्पष्ट हो चुके हैं, जिनमें अस्तित्व, वस्तुजगत् से अन्योन्याश्रयी द्वैत सम्बन्ध एवं जीवन में शामिल अन्य व्यक्तियों से पारस्परिक क्रिया–प्रतिक्रिया–सम्बन्ध खास तौर से परिगणनीय हैं। इतिहास मानव एवं वस्तु–जगत् के द्वारा क्रियाकलाप को देश–काल के आयामों में उकेरता एवं जाँचता–परखता है। कला के क्रियाकलाप का केन्द्र बिन्दु भी मानव ही होता है।

यहाँ हमें एक कहानी याद आती है। एक जाने–माने संस्कृत– गद्य– पद्य के कवि ने अपने अधूरे छूटे वाङ्मय कार्य की पूर्ति अपने दो बेटों में से किसी एक को चुनकर सौंपने का निश्चय किया। वे स्वयं मृत्युशैय्या पर थे। समय नहीं था ज्यादा उनके पास। खिड़की

से सामने देखने पर उन्हें एक सूखा पेड़ दिखाई दिया और तुरंत पुत्रों की कवित्व–परीक्षा का उपाय सूझ गया। दोनों बेटों से कहा– इस सामनेवाले पेड़ पर लिखी जानेवाली कविता कैसे शुरू करोगे, बोलो तो ?

पहले ने उत्तर दियाः "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे ।"

दूसरे ने कहा : "नीरस तरूरिह विलसति पुरतः।"

कवि ने काफी–कुछ सोचा और दूसरे बेटे को ही कार्यपूर्ति का भार सौंपा। शायद उनकी सोच इस तरह हुई; पहले ने अपनी सपाट–बयानी जाहीर की है। उसे व्याकरण की छन्दोगति का ज्ञान है। किन्तु रमणीय अर्थ, रीति, ध्वनि, रस एवं सौन्दर्य की ओर कवि की पैनी द्रष्टि नहीं मिली, शायद। लेकिन दूसरे ने तो यह सब एक ही वाक्य में कह डाला।

सचमुच ! सूखे पेड़ की भी तो अपनी एक खूबसूरती है। वह भी अपने अस्तित्व और अस्मिता की उपयोगिता से वाकिफ है। रस नहीं भी रहा पूरा तो क्या, उसे "विलास" आता है। "सौन्दर्यानन्द का आस्वाद" आता है। वस्तुतः ये सारी बातें कवि के मन में ही थी; और, अपने दूसरे बेटे में उन्हें इनका ही आभास मिला। वह कृति कलाकार था जो नैसर्गिक 'असुन्दर' को भी सुन्दर बना सका।

बारलिंगेजी के सूक्ष्म एवं पुंखानुपंख– चिंतन का परिचय हमें उन लेखों से भी मिलता है जिनमें वे कठिन–जटिल धारणाओं पर तर्क एवं तत्त्वशास्त्रीय दृष्टि से सम्यक विचार पेश करते हैं। कहना नहीं होगा कि उनके लेखन में पूर्वाग्रहों और दुराग्रहों का प्रायः सर्वथा अभाव रहता है, सदा ही रहा है। उदाहरणार्थ, हम यहाँ उनके कुछ "वाक्य सूत्र" दे रहे हैं, यद्यपि उनसे संबंधित पूरी विचारधारा में अवगाहनार्थ तो उनकी कृतियों का समग्र अध्ययन एवं अनुशीलन जरूरी है। जैसे, "आकारीकरण की प्रक्रिया में न तो साधारणीकरण किया जाता है, न सामान्यीकरण।" पुनः, "इसमें सामान्य धर्मों को उत्तरोत्तर वर्जित किया जाता है फिर भी एकमात्रता या विशिष्टता बनी रहती है।" अभ्रक या शिलिका (स्लेट) के उदाहरण दे कर वे कहते हैं कि "शिलिका या अभ्रक एक के ऊपर लगे पत्रों से बने होते हैं, इनमें से कुछ हटाये जा सकते हैं किंतु मूल रचना ज्यों की त्यों बनी रहती है। इसी तरह घटना का एक विशिष्ट आकार होता है और उसके द्रव्य तथा धर्म भी होते हैं। धर्म, द्रव्य तथा आकार एक ही नहीं होते।"

"कला और सौन्दर्य" नामक अपनी कृति में बारलिंगेजी ने संकल्पना, कला, काव्य, नाटक, नृत्य आदि के आकारीकरण (उनका नया शब्द है इसके लिए–पद्मबंध) की प्रक्रिया की यथायथ विवेचना की है, जो सचमुच बेजोड़ है। अत्यन्त विचारणीय।

इसी कृति में "सौन्दर्य मीमांसा" शीर्षक लेख या अध्याय भी भूरि–भूरि पठनीय है। उसमें कला एवं सौन्दर्य के स्वरूप की सांगोपांग चर्चा है। वे यह भी स्पष्ट कहते हैं कि "सौन्दर्यमीमांसा कला का शास्त्र है, उसमें कलावस्तु की रचना और कला को कला बनानेवाले निकषों का विचार करना पड़ता है।" और यह भी कि "कलाकार जब कलावस्तु का निर्माण (रचना) करता है तब उसके सामने कौन से प्रेरणादायक घटक होते हैं।" वे तो

यही मानते हैं कि कला की समस्या प्रायः भाषा की समस्या के समान होती है। "प्रायः" शब्द के इस्तेमाल से यह स्वतः व्यक्त हो जाता है कि, कलाकार की समस्या सिर्फ संप्रेषण ही नहीं, सौन्दर्यानुभूति भी है। कलाकार, शिल्पी, साहित्यकार, संगीत विशारद सभी की एक समस्या सर्वसामान्य है अनुभूति का ठीक–ठाक संप्रेषण।

इसीलिए बारलिंगेजी सोचते हैं कि कला और सौन्दर्य–मीमांसा द्विविध संप्रेषण से संबंधित रहते हैं। सौन्दर्य या सुन्दर वस्तु–निर्णय के लिए परिस्थिति वास्तविक एवं अनुभूतिजन्य (आनुभाविक) हो, यह जरूरी है। उनकी राय में "सुन्दर" यह शब्द मात्र जातिवाचक नहीं वह सौन्दर्य से संबंधित समान और अन्य वैसी ही संकल्पनाओं को भी व्यक्त करता है। सौन्दर्यवाचक विधान की अनिवार्यता संभावना से निर्धारित होती है; और सौन्दर्य–सिद्धांत किसी भी तरह की नैमित्तिकता या प्रासंगिता से मुक्त होता है।

'क्या सौन्दर्य–मीमांसा शास्त्र है' – इसी शीर्षक से समूचे एक प्रकरण में उन्होंने ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। जैसा कि अब सभी जानते हैं, शास्त्र का अर्थ अब कुछ खास ग्रंथों और ज्ञेय विषयों पर आधारित नहीं रहा और न केवल यही कि किसी विषय का सोपपत्तिक, सांगोपांग और प्रणालीबद्ध विवेचन एवं अभ्यास को ही शास्त्र कहते हैं। यह शब्द अंग्रेजी शब्द, शास्त्र के अर्थ में Science एवं Logos की धारणाओं से भी परिभाषित नहीं होता, यद्यपि इनका पर्यायवाची है या हो चला है।

यह ठीक है कि प्रत्येक शास्त्र के कुछ प्रमेय (मूलाधार गृहीतक) अवश्य होते हैं लेकिन वे निरपवाद सत्य हैं, ऐसा अब नहीं माना जाता। बारलिंगे जी यह स्थापना करते हैं कि आकारवाची विधान (Formalation) आशयवाची विधानों (conceptuals) की तरह सत्य या असत्य नहीं हो सकते। जिस विशिष्ट आकार, ढाँचे या मॉडल अथवा पैटर्न (रूपविद्या) को हम वस्तुस्थिति बतलाते हैं उसे यथार्थ (सत्य) या अयथार्थ (असत्य) कहना ठीक नहीं। मतलब, "दो और दो चार कहना यह सत्य तथा दो और दो पाँच कहना असत्य है।" लेकिन ठीक वैसा कथन नहीं जैसा यह कि 'यह घोड़ा है, गधा नहीं।'

मतलब यह कि शास्त्ररचना करते हुए हमें मूलाधार गृहीतकों (प्रमेयों) का सत्यासत्य–निर्णय नहीं, यही देखना होता है कि ये परस्पर असंवादी या विसंवादी तो नहीं और यदि मूलाधार गृहीतक एक ही हो तो स्वविरोधी या स्वतः असंगत तो नहीं। और एक बात– किसी भी प्राकृतिक नियम की तरह वैयक्तिक अथवा सामाजिक जीवन के बीच बने या बनाये गए नियम–कानून एक जैसे नहीं होते या हो सकते – यह सोच भी मानवकृत शास्त्र–रचना में जरूरी है। साथ ही यह भी कि मानवीय शास्त्र व्यक्ति एवं समाज के वरण–स्वातंत्र्य की उपेक्षा नहीं करते या कर पाते। वे सदा ही "नैमित्तिक" रहते हैं। और इसलिए सतत् परिवर्त्य भी। सही शास्त्रीय परंपरा वही होती है जो निरंतर विकसनशील हो, श्रेयस्कर हो।

सौन्दर्यशास्त्र की विचारणा में इन सब बातों का समावेश अपरिहार्य होता है। "सौन्दर्य का आस्वादन प्रधान रूप से.प्रत्यक्ष होता है और गौणरूप से स्मृतिरूप रहता

है।"सौन्दर्य कदापि अनुमेय नहीं, केवल आस्वाद्य, उद्देश्य, प्रमेय और विधेय ही बन सकता है। कारण, अमुक वस्तु सुंदर है या नहीं, यह राय बनाते वक्त हम वस्तु के आकारिक एवं अनाकारिक (मूर्त्त एवं अमूर्त्त) सम्बन्ध भी जानते हैं। लेकिन यह ज्ञान अनुमान, स्मृति या शब्द प्रमाणों से नहीं होता। सौन्दर्य–निर्णय से एकावाची विधान भी पूर्णरूप से सामान्य विधान जैसा नहीं होता। तात्पर्य यह कि अमुक वस्तुएँ 'विशेष प्रकार' की होने से ही 'सुंदर' नहीं हो जातीं और न ही उनका कोई सामान्य वर्ग या श्रेणी निर्णीत रह सकती है। सौन्दर्य अधिकांशतः अनुभवनीय होता है। अतः उसके प्रकृत मूल्यनिर्णयात्मक विधान एवं निगमनात्मक विधान तो किसी भी तरह नहीं किये जा सकते। अतएव स्पष्ट है कि सौन्दर्य का कोई शास्त्र, बारलिंगे जी की राय से, कतई नहीं बन सकता। सौन्दर्य के आकारिक घटक भले ही स्वीकार्य हों लेकिन सौंदर्य के निकष नहीं बन सकते। उनकी राय से समग्र मानव–सृष्टि ही 'कला' कही जा सकती है। दिव्य सौन्दर्य एवं दिव्य या प्राकृतिक निर्मित अथवा सृष्टि अलग है, उनमें 'कला' की संकल्पना भले ही करें परन्तु कलानुभव जैसी समूची संवेदनात्मक होती नहीं– यही विवादास्पद बात है। प्रकृति और कृति (कलाकार, शिल्पी) के माध्यम और तदनुसार रचना–प्रकार–भेद अवश्य ही अवधेय हो सकते हैं। सामान्यतः मनुष्य में दिव्य सृष्टि एवं तत्सौन्दर्य की ज्ञातृता ही अपेक्ष्य है। किन्तु कला या शिल्प में लालित्य एवं रसास्वाद का ज्ञातृत्व और निर्मातृत्व भी मानवीय होते हैं। प्राकृतिक सृजन या निर्माण अलग विषय है।

'मार्क्सवाद और सौन्दर्य मीमांसा' जैसे अत्याधुनिक विषय पर भी बारलिंगे जी ने अपने वैदुष्य की विदग्धता भलीभाँति व्यक्त की है। यह भी अत्यन्त अवगम्य है।....

वे यह कदापि नहीं स्वीकारते कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण से सौन्दर्य के मौलिक सिद्धान्तों में कुछ अन्तर आ जाता है। सौन्दर्य विवेचना पूँजीवादी या सामन्तवादी एवं मार्क्सवादी या सर्वहाराई हो सकती है, वे यह नहीं मानते। उनकी राय में ऐसा विभाजन कला, शिल्प, साहित्य एवं संगीत आदि में बेइमानी है। अनावश्यक भी है।

सुन्दर सौन्दर्य से ज्यादा नजदीकी से अनुभवनीय हो पाता है। मार्क्स तथा मार्क्सवादी कहते हैं कि मनुष्य हरेक भोग्य वस्तु को क्रय–विक्रय की (Commodity) चीज समझने लगता है, यह तो पूँजीवादी मनोवृत्ति से ही संभव है। मार्क्सवादी सुन्दर को अभिव्यक्तिमयी कलासृष्टि नहीं स्वीकारते, मूल्यमयी वस्तु ही मानते हैं। किसी वस्तु को सुन्दर कहना एक प्रकार से उसका 'मूल्यीकरण' है जो वस्तु का वस्तु–निर्माता से 'अलगाव' स्थापित कर डालता है। इस तरह सौन्दर्य एक आरोपित गुण या भाव है अथवा यह वस्तु की अपूर्णता–पूर्णता के आभास या भ्रम का उपक्रम मात्र है, यथार्थ (तथ्य) नहीं। मूल्यीकरण या मूल्यारोपण मानवीय इतिहास, परम्परा, समाज एवं संस्कृति की एक प्रक्रिया है। इसकी स्वीकृति मात्र भाषिक होती है। अतः यह आंतर–वैयक्तिक या सामाजिक ही मानी जाय; और यह भी कि यह वस्तुनिष्ठ है, वैषयिक है। सभी तथ्य सदा–सर्वत्र–सर्वथा ऐसे ही होते हैं। सत्यासत्य का निर्णय अलग बात है– बहुतांशतः विषयिसापेक्षता को उसमें नहीं नकारा

जा सकता। नीति, समाज, सौंदर्य भी व्यक्ति सापेक्ष हैं और व्यक्ति को भी संज्ञानी होना चाहिए। उसकी प्रतिक्रिया सचेतन हो तभी यह संभव है। अर्थात् रमणीयता की संवेदना सौन्दर्यानुभूति में केवल वैयक्तिक नहीं आंतर–वैयक्तिक (सामाजिक) प्रतीति के रूप में आवश्यक है। इसीलिए प्राकृतिक–सौन्दर्य एवं कलाकृति–सौन्दर्य के मानदण्ड भी भिन्न–भिन्न होते हैं।

यही मार्क्सवादी स्थापना भी है कि कला नितांत वैयक्तिक या मात्र निजी संपत्ति नहीं है न वह दिवास्वप्न या उद्भट काल्पनिक अनुभव (फंतासी) है। चाहे वह कितनी ही 'सुन्दर' क्यों न लगती हो (काडवेल की पुस्तक, स्टडीज इन डाइंग कल्चर पृ.38)। काडवेल कला की व्यवच्छेदकता सामाजिकता में मानते हैं। कला को कारीगरी में बदलने पर वह प्रचार–माध्यम भी हो जाती है। मार्क्सवादी 'कला के लिए' अभिव्यंजनावादी सूत्र गलत मानते हैं। बारलिंगे जी यहाँ ठीक ही कहते हैं कि अधिक मौलिक समस्या तो यही है न कि "सामाजिक संदर्भ के बिना कला हो सकती है या नहीं।"..... यह जिज्ञासा सार्थक अभिव्यंजना एवं सशक्त संप्रेषणा में भी उतनी ही सार्थक है जितनी कि मार्क्सवादी विवेचना में। बारलिंगे जी यह भी स्वीकारते हैं कि "कला के लिए सामाजिकता का आशय होना चाहिए, यह मार्क्सवादी मीमांसाकों की कला–मीमांसा को बड़ी भारी देन है।"

असल में संप्रेषणा मात्र एक आंतर–वैयक्तिक प्रक्रिया है समाज–सापेक्ष, संज्ञानाधारित। मानव जीवन में सजीवता (पशु–पक्षी आदि) का भी सामाजिक संदर्भ होता है किन्तु यांत्रिकता का नहीं। कम्प्यूटर को इसमें शामिल करना तो वास्तविक यथार्थ से हटकर "कृत्रिम या काल्पनिक यथार्थ" की बात है।

कला की सामाजिकता के कारण ही कलाकृतित्व संभाव्य हो पाता है, जिसे हम कलाकार और समाज के बीच का रिश्ता मानते हैं। कलाकृति का "पद्मबंध" (स्वरूप) अवश्य ही माध्यम निर्भर होता है लेकिन उसकी लौकिकता प्राकृतिक निर्मितियों जैसी नहीं होती। हाँ, वह पूँजीप्रधान समाज में क्रय–विक्रय की चीज या "पण्य वस्तु" अवश्य बनी रहती है। स्पष्ट है कि कला का आशय समाज–रचना पर निर्भर करता है और कलाकारिता के लिए मानवीय स्वातंत्र्य पहली शर्त है।

मार्क्सवादियों और अन्य मतवादियों में व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की अवधारणा ही विवादास्पद हो चली है। यह ठीक है कि स्वातंत्र्य समाज की देन है। अनिर्बंध वैयक्तिक स्वातंत्र्य निरर्थक कल्पना हो सकती है, तथ्य नहीं। स्वातंत्र्य एवं उसका उपयोग व्यक्ति और समाज के अकाट्य सम्बन्ध का अन्यतम पहलू है। ऐसे ही कला और कल्पना–शक्ति में भी चोली–दामन का सम्बन्ध है। अमूर्त कल्पनाओं का मूर्त्तिकरण ही उनको सार्वजनीन बना देता है। सर्वथा निरंकुश स्वातंत्र्य तो सिर्फ एक खयाली पुलाव है लेकिन सामाजिक सीमाओं में उसका विकास हमें आत्मनियंत्रण का अभ्यास तो करा ही देता है। हमारी सारी शक्तियों का भी ठीक–ठाक उपयोग हो पाता है। इसी में हम अपने "वरण एवं निर्णय"

के स्वातंत्र्य का अनुभव करते हैं। अतः मार्क्सवादियों की यह धारणा कि असली वैयक्तिक स्वातंत्र्य तो सामाजिक विकास में ही पनपता है, एकदम गलत नहीं है।

प्राक् पूँजीवादी युग में कला और कलाकारिता परस्पर अविभाज्य से लगते थे। पूँजीवादी व्यवस्था में तो सभी कुछ "पण्य" हो चला है।

कला और कलाकार अलगाव (निजीपन) एवं सार्वजनीनता की ओर एक यात्रा अवश्य है लेकिन तब मानवीय रिश्तों में भी दरारें पड़ने लगती हैं। फलतः समाज–निरपेक्ष निजी स्वातंत्र्य और निजी संपत्ति की जड़ें गहरे पैठ जाती हैं। बड़ी बस्तियों और बड़े शहरों में इसका ऐसा भयावह रूप पनपता है कि पड़ोसी भी परस्पर परिचित नहीं होते। कलाकार भी अपनी कलाकृतियों को "तैयार माल" या उपभोग्य एवं "पण्य चीजों" की तरह देखने लगता है। समूची कला ही नहीं संस्कृति भी व्यापारिक वस्तु हो जाती है, अथवा वह मात्र प्रचारोपयोगी सामग्री बन उठती है। कला की निजी "अर्ध्यता" (Value) नष्ट होते ही वह ज्ञान–प्रक्रिया की कसौटी पर कसी जाती है और तदनुसार ही उसका बाजारू मूल्य लगाया जाता है। कला का आशय तब मात्र उसका विषय होता है।

कलाकृति या कलावस्तु के सौन्दर्य से तब हम मानव केन्द्रित सामाजिक भोग्य का अभिप्राय जाहिर करते हैं। कलाकार के संचित अनुभव मूर्त्त होकर कलावस्तु बनते हैं लेकिन वे जैसे के तैसे ही अपने निर्वाचित रूपाकार नहीं ले पाते हैं। वे एक हद तक ही कला–रसिकों या सामाजिक आस्वादकों के जीवन की न्यूनताएँ– रिक्तताएँ भरते हैं। कारण, सामाजिक संघटन के या संरचना के परिवर्तनों के साथ ही सामाजिक आशय भी बदल जाते हैं, यह युक्ति बारलिंगे जी को नितांत ठीक नहीं लगती। उनका यह कहना सही है कि आदमी कैसी भी तरक्की कर ले उसे पूर्णता कभी हासिल नहीं हो पाती। पूर्णता की उपलब्धि की खातिर ही तो वह अपनी गतिशीलता तथा सर्वांगीण विकास के सारे प्रयत्न कायम रखता है। ये सब सही होते हैं या गलत– यह बात अलग है।

बारलिंगे जी के मत से पूँजीवादी समाज में सृष्ट सारी कला पहले दर्जे की नहीं होती। यह भी सही नहीं कि लोग हमेशा आदर्शोन्मुख अभिलाषा को ही कला द्वारा व्यक्त करते हैं। तथा उनकी अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति के प्रयत्न कला में हीनता ही ला सकते हैं। यह भी वे सच मानते हैं कि मात्र कला को ही जीवन का प्रतिरूप समझना ठीक नहीं है। साथ ही फिशर की कला–मीमांसा को भी वे अग्राहय नहीं समझते और न यही कि सामाजिकता बहुविध ही हो सकती है।

बारलिंगे जी ने 'सौन्दर्यात्मक एवं नैतिक मूल्यों का स्वरूप' शीर्षक से लिखे गये एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध में यह दिखाने का भरसक प्रयत्न किया है कि 'मूल्य' वस्तु से भिन्न और सौन्दर्य की संकल्पना नैतिकता की संकल्पनाओं से भिन्न तात्पर्य रखती है। 'मूल्यों' का अस्तित्व होना सबके लिए उतना अनिवार्य नहीं जितना कि वस्तुओं के लिए हैं। यही सच नैतिकता की धारणाओं के बारे में बहुत–कुछ विचारणीय है। इतना ध्यान रहे कि

सौन्दर्य–वाचक विधान एक या विशेष को बताते हैं परन्तु नैतिक विधान सामान्यवाची भी हो सकते हैं। दोनों ही के उद्देश्य अपना अस्तित्व रखते हैं या नहीं, यह बहस अनावश्यक है।

बारलिंगेजी ने 'कांट की दृष्टि : सुन्दर का स्वरूप' भी लिखा है। इसमें वे मूल्यांकन की समस्या को उठाते हैं ; उसमें अभिरूचि (सुन्दर के मूल्य–निर्धारण की मानसिक क्षमता) का प्रश्न भी सामने आता है। उनका उत्तर तो यही है कि सौन्दर्य की संकल्पना वैसी ही नहीं होती जैसी कि वस्तु की। वह तो एक प्रकार से समानधर्मा अन्य संकल्पनाओं को भी प्रायः उजागर करती है (जिनमें 'श्रेयस् एवं प्रेयस्' शामिल रह सकते हैं)। उसे तो अपनी रीति का आधार चाहिए, आशय का नहीं। कांट के अनुसार भी सौन्दर्य–मीमांसा के कोई विशेष नियम निर्दिष्ट नहीं हो सकते।

''सुन्दर की संकल्पना'' पर बारलिंगे जी ने कुछ मौलिक उपस्थापनाएँ पेश की हैं। जैसे, (1) सुन्दर क्या है क्या नहीं, यह विवेचना कठिन अवश्य है, एकदम असम्भव नहीं। (2) 'सुन्दर' को 'सुखद' एवं 'आनन्दप्रद' के समकक्ष रखना ठीक नहीं। (3) सुन्दर को केवल साम्य या संवाद, विरोध या वैषम्य एवं संतुलन या सामंजस्य के आधार पर भी पूर्णतः परिभाषित नहीं किया जा सकता, यद्यपि इन बातों से 'सुंन्दर' की समझ में मदद मिल सकती है। (4) सौन्दर्यावाचक विधानों का एक ही अर्थ या अभिप्राय नहीं होता (जैसे– फूल, फल, गायन एवं आवाज को 'सुन्दर' कहते वक्त होता है)। हम इसका जगह–जगह विभिन्न आशय से प्रयोग करते हैं ('ईमान' शब्द की तरह या 'अच्छा' शब्द की तरह)। (5) सुन्दर सावयव मिश्र पदार्थ का समानार्थक नहीं है। (6) सुन्दर की बुनियाद व्यक्तिगत अनुभव पर रखकर भी उसे अहंकेन्द्रित नहीं मानना चाहिए। वस्तुतः वह अहं निरपेक्ष ही है। (7) सौन्दर्यवाचक विधानों में उद्देश्यों का विश्लेषण, उनका संग्रह और उनके अस्तित्व की यथातथ समझ तथा वर्ग–क्रम जानना जरुरी है। विधान शब्द का तात्पर्य यहाँ मानस कल्पना की ऐसी शाब्दिक अभिव्यक्ति ही अभिप्रेत है जिसमें उद्देश्य और विधेय के पद भी अलग होते हैं।

इसी क्रम में बारलिंगे जी ने बड़ी खूबी से यह समझाने का अथक प्रयत्न किया है कि ज्ञान एवं निर्णय की कई प्रक्रियाएँ हमारे सौन्दर्यबोध को प्रभावित करती हैं। अवश्य ही इसमें उनकी तार्किक प्रणाली विषय पर हावी है, और भाषा भी दुरूह हो उठी है।

अतः हम यहाँ इससे संबंधित कुछ निष्कर्ष ही दे रहे हैं विवेचना नहीं। वे कहते हैं कि सौन्दर्य की संकल्पना में विधि–नियम की संकल्पनाओं का समावेश उचित नहीं। सौन्दर्य की समझबूझ में और उसकी अभिव्यक्ति में जो अभिरूचियों एवं मनोवृत्तियाँ काम करती हैं वे प्राथमिक नहीं, इतिहास और संस्कृति की देन होती हैं। सौन्दर्यमीमांसा के कोई विशेष विधि–नियम पूर्णतया एवं निर्विवाद, निर्दिष्ट एवं सार्वभौम तथा सार्वकालिक नहीं बनाए जा सकते। कांट का भी यही मत है।

सुन्दर वस्तु के निर्धारण में ज्ञाता–स्रष्टा–भोक्ता व्यक्ति की अपनी आवश्यकता और उस वस्तु का अनोखापन सहायक होते हैं। सुन्दर की निर्मिति, प्रस्तुति, अस्तित्व भी जरूरी

है। केवल काल्पनिकता से काम नहीं चल सकता। सुन्दर मूर्त्तिकरण आवश्यक हैं, अमूर्त संकल्पनाओं में सौन्दर्यानुभव नहीं होता। केवल हमारे ज्ञान और निर्णय सुन्दर की वास्तविकता को नहीं बदलते। अधिकांशतः सारे सौन्दर्यबोध अपनी व्यक्ति–निर्भरता के कारण अनुमानित या साधारणीकृत नहीं हो पाते। अपनी अभिरूचियाँ (पसंद) भी सब पर तो लादी नहीं जा सकती। सौन्दर्य–तत्त्वों के विधि–नियम के प्रशिक्षण में वे कठिनाइयाँ सर्वत्र सर्वथा सदा उभरती रहती हैं। ये "सर्व"–सामान्यता और आवश्यकता के आधारों पर बनाए–सिखाए जाते हैं, उनमें फेर–बदल, घटत–बढ़त प्रायः होती है, अभिरूचि एवं आवश्यकता के अनुसार स्वीकृत–अस्वीकृत, प्रयुक्त–अप्रयुक्त की स्थितियाँ आ जाती हैं। यहाँ "सर्व" की कल्पना अलग–अलग और एक–अनेक के समूहों से सम्बन्धित है। समान अंश सदा नैमित्तिक नहीं होते, पूर्वनिर्दिष्ट हो सकते हैं। वस्तुओं की सामग्रिकता से सामान्यता का अनुमान लगाकर एक में सब या अनेक आरोपित हो जाता है। अतः सार्विकता के विधान में उद्‌देश्य का एकवाचक पद होता है और उसका बर्ताव सामान्यवाचक पद की तरह होता है। एक और ध्यान रखने की बात यह है कि आवश्यकता भी एकता से जुड़ी होती है, केवल सामान्यता से ही नहीं। माने, 'आवश्यक', 'आवश्यकता', 'आवश्यक रूप' ऐसे शब्द से समग्र अंशों की अविभाज्य व्यवस्था का तात्पर्य व्यक्त होता है। अंगांगि सम्बन्ध की बाध्यता–व्यवस्था सदा स्वीकार्य रहती है और इसीसे वह आवश्यक, आवश्यकता को परिभाषित कर पाती हैं।

सौन्दर्य–सृजन (सर्जना–सृष्टि) के आंगिक अथवा नियम, विधि–निषेध, स्वरूप–निर्धारण, लक्षण, आदेश–निर्देश, सौन्दर्य–मीमांसा में अनेक कलाकृतियों एवं कलाकारों तथा समालोचकों की विवेचना के आधार पर शामिल किए जा सकते हैं। प्रत्येक कला के आविष्कार, उद्‌भव, सतत् अन्वेषण, विश्लेषण–संश्लेषण और कला के हेतु की यथातथ चर्चा इन पुस्तकों में बहुत ज्यादा नहीं है। अतः हम भी इस विषय को और आगे नहीं बढ़ा रहे।

बारलिंगे जी की दोनों हिन्दी पुस्तकों में रस–चर्चा काफी विस्तार से उपलब्ध है और इस विषय पर पिछले 10–15 वर्ष में बहुत कुछ नया सोचा–समझा और पढ़ा –लिखा गया है। इस क्रम का जारी रहना स्वाभाविक है। हमारी धारणा है कि बारलिंगे जी ने जिन सम्बन्धित विषयों को छुआ है वे अभी तक गतार्थ नहीं हुए, न ही पुराने पड़े। इसीलिए उनका यहाँ एक संक्षिप्त आकलन प्रस्तुत है। सम्बन्धित आलेखों के शीर्षकों से भी इसमें काफी–कुछ मदद मिलती है। ये हैं : भरतमुनि का रस–सिद्धांत, रस से भरत का क्या अभिप्राय था; रस–सिद्धि; नाट्‌य का रस और काव्य का अर्थ (ध्वनि); भरतमुनि और काव्यशास्त्र ; काव्य के घटक; रस का स्वरूप, मूल–रस–सिद्धान्त और कतिपय आलोचक; रस, सौन्दर्य और आनन्द; रस–संख्या; काव्य–दर्शन के क्षेत्र में वामन के योगदान का स्वरूप काव्य–बिम्ब; भरतमुनि और काव्यशास्त्र इत्यादि।

न जाने कब से मानव–समाज में एक धारणा चली आ रही है : यदि कोई कलाशिल्प, साहित्य, संगीत आदि से कोई सरोकार नहीं रखता तो उसमें और सींग

पूँछरहित पशु–पक्षी या अन्य जीवों में क्या फर्क है ? शायद कुछ विशेष नहीं। 'ऐसा क्यों' का उत्तर भी लोक अपने–अपने तरीके से देते हैं। कोई कहते हैं ऐसा होने से व्यक्ति का घनिष्ट मनोरम सम्पर्क होता रहता है, 'सत्, चित् आनन्द' से । कोई कहता है यही तो 'सत्य, शिव, सुन्दर' की साधना है। कुछ यह मानते हैं कि रस एवं आनन्द की रमणीय एवं श्रेय–प्रेय की केवल सिद्धि इसी तरह मिलती है। कोई तो यह भी कहते हैं कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, यश, आदि सभी इनके संपर्क से मिल जाते हैं। बारलिंगे जी कि 'वास्तव' में कला का कोई या कुछेक हेतु (उद्देश्य, लक्ष्य) हो ही नहीं सकते। हेतु की कल्पना तो व्यक्ति से संबद्ध है, वस्तु से नहीं। हीरे का हेतु क्या है ?– यह पूछना जितना हास्यापद है उतना ही कला का हेतु क्या है, यह पूछना भी है।

भरत मुनि के रस सिद्धान्त को वे 'कला–स्वरूप–शास्त्र का सिद्धान्त मानते हैं।' कला भाषा का भी एक प्रकार है'–कला की भाषा भावदर्शक (Emotive) है, वह सर्वप्रथम कलाकार के मन में उदित होती है किन्तु वह सदैव मात्र उसी की मनःस्थिति नहीं बनी रहती। वस्तुसृष्टि में परिणत हुई कला दृश्य–श्रव्य–मननीय बनती है। वह किसी भी माध्यम द्वारा व्यक्त हो सकती है। कारण, प्रत्येक कला के लिए "संप्रेषण" आवश्यक होता है। माध्यमों के बिना यह सम्भव नहीं हो पाता। माध्यम उसे वस्तुत्व प्रदान करते हैं।

बारलिंगे जी के अनुसार भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में दो–तीन बार रस एवं भाव को एक बतलाते हुए उनकी रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए तीन अवस्थाएँ कही हैं जिसमें एक (सामान्य) मूल्यीकरण भी होता रहता है। कोई भी एक अवस्था ही संपूर्ण कला नहीं है। न व्यक्ति की प्रत्येक मानसिक स्थिति कला बन सकती है।

पहली अवस्था में अर्थ या प्रयोजन से विभक्ति दूसरी अवस्था लाती है; और दूसरी अवस्था अर्थ (प्रयोजन) से गुणित होकर तीसरी अवस्था बनती है। फिर प्रथमावस्था और तीसरी अवस्था के गुणन–खण्ड तीसरी और प्रथम के गुणन–खण्ड से विगुणित होकर कला की तीन अवस्थाएँ सामने ला देते हैं। मध्यावस्था में कला वस्तु–रूप में साकार होती हैं। वही कला हैः कलाकार के हृदय का महत्त्वपूर्ण अनुभव, साकार एवं सर्व प्रत्ययकारी।

नाट्यशास्त्र में व्याख्यायित–नट, नाटक, नाट्य–ये तीनों संज्ञाएँ भी बहुत साभिप्राय हैं। नट–नटियों का अभिनयादि 'नाट्य' कहलाता है। काव्य कला की रम्य कृति होती है नाटक जिसमें कवि (लेखक), सूत्रधार (निर्देशक), नट–नटी (अभिनेता–अभिनेत्री) एवं अन्य समस्त नाट्यकर्मी प्रेक्षकों के सामने जो वस्तु पेश करते हैं और उसका प्रबुद्ध सहृदय श्रोता–दर्शक, समालोचक (प्रेक्षक वर्ग) द्वारा जो अर्थ (प्रयोजन) हृदयंगम होता है, रंगभूमि में जिससे कि वे स्वयं भी प्रभावित होते और तन्मय होते हैं, वही नाट्य कलाकृति की सफलता है, उपलब्धि है। कवि, सर्जक या लेखक की समस्त मूल मनःस्थिति जिस तरह रंगमंच पर आनीति–अभिनीत और समस्त नाट्य–गृह में उपस्थित व्यक्ति–समाज द्वारा उपनीत–गृहीत हुई, वही नाटकीय वस्तु है। यह दृश्य–श्राव्य माननीय रूपाकृति धर कर पेश हुई, इसीलिए रम्यकाव्य (मात्र रम्य–रचना Belle Lettere) नहीं कहलाती है। कला

की दृष्टि से इसकी पहली अवस्था में कवि (लेखक) या सर्जक एवं सूत्रधार (निर्देशक) की समझ या व्याख्या; दूसरी में सूत्रधार एवं निर्देशक तथा अन्य सभी कुछ मंच व्यवस्था, आलोक पात, ध्वनियाँ एवं प्रधानतः अभिनेतृवर्ग और तीसरी में इन सब के साथ प्रेक्षकवर्ग शामिल होकर कला का वह श्रेष्ठ रूप बनाते हैं जो अन्य किसी में उपलब्ध नहीं होता, जो सर्वतोभावेन "रस" एवं उसके सारे प्रकार,भेद, स्वाद पेश करता है। इसीलिए "रसो वै सः" इस उक्ति का बहुविध महत्त्व है, कारण कि रस जीवन की समानांतर, समानविध, समानधर्मा वस्तु है, अनुभूति है। जीवन को हम अनुभव (अनुभूति), अनुभाव्य अनुभवनीय, अनुभविता आदि सभी का समाहार एवं सामंजस्य कह सकते हैं। ऐसा एक समग्र जिसमें प्रत्येक अंश अपना स्वरूप संरक्षित रखकर भी पूर्ण एकात्मता में मिलता–जुलता रहता है। समस्त "सृष्टि" में यही बात है। स्रष्टा, सर्जना–सृष्टि, सृष्ट जगत् (जगती, ब्रह्माण्ड), विश्व आदि की ठीक–ठाक धारणाओं से भी यही साबित होता है।" चतुर्थः शिवः शान्तः "शान्तरस एवं नवरस, नटराज, नृत्य (भावाभिनय), नृत्त (मात्र गात्रसंचालन, अथवा इंगितचेष्टित, हाव–भाव का बाह्य अनुकरण), नाटक के सारे भेद, नाट्य अनेकानेक कला–प्रविधियों का वर्णन,उपस्थापन, व्याख्यायन, जीवन–रंगमंच, आदि सभी शाब्दिक प्रत्ययों पर यदि गंभीर विचार करें तो सारी बातें और सबकुछ की पारस्परिकता स्पष्ट हो उठती है। बारलिंगे जी ने अपनी कृतियों में इनका पुंखानुपुंख विश्लेषण–संश्लेषण प्रस्तुत कर हिन्दी पाठकों का अत्यन्त उपकार किया है।

आचार्य भरत ने नाट्य (नाटक, काव्यार्थ) का स्वरूप विशद करने में ही "रस" शब्द का उपयोग किया है। बारलिंगे जी इसे नाटय एवं नाटक की मध्यावस्था से जोड़ते हैं। अभिनवगुप्तादि रस का सम्बन्ध तीसरी अवस्था से लेते हैं। यह सब बारलिंगेजी ने भली–भाँति दरसाया है। जिस नाट्यवस्तु की निर्मिति (उत्पत्ति–उपस्थापना) में भाव–अनुभाव–विभाव–संचारी (व्यभिचारी) का यथायथ सम्मिश्रण होता है, उसी को भरत 'रस' कहते हैं। उस–सिद्धांत से आनन्द का सिद्धान्त, आस्वाद का सिद्धांत इत्यादि समझा जाता है। और अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ एवं अन्य बड़े–बड़े आचार्य ऐसे सिद्धांतों को प्रभावित किये हुए हैं। बारलिंगे जी की दृष्टि से यह सब गलत प्रमेयों पर आधारित है। कहना न होगा कि बारलिंगे जी ने काफी–कुछ परंपरावादियों की "भक्ति" में विक्षोभ पैदा किया और इसीलिए अनेक विद्वान् इस स्थापना को स्वीकृति नहीं दे सके। किन्तु उन्होंने अपनी इस धारणा पर अन्त तक अटल या दृढ़ रहे थे कि नाट्यवस्तु नाटक में अभिप्रेत अर्थ से पृथक् है। "नाट्य शास्त्र की रस–चर्चा" में यही बतलाया गया है। संतोष की बात है कि वे इसे युक्तिसंगत बना पाये हैं।

सर्व प्रथम बारलिंगेजी रस और भाव का तात्पर्य स्पष्ट करते हैं। रस मूलतः सांख्यशास्त्र का शब्द है और नाट्य शास्त्र में यथावत् आनीत–उपनीत होकर भी वह अपना मूल अर्थ नहीं खो देता।

'सांख्य में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पाँच तन्मात्रायें परिगणित हैं। ये संवेदन

(Sensation) का भ्रम भी कराते हैं किन्तु वस्तुतः ये मात्र मानसिक क्रियाएँ नहीं हैं। ये तो "वस्तु" का सूक्ष्म रूप दरसाते हैं। वस्तु का अन्य रूप महाभूतात्मक (स्थूल) है। जैसे, शब्द से अलग आकाश, स्पर्श से वायु, रूप से तेज, रस से अप, गंध से पृथिवी या पृथ्वी। दोनों रूपों का नाता अवश्य बीजों एवं वृक्षों जैसा है– ज्ञेय एवं ज्ञान के समान। तन्मात्र की तथता (ज्ञान) उसके महारूप में "ज्ञेय" हो पाती है, अन्यथा, वह अज्ञेय ही बना रहती , "ज्ञान" नहीं होती। अथवा कहिए कि तन्मात्र ज्ञेय है, महाभूत ज्ञान। वस्तु तो सूक्ष्म या स्थूल इन दोनों का सामंजस्य है जिसकी सिद्धि "विचार" द्वारा भी होती है ("विचार" में चर धातु का अर्थ गति एवं भक्षण है, यह याद रखें) । 'तन्मात्र' में 'तत्' का मतलब वस्तु ही है। और वह तदेव यानि तन्मात्र है। शुद्ध वस्तु (विषय) पर ज्ञाता यानि विषयिता (Subjectivity) का कोई असर नहीं होता। इसी से वह "शुद्ध" है (यही बात शुद्ध चैतन्य, परमचैतन्य, परब्रह्म, परमात्मा, परमार्थ आदि की धारणाओं पर भी लागू होती है, जो आधुनिक भौतिक विज्ञान के वस्तु (ऑब्जेक्ट) के प्रत्यय से अलग है। वह तो अब यह स्वीकारने लगा है कि द्रष्टा (ज्ञाता) (Observer) ज्ञेय वस्तु (Object) को प्रभावित करता है (Influences)। तन्मात्र (तन्मात्र–ग्राहिका ज्ञानेन्द्रियाँ) भी पाँच हैं– पाँचों तन्मात्रों के लिए पृथक्–पृथक् हैं– अकारादि क्रम से : आँख, कान, जीभ, त्वचा, नाक। तन्मात्र ज्ञातृ–सापेक्ष नहीं, निरपेक्ष हैं। महाभूत ही ज्ञातृ सापेक्ष हैं।

इसी तरह रसभूत (भाव), महाभूत (महाभाव) को शब्दार्थ (वागर्थ) की तरह या अंग्रेजी के शब्द Ontological (तात्त्विक) और Epistemic (ज्ञानात्मक या ज्ञानिक) के समान समझें। भावों एवं रसों की वस्तुनिष्ठता भाषिक रूपों में भी व्यक्त होती है "काव्य–रस" (Poetic Juice) की बात रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी कहते हैं। आयुर्वेद में रसौषधि एवं रसायनों की स्वीकृति है और वह कदापि निर्वस्तुक नहीं होती।

भरतमुनि रस–भाव के कलास्वरूप "त्रयवस्थ"(तीन अवस्थामय) बखानते हैं जिसे कुछ आचार्यों ने पाठभेद करके 'व्यवस्थ' माना है, परन्तु यह ठीक नहीं, उनकी अपनी नासमझी है। क्षमा करें, हम यहाँ बारलिंगे जी के शब्दों का आशय संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं, उन्हें ज्यों के त्यों उद्धृत नहीं करते–स्थान संकोच के कारण।

त्र्यवस्थ में प्रथम अवस्था कलाकार के मन का विशिष्ट भाव है। इसका प्रतीक–प्रक्षेपण (Symbolisation) दूसरी अवस्था है। इसी को 'कला' मान सकते हैं। कला का प्रत्यय (धारणा) रसिक द्वारा होने पर कलाकार एवं रसिक दोनों की भावात्मक मनःस्थितियाँ कला के स्वरूप एवं प्रयोजन को गहती हैं। कला 'रसमयी' हो उठती है। कला के स्वरूपों को हम विशिष्ट मनोवस्थाओं की सर्वानुभवनीय वस्तुपरिणति कह सकते हैं (अंग्रेजी में कहें तो ये (Emotive & Sentimental Mind-Sets) ही कहलायेंगे)। "रस" से भरत को यही आशय अभिप्रेत था। "नाट्य" में यह भरपूर हो उठता है। कारण, उसमें अन्य कई कलाएँ समाविष्ट और अनेक कलाकार एवं शिल्पी अपना–अपना योगदान करते हैं।

बारलिंगे जी का निर्देश है कि भरतमुनि 'भाव' शब्द का प्रयोग 'अस्तित्व' या 'वस्तु'

जैसा ही करते हैं। मसलन, "योऽर्थो हृदय–संवाही तस्य भावो रसोद्भवः" (नाटयशास्त्र, अ. 7 का 7)– इसमें भाव का अर्थ केवल अस्तित्व है, भावना नहीं है। यह तो बाद में आरोपित हुआ है। भरतमुनि ने स्पष्ट कहा है : "भवन्तीति भावाः। किंवा, भावयन्तीति भावाः। उच्चते– वागंगसत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः। भू इति करणे धातुः तथा च भावितं वासितं कृतम् इति अर्थान्तरम्। लोकेऽपि च सिद्धिमित्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितम् इति।"

जाहिर है कि भाव शब्द से भरतमुनि का मतलब– भावों की अभिनयादि में परिणति से पहले (रसोद्भव से पहले) की कलावस्तु की कारण सामग्री थी । चाहे वे मानसिक हों या नहीं सभी इस कारण–सामग्री में सम्मिलित ही रहते हैं। ये भाव 49 प्रकार के हैं–जिनके तीन वर्ग हैं : सात्विक, स्थायी एवं संचारी (व्यभिचारि)। वे भी कारणस्वरूप हैं। अतः 'भवन्ति' और 'भावयन्ति' कहा गया है। कवि या स्रष्टा की विशिष्ट मनोवस्था स्थायी भाव के रूप में पहली वागंगोपेत–नानार्थविभूषिता अवस्था, दूसरी (मुख्यतः कला–हृदय) और तीसरी में तो अन्य सभी आते हैं। भरत भी यहाँ स्वीकारते हैं : "कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।" भावयन् के माने प्रकट, स्पष्ट करना और प्रभाव डालना है। मूल भाव की स्थिति दीपक जैसी है : स्वप्रकाश एवं सर्वप्रकाशक। अतः यहाँ भाव शब्द का अर्थ मानसिक, शारीरिक परिवेषिक आदि सभी स्थितियों से ही निकलता है। कला की तीसरी अवस्था में रससिद्धि (रसास्वाद), रसिक आदि सभी शुमारे जाते हैं जिसे बहुधा हम "अर्थ" या "प्रयोजन" भी कहते हैं। इसी संदर्भ में भरत के अन्य दो कथन : "नहि रसादृते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्तते"। और "योऽर्थो हृदय–संवादी तस्य भावो रसोद्भवः" विवेच्य हैं।

इसीलिए अर्थ (प्रयोजन) को कलास्वाद का प्राण कहा जाता है। किन्तु दूसरी अवस्था (नाट्य में रस, अन्य कलाओं में वस्तु–करण, वस्त्वपस्थापन, वस्तु–प्रस्तुति) कला–सर्जना की "जीवन्त" अवस्था है। अर्थ पहले, आस्वाद पीछे। इसीलिए शब्द–अर्थ, नाट्य,रस, रूपाकृति के बिना कला की संभावना नहीं की जा सकती। आस्वाद में अर्थ का विश्लेषण आनंदवर्धन ने किया तो नाट्य को प्रयोगात्मिका कला के दर्जे से हटाकर उसे रम्य–काव्य मानने से शब्द–अर्थ और रस का तादात्म्य–सघन एकरूपता अभिनव गुप्त ने स्थापित की और एक प्रकार से कलाशास्त्र का शुद्ध–स्वरूप तिरोहित हो गया। तभी प्रयोगधर्मा नाटकों के बजाय काव्य–नाटक ही ज्यादा लिखे गये। भारतीय रंगमंच और नाट्यजगत् की इस तरह अवनति होने लगी। बारलिंगे जी ने इस स्थिति को अच्छी तरह उजागर किया है।

वे कहते हैं कि प्रयोगात्मक नाटक भी विशुद्ध कलाकृति तो नहीं वरन् पुष्ट या समिश्रित कलाकृतियाँ हैं जिनमें काव्य दिग्दर्शन, अभिनय, संगीत–नृत्य, चित्र, स्थापत्य, भास्कर, मंच व्यवस्था, आलोक–पात, ध्वनि–प्रभावोत्पादन, दृश्य–वैचित्र्य की जादूगरी सभी शामिल होते, या हो सकते हैं। लक्ष्य बनी रहती है : ये तीन प्रक्रियाएँ और उनके प्रयोक्ता : (1) निर्माता, (2) निर्मिति की दृश्यात्मक अनुभवनीयता और (3) आस्वाद। तभी तो कला–भाषा की संवादिता (Communicativity) और जटिलताएँ (Complications)

सदा–सर्वत्र अवधेय बनी रहती हैं। आस्वाद का आनन्द से अटूट साहचर्य रहे यह सभी चाहते हैं किन्तु एकमात्र वही कला का अर्थ, उद्देश्य या हेतु नहीं हो सकता है। तथा आनंद–विशेष भी बहुविध होते हैं। आनन्द एवं रस स्वतंत्र रूप से स्वीकार्य हैं – कम से कम नाट्यशास्त्रों में। भरत के "रस" शब्द में से सांख्य एवं आयुर्वेद के प्रभाव नहीं हटाये जा सकते। नाट्यनिर्मिति–प्रक्रिया से ही 'रसोद्भव' होता है इसीलिए पहली–दूसरी अवस्थाओं का निरूपण स्वयं भरत ने ही किया है।

नाट्यवस्तु को त्रयोदश–विध मानकर भरत प्रथम स्थान तो रसवस्तु को ही देते हैं। नाट्यकला में 'रसवस्तु' के बिना अर्थ–प्रवर्तन नहीं हो सकता, जैसे कथा, काव्य एवं संगीत आदि में श्रव्यात्मकता के कारण 'कथ्य','ध्वनि' या 'शब्द' वस्तुएँ होनी ही चाहिए। वाणी और वीणा, रस और अर्थ, वाक् और अर्थ का साहचर्य काव्य, नाट्य, संगीत में सदा–सर्वत्र–सर्वथा अपेक्षित है। अर्थ का मतलब यदि 'विषय' लें तो बात और भी ज्यादा साफ हो जाती है। रस की पदार्थता (वस्तुता) अपनी प्रयोजनीयता (आस्वाद्यता) के कारण भी नकारी नहीं जा सकती। भरत ने इसीलिए आस्वाद–प्रक्रिया का ठीक वर्णन किया है।

ध्यान रहे कि परवर्त्ती काल में नाट्य और नाटक में व्युत्पत्तिगत भेद न करने से भी बहुत काफी घपला हुआ है। नाट्य में नट के अभिनय प्ररोचित भाव ही हैं। नाटक उसके और अन्य सहयोगियों का कर्म–समुच्चय होता है। इनके कर्तृत्वों को ही नाटक सहेजता है। उसका आशय ज्यादातर तो कथ्यवस्तु एवं प्रस्तुति से होता है। नाट्य का सीधा सम्बन्ध रंगमंच पर प्रस्तुत कथ्य–वस्तु के आविष्करण एवं दृश्य–श्रव्य–मननीय रूपान्तरण से है। रम्य काव्य–कृति के रूप में भी नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत न किए जायें तो भी नाटक ही कहलाते हैं (हिन्दी में सेठ गोविन्द दास के कितने ही नाटक ऐसे ही हैं)।

रंगमंच ही नाट्य का परमावश्यक माध्यम (साधन) है। इसी के द्वारा कवि कलाकार और अन्य अदाकारों के भावाभिनय आदि को नाटकीय वस्तुत्व मिल पाता है। भरत के अनुसार "नाट्य" को रंगमंचीय पदार्थ या वस्तु के एक मुख्य घटक को भी 'रस' कहा जाता है और नाटकीय आस्वाद्य तत्त्व भी। कलाकृति स्वतः ही एक आस्वाद्य, अनुभवनीत वस्तु न बने तो वह कलाकृति भी नहीं बनती। पंडितराज जगन्नाथ काव्य की सामान्य परिभाषा रमणीय अर्थ की प्रतिपादकता से मानी है तो रमणीय की परिभाषा और एक मनीषी ने "जो प्रतिक्षण नवीन होता रहे, वही रमणीय है" की है। यदि किसी में मनोज्ञता (मनोरमता) न हो तो उसके लिए "पदार्थ" रमणीय नहीं हो सकता, आस्वाद्य भले ही हो परन्तु सरस या रसमय नहीं बनता। कला–सृजन में (सरस) शब्दार्थ एवं आलोक, ध्वनि एवं रंगरूपाकृति काम आते हैं परन्तु गन्ध–स्पर्श जैसे अन्य तन्मात्र नहीं; कारण उन्हें रस, रूप, शब्द आदि का आशय लेना पड़ता है अपने यत्किंचित कलायन में। प्रकृति तो सुगन्धित सुकोमल पुष्प उत्तम कलाकृतियों की तरह पेश करती है। लेकिन "ललित कलाएँ" वैसा नहीं कर पातीं। वे चाहे जैसा नाट्य (अनुकरण) करें। भरत ने भावों और रसों को "त्र्यवस्थ" कहकर यही मर्मोद्घाटन किया था। भाषा और कला में इसी कारण अनेकरूपा समानता है। दोनों ही

अवस्थान्तरण के कारण, साधन, माध्यम बन पाती हैं। भाव एवं रस एकाकार हो उठते हैं। भाषा एवं कला के प्रयोगात्मक पक्ष स्वतः सरल नहीं अपितु अतिकठिन होते हैं। उनकी साधकता की सिद्धि में परिणति आसान कभी नहीं होती। रस–निष्पत्ति एवं रसास्वादन भी एक ही सिक्के के दो भिन्न किन्तु संयुक्त ही पहलू माने तो ठीक होता है। बारलिंगे जी यह भी एकाधिक बार भलीभाँति प्रमाणित करते हैं – अपने रस–सिद्धि शीर्षक आलेख में और अन्यत्र भी।

बारलिंगे जी सदा ही परम्परा से हटकर आचार्यों के मतों को समझने–समझाने का प्रयत्न करते रहे हैं। उन्हें विश्वास था कि प्राचीन आचार्य भी कला एवं काव्य की समस्याओं के समाधान प्रस्तुत न कर सके थे। हम उनकी यथायथ विवेचना करें यही काम्य एवं परमावश्यक है।

कलाकृति की निर्मिति एवं संप्रेषणा में जो कभी कहीं व्यवहृत हों उन्हें समझे बिना कला का मर्म या कृति का अभिप्राय जानकर ही कलाकार के भावों के साथ तादात्म्य नहीं होता है, उस तथ्य पर बारलिंगे जी ने भरपूर प्रकाश डाला है। सच तो यह है कि, सूक्ष्मबुद्धि से युक्त कलारसिक भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, समस्त कलाजगत् में, जितने कलाकार एवं उनके मुख्य सहयोगी। उनका 'रस–सिद्धि' शीर्षक से लिखा गया आलेख इसीलिए बारंवार सम्यक्तया अध्येय है । अनुभव, अनुकरण, प्रस्तुति–करण, मूल्यांकन, आस्वादन ये सभी तत्त्व सारी कलाकृतियों में जटिलता से गुँथे रहते हैं। वे इन चिरागत शब्दों की अपेक्षा अनुभूति, अनुकृति, प्रस्तुति एवं समालोचन को तरजीह देते हैं। कारण कि कलाएँ मूर्त–अमूर्त को ग्रहण करने की प्रवृत्तियों से भी ज्यादातर संप्रेरित होती हैं। वे वास्तविकता का भी प्रतिनिधित्व करती हैं, उसका प्रतिरूप ही नहीं बनी रहतीं। कलाकृति या कलायन संपूर्ण होते ही उतना अधिक जटिल–संकुल नहीं रहता, जितना कि वह सभी स्तरों पर शुरू–शुरू में लगता है। इसीलिए उनकी यह धारणा है कि प्रत्येक कला का विकास समतल और क्रमशः ऊर्ध्वस्तरों की ओर द्विविध रूप से होता रहता है। उसकी स्थानिक एवं कालिक तथा चेतन एवं अचेतन में अवगाहन जैसी और सीमाएँ तो रहती ही हैं, माध्यम की वस्तुगत परिधियाँ भी कभी कम नहीं होतीं। तदुपरि कला की अपनी गतिमयता की सीमा तो सदा–सर्वत्र–सर्वथा बनी रहती है। भरत ने इन समस्याओं को रस, धर्मी, वृत्ति एवं प्रकृति में वर्गीकृत की थीं, और उन्हें नाट्यधर्मी तथा लोकधर्मी प्रेमियों में भी परिगणित किया। कला द्वारा मूल वस्तु का प्रतिनिधित्व संपूर्ण करने–रखने में मूल ग्राह्य तत्त्वों के निर्वाचन एवं प्रस्तुतिकरण पर युगपत् ध्यान रखना पड़ता है। संक्षेप में यहाँ भी यही तो अवधेय है कि कलाकृतित्व प्रस्तुति एवं संप्रेषण की संपूर्णता में से किसी एक की भी कमी या दोष रस–सिद्धि में अन्तराय (विघ्न–बाधा) बन सकते हैं।

नाट्य–कला एवं नाटक में रस एवं रस–सिद्धि को अलग बताकर – विशेषतः भरतमुनि का यह आशय उनके नाट्यशास्त्र के आधार पर प्रमाणित कर बारलिंगे जी ने सभी कलाध्येताओं का बहुत उपकार किया है, कारण यह कि कला के रस की यदि सिद्धि

(उपलब्धि) पूर्ण आस्वादन से प्राप्त या उपलब्ध भावातिशय अथवा समग्र शान्ति प्रेक्षक–रसिक आदि के चित्त में स्फुरित न हो तो कला का दर्जा नीचा बना रहता है। उसकी समूची वांछनीय संप्रेषणीयता भी अधूरी रह जाती है। इसीलिए तो रस और आनन्द का समीकरण भी समीचीन नहीं। इससे कला का प्रयोग–पक्ष विकसित नहीं हो पाता। उक्त भूल में 'अद्वैत दर्शन' का भी कुछ अवदान हो सकता है। कार्य–कारण–भेद की अस्वीकृति, ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय की त्रिपुटी का लय, प्रकृति का मायात्व, निष्काम–निष्क्रिय पुरूष की स्थापना आदि ने जीवन के ऐहिक विकास में बाधा खड़ी की इसे न मानना भी एक तरह से व्यावहारिक सच को झुठलाना है।

कोई भी कला भौतिक सृजन (सर्जना, कृति, सृष्टि) होने के साथ प्रकृति एवं जीवन की अनुकृति एकदम न हो या रहे, यह तो असंभव सा ही है। प्रकृति, मानव, कला संस्कृति आदि सभी तो समग्र जीवन एवं सृष्टि के संपूरक गुणनखंड हैं ; इसी दृष्टि से प्रविधियों (तकनीकों) का यथातथ विकास होता है और आवश्कतानुसार उत्पादन संभव होता है। यथातथ वितरण की समस्या बाद की है। संपदा का प्राचुर्य प्राथमिक है। यह सब सही है किन्तु बाद की बातों पर पूरा ध्यान रखना जरूरी है। अन्यथा दुरूपयोग ही जड़ें पकड़ता है।

***

गोपीनाथ कविराज प्रणीत अखण्ड महायोग की दार्शनिक पृष्ठभूमि

प्रियव्रत शुक्ल

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज भारतवर्ष के समकालीन दार्शनिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक परम्परा में केन्द्रीय स्थिति रखने वाले एक ऐसे मनीषी व साधक के रूप में गण्य हैं जिनका वैशिष्ट्य उनके द्वारा सम्पन्न उस समग्रतामूलक प्रयास में निहित है जिसके अंतर्गत उन्होंने आगमिक एवं वैदिक मूल की अनेक आर्ष प्रातिभ–दृष्टियों, सम्बद्ध अनुवर्ती शास्त्रीय प्रतिपादनों एवं संतों व सिद्धों के रहस्यात्मक अनुभूति–वैचित्र्य को समुचित एवं समीक्षित रूप में अनुभूतिसम्पुष्ट निज–सिद्धान्त में समाविष्ट करते हुए तत्कालीन जिज्ञासु जगत् को वैचारिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दिशाओं में क्रमशः गहनतर शास्त्रानुशीलन एवं बृहत्तर सत्यानुभूति की ओर उन्मुख व उत्प्रेरित किया। श्री अरविन्द, शिवचन्द्र विद्यार्णय एवं सर जॉन वुडरफ (आर्थर एवलॉन) सदृश साधक प्रकृति के चिंतकों से तुलनीय इस दार्शनिक की कृतियों में ऐसा विविध आयामी लेखन उपलब्ध है जिसका एक छोर श्रुति–आगम सहित पारम्परिक शास्त्रों से जुड़ा है तो दूसरा सिरा साधुओं व सिद्धों के सत्संग[1] सहित साधनागत–स्वानुभूति से प्रमाणित दर्शन के उच्चतर एवं सनातन रहस्यात्मक बोध से । शास्त्राभिमुखता एवं गुरुमुखता दोनों की ही कविराज की आत्माभिमुखी साधना में आधारभूत उपकरणात्मकता रही है। कविराज ने बहुधा जागतिक स्तर पर सम्भव कतिपय रहस्यानुभूतियाँ चिंतन व शास्त्रानुशीलन को पश्यंत्यादि उच्चस्तरीय व मूलोन्मुखी वाग्सोपानों या दिव्यानुभूतियों से सन्दर्भित कर उनके स्वरूपबोध का सटीक संकेत किया है। अनुभूति से इतर परिधि में कविराज के सम्पूर्ण वैचारिक विकासक्रम को देखें तो स्पष्ट होता है कि विभिन्न शास्त्रों का गवेषणात्मक दृष्टि से अध्ययन करना, कथ्य एवं निहितार्थों को समीक्षात्मक एवं समग्रतापरक विधा में परखना एवं तदनुसार आध्यात्मिक–चैतसिक सन्दर्भों में उन्हें व्याख्यायित करना उनका उद्देश्य रहा है । अपने जीवनकाल की सन्ध्या में कविराज माँ एवं तद्गत समर्पण को ही अतुलनीय महत्त्व देने लगे थे किन्तु स्वाध्याय व साधना के पूर्व स्तरों पर उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि अध्यात्म जीवन में शास्त्रालोचना भी नितरां आवश्यक है ।[2]

अवधेय है कि जब किसी चिंतक के लेखन का विस्तार अत्यधिक हो तथा उसके अनुसंधान एवं गवेषणा का क्षेत्र बहुआयामी हो तो यह समझना एवं निर्धारित करना सर्वथा

अपेक्षित हो जाता है कि उसके बृहत्तर कथन एवं विवेचन का केन्द्रीय बिन्दु क्या है, उसके कथनों में मुख्य प्रतिपाद्य अथवा मूल जिज्ञासा क्या है? कविराज ने स्वयं ही इस प्रकार के संकेत अपने विवेचनों में दे रखे हैं कि गम्भीरतापूर्वक अध्ययन के पूर्व ही एक सतर्क दृष्टि के सहारे उनका दार्शनिक प्रयोजन स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। धर्म के सनातन आदर्श के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए प्रश्नोत्तर के रूप में कविराज ने एक लेख लिखा है जहाँ वे 'यथार्थ प्रश्न' के निर्धारण की दिशा में गहन विवेचन करते है। वस्तुतः यह विवेचन मानव अभीप्सा का निश्चयन रूक्ष दार्शनिक, तार्किक विवादों का व्यावर्त्तन करता है जिनका चिद्गत उन्नयन या आत्मोत्कर्ष से कुछ लेना देना नहीं होता। यथार्थ प्रश्न में चिद्गत सन्दर्भ व प्रयोजनीयता अपेक्षित होती है । ऐसी स्थिति में तो यह भी कहा जा सकता है कि यथार्थ प्रश्न अनुभूति से ही सम्बद्ध तथा एतद्विषयक होने चाहिए। ये वस्तुतः विकासक्रम में उद्भूत आत्मगत द्वन्द्व के परिचायक कहे जा सकते हैं। यथार्थ –अयथार्थ प्रश्नों के स्वरूप एवं दिशा को परिभाषित करते हुए कविराज कहते हैं।

'बहुत से शास्त्रों को पढ़कर अथवा सुनकर उनका समन्वय न कर सकने के कारण जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं वे यथार्थ प्रश्न नहीं हैं– उनका प्राणों के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता' । .... 'जीवन के कठोर और अनन्त पथ पर चलते चलते जो अनभिज्ञता प्राप्त होती है, उसके भलीभांति संशोधित न होने पर जो एक प्रकार का द्वंद्व उपस्थित होता है, जिसकी निवृत्ति हुए बिना जीवन की गति रुक जाती है–'वही यथार्थ प्रश्न हैं।[3]

'जीवन की गति रुक जाती है'– का आशय स्पष्ट है कि वे प्रश्न जिनके उत्तर मानव अभीप्सा को संतुष्ट करते हों तथा जीवन की दिशा एवं गति को निर्धारित करते हों। संकेतित 'द्वन्द्व' कोई तार्किक द्वन्द्व न होकर चैतसिक प्रकृति का द्वन्द्व है जो एक चिंतनशील व सम्वेदनशील मानसिकता में कुछ वैसी ही उद्विग्नता उत्पन्न कर सकता है जिसकी चर्चा अस्तित्ववादी व्यक्ति के महज बाह्य सन्दर्भों में करते रहे हैं । यही प्रश्न समुचित एवं प्रभावी उत्तर के रूप में सुदगुरु कृपा या दैवी अनुग्रह की अपेक्षा करने वाले अध्यात्मपक्षीय भी हो सकते हैं।

यहाँ एक और स्पष्टीकरण सामयिक एवं अपेक्षित रूप में उपलब्ध होता है, वह है शास्त्र के विषय में 'यथार्थ शास्त्र' किसे समझा जाए ? कविराज स्वयं किस तात्त्विक प्रकृति के शास्त्र के अध्येता थे ? वे स्वयं इस तथ्य को आगमसम्मत वाग् रहस्य के सन्दर्भ में उद्घाटित करते हैं,

'तुमलोग जिसे शास्त्र कहते हो वह यथार्थ शास्त्र नहीं है – वह यथार्थ शास्त्र का केवल बाह्य परिछिन्न प्रकाश है – अनंत चिदाकाश से जिस बोधरूप वाणी का उद्गम होता है वही शास्त्र है। ऐसी वाणी किसी शरीरधारी दिव्यमूर्ति की वाणी हो सकती है; अशरीरी की आकाशवाणी हो सकती है ; हृदय से उठी हुई भाववाणी हो सकती है ; अथवा गुरु स्थान से निकली हुई आज्ञास्वरूप ज्ञानमयी दिव्य वाणी हो सकती है। कोई भी वाणी हो, वह मूलतः एक प्रज्ञास्वरूपा वाणी ही है, दूसरी नहीं'।[4]

कविराज के मतानुसार ज्ञान को दो प्रकार का बतलाया गया है; बोधरूप एवं शब्दरूप। 'बोधात्मक पर ज्ञान' ही 'वागात्मक अपर ज्ञान' या वैखरीगत शब्द पर आरूढ़ होकर अर्थ प्रकाशन में प्रवृत्त होता है।[5] पुनः कविराज कहते हैं कि बोधभूमि या अतिक्रांत बौद्धिकता को उपलब्ध चेतना ही उस सत्य दृष्टि की जनक होती है जो आर्ष अनुभूति के यथार्थ को व्यक्त कर सके।[6] उनके अनुसार धर्म का यथार्थ स्वरूप 'नित्यशास्त्र' द्वारा ही जाना जा सकता है न कि प्रचलित बाह्य शास्त्र से। उनका स्पष्ट अभिमत था कि बाह्य शास्त्रीय ज्ञान नहीं है। तदनुसार शास्त्र वस्तुतः अनंत हैं जिसका एक क्षुद्र अंश ही जगत् में प्रचलित है; ऋषियों द्वारा साक्षात्कृत सूक्ष्मवाग् रूपी ज्ञान वैखरी का अवलम्बन लेकर वेद विल्म नाम से प्रकाशित है। यह ज्ञान भी किंचित् आच्छन्न है। शास्त्र अपने अनंत रूप से सर्वज्ञानाधार कहे जाने योग्य है।[7] कविराज 'यथार्थ संशय' को हेय नहीं मानते किन्तु संशय के स्वरूप व सीमा के प्रति भी साधकों, मीमांसकों को सतर्क करते हैं :

'जो अपनी अनुभूति के राज्य से बाहर की वस्तु है, उसके सम्बन्ध में संशय का कोई अवकाश ही नहीं है। ज्यों ज्यों मनुष्य अनुभव के राज्य में आगे बढ़ता है, त्यों–त्यों यथार्थ संशय की सम्भावना बढ़ती जाती है'।[8]

इस प्रकार का संशय वरेण्य होगा जो मनुष्य की चैतसिक यात्रा व साधनागत अनुभूति के बृहत्तर वृत के सन्दर्भ में उपजता हो। कविराज के अध्ययन एवं अनुभूति का जगत् सुविस्तृत एवं गहन था। सम्प्रति उनके द्वारा आगमसहित अनेक शास्त्रों के सम्बन्ध में प्रस्तुत व्याख्याओं व विवेचनों का पिष्टपेषण हमारा उद्‌देश्य नहीं है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कविराज को सीमितरूप में समझने के लिए भी उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को एक ओर शास्त्रानुशीलन के परिप्रेक्ष्य में लेना आवश्यक है तो दूसरी ओर उन्हें संत सतसंग एवं साधनागत अनुभूतियों के सन्दर्भ में ग्रहण करना चाहिए। जब कोई चिंतक या विश्लेषक प्रकृति का मनुष्य साधना के पथ पर अग्रसर होता है तो संशय, विश्वास, प्रमाणन के आधार आदि कुछ ऐसे बिन्दु होते हैं जिनके सम्बन्ध में वह पूर्व में ही आश्वस्त होना चाहता है। कविराज एक स्थान पर कहते हैं :

"ऋषियों के कथन पर विश्वास करना चाहिए।.... शास्त्र और गुरुवाक्य में गलती नहीं होती। योग्य और सामर्थ्यवान् के द्वारा सब सम्भव है। ऋषियों का कोई वाक्य असत्य नहीं है। साधारण लोगों का ज्ञान सीमित रहता है अतएव वे अविश्वास करते हैं, किन्तु वैज्ञानिकों के निकट वह सहज साध्य है।"[9]

यहाँ 'वैज्ञानिकों' शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया गया है। अखण्ड महायोग के सन्दर्भ में परमापेक्षित 'विज्ञान' शब्द को जनसामान्य में प्रचलित अभिप्राय अर्थात् 'साइंस' एवं दार्शनिकों में प्रचलित 'चेतना' आदि से भिन्न रूप में ग्रहण करते हुए कविराज उसे ज्ञान से भी बृहत्तर व गहनतर अनुभूति, तात्त्विकता व अध्यात्म क्षेत्र से जोड़ते हैं। विज्ञान के प्रसंग में उन्होंने बोध के साथ–साथ परमतत्त्व के सर्वांगीण रूप से अधिकृत होने को भी महत्त्व दिया है। विशुद्धानन्द के 'सूर्य विज्ञान' को भी उनके द्वारा इसी विशेष अर्थ में

तात्त्विक ज्ञान के रूप में ग्रहण योग्य माना गया है। उक्त परिप्रेक्ष्य में ज्ञान एवं विज्ञान में अंतर स्पष्ट करते हुए कविराज ने बड़ी सहजता से अपने मत का प्रतिपादन भी किया है:

"तत्त्व वस्तु की सामान्य जानकारी प्राप्त कर लेने का ही नाम ज्ञान है और उसकी अशेष–विशेष की जानकारी प्राप्त कर उसे सम्पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लेने का नाम है– विज्ञान। ज्ञान के द्वारा परमात्मा की तुरीय भूमि तक प्राप्त की जा सकती है। लेकिन तुर्यातीत महाशक्ति का स्वरूप समझने के लिए, जो सभी प्रकार के तत्त्वों के अतीत होकर परमतत्त्व है, उन्हें पकड़ने के लिए, विज्ञान के अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है– ज्ञान–विज्ञान का परस्पर क्या सम्बन्ध है? इसे समझ लेना चाहिए। विज्ञान के उज्ज्वल आलोक में ज्ञान और अज्ञान समसूत्र होकर दोनों ही निष्प्रभ हो जाते हैं। द्वैत–अद्वैत, नित्य और अनित्य, गति और स्थिति का समभाव से दर्शन करने के लिए विज्ञान का आश्रय लेना पड़ेगा।"[10]

अखण्ड महायोग की अवधारणा को स्पष्ट करने के क्रम में 'विज्ञान' शब्द के इसी विशिष्टार्थ को इंगित करते हुए कविराज कहते हैं :

"जब तक विज्ञान अवतरित नहीं होगा, तब तक मनुष्यत्व का कार्य पूर्ण नहीं होगा। ज्ञानराज्य का ऐश्वर्य है–मनुष्यत्व। यह मनोमय है। किन्तु विज्ञान राज्य इससे अतीत है–वह है प्राणमय। विज्ञान की स्थापना होने पर मनुष्यत्व कृतकृत्य होगा। तभी परिपूर्णस्वरूपा अखण्ड माँ की प्राप्ति होगी।"[11]

भारतीय दर्शन मूलतः एवं पारम्परिक रूप में प्रायः अनुभूतिमूलक रहा है। अनेक प्रचलित धार्मिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक सिद्धांतों व उपलब्धियों की पृष्ठभूमि में साधनाओं एवं साधनागत रहस्यानुभूतियों की भूमिका अनुसन्धेय है। प्रातिभ, अतिमानस अथवा इतर अपौरुषेय स्रोतों से आगत एवं अनुभूत वाग् के वैखरीभाव में व्यक्त प्रतीकों के मौलिक प्रवर्तन के उपरांत कालांतर में तद्गत अर्थसम्भार का अर्थांतकारी प्रतिपादनों से भेद–प्रभेदगत विकास एवं अनुवर्ती भाष्यादि परम्परा के रूप में शास्त्रों का प्रकारभेद से अनवरत प्रचलन एक चिरंतन प्रक्रिया है। अनेक समकालीन दार्शनिकों ने भारतीय संस्कृति एवं साधना से संयुक्त प्रायः सभी पक्षों पर विस्तार से विचार किया है। भारतीय दर्शन के प्राचीन एवं परम्परागत अधिकांश विचारों के मूल–स्रोत विभिन्न रहस्यानुभूतियों तथा चेतना के ऊर्ध्वस्तरीय अनुभूति–वृत की उपलब्धि का संकेत करते हैं। विश्लेषणात्मक विवेचन, तार्किक निदर्शन, न्यायशास्त्रीय एवं व्याकरणिक स्तर पर सम्पन्न अर्थ'–निर्णय आदि दार्शनिक प्रयास आनुषंगिक एवं मनस्–स्तरीय कहे जाने योग्य हैं। विज्ञान जगत् के अधिकांश ज्ञानों का मूल जिज्ञासा एवं अन्वेषण के प्रातिभ बोध से उद्भूत प्रतीत होता है। वहीं यह भी सत्य है कि आविष्कारक प्रवृत्ति की प्रातिभ–अनुभूतिजन्यता के साथ–साथ गहन विश्लेषणात्मक प्रकार के मनस्–स्तरीय विवेचन एवं इसी स्तर के प्रायोगिक निदर्शन को भी विज्ञान समाविष्ट करता है। किन्तु यहाँ महत्त्वपूर्ण तथ्य यह प्रतीत होता है कि विज्ञान के मूलोन्मुखी अन्वेषण साधनागत रहस्यानुभूति आदि की अपेक्षा नहीं रखते। विज्ञान

एवं दर्शन दोनों के प्राथमिक बोध की भूमियाँ परस्पर भिन्न हैं। विज्ञान के अनेक अन्वेष्य एवं अन्वेषित जो एकाएक मानसपटल पर कौंध जाते हैं, प्रातिभ कहे जाने योग्य हैं। संतमत व आगमिक रहस्यानुभूति के सम्बन्ध में व्यक्त उनके मौलिक विचार अनुभव, दृष्टांत एवं गहन–मीमांसा तीनों से समर्थित हैं। सदा जीवंत तथा सगुण रूप संतमत के ही समान आगमिक अवधारणाएँ भी मानव के सहज या स्वाभाविक रहस्यात्मक देहस्थ विज्ञान एवं उसकी सनातन अभीप्सा को सन्दर्भित करने के कारण मानवमात्र के इतिहास में अविच्छिन्न धारा एवं एक शाश्वत तत्त्व मानी जा सकती है। प्रथमदृष्टया संतमत का सम्बन्ध मानव देहगत चिदचित् सभी आयामों की मौलिक सहजता एवं स्वाभाविक स्थिति या स्वास्थ्य से माना जा सकता है। कविराज के विवेचनों की पृष्ठभूमि में साधनाजन्य एवं स्वाभाविक अथवा अनुग्रहस्वरूप प्राप्त दिव्य भावों एवं ऊर्ध्वस्तरीय रहस्यानुभूतियों के परिप्रेक्ष्य में अर्थनिरुपण के कतिपय गहन आयामों का अनुसन्धान भी सम्भव है। योगिराज श्री श्यामाचरण लाहिड़ी की श्रीमद्भगवद्गीता की आध्यात्मिक व्याख्या की भूमिका में अर्थनिरूपण के सन्दर्भ में दो बिन्दुओं पर वे प्रकाश डालते हैं : ज्ञाता में अपेक्षित सद्गुरु कृपा से उत्पन्न आध्यात्मिक दृष्टि एवं शास्त्रगत अंतरंग ऐक्य या तादात्म्य।

"जो सद्गुरु के आदेशानुसार यथार्थ योग मार्ग में प्रविष्ट नहीं हैं, उनके लिए शास्त्रोपदेश का गूढ़ तात्पर्य समझना अत्यंत दुरूह है।.....सारे शास्त्रों के बहिरंग उपदेश देश–काल आदि की विचित्रता के कारण विभिन्न प्रकार के होते हैं, परंतु अंतरंग उपदेश एक और अभिन्न है। ......स्थलविशेष में व्याख्याकर्ता की व्याख्या प्रणाली के साथ साधक विशेष का किसी अंश में मतभेद हो सकता है, किन्तु किसी भी शास्त्र का यथार्थ मर्म समझने के लिए आध्यात्मिक दृष्टि आवश्यक है और योगी के सिवा अन्यत्र वह दृष्टि सुलभ नहीं है।"[12]

मूलतः उक्त प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टि निश्चित रूप से अखण्ड दृष्टि होती है जो बोधभूमि को इंगित करती है। यह दृष्टि अवश्य ही प्रातिभ कही जाने योग्य है। स्पष्ट है कि कविराज के मतानुसार शास्त्रार्थ निरुपण के प्रसंग में भाषा व व्याकरण के ज्ञान की अपेक्षा योग व साधना के माध्यम से अर्जित अथवा अनुग्रहादि दैवी उपकरणात्मकता से उपलब्ध दृष्टि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। दोनों ही प्रसंगों में इसे 'प्रातिभ' कहना उपयुक्त होगा। उल्लेखनीय है कि कविराज के दर्शन में प्रातिभ एवं प्रतिभा पदों का विशद् व बहुआयामी विवेचन मिलता है। कविराज ने प्रातिभ ज्ञान के दो प्रकार बतलाए हैं : एक गुरुगत तथा आम्नायगत और दूसरा स्वाभाविक।[13] विभिन्न भारतीय दार्शनिक निकायों में प्रतिभा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए कविराज ने एक सुविस्तृत लेख लिखा है।[14] कविराज के एक शिष्य डॉ. देवब्रतसेन शर्मा ने मैरिलन लो बोस्को को दिए गए एक साक्षात्कार में स्पष्ट किया है कि तांत्रिक मंत्र भी अनेक वैदिक सूक्तों के समान रहस्यात्मक रूप में प्रस्तुत हैं जो 'सन्ध्याभाष्य' या 'twilight language' के उदाहरण हैं।[15] विशेष प्रयोजन या निहितार्थ वाले ऐसे भाषा खण्ड वस्तुतः विशेष गुरुपरम्परा में दीक्षित साधकों के द्वारा ही अर्थ करने योग्य होते हैं न कि जनसामान्य के द्वारा। श्री अरविन्द की रचना

Hymns to Mystic Fire में भी भाषा की ऐसी प्रस्तुति या ऐसे प्रयोगों का संकेत मिलता है। गुरुपरम्परा में दीक्षित व सतत् साधनारत कविराज तुलनात्मक अनुशीलन के रूप में धर्म एवं दर्शन के निगूढ़ रहस्यों को सम्भवतः इसी कारण सहजता से व्याख्यायित कर सके। दार्शनिक गवेषणा के क्षेत्र में इसका प्रभाव यह रहा कि हिन्दी भाषा में सुबोध अभिव्यक्तिकरण करते हुए कविराज ने हिन्दी जगत् में आगमिक अध्ययन व अनुसन्धान के प्रति लोगों में तीव्र अभिरूचि उत्पन्न की है।[16]

कविराज शास्त्रानुशीलन में भी अनुभूति के साक्ष्य को पर्याप्त व प्राथमिक महत्त्व देते थे । कहीं कहीं तो वे अत्यंत ईमानदारी से किंचित् अननुभूत विषयों के यथार्थ निर्वचन में अपनी अशक्यता को प्रथमतः स्वीकार कर लेते हैं, उदाहरणार्थ दृष्टव्य है श्रीकृष्ण प्रसंग के वर्णनक्रम में उनका अभिकथन,"समग्रभाव से श्रीकृष्णतत्त्व की व्याख्या करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। कारण, एकमात्र राधाभाव में पहुँच सकने पर ही श्रीकृष्णतत्त्व का स्फुरण सम्भव होता है– उससे पहले ठीक ठीक स्फूर्ति नहीं होती। जो कुछ होती है, उसमें स्वभावतः ही न्यूनता दोष का स्पर्श रहता है।"[17]

राधा भाव में बिना पहुँचे श्रीकृष्णतत्त्व की समग्र रूप से व्याख्या करने में उनकी अक्षमता का स्वीकरण इस तथ्य को भी आपादित करता है कि जहाँ कहीं कविराज ने उच्चस्तरीय चैतसिक अनुभूति–वैचित्र्य का वर्णन किया है वहाँ उनके पास तत्सम्बन्धी अनुभूतिगत सम्पुष्टि का कुछ अंश अवश्य रहा होगा।

आगमिक दृष्टि सामान्य रूप से एवं कविराज की दृष्टि विशेष रूप से एक समग्र अथवा अखण्ड या सम्पूर्ण दृष्टि कही जा सकती है। यह तथ्य उनके द्वारा अपनाई गई आलोचनात्मक विधा के स्वरूप से भी सिद्ध होता है। पारम्परिक रूप में दर्शन के क्षेत्र में आलोचना की दो प्रकार की विधाएं दृष्टिगत होती हैं : एक सर्वथा खण्डनात्मक निष्कासन की एवं दूसरी परदृष्टि की अवर–स्तरीयता के प्रतिपादन के साथ उसके निजपक्ष में समावेश एवं व्यवस्थापन की। उदारता एवं समग्रता की परिचायक द्वितीय विधा का प्रणयन त्रिक आगमिक दृष्टि करती है जो वस्तुतः कविराज की भी दृष्टि है। 'तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः'[18] आदि सर्वसमावेशक समीक्षासूत्र इसी समग्र दृष्टि के परिचायक हैं जो चार्वाक से अद्वैत वेदांत पर्यन्त सभी मतवैभिन्य के प्रतिपादक सिद्धांतों को अवर सोपानों के रूप में समीक्षित एवं समाहित कर स्वमत को सर्वश्रेष्ठ निरूपित करते हैं। आचार्य रस्तोगी ने अपने कविराज विषयक आलेख में कविराज के चिंतन पर उक्त आगमिक दृष्टि के त्रिआयामी प्रभाव का विवेचन किया है:

"एक ओर वह साधना और दर्शन का पारस्पर्य एवं समानान्तर्य स्थापित करती है, दूसरी ओर सम्बद्ध दर्शन का व्यापकतर सन्दर्भ में तुलनात्मक प्रत्यभिज्ञान करती है। और तीसरी ओर विशिष्ट दर्शनों के अध्ययन प्रसंग से ऐसे निष्कर्षों का निगमन करती है जो उस दर्शन की प्रकृति से आपाततः असमंजस लगने पर भी भारतीय दर्शन की मौलिक प्रकृति और उस दर्शन की अंतरंग प्रातिस्विकता को पुष्ट करते हैं।"[19]

कविराज स्पष्ट रूप से कहते हैं कि वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य खण्ड दृष्टि से व्यवहार करता है। उसकी दृष्टि ही भेदपूर्वक सक्रिय होती है। उसे यह ज्ञान नहीं होता कि सभी सत्ताओं में एक अखण्ड सत्ता विद्यमान है। तदनुसार भावगत भेद ही दर्शन वैभिन्न्य का कारण है। देश–काल, रुचि, अधिकार एवं वातावरण की विभिन्नता के कारण एक अखण्ड सत्य भी खण्ड रूप में प्रतीयमान होता है। विवादास्पद खण्ड दृष्टि एवं मत–वैभिन्न्य के मूल में अथवा इसकी पृष्ठभूमि में 'मनोभूमि' एवं 'बोधभूमि' के मध्य प्रामाणिकता के निर्धारण में हमारी अक्षमता ही निहित है। समग्रतामूलक अखण्ड दृष्टि बोधभूमि से सन्दर्भित होती है :

'खण्डभाव के मूल में मन की ही प्रधानता रहती है। अतएव मन–अंतःकरण की सहायता लेकर सत्यान्वेषण करने पर सत्य का दर्शन परिछिन्न रूप में ही होती है। ....मन का निरोध करने से अथवा मन का अतिक्रमण करने से तदनंतर बोधभूमि में प्रविष्ट होने पर ही सत्य का पूर्ण दर्शन प्राप्त होने लगता है।... मत तो मन की भूमि की क्रीड़ा है। मन की भूमि का अतिक्रमण करने पर मत मतांतर अस्तमित हो जाते हैं।'[20]

आगम एवं कविराजसम्मत अखण्ड सत्ता का बोध अथवा 'महासत्ता' का सिद्धान्त समस्त प्रतीयमान विरोधों व तथाकथित (मनोभूमि या अवर चैतसिक स्तर विशेष पर अनुभूत) खण्ड सत्ता को भी अपने क्रोड में समाहित कर लेता है :

'महासत्ता में विरोध का भी एक स्थान है। परस्परतः दो विरुद्ध वस्तु या धर्म एक दूसरे का त्याग करते हैं। अविरुद्ध सत्ता किसी का त्याग नहीं करती। एक अखण्ड स्वच्छ सत्ता में किसी प्रकार का कलंक नहीं है, वह अप्रतिहत, अनावरित एवं सर्वव्यापक है। वह प्रत्येक खण्ड सत्ता के साथ अभिन्न है। उसमें विरोध के लिए कोई अवकाश नहीं है।'[21]

बाल्यावस्था में मैं अपने पूज्य पिता जी के साथ सिगरा, वाराणसी स्थित कविराज जी के आवास पर गया था, पिता जी उन दिनों प्रत्यभिज्ञा दर्शन पर शोध कार्य में संलग्न थे तथा उसी सन्दर्भ में महामहोपाध्याय से मिलना आवश्यक प्रतीत हुआ होगा। आज भी उनकी सामान्य से तख्त पर विराजती हुई अतिगाम्भीर्यसंवलिता मंगलमूर्ति मुझे स्मरण हैं। आगमपरक अध्ययन के प्रति अनुराग का संस्कार सम्भवतः वहीं से पड़ा होगा। श्री अरविन्द, सर आर्थर एवलान, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस प्रभृति अनेक साधक दार्शनिक पुनर्जागरण काल एवं स्वतंत्रता–संग्राम के आसपास व्यावहारिक और पारमार्थिक जगत् में पर्याप्त सक्रिय थे। कथंचित् इससे भी अधिक, जब कविराज के ही संत परम्परा से सम्बन्धित ग्रंथों को पढ़ें तो सहज ही अनुमान हो जाता है कि संत एवं सद्गुरुओं की अंतर्यामी तथा सनातन गति के संदर्भ के बिना कविराज को निरे दार्शनिक सन्दर्भ में समझाने का प्रयास उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। दृष्टि विशेष के प्रतिपादक दार्शनिक निकायों के सिद्धांतों में किसी भी पक्ष विशेष का अतिरेक एवं अन्य निष्कासन प्रायः दृष्टिगोचर होता है किन्तु संतों के वचनों में समन्वय व अखण्डता की उपलब्धि होना सामान्य है। साधनागत या प्रक्रियागत ज्ञान तथा भक्ति के सहज समाहार के उदाहरण तो

अति सामान्य हैं। संतमत व आगमिक रहस्यानुभूति के सम्बन्ध में व्यक्त कविराज के मौलिक विचार अनुभव, दृष्टांत एवं तर्क तीनों से समर्थित हैं। सदा जीवंत तथा सगुण रूप संतमत के ही समान आगमिक अवधारणाएँ भी मानव के सहज या स्वाभाविक रहस्यात्मक देहस्थ विज्ञान एवं उसकी सनातन अभीप्सा को सन्दर्भित करने के कारण मानवमात्र के इतिहास में अविच्छिन्न धारा एवं एक शाश्वत तत्त्व मानी जा सकती है। प्रथम दृष्टया संतमत का सम्बन्ध मानव देहगत चिदचित् सभी आयामों की मौलिक सहजता एवं स्वाभाविक स्थिति या स्वास्थ्य से माना जा सकता है। संत वह जो मानव देह में सद् ग्रंथ एवं ब्रह्माण्ड–रहस्य 'लखा' दे।

कविराज संतों एवं सिद्धों से अत्यंत प्रभावित थे। उनके सम्पूर्ण दर्शन पर संतसत्संग का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है जो उनके द्वारा लिखित साधुदर्शन एवं सत्प्रसंग (दो भागों में) आदि ग्रन्थों में वर्णित भी है। विभिन्न ग्रंथों में हमें संतों के लक्षणों का निदर्शन उपलब्ध होता है किन्तु संत का विनिश्चय बाह्य लक्षणों के आधार पर करना असम्भव है। संतों के किस पक्ष से कविराज प्रभावित थे इसका संकेत उनके द्वारा विवेचित संत लक्षण से स्पष्ट होता है :

"जो सत्य स्वरूप, नित्यसिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुके हैं, अथवा अपरोक्षरूप से उपलब्ध कर चुके हैं और इस उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्यस्वरूप में प्रतिष्ठित हो गए हैं वे ही संत हैं। सत्य ही चैतन्य स्वरूप है और चैतन्य ही आनन्दस्वरूप है अतएव यह कहना नहीं होगा कि जो सत्य में प्रतिष्ठित है वे एक तरह से सच्चिदानन्द परब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हैं, इसलिए जो ब्रह्मज्ञ हैं और ब्रह्मस्थ हैं वे ही संत हैं। आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है अथवा भिन्न, इस विषय पर विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है परन्तु विकल्पभूमि में भेद अभेद सभी को अवस्था और अधिकार के अनुसार सत्य समझा जा सकता है। इसी के अनुसार जो ब्रह्म अथवा आत्मा की समस्त परिस्थितियों को साक्षात् रूप से जानकर तदनुरूप प्रतिष्ठित हो गए हैं वे ही संत हैं।"[22]

इस प्रकार कविराज कृत उक्त विवेचन में तत्त्वज्ञानी एवं संत में तादात्म्य निर्देशित है। किन्तु दूसरी ओर, उनके द्वारा कतिपय साधुओं में खण्ड दृष्टि एवं मनोराज्य के प्रभाव भी देखे गए जो मत मतांतर के उद्भावक होते हैं। संतों–साधुओं के सत्संग के दौरान प्राप्त एतद्प्रकारक अनुभव–वैचित्र्य का मूल कविराज अध्यात्म के यात्रापथ पर, स्तरविशेष पर उनकी प्रस्थिति से निगमित करते हैं :

"संतों में भी सभी मनोरागातीत भूमि प्राप्त होकर विकल्प के माध्यम से तत्त्व की व्याख्या करते हैं , यह कहना सत्य का अपलाप होगा। शायद अधिकांश आरोह पथ पर चलनशील पथिक हैं, यह सत्य है। इसलिए मूलतः अनुभूति की विचित्रता और तज्जन्य तत्त्व विचार का पार्थक्य व्यक्तिगत अधिकार के वैचित्र्यवशतः स्वाभाविक सा लगता है।"[23]

आगमिक दर्शन की तीन मान्यताएँ यहाँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं प्रासंगिक हैं। प्रथमतः यह तथ्यबोध कि जो अस्तित्वप्रकार एवं चेतना के जैसे व्यवस्थापन पिण्ड या मानवदेह में होते हैं वैसे ही ब्रह्मण्ड है एवं उसके सहित समस्त सृष्टि बृहद् ब्रह्मण्ड है। पुनः ये शास्त्र

यह भी मानते हैं कि संविद् या चेतना की समग्र सत्ता एवं इसके सभी आयाम वाक् के विभिन्न स्तरों से तादात्म्य रखते हैं। परा संविद् एवं परा वाक् एक ही सत्ता के दो नाम हैं तथा इसी प्रकार वैखरी पर्यन्त भाषागत सारी भेद दृष्टि चिद् स्वातंत्र्यजन्य भेदात्मक सृष्टि की समानार्थी है। अब यदि कोई सिद्ध व्यक्ति पिण्डस्थ चिद्गत रहस्यों एवं मंत्र में निहित अर्थवत्ता से भिज्ञ है तो वह तात्त्विक रूप से वाग्मात्र एवं इसी प्रकार सत्तामात्र से सुपरिचित होगा। ऐसी गति वाला समर्थ व्यक्ति ही लोककल्याण भाव के सहवर्ती होने पर गुरु होने योग्य कहा जाएगा। पुनः यह भी महत्त्वपूर्ण है कि आगमों के अनुसार चेतना माहेश्वर्य या स्वातंत्र्य के फलस्वरूप विश्व की रचना अपने ही आधार पर करती है तथा स्वयं ही विभिन्न स्तरों या सोपानों में विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं का निर्वहन करती है।[24] वही चेतना एक स्थिति में गुरु की भूमिका में होती है तो उसी चेतना की एक स्थिति शिष्य के रूप में बन पड़ती है। चारों वाग् भूमिकाओं अर्थात् वैखरी से लेकर परा पर्यन्तः चेतन अस्तित्व की समस्त अवस्थाओं अर्थात् जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय व तुरीयातीता में; क्षुद्र ब्रह्मण्ड से लेकर बृहद् ब्रह्मण्ड तक जिस तत्त्व की गति होती है तथा जो शिवानुग्रह का साक्षात् स्वरूप होता है उसे ही गुरु कहा जाता है। जो पिण्ड, पद, रूप एवं रूपातीत–अस्तित्व के चारों पक्षों से भली भाँति भिज्ञ होता है तथा इनमें जिसकी गति होती है वही सद्गुरु हो सकता है।[25]

आगमसम्मत द्विविध अज्ञान के सन्दर्भ में यह कथनीय है कि देहात्म–बोध से संयुक्त जीव के बुद्धिजन्य अज्ञान की निवृत्ति तो साधनासापेक्ष होती है किन्तु उसके पौरुष अज्ञान की निवृत्ति गुरु प्रदत्त क्रियात्मिका दीक्षा एवं तज्जन्य ज्ञान से ही सम्भव है। कुण्डलिनी–प्रबोधन एवं षट्चक्रभेदन के कार्य में भी गुरु की महती भूमिका होती है। योगवाशिष्ठ के निर्वाण खण्ड में ऐसे दैशिक या सद्गुरु का उल्लेख मिलता है जो दर्शन, स्पर्श या शब्द मात्र से शिष्य में शाम्भव–समावेश जगा देने वाला होता है।[26] शाम्भव उपाय के सन्दर्भ में मालिनीविजय तंत्र में भी गुरु की भूमिका स्पष्ट की गई है : शाम्भव–समावेश का कारक गुरु ही होता है।

"अकिंचिच्चिंतकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः।।"

गुरु को मंत्र की शक्ति का प्रकाशक बतलाया गया है। इससे द्योतित होता है कि न केवल मानवीय चेतना में शिवभाव या शाम्भव–समावेश की बात महत्त्वपूर्ण है बल्कि यह उससे भी अधिक उल्लेखनीय तथ्य है कि भाषागत या वैखरी रूप में प्राप्त मंत्र भी गुरु के साहाय्य से ही शक्ति सम्पन्नता को प्राप्त कर पाता है। आगम परम्परा के ग्रंथ मालिनी विजय में शिव स्वयं पार्वती से यह कहते हुए बतलाए गए हैं :

"स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मंत्रवीर्य प्रकाशकः।"

वस्तुतः सम्पूर्ण मातृकाचक्र (जिसके ज्ञान को "–न विद्या मातृकापरा के रूप में सर्वोत्तम विद्या की प्रतिष्ठा प्राप्त है) के बोध या प्रकाशन, जो वर्णों के एक विशिष्ट समूह

का परिचायक है, में गुरु की महती भूमिका होती है।[27] शक्तिसम्पन्न रूप में मातृका को हम मंत्र का मूल भी कह सकते हैं।

वैदिक एवं आगमिक दोनों ही अपौरुषेयापौरुषेय मूलों से उद्भूत प्राचीन एवं पारम्परिक भारतीय दार्शनिक चिंतन प्रवाह में आध्यात्मिक साधनाओं, धार्मिक विधानों व नैतिक आचारों के परिप्रेक्ष्य में गुरुतत्त्व का महत्त्वपूर्ण स्थान निरूपित किया गया है। कविराज की दृष्टि में अखण्ड सत्ता के बोध एवं भोग के लिए दीक्षानुस्यूत गुरुतत्त्व अपरिहार्य है। इस सिद्धांत या तत्त्व की आवश्यकता की पृष्ठभूमि कें उस तत्त्वमीमांसीय प्रारूप की अवस्थिति पूर्वमान्य है जिसके अनुसार मानव मात्र के लिए अभीष्ट, अंतर्निहित किन्तु सम्प्रति सुषुप्त आध्यात्मिक उत्कर्ष के आयाम उपलब्ध बतलाए गए हैं। गुरु को व्यक्तिमात्र के रूप में वर्णित करने के स्थान पर तत्त्व मानना सोद्देश्य एवं समीचीन है। संतमत एवं सूफीमत के अंतर्गत गुरुतत्त्व का, कहीं कहीं नामभेद से, अत्यधिक महत्त्व बतलाया गया है ; कविराज ने उनका विवरण भी यत्र तत्र दिया है। वैखरी की भेदभूमि एवं परा की अभेद भूमि के मध्य रहस्यात्मक सम्वाद की सम्भावना तथा आरोहणावरोहण सिद्धि के लिए तो यह गुरु नामधारी तात्त्विक स्थिति अपेक्षित है ही, मानवीय चेतना की मानसिक स्तर से आरम्भ कर एक समग्रतापूर्वक ऊर्ध्वमुखी गति की सिद्धि के लिए भी यह तत्त्व अत्यावश्यक है। अद्वैत वेदांत के विपरीत अथवा एक दृष्टि से पूरक रूप में, आगमिक परम्परा की एक आधारभूत मान्यता है कि चेतना अपने समूल समस्त सम्भव आयामों, स्तरों एवं स्थितियों में स्वाभाविक रूप से या तत्त्वतः ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक दोनों हैं। इसी क्रम में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि साधना भी ज्ञानात्मिका एवं क्रियात्मिका दोनों है।[28] परम्परा विशेष की तत्त्वमीमांसा के सन्दर्भ में कहा जाए तो वस्तुतः स्थिति यह बनती है कि साध्य, साधना एवं साधक तीनों ही संविद् मात्र में अभिव्यक्ति भेद से समाविष्ट हैं। अतः इन तीनों में ही चेतना के ज्ञानात्मक व क्रियात्मक स्वभाव या चिद्–लक्षणों का समानाधिकरण्य माना जाएगा। आगमिक परम्परा में दैवी अनुग्रह के अतिरिक्त दीक्षा एवं गुरु की भूमिका साधना के परिप्रेक्ष्य में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः मानव की साधना विशेष में प्रवृत्ति, प्रवेश एवं उत्कर्ष गुरु–उपलब्धि, दीक्षा तथा अनुवर्ती सिद्धि की उपलब्धि अनुग्रहकारी शिव की स्वाभाविक अथवा तादात्म्यभूत शक्ति से ही सम्भव होते हैं। दृष्टिविशेष से अनुग्रह भाव गुरुतत्त्व का भी मूल कहा जा सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से परम उपकारी यह अनुग्रह शिव के स्वाभाविक पंचकृत्यों में से एक माना गया है। इसे प्रसंगविशेष में शक्तिपात भी कह सकते हैं। यही भुक्ति एवं मुक्ति (आगम समग्र या सम्पूर्ण मोक्ष को परम उद्देश्य निरुपित करते हैं जो मुक्ति एवं भुक्ति के आदर्श को पूर्णत्व की अवधारणा में समाविष्ट मानकर सिद्ध होता है) के निमित सद् गुरु के समीप ले जाने के लिए जीव के मन में प्यास जगाता है।[29] आगमाभिमत में गुरु तथा दीक्षा दोनों का महत्त्व है तथा क्रमशः ये दोनों ही तत्त्व तथा प्रक्रिया जीव की साधना में अनुस्यूत हैं। चिति का

संविद् के आत्मविमर्शनजन्य स्वातंत्र्य से फलित शिव के आत्मगोपन में ही सृष्टि और जीवत्व की सम्भावना बनती है। इसकी व्याख्या लीला या क्रीड़ा भाव के रूप में भी की जाती है। शिवसूत्र जो एक आगम के रूप में प्रतिष्ठित है, जीव की प्रत्यभिज्ञा एवं सभी मलों से मोक्ष प्राप्त कर पूर्णत्व की उपलब्धि के परम उपाय के रूप में गुरु की अपरिहार्य भूमिका स्पष्ट करता है ("गुरुरुपायः", 2/6)। वस्तुतः आणवोपाय, शाक्तोपाय, शाम्भवोपाय तथा अनुपाय तो तकनीकी दृष्टि से पूर्णत्वलाभ के उपाय बतलाए ही गए हैं किन्तु गुरु एक ऐसा आधारभूत एवं सभी उपायों में अंतर्व्याप्त तत्त्व है जो सभी स्तरों पर विभिन्न भूमिकाओं में सम्प्रेरक होता है। तंत्रालोक में आया है कि साधना की दृष्टि से गुरु, शास्त्र एवं स्वयम् इन तीनों का महत्त्व है (13/162)। सामान्यतः जिस भी किसी आध्यात्मिक पुरुष से दीक्षा, मंत्र, शास्त्र एवं तत्त्व ज्ञान प्राप्त हो उसे ही सुद्‌गुरु कहा जाना चाहिए।[30] कविराज आगमों के इस मत से सहमत थे कि शिव और गुरु तत्त्वतः अभिन्न हैं :

"यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः ।
उभयोरंतरं नास्ति गुरोरपि शिवस्य च ।।[31]

अतः कहा जा सकता है कि चिति के उच्चस्तर पर प्रतिष्ठित शिवतत्त्व ही परमगुरु भी है। गुरु ही दीक्षा प्रदाता होता है। आगमिक परम्परा में दीक्षा एक अति विशिष्ट सिद्धान्त है जो रहस्यात्मक भी है। मूलतः दीक्षा का प्रयोजन ज्ञान की उपलब्धि करवाने (दीयते)तथा बन्धन या पाश की भावना को नष्ट करने (क्षय)में निहित है।[32] दिव्य भाव से संयुक्त सद्‌गुरु स्वतः दीक्षा एवं शक्तिपात की तीव्रता या शिष्य विशेष की दृष्टि से उपयुक्तता निर्धारित करता है। इसके अनेक प्रकार बतलाए गए हैं।निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि दीक्षा में शक्तिसमावेश भी होता है। गुरु अपनी गहनतर शक्ति का समावेश शिष्य की चेतना में करता है। शिष्य के चित को शक्तिसमावेश का आधार बनाकर गुरु उसे चिति के आधारभूत बोध तक पहुँचाता है। मानवभाव में गुरु तरन पहले होता है तथा, तब ही तारन भी बन पाता है। स्पष्ट है कि मनुष्य के रूप में अर्जित गुरुभाव में उसका जीवनमुक्त होना एक प्राथमिक अपेक्षा है। कविराज लिखते हैं :

"अतएव, सद् गुरु का मतलब साक्षात् परमेश्वर अथवा उनका अनुग्रहप्राप्त उन्हीं के साधर्म्यापन्न जीवन्मुक्त अधिकारी पुरुष समझना होगा। यह अधिकारी देवता, सिद्ध और मनुष्य तीनों ही हो सकते हैं।"[33]

कविराज के चिंतन का सर्वप्रमुख वैशिष्ट्य वैचारिक एवं व्यावहारिक स्तर पर उनके द्वारा अपनायी गई अखण्डात्मक आगमिक दृष्टि एवं तदनुसार नैष्ठिक साधना की पृष्ठभूमि है। किन्तु यहाँ यह तथ्य भी निर्विवाद एवं श्लाघनीय है कि कविराज ने आगमिक परम्परा के अतिरिक्त भारत के अन्य शास्त्रीय एवं दार्शनिक विषयों, विचारों एवं ग्रंथों पर भी अपनी गहन शोधपरक समीक्षा प्रस्तुत की है। इसी कारण एक ओर जहाँ उन्हें तांत्रिक परम्परा का समर्पित साधक माना जाता है वहीं उनके लिए 'एक चलता फिरता विश्वकोश' जैसे

विशेषण का प्रयोग भी किया जाता है। किन्तु जहाँ तक पूर्णत्व लाभ या मुक्ति के अखण्ड सत्ताभोग का प्रश्न है, कविराज की आगमसम्मत दृढ़ धारणा थी कि गुरु के बिना कोई उत्कर्ष सम्भव नहीं है– "सद्गुरु के बिना मार्ग का सन्धान कोई नहीं पाता।" सद्गुरु वस्तुतः श्री भगवान हैं, उनकी अनुग्रह शक्ति ही 'गुरुपद' वाच्य है । वे उपेय हैं और उपाय भी वे ही स्वयं हैं। एक उपयुक्त आधार का अवलम्बन करके गुरु रूपी श्री भगवान जीव के सामने अपनी अनुग्रहशक्ति को प्रकाशित करते हैं । इस शक्ति प्रकाश की धारा अखण्ड है। जीव की योग्यता विभिन्न प्रकार की होती है अतएव विभिन्न जीवों के सामने विभिन्न भाव से इस शक्ति का प्रकाश होता है।"[34]

कविराज का अकाट्य विश्वास था कि सद्गुरु की कृपा दृष्टि के अभाव में मानव मात्र के पूर्णत्व का पथ न तो उन्मुक्त होता न ही प्रशस्त होता चाहे हम किसी भी इतर साधनों की कितनी भी चर्चा क्यों न कर लें। चैतन्य शक्ति की प्राथमिक अभिव्यक्ति का कारक–तत्त्व गुरु ही होता है :

"गुरु की कृपा से जब वह मार्ग प्राप्त हो जाता है तब जीव का जीवभाव अर्थात् प्राकृत भाव कट जाता है तथा दिव्य और अप्राकृत भाव का उदय होता है। उस समय क्रमशः चैतन्यशक्ति की अभिव्यक्ति होती है।"[35]

जिस जीव में ईश्वरीय शक्तिपात हो चुका होता है उसे ही यथार्थ गुरु दीक्षा का पात्र बनाता है। भगवान की अनुग्रहकारी दृष्टि का या करुणा का सत्पात्र होना प्राथमिक अनुबन्ध है। दीक्षा के फलस्वरूप जीव की चेतना जो शिव के ही समान या दूसरे शब्दों में, चिति के मौलिक स्वभावानुसार ज्ञानात्मिका एवं क्रियात्मिका होती है, इसी रूप में जाग्रत हो उठती है और अनुग्रहानुसार अपने मूल अखण्ड रूप की दिशा में अग्रसर हो जाती है:

"....शक्तिपात होता है साक्षात् परमेश्वर की कृपा से–कारण उनके अलावा अनुग्रह करने की योग्यता और किसी में नहीं है। सापेक्ष अनुग्रह निम्न स्तर का हो सकता है। किन्तु परम अनुग्रह करने की योग्यता एकमात्र भगवान में है। परम अनुग्रह से शिवत्व प्राप्ति होती है। खण्ड अनुग्रह से नाना प्रकार की उच्च अवस्थाएँ प्राप्त हो सकती है। जिस जीव में शक्तिपात हुआ है एकमात्र वही दीक्षा प्राप्त करने के लिए उपयुक्त है। आचार्य, गुरु यदि ज्ञानी हैं तो वे दृष्टिपात करते ही समझ जाते हैं कि किसी में शक्तिपात हुआ है या नहीं। जिसमें शक्तिपात नहीं हुआ है, ऐसे जीव को ज्ञानी गुरु कभी भी दीक्षा देने के लिए अग्रसर नहीं होंगे। दीक्षा क्रियाशक्ति का कार्य है। मूल में यह परिपूर्ण ज्ञान और क्रिया का अभिन्नतामय चिच्छक्ति का व्यापार है।... शक्तिपात का तात्पर्य यह है कि जीवविशेष को उठा लेने की भगवान की इच्छा हुई है....। भगवान की इस करुणा दृष्टि की ओर लक्ष्य करते हुए आचार्य दीक्षादान के लिए अग्रसर होते हैं। दीक्षादान के फलस्वरूप ज्ञान और क्रिया दोनों ही शक्ति का संचार होता है।"[36]

दीक्षाप्राप्ति से लेकर मोक्ष प्राप्ति एवं अखण्ड योग की दिशा में गति के क्रम को

दर्शाने के लिए कविराज ने नौ अवस्थाएँ वर्णित की हैं; दीक्षा का प्राप्त होना, पौरुष अज्ञान का नष्ट होना, अद्वय आगमशास्त्र के श्रवण की अधिकार प्राप्ति, उसके बाद श्रवण आदि साधन, बौद्ध ज्ञान का उदय, बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति, जीवनमुक्ति, भोगादि द्वारा प्रारब्ध नाश, देहत्याग के बाद पौरुष ज्ञान का उदय एवं अंततः पूर्णत्व अथवा परमेश्वर की प्राप्ति।[37] अभिनवगुप्त ने ज्ञान एवं दीक्षा को तो एक एवं अभिन्न निरूपित किया है किन्तु साधक में अध्वादि के प्राधान्य से दीक्षा के अनंत प्रकारों का वर्णन भी किया है :

यत्र यत्र हि भोगेच्छा तत् प्राधान्योक्षेपतः।
अन्यांन्तर्भावनातश्च दीक्षानन्तविभेद भाक् ।।[38]

कविराज ने योग एवं परकाय प्रवेश के प्रसंग में भी गुरु तत्त्व पर विचार किया है। आगम परम्परा में सांसिद्धिक, यौगिक, अकल्पित आदि के भेद सद्गुरु के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं जिनका विवेचन अभी आवश्यक नहीं है। सम्प्रति यह अवश्य कथनीय है कि कविराज के आगमसम्मत विचार में अखण्ड सत्ता की अभिव्यक्ति या अवतरण के लिए सद्गुरु तत्त्व अपरिहार्य है और यह भी कि भारत की सनातन संस्कृति एवं साधना, विशेषतः आगमिक धारा, के परिप्रेक्ष्य में गुरुतत्त्व एवं दीक्षासिद्धांत का कविराज कृत आलोचन सर्वोत्कृष्ट एवं विशद है।

'सर्वे सर्वात्मका भावाः सर्वसर्वस्वरूपतः'[39] प्रतिपादक आगमिक दृष्टि को एक सुसंगत अखण्ड दृष्टि कहा जा सकता है। इसी आशय की आवृत्ति कविराज के अग्रलिखित विवेचन में प्रतिबिम्बित होती है जिसे उनके गुरुदेव स्वामी विशुद्धानन्द जी के खण्ड समावेशक सूर्य विज्ञान के सिद्धांत की पृष्ठभूमि भी माना जा सकता है :

"योगिगण और वैज्ञानिक कहते हैं कि जगत् की सभी वस्तुएँ सर्वात्मक हैं, अर्थात् जगत् की सभी वस्तुओं में सभी अन्य की सत्ता आंशिक रूप में रहती ही है। सृष्टि में निरपेक्ष कोई वस्तु रह नहीं सकती। हम लोग किसी विशेष वस्तु को उसके विशेष रूप अथवा नाम के द्वारा अथवा गुण और क्रिया के द्वारा पहचानते हैं । इससे अन्य वस्तु के उपादान उसमें नहीं हैं, यह सोचना उचित नहीं है। इसलिए किसी भी वस्तु में जगत् की सकल वस्तुओं के उपादानों के रहने के कारण प्रयोजन के अनुसार उसे जिस किसी वस्तु के रूप में परिणत करना सम्भव है। प्रत्येक वस्तु की पृष्ठभूमि में अव्यक्त और स्थूल रूप से मूल प्रकृति रहती है। आपूरण के तारतम्य के अनुसार विभिन्न प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति होती रहती है। योगी इस सत्य का आश्रय करके ही अभ्यासयोग में प्रवृत्त होता है; क्योंकि मानव की निजसत्ता में भी सूक्ष्म रूप से पूर्ण भगवत्ता अथवा दिव्यसत्ता विद्यमान रहती है। उसको अभिव्यक्त कर प्रकाश में लाना ही अभ्यास योग का उद्देश्य है।"[40]

सत्ता के उक्त समग्रतापरक स्वरूपवर्णन के ही सदृश वर्णमय भाषा जगत् या वैखरीगत वर्णभेद के क्षेत्र में भी यह आगमिक पूर्वमान्यता है कि 'प्रत्येक वर्ण ही स्वरूपतः सर्व वर्णात्मक है' तथा यह कि प्रत्येक वर्ण में सर्वाभिधान की सामर्थ्य है। पूर्णता, अखण्डता

एवं समग्रता जैसे विशेषण त्रिक दर्शन के ही समान श्री अरविन्द एवं कविराज की चिंतनसरणि में सर्वथा अन्तरंग रहे हैं। कविराज की समग्रदृष्टि का मुख्य प्रतिपाद्य उनके अखण्ड महायोग[41] के विवेचन एवं तदनुसार प्रस्तुत निजदृष्टांत में निहित माना जा सकता है। उनके द्वारा लिखित एक अंश के आधार पर ही हम अखण्ड महायोग के इस प्रसंग को कविराज का मुख्य प्रतिपाद्य कहने हेतु उद्यत् हुए हैं। कविराज द्वारा प्रतिपादित इस योग को तात्पर्य या भावरूप में, कतिपय पक्षों में विवेचन भेद की पूर्व स्वीकृति के साथ, श्री अरविन्द द्वारा विस्तारपूर्वक वर्णित 'इण्टीग्रल योग' या समग्रयोग अथवा पूर्णयोग के ही प्रकार का योग कहा जा सकता है। वस्तुतः इस विषय पर एक विस्तृत एवं स्वतंत्र आलेख अपेक्षित है। समकालिक अनुयायियों के विवरण से संकेत मिलता है कि अखण्ड महायोग के अंतर्गत कविराज ने वस्तुतः दो धाराओं का निर्देशन किया थाः व्यष्टि साधना एवं समष्टि साधना।[42] व्यष्टि (पिण्ड) एवं समष्टि (ब्रह्मण्ड) में तात्त्विक तादात्म्य स्वयमेव एक मूलभूत तांत्रिक अवधारणा के तथा इस तांत्रिक दृष्टि का समर्थन एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि के रूप में प्रयोग श्री अरविन्द,[43] श्रीयुत् शिवचन्द्र विद्यार्णव भट्टाचार्य एवं सर जान वुडरफ ने भी किया है। कविराज की दृष्टि तो पूर्णतः तांत्रिक है। तदनुसार, अखण्ड भावादि की उपलब्धि मानव देह में ही सम्भव निरूपित की गई है :

"मनुष्य देह वस्तुतः समस्त विश्व का प्रतीक है। नीचे, ऊपर और बीच में जहाँ जो कुछ है, सबका सार ग्रहण कर ब्रह्माण्ड में है। वस्तुतः सब कुछ ही विश्वरूप है। केवल अपना स्वरूप विस्मृत हो जाने के कारण मनुष्य अपने को विश्व रूप में पहचान नहीं सकता। मनुष्य केवल विश्वरूप ही हो, ऐसी बात नहीं है। वह तो विश्व से भी अतीत है। मनुष्य विश्व भी है और विश्वाजीत विशुद्ध प्रकाशस्वरूप भी है– एक ही साथ दोनों है। इस कारण पूर्णत्व की अभिव्यक्ति मनुष्य में ही सम्भव है। अखण्ड ज्ञान, अखण्ड ऐश्वर्य, अखण्ड भाव – ये सब एकमात्र मनुष्य देह में ही, अवस्था विशेष में ही व्यक्त हो सकते हैं।"[44]

जैसा कि हम पूर्व में भी उल्लेख कर चुके हैं, बोधभूमि में सभी निकायभेद अस्तमित हो जाते हैं; सम्भवतः उसी पृष्ठभूमि में कविराज अखण्ड महायोग की तकनीकी रहस्यात्मकता से परे हटकर सामान्य जन सम्वेद्य जगकल्याणकारी समन्वयात्मक दृष्टि से जोड़कर भी देखते हैं :

"समन्वयात्मक दृष्टि के बिना जगत् का कल्याण नहीं। साम्प्रदायिक दृष्टि खण्ड दृष्टि है। साधक के संस्कार अथवा रुचि के अनुसार साधना में इसे राम, कृष्ण, शिव तथा शक्ति की उपासना में दृष्टि भेद होना स्वाभाविक है, किन्तु भाव दृष्टि इन सारे दृष्टि भेदों को समाप्त कर देती है। वही पूर्ण या समग्र दृष्टि है। अखण्ड महायोग का यही लक्ष्य है। समष्टि परिवर्तन इसी के द्वारा सम्भव है।"[45]

अखण्ड महायोग ग्रंथ के 'विषय प्रवेश' में ही उनके द्वारा लिखित निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं :

"यह ग्रंथ रचना किसी अभिनव दार्शनिक तत्त्व की आलोचना के लिए नहीं । यह ग्रन्थ माँ का स्वरूप उद्घाटित करने और बतलाने के लिए भी नहीं है। असमय में कोई 'माँ' को पुकारना न भूले, इस अनुरोध को संसार के समक्ष निवेदन करने हेतु इस पुस्तिका की रचना हुई है। अन्य सब उसका अंगमात्र है।"[46]

मुझे यहाँ अंतिम वाक्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है; तदनुसार दार्शनिक तत्त्वों की मीमांसा एवं अन्य योग विषयक प्रविधियाँ आनुषंगिक हो सकती हैं, मुख्य वस्तु है– माँ के प्रति भावमयी शरणागति। उल्लेखनीय है कि कविराज की दृष्टि में 'आपाततः माँ एवं गुंरु अभिन्न है'[47] माँ एवं गुरु को समतुल्य एवं सदृश तत्त्व मानते हुए कविराज एक स्थल पर लिखते भी हैं :

"अखण्ड भाव से देखने के लिए तृतीय नेत्र रूपी अंतर्दृष्टि का उन्मीलन परमावश्यक है। आज्ञाचक्र के ऊपर एक ऐसा स्थान है जहाँ से सब कुछ देखा व सुना जा सकता है। सर्वप्रथम ज्योति तदनंतर मूर्ति गठित होती है। इस मूर्ति को हम गुरु भी कह सकते हैं, अथवा माँ भी कह सकते हैं।"[48]

माँ के तत्त्व को वे अत्यन्त सहज किन्तु रहस्यमय तत्त्व निरूपित करते हैं। उनके शिष्य दादा सीताराम ने भी यत्र तत्र अपने आलेखों में इसी तथ्य को पुष्ट किया है : 'अखण्ड महायोग का परम प्राप्तव्य श्री श्री माँ हैं। ये अक्षत कुमारी रूपा हैं।"[49]

वस्तुतः कविराज की अखण्ड महायोग की अवधारणा का द्विपाक्षिक विवेचन किया जा सकता हैः इसके स्वरूप या प्रस्थिति एवं प्रतिफलन के विवरण की दृष्टि से एवं इस महायोग की उपलब्धि हेतु निर्धारित (प्रायः गोपनीय एवं रहस्यात्मक) प्रक्रिया के वर्णन की दृष्टि से । जहाँ तक प्रक्रिया के निर्धारण का प्रश्न है, कविराज सभी प्रणालियों को अपनी अपनी दृष्टि से सत्य मानने में कोई संकोच नहीं करते। उनका स्पष्ट कथन है कि यदि कोई भी प्रणाली पूर्ण होती तो उसके प्रभाव से अब तक अखण्ड सत्ता का आविर्भाव हो चुका होता, जैसा कि अभी तक नहीं हो सका है।[50] प्रक्रिया के विवरण की दिशा में सूर्य विज्ञान की अवधारणा की अनेकशः पुष्टि, तकनीकी शब्दावलि एवं अनेक रहस्यमय स्थितियों का वर्णन एवं समर्थन अवश्य मिलता है। तद्गत पदों की सामान्य प्रचलित निहितार्थ से प्रायः हटकर की गई व्याख्याएँ भी उपलब्ध होती हैं। उदाहरण दृष्टव्य है :

"अखण्ड महायोग की साधना आसन पर नहीं होती। इसके कर्म का प्रारम्भ माँ के गोद में बैठकर होता है। यह माँ की गोद भगवती सुषुम्ना है। गुरु से इनका सन्धान पाकर शिष्य को ध्यानकाल में अपना अस्तित्व इन्हीं सुषुम्ना की तरंग में छोड़कर बैठ जाना है। उसे करना कुछ नहीं है। कुछ भी कर्तृत्व किया नहीं कि उस धारा से अलग हुआ। शिशुवत् पड़े रहने से वह प्रवाह स्वयं गंतव्य की ओर ले जाता है। न तो ध्यान करना है न जप। बस बैठे रहना ही कर्त्तव्य है।"[51]

अखण्ड महायोग के सन्दर्भ में 'माँ की गोद' व 'सुषुम्ना' के उल्लेख से कभी कभी

ऐसा भी प्रतीत होता है कि कहीं यहाँ उस स्थिति का संकेत तो नहीं है जिसका निहितार्थ "मध्यविकासाच्चिदानन्द लाभः"[52] में व्यक्त किया गया है। यह तो मानो दैवी अनुग्रह के प्रति सर्वस्व एवं सर्वथा अनुबन्धविहीन व अक्रिय समर्पण है। प्रथमतः प्रक्रिया या साधना के स्थान पर शुद्ध भावमात्र की स्थिति दिखती है। किन्तु कविराज के परम शिष्य दादा सीताराम जिन्हें कविराज ने 'अखण्ड सत्ता' के अवतरण का शेष प्रभार सौंपा था, ने अपने एक लेख 'अखण्ड महायोग' में 'अखण्ड सत्ता' के साक्षात्कार हेतु एक निर्धारित प्रक्रिया का भी उल्लेख किया है। तदनुसार, ऐसी अखण्ड सत्ता के यथार्थीकरण की दिशा में अग्रसर होने के लिए योगी को तीन देहों (स्थूल, सूक्ष्म व कारण), तीन अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति) तीन गुणों (सत्, रज एवं तम) व मन बुद्धि में काल राज्य का अतिक्रमण करके प्रवेश करना पड़ता है। अखण्ड सत्तात्मक पूर्ण अहंभाव में प्रतिष्ठित होने के लिए अखण्ड महायोग की ध्यान साधना में चार क्रम निर्धारित किए गए हैं : प्रथम सोपान के अंतर्गत साधना के माध्यम से सुषुम्ना की ओर उन्मुख किया जाता है; तदुपरांत उसे नाभि से सहस्त्र दल तक की सूक्ष्म गति अनुभव करना होता है; तृतीय चरण में चित वृत्ति निरोध की बात आती है तथा अंततः प्रत्येक साधक को अखण्ड सत्ता का साक्षात्कार करना होता है।[53] इस महायोग की साधना में नासिका के अग्रभाग पर ध्यान का अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि इसी भाग में सुषुम्ना, जिसे माँ की गोद सदृश माना गया है, का सान्निध्य लाभ होना बतलाया गया है। इस नासाग्र ध्यान बोधक साधना का उल्लेख श्रीमद्भगवद् गीता के 'समं काय शिरोग्रीवा' इत्यादि में भी प्राप्त होता है। इस उपदेश की व्याख्या भी कविराज के मत में रहस्यात्मक रूप से एक क्रियाविहीन समर्पण की ही द्योतक प्रतीत होती है :

"यहाँ जिस नासाग्र की बात कही गई है, वहीं माँ की गोद में जाने का सन्धान मिलता है। शास्त्रों ने अतिगुप्त रूप से कहकर इसका रहस्य गुरुगम्य कर दिया। यह नासाग्र बिन्दु कहाँ है, इसका सन्धान संसार पर करुणार्द्र दृष्टि वाले योगिराजाधिराज विशुद्धानन्द परमहंसदेव ने महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ जी कविराज को दिया, जिन्होंने कृपावश मेरा जीवन सफल बनाने के लिए पितृवत स्नेह के वशीभूत होकर मुझे इसकी शिक्षा दी। यहीं सर्वकर्म का सन्यास सम्भव है और अक्रिय होकर सब पाना चाहिए।"[54]

अखण्ड महायोग की अवधारणा को ही वैयक्तिक स्तर पर अपेक्षित योग्यता के बिना ही सर्वमुक्ति का महास्वप्न भी कहा गया है जिसका उद्देश्य है कि यह 'मरजगत् मनुष्यत्व लाभ कर अमर जगत् के रूप में परिणत हो जाता है। वस्तुतः अखण्ड महायोग के विवेचन में कविराज की शैली में अनेक स्थलों पर तार्किकता का अभाव परिलक्षित होता है– सम्भवतः इसलिए कि यह विषय ही स्वरूपतः रहस्यात्मक व अतिक्रांत बौद्धिकता से सन्दर्भित है। यद्यपि आगम परम्परा में "तर्क" को महत्त्वपूर्ण योगांग बताकर एतद्विषयों के सुबोध बौद्धिक विवेचन का मार्ग भी प्रशस्त किया गया है। एक स्थल पर कविराज स्वयं कहते हैं कि इस अखण्ड महायोग का एक मात्र उपाय स्वामी विशुद्धानन्द का सूर्य विज्ञान

है।[55] पुनः वे यह भी बतलाते हैं कि किस प्रकार से स्वामी जी के प्रयास से जिस 'महावस्तु' को इस मरजगत् में अवतीर्ण करने की अपेक्षा थी वह सम्पन्न हो चुकी है; अब शेष है–'उस वस्तु की प्रत्येक व्यष्टि मानव के हृदय में प्रतिष्ठा। इसी का नाम है योग स्थापना'।[56] कविराज ने अनेक बार 'सूर्य विज्ञान' एवं 'अखण्ड महायोग' का तथा इसी प्रकार 'विशुद्ध सत्ता का अवतरण', 'सर्वमुक्ति', 'अखण्ड सत्ता' व 'विज्ञानमय सत्ता' का पर्याय के रूप में उल्लेख किया है।

"महायोग का अर्थ है अनन्त प्रकार अयुक्त और विक्षिप्त भावों का एक सूत्र में संयोजन और तादात्म्य स्वरूप में प्रतिष्ठा। शिव के साथ शक्ति का योग, आत्मा के साथ परमात्मा का योग, एक आत्मा के साथ दूसरी आत्मा का योग, महाशक्ति के साथ आत्मा का योग, लोक लोकांतर का परस्पर योग, लोकों के साथ लोकातीत का योग इत्यादि सभी महायोग के अतंर्गत हैं। यह योग जब अखण्ड सत्ता रूपेण निष्पन्न हो तब कुछ शेष नहीं रहता, क्योंकि उससे सब प्रकार के अभावों का सर्वदा के लिए विनाश हो जाता है।"[57]

अखण्ड का अर्थ पूर्णत्व भी है। इसे प्रत्यभिज्ञा दर्शन की पदावलि में 'अकृत्रिम पूर्ण अहंमात्र विमर्श, की सार्वजनीन अभिव्यक्ति या अवतरण भी कहा जा सकता है। यही पूर्णत्व की स्थिति आगमिक दृष्टि से परम प्राप्तव्य कही गई है। तृतीय नेत्र या अन्तर्दृष्टि के विवेचन के प्रसंग में कविराज देवों के मध्य शिवमात्र के त्रिनेत्र होने का निहितार्थ स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि पूर्णयोगी के लिए मात्र तृतीय नेत्र का नहीं बल्कि तीनों नेत्रों का पूर्ण विकसित होना आवश्यक है क्योंकि उसे दिव्यतत्त्व व मायिक दोनों ही सन्दर्भ में बोधयुक्त' होना चाहिए। 'सर्वो ममायं विभवः' के भुक्तिमूलक बोध के साथ शिवात्मैक्य भाव का भी पूर्णत्व की स्थिति में समावेश रहता है। अग्रोल्लिखित त्रिनेत्र की स्थिति अकृत्रिमअहंमात्रविमर्श एवं जगदानन्द के समानाधिकरण्य की भावभूमि में निर्मित होती है जहाँ दिव्यत्व एवं मायिक बोध का समाहार अभीष्ट है :

"पूर्णत्व पथिक का तृतीय नेत्र एवं चर्मचक्षु दोनों उन्मीलित रहता है। जब तीनों नेत्र कार्य करते हैं तभी पूर्णत्व का पथ उन्मिलित होता है। साधारणतया साधकगण भी दिव्यचक्षु प्राप्ति के पश्चात् एक चक्षुधारी हो जाते हैं। वे सदा दिव्यभावापन्न रहते हैं। लौकिक भावापन्न नहीं रहते। उनमें देहात्म बोध भी नहीं रहता।... पूर्णत्व के लिए दिव्यबोध एवं मायिक बोध दोनों आवश्यक हैं। उभय अनुभव की पूर्ण प्रकाशमानता पूर्णत्व पथिक का सम्बल है। वे जीव होने पर भी शिव हैं । शिव होने पर भी उनमें जीवभाव की विद्यमानता है। वे जीव की प्रत्येक अवस्था से परिचित रहते हैं। ज्ञान का पूर्ण विकास इसी स्थिति में सम्भव है। पूर्णयोगी के तीनों नेत्रों का सुविकसित होना अत्यावश्यक है।[58]

इसी बात को कविराज सूफियों के अनुसार बतलाई गई 'फना', 'वका', 'मजुब' एवं 'कुतुब' की अवधारणाओं एवं स्थितियों से तुलना करते हुए तथा सिद्ध एवं सदगुरु में विभेद का निदर्शन करते हुए और भी स्पष्ट करते हैं। साधना के पथ पर अहंकार नाश एवं मायिक

धारा से सम्बन्ध विच्छेद होकर शून्य के बोध की स्थिति 'फना' की अवस्था है; अहं ब्रह्मास्मि के स्तर को 'वका' कहा जा सकता है; पुनः पारमार्थिक दृष्टि सम्पन्न या ब्रह्मनिष्ठ 'मजुब' संज्ञक हैं तथा सद्‌गुरु भावापन्न को 'कुतुब कहते हैं। इन अंतिम दो में स्थितियों में स्तरगत भेद नहीं होता किन्तु भावगत अंतर होता है : ब्रह्मनिष्ठ की द्रष्टि में सृष्टि नहीं है जबकि अनुग्रहकारी सद्‌गुरु की दृष्टि में व्यक्तिगत अहम् की कल्पना से उत्पन्न सृष्टि की स्थिति स्वीकार्य है। इन्हें कविराज नररूपी 'विरूपाक्ष' कहते हैं।[59]

कविराज के चिंतन में संत मत एवं आगमिक परम्परा से समर्थित दृष्टि का बहुधा समन्वय परिलक्षित होता है। वे कालराज्य से आत्मा के उद्धार विषयक स्वमत के समर्थन में कबीर आदि संतों के प्रयासों की चर्चा भी करते हैं। तदनुसार,

संतगणों द्वारा वर्णित सत्यलोक अखण्ड महायोग के अनुसार (आंशिक भाव से) मन के अवतरण के पश्चात् आविर्भूत ज्योतिर्मय ज्ञान राज्य के अनुरूप हैं'।[60]

स्वरूपयोग्यता के सन्दर्भ में 'साधक' को 'योगी' नहीं माना जा सकता। पुनः साधक भी दो प्रकार के होते हैं: एक वे जो गुरु से अपने आधार के उपयोगी चैतन्य संचार को प्राप्त कर कर्म पथ पर प्रवेश करते हैं उन्हें प्रकृत साधक कहा जाता है; दूसरे वे हैं जो प्रकृत साधक न होते हुए भी सद्‌गुरु से बिना संसर्ग के ही उपदेश सामान्य व स्वविवेक के अनुसार भगवद्प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा से साधना में प्रवृत्त होते हैं। कविराज के मतानुसार गुरु की कृपा जो चैतन्य के प्रदान में निहित होती है, के अभाव में कोई भी साधक पद वाच्य नहीं हो सकता। 'चैतन्य की न्यूनता से साधनमार्ग एवं तीव्रता रहने से योगमार्ग अभिव्यक्त होता है।'[61] पुनः कविराज 'चित्तालोक' एवं 'चिदालोक' में अंतर स्पष्ट करते हुए लौकिक योगी पदवाच्य साधक एवं प्रकृत साधक में भेद निदर्शित करते हैं। साधक चिदाकाश भेद के उपरांत जो अवस्था प्राप्त करता है, अतिसाधारण योगी भी योगदीक्षा के उपरांत उस अवस्था को गुरु कृपा से प्राप्त करता है। किन्तु साधक का कार्य, योगी का कार्य एवं उद्‌देश्य तथा प्रयोजन एक प्रकार का नहीं होता। कविराज के अभिमत में चिन्मय काया का पूर्णांग विकास साधक का लक्ष्य है, किन्तु यह योगी का लक्ष्य नहीं है।[62] दीक्षा के क्रम में गुरुदत्त चैतन्य शक्ति के समावेश से योगीशिष्य को 'कायादान' मिलता है। इसी का नाम जाग्रत कुण्डलिनी भी है। इसके उपरांत शिष्य को कर्म मात्र करना होता है जो जाग्रत कुण्डलिनी की पुष्टि हेतु आहारदान कहलाता है। दूसरी ओर, साधक शिष्य का आधारबल कम होता है, फलतः उसे आभास चैतन्य ही दिया जाता है जिसे वह स्वतः कर्म से स्वरूप चैतन्य में परिवर्तित करता है।[63] अखण्ड महायोग नामक ग्रंथ के 'उपसंहार' में कविराज अखण्ड महायोग की अभीष्ट स्थिति को मनुष्यत्व की उपलब्धि से संयुक्त करते हैं। तदनुसार, अभी मनुष्य को मनुष्यत्व प्राप्त करना होगा। मनुष्य आकृति से मनुष्य होने पर भी प्रकृत में वह मनुष्य नहीं है। अतः उसे वास्तविक मनुष्य बनना होगा।

मनुष्यत्व प्राप्ति को कविराज उसका 'जन्मसिद्ध अधिकार' मानते हैं। मनुष्यत्व से

उनका अभिप्राय है मानव में बोध का उदय एवं उसमें अनुवर्ती कर्म–प्रवृति। कर्म कुछ और नहीं, मात्र माँ को पुकारना है।"[64] वे इसी क्रम में माँ के दो भेद–अखण्ड माँ एवं खण्ड माँ बतलाते हैं। तदनुसार, देवी या शक्ति रूपी माँ खण्ड माँ हैं ; अखण्ड मातृभाव तो ब्रह्मभाव से भी परे मात्र माँ का द्योतक है।[65] खण्ड माँ काल से असम्बद्ध हैं किन्तु अखण्ड माँ 'कालनाशिनी' होती हैं। कविराज के अनुसार देव, सिद्ध आदि से ईश्वर एवं परमेश्वर पर्यंत सभी कालनाश में समर्थ नहीं हैं। अखण्ड महायोग की स्थापना के लिए कालनाश प्राथमिक अपेक्षा है। शिवानुग्रह से प्राप्त गुरुकृपा के प्रभाव से काल की निवृत्ति सम्भव है। अखण्ड महायोग की उपलब्धि अथवा अवतरण के लिए दो प्राग्पेक्षाएँ निर्देशित की गई हैं : मानव का श्रेष्ठ प्रयत्न एवं परमात्मा का परम अनुग्रह।

इस प्रकार अंततः यह कहा जा सकता है कि समकालीन परिदृश्य में पारम्परिक भारतीय चिंतन एवं साधना के जीवंत प्रतीक म.म. गोपीनाथ कविराज के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को यदि समग्र रूप में एक मूलोन्मुखी दृष्टि से देखा जाए तो उसे परम्परया सम्प्राप्त विभिन्न शास्त्रों के सुदीर्घ, सावधान एवं सुविस्तृत स्वाध्याय, श्रद्धा किन्तु सतर्कतापूर्वक किए गए सत्संग (साधुओं, सिद्धों व साधकों का सान्निध्य) एवं अनवरत साक्षात् गुरुमुखी साधना की त्रिवेणी में उनके द्वारा समग्रतापूर्वक किए गए अवगाहन का स्वाभाविक एवं सार्थक प्रतिफलन माना जा सकता है। निर्विवादरूप से यह भी कहा जा सकता है कि अनुत्तर तक विस्तृत चेतना के ऊर्ध्वाधर वितानों के यथार्थ रहस्यों को शास्त्रों व संतवाणी में संकेतित स्वानुभूति–सम्पुष्ट विवरण की प्रस्तुति एवं शास्त्रगत अर्थ–गहनता की मूलदृष्टि–सम्मत समीक्षात्मक विवेचन कविराज के प्रमुख कार्यक्षेत्र रहे हैं। 'यद् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' आदि आगमिक पूर्वमान्यताओं के अनुसार व्यष्टि स्वरूप मानव देहस्थ ग्रंथ में ही समष्टि के तत्त्वों एवं स्तरों के साधनामूलक अनुभवलाभ के साथ–साथ कविराज ने तत्सम्बन्धी पारम्परिक ग्रंथों के अनुसन्धान व प्रकाशन को भी विशेष महत्त्व दिया। इसी क्रम में उन्होंने आध्यात्मिक जगत् में अनंत प्रकार से असंश्लिष्ट और विक्षिप्त विकीर्ण भावों की एकसूत्र में संयोजना एवं उनकी तादात्म्यरूपेण प्रतिष्ठा के द्योतक अखण्ड महायोग को जो मूलतः एक आगमिक आदर्श है, 'भूलोक में पूर्णाहंता के विकास' के रूप में प्रतिष्ठित करने का चैतसिक प्रयास भी किया है।

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

1. *कविराज के सम्बन्ध में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि उनकी सम्पूर्ण चैतसिक यात्रा में अनेक समकालीन संत एवं सिद्धों के सत्संग का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा है तथा इस आनुषंगिक किन्तु आधारभूत प्रभाव को कविराज ने स्वयं न केवल स्वीकार किया है बल्कि इस विषय पर बहुत कुछ लिखा भी है। इस सन्दर्भ में कविराज के द्वारा लिखित अनेक लेखों*

के अतिरिक्त उनके कतिपय स्वतंत्र ग्रंथ भी उल्लेखनीय हैं, यथा– साधुदर्शन एवं सत्प्रसंग, भाग–1, 2 एवं 3; विश्वविद्यालय प्रकाशन से 2003 व 2004 में प्रकाशित ; सनातन साधना की गुप्तधारा – ज्ञानगंज, विशुद्धानन्द प्रसंग तत्त्वकथा, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, से 2002 में प्रकाशित।

2. *कविराज, अंतर्यात्रा, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1991, पृ. 18.*
3. *भारतीय संस्कृति और साधना, द्वितीय खण्ड, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1979, पृष्ठ–93.*
4. *तदेव, पृष्ठ–95*
5. *कविराज, तांत्रिक साधना और सिद्धांत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, द्वितीय संस्करण–1994; पृष्ठ–31*
6. *कविराज, अंतर्यात्रा, पृष्ठ – 25–36*
7. *कविराज, अंतर्यात्रा, पृ. 18*
8. *भारतीय संस्कृति और साधना, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ–93*
9. *साधुदर्शन व सत्प्रसंग, पृष्ठ–116*
10. *तदेव, पृष्ठ–106*
11. *अखण्ड महायोग, अखण्ड महायोग संस्थान, वाराणसी, 1986; पृष्ठ 83*
12. *कविराज, भारतीय धर्म साधना, वाराणसी, 2001, पृष्ठ–32*
13. *कविराज, तांत्रिक वांग्मय में शाक्त दृष्टि, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1994; पृष्ठ–25*
14. *The Doctrine of Pratibha in Indian Philoshphy", Selected Writings of M.M. Gopinath Kaviraj, म.म. गोपीनाथ कविराज जन्म शताब्दी समारोह समिति द्वारा प्रकाशित, माता आनन्दमयी आश्रम, वाराणसी, 1990; पृष्ठ 1 से 45 तक।*
15. *"...rituals are symbolic, Unfortunately, people read about these things in and misunderstood or misuse them. Such texts speak in sandhyabhasya which means the twelight language. It has one meaning to ordinary people and another meaning to initiates. Sri Aurobindo Says that the Vedas use this kind of language. When the Vedas speak of Agni, for example, its not material Agni material fire. What is meant there is the fire of consciousness. Sri Aurobindo explains this in his beautiful introduction to the Hymns to Mystic Fire.This was the practice in ancient times, to speak in twilight language. And in Tantra, you find the same thing."(An Interview with Deba Brata Sensharma by Maryllen Lo Bosco)*
16. *उपाध्याय, बलदेव, 'पण्डित गोपीनाथ कविराज', कविराज कृत भारतीय धर्म साधना में सम्मिलित, पृ. 24–25.*
17. *म.म. गोपीनाथ कविराज, श्रीकृष्ण–प्रसंग, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण–2000, पृष्ठ–1*
18. *'सर्वेषां चार्वाकादिदर्शनानां स्थितयः सिद्धांताः तस्य एतस्य आत्मनो नटस्येव स्वेच्छावगृहीताः कृत्रिमा भूमिकाः।' क्षेमराजकृत प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र–8*
19. *नवजीवन रस्तोगी, 'भारतीय दर्शन की समसामयिक अन्वीक्षाः कविराज का दृष्टिकोण', उन्मीलन, जुलाई, 2004; पृष्ठ–153.*
20. *कविराज, अंतर्यात्रा, पृष्ठ–25–26*
21. *तदेव, पृष्ठ–26*

22. कविराज, भारतीय धर्म साधना, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी, 2001, पृष्ठ–88
23. कविराज, साधुदर्शन एवं सत्प्रसंग, प्रथम भाग, पृष्ठ–7
24. "चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धिहेतुः" (क्षेमराज, प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र–1 एवं सूत्र–8)
25. "पिण्डं पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयमायो वै सम्यक् विज्ञानाति स गुरुः परिकीर्तितः।।" (कविराजकृत तांत्रिक साधना और सिद्धांत के पृष्ठ–56 में नवचक्र तंत्र से उद्धृत)
26. "दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दात् कृपया शिष्यदेहके ।
जनयेत् यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः।।"
27. "मातृकाचक्र सम्बोधः ।।"(शिवसूत्र 2/7)
28. द्विवेदी, रामचन्द्र, काश्मीर की शैव परम्परा, (हीरानन्द शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला–9) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1990, पृष्ठ–50
29. (अ) "भुक्ति भुक्ति प्रसिद्ध्यर्थ नीयते सद्गुरुं प्रति।" (मालिनी विजयोत्तर तंत्र)
(ब) "शक्तिपातात् सद्गुरुविषया पिपासा भवति।
असद्गुरुविषयायांतु तिरोभाव एवं ।
असद्गुरुतस्तु सद्गुरुतस्तु सद्गुरुगमनं शक्तिपातादेव।" (तंत्रसार,, पृष्ठ 122)
30. "यस्माद्दीक्षा मंत्र शास्त्रं तत्त्वज्ञानं स वै गुरुः ।" (तंत्रालोक, 15/591)
31. "दीयते ज्ञान सद्भावः क्षीयते पशुभावना। दानक्षपण संयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता।।" (तंत्रालोक, 1/43 पर विवेक टीका)
32. कविराज, भारतीय संस्कृति और साधना, पृष्ठ–19–20
33. तांत्रिक साधना और सिद्धांत, पृष्ठ 54
34. कविराज, भारतीय संस्कृति और साधना, पृष्ठ, 19–20
35. तदेव, पृष्ठ–22
36. कविराज, दीक्षा, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी, 2003, पृष्ठ–3–4
37. तांत्रिक साधना और सिद्धांत, पृष्ठ–104–105
38. तदेव, पृष्ठ–120
39. सोमानन्द, शिवदृष्टि, 5/107
40. कविराज, भारतीय संस्कृति और साधना, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ–164
41. कविराज के अखण्ड महायोग के परिचय हेतु कविराज के पट्ट शिष्य दादा सीताराम द्वारा वर्ष–1986 में अखण्ड महायोग संस्थान, वाराणसी से प्रकाशित महातंत्रयोगी कविराज प्रणीत अखण्ड महायोग नामक पुस्तिका परम उपयुक्त है। कविराज ने स्वयं अपनी अस्वस्थतता के दौर में सन्दर्भित दादा सीताराम को 1973 में अखण्ड महायोग के आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित कर एक भूखण्डस्थ कक्ष से इस प्रविधि के प्रयोग का आदेश दिया था। इसके अतिरिक्त कविराजकृत अखण्ड महायोग का पथ और मृत्यु विज्ञान नामक एक पुस्तक का प्रकाशन बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से 1984 में हुआ है जिसके प्रथम 51 पृष्ठों में साधक एवं योगी की अवस्थिति में अंतर स्पष्ट करते हुए अखण्ड महायोग की अवधारणा का ही विवेचन किया गया है।
42. एस.एन. खण्डेलवाल, 'निवेदन', अखण्ड महायोग, पृष्ठ– VIII
43. "...not only the macrocosm but the microcosm is nothing but consciousness arranging itself." श्री अरविन्द जन्म शताब्दी संस्करण (अंग्रजी में), पाण्डिचेरी, भाग–22, पृष्ठ–236–7 एवं "...Each is the whole Etermal Concealed." (लाइफ डिवाइन, पृष्ठ–381)

44. भारतीय संस्कृति और साधना, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ–20–21
45. पण्डित बलदेव उपाध्याय द्वारा लिखित आलेख "पण्डित गोपीनाथ कविराज", भारतीय धर्म साधना, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी, 2001 के पृष्ठ–21 में उद्धृत।
46. कविराज, अखण्ड महायोग, पृष्ठ–5
47. तदेव, पृष्ठ–4
48. कविराज, गुरुदर्शन से सम्बोधि, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1991; पृष्ठ– 47–48
49. "अमृतवाणी", कविराजकृत गुरुदर्शन से सम्बोधि में सम्मिलित, पृ.1
50. अखण्ड महायोग, पृष्ठ–5
51. 'अमृतवाणी', गुरुदर्शन से सम्बोधि, पृ. 2
52. क्षेमराजकृत प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र–17
53. दादा सीताराम, 'अखण्ड महायोग', नवोन्मेष : म.म. गोपीनाथ कविराज स्मृति ग्रंथ, म.म. गोपीनाथ कविराज जन्म शताब्दी समारोह समिति, वाराणसी, 1987; पृष्ठ–34
54. 'अमृतवाणी', गुरुदर्शन से सम्बोधि, पृ.3
55. कविराज, अखण्ड महायोग, पृष्ठ–2
56. तदेव, पृष्ठ–4
57. डॉ. भगवती प्रसाद सिंह, मनीषी की लोकयात्रा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1980; पृष्ठ–368 (वस्तुतः यह कविराज के ही कथ्य का पुनर्प्रस्तुतिकरण है)।
58. कविराज, गुरु दर्शन से सम्बोधि, पृष्ठ–46–47
59. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग–2; पृष्ठ 54–55
60. कविराज, अखण्ड महायोग का पथ और मृत्यु विज्ञान, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद,1984; पृष्ठ 16
61. अखण्ड महायोग का पथ और मृत्यु विज्ञान, पृष्ठ–1
62. कविराज गुरुदर्शन से सम्बोधि, पृष्ठ–114
63. कविराज, अखण्ड महायोग का पथ और मृत्यु विज्ञान, पृष्ठ–10
64. अखण्ड महायोग, पृष्ठ–80
65. तदेव, पृष्ठ–85.

स्फोट सिद्धान्त की अर्वाचीन पुन:रचना

रमाकान्त पाण्डेय

'स्फुट विकसने' धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न 'स्फोट' शब्द मूलतः 'विकास' एवं 'वृद्धि' अर्थ का वाचक है। व्याकरणशास्त्र में इसे शब्दब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठा मिली है। वैयाकरणों के अनुसार स्फोट अव्यक्त ओंकार है। इसमें शब्द तथा अर्थ का भेद नहीं रहता तथापि उच्चरित ध्वनियों द्वारा अभिव्यक्त होकर यह अर्थबोध कराता है। न्याय आदि विरोधी दर्शन की 'संस्कार–सहकृत–अन्त्यवर्ण' आदि की अर्थवाचकता के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए शाब्दिकों ने स्फोट–सिद्धान्त की उपस्थापना की है।

भारतीय दर्शन के अनेक सम्प्रदायों में स्फोट के खण्डन एवं उसे अवैदिक निरूपित करने के लिए भरपूर प्रयास किये गये हैं। कुछ दार्शनिकों के अनुसार वैयाकरणों का अधिकार–क्षेत्र मात्र शब्दों के 'साधुत्वासाधुत्वविवेक' तक ही सीमित है। सृष्टि, विसृष्टि आदि जैसे गूढ़ एवं दार्शनिक तथ्यों के विचार का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। अतः वैयाकरणों की यह चेष्टा अनुचित एवं अप्रामाणिक है।[1]

'स्फोट' शब्द समूची वैदिक परम्परा में पहली बार पतंजलि के महाभाष्य में प्रयुक्त हुआ है। पाणिनि ने 'स्फोटायन'[2] नामक किसी वैयाकरण का उल्लेख अवश्य किया है किन्तु 'स्फोट' शब्द का प्रयोग वहाँ भी नहीं हुआ। नागेश इन्हीं 'स्फोटायन' ऋषि को 'स्फोट–सिद्धान्त' का आविष्कर्त्ता बताते हैं।[3] इस प्रकार स्फोट शब्द की प्राचीनता अवश्य सिद्ध होती है तथापि इस पारिभाषिक शब्द से शाब्दिकों के अभीष्ट अर्थ के आकलन से यह निष्कर्ष स्वयं सिद्ध हो जाता है कि 'स्फोट' शब्द भले ही परवर्ती काल में गढ़ा गया हो, वैदिक संहिताओं एवं अन्य ग्रन्थों में अनेक ऐसे सूक्त एवं सन्दर्भ हैं जिनसे यह प्रमाणित हो जाता है कि इस शब्द के व्यवहार में आने से पूर्व वैदिक काल से ही इसकी सत्ता थी। ऋग्वेद कहता है– ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।।[4] अर्थात् 'अक्षर' ही परम व्योम है, ऋक् के 'अक्षर' पर ही सब देव अधिष्ठित हैं।

यास्क ने 'अक्षर' की व्याख्या करते हुए उसे 'अक्षय'–जिसका कभी क्षरण न होता हो– अथवा जो वाणी का अक्ष (धुरी) हो, बताया है।[5] यह 'अक्षर' कालातीत तत्त्व है और सम्पूर्ण आविर्भावों तथा तिरोभावों का आधार है। यास्क ने इसे ओंकाररूप भी बताया है। उपनिषदों में ओंकाररूप 'अक्षर' की त्रिकालरूपता का प्रतिपादन करते हुए उसी में सम्पूर्ण प्रपंच का लय होना माना गया है।[6] उसे शिव और अद्वैत आत्मा भी कहा गया है।

ओंकार की इस वैदिक संकल्पना का पौराणिक सौष्ठव एवं दार्शनिक रहस्य श्रीमद्भागवत में और भी विस्तार पा सका है। अव्यक्त ओंकार को 'स्फोट' बताते हुए भागवतकार उसे स्वयंप्रकाश ब्रह्म का साक्षात् वाचक, मंत्रों का रहस्य एवं वेद का सनातन बीज निरूपित करते हैं।[7] श्रीधरस्वामी के अनुसार जीव की ज्ञानवृत्ति के करणाधीन होने के कारण वह स्फोट का श्रोता नहीं हो सकता। ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियवर्ग के शून्य होने पर होता है, अतः वही स्फोट का मूल ज्ञाता है। जीव को उसी से 'स्फोट' की उपलब्धि होती है।[8]

इस प्रकार स्फोट शब्द नवीन होता हुआ भी जिस व्यापक अर्थ का वाचक है, वह वैचारिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अति प्राचीन और वैदिक परम्परा से अनुप्राणित है। व्याकरणदर्शन में इसके स्वरूप–विवेचन की लम्बी परम्परा प्राप्त होती है। पतंजलि, भर्तृहरि, दीक्षित, कौंडभट्ट और नागेश जैसे मूर्धन्य शाब्दिकों की स्फोट–व्याख्या को अर्वाचीन वैयाकरण मनीषियों ने नयी व्याख्या दी है। प्रस्तुत निबन्ध इन मनीषियों द्वारा की गयी इस व्याख्या के मूल्यांकन की दिशा में एक लघु प्रयास है। अवधेय है कि आधुनिक काल में भारतीय विद्वानों द्वारा भारतीय दर्शनों के विभिन्न सम्प्रदायों का जैसा अध्ययन एवं उनकी समसामयिक दृष्टि से पुनःरचना के प्रयास हुए हैं उसी तरह भारत में व्याकरण शास्त्र और व्याकरण दर्शन पर ध्यान नहीं किया गया है। आज भाषा विश्लेषण और भाषा दर्शन की डींग हांकने वाली यूरोपीय विचार–सरणी के समक्ष एतद्विषयक भारतीय पुरातन विचार–सरणी को ठीक से प्रस्तुत करना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। प्रकृत प्रसंग में हम इसी दृष्टि से प्रस्तुत हो रहे हैं।

I

वाचक शब्द के निर्णय को लेकर दार्शनिकों में प्रारम्भ से ही वैमत्य रहा है। वर्णों का न्याय–सम्मत उत्पत्ति–सिद्धान्त माना जाय या मीमांसा–सम्मत उनकी नित्यता स्वीकार की जाय, दोनों ही पक्षों में 'शक्त्याश्रय' की समस्या यथावत् बनी रहती है। वर्ण उच्चरित–प्रध्वंसी हैं अतः उनकी समुदाय रूप में युगपत् प्राप्ति सम्भव नहीं होती। नैयायिकों के अनुसार पूर्व–पूर्व वर्ण–जनित–संस्कार–सहकृत अन्त्यवर्ण की वाचकता मानने में आपत्ति यह है कि पूर्वोच्चरित वर्ण के विनाश के अनन्तर अन्य प्रयत्न से द्वितीय–वर्ण की उत्पत्ति होने के कारण उनकी सहावस्थिति सम्भव नहीं है। महाभाष्यकार पतंजलि ने 'गौः' पद को उदाहरण के रूप में लेकर इस तथ्य को स्पष्ट किया है। वहाँ उनका अभिप्राय यह है कि जिस क्षणविशेष में वाक् गकार में प्रवृत्त होती है उसी समय ओंकार में प्रवृत्त नहीं होती। जिस यत्न से एक वर्ण उच्चरित होता है उसी यत्न से उसके समाप्त हो जाने के बाद ही, उससे भिन्न यत्न से द्वितीय वर्ण उच्चरित होता है। इस दशा में वर्णसंघातरूप पद की स्थिति सम्भव न हो पाने से क्षण–प्रध्वंसी वर्णों को वाचक या 'शक्त्याश्रय' के रूप में व्यवहृत करना सर्वथा अनुचित एवं अनुभव–विरूद्ध होगा।[9]

वैयाकरणों के इस आक्षेप का उत्तर नैयायिक दो प्रमुख तर्कों से दे सकते हैं–प्रथमतः वे कह सकते हैं कि द्वितीयवर्ण के प्रत्यक्षकाल में उच्चरित होकर नष्ट हो चुका प्रथम वर्ण

बुद्धि में संस्काररूप से स्थित रहता है, अतः वह अव्यवहितोत्तरत्व–सम्बन्ध से उत्तर वर्ण से पूर्व उच्चरित वर्ण का सम्बन्धी सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार उससे उत्तरवर्ती वर्ण के प्रत्यक्षकाल में 'अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्ध' से उपस्थित पूर्ववर्ण–विशिष्ट उत्तरवर्ण का वैशिष्ट्य भी परवर्ती वर्णों में गृहीत हो जाता है और पद का प्रत्यक्ष या समूहालम्बन स्मरण होने में कोई आपत्ति नहीं आती। 'सरो–रसः' 'नदी–दीन' तथा 'जरा–राज' जैसे पदों में इस सम्बन्ध के कारण भेद भी बना रहता है।[10]

द्वितीयतः– वीचितरंगन्याय का आश्रय लेकर नैयायिक कह सकते हैं कि एक तरंग दूसरी तरंग को उत्पन्न करके नष्ट हो जाती है, परन्तु वर्ण अपने सजातीय वर्ण को उत्पन्न करके भी नष्ट नहीं होता। वह चरम वर्ण के प्रत्यक्ष तक बना रहता है। अतः 'घट–पट' आदि पदों की प्रत्यक्ष सिद्धि हो जाती है और पदों की 'शक्त्याश्रयता' में कोई बाधा नहीं आती।

नैयायिकों के इन तर्कों को नकारते हुए मंजूषाकार 'नागेशभट्ट' नष्ट हो चुके एवं उपस्थिति हो रहे वर्णों में 'अव्यवहितोत्तरत्व' सम्बन्ध को भी असम्भव बताते हैं। उनका आशय यह है कि ऐसी दशा में "अयं वर्णः" "अयं वर्णः परः" यह प्रत्यक्ष व्यवहार अनुचित होगा, क्योंकि विनष्ट तथा विद्यमान वर्ण में 'अव्यवहितोत्तरत्व' सम्बन्ध ही नहीं बनेगा। 'अयं पूर्वः' के पक्ष में समूहालम्बन स्मरण मानने पर 'इदम्' इस प्रत्यक्षबोधक पद से घटित वाक्यव्यवहार ही अनुचित है, क्योंकि पूर्वकाल में उच्चरित वर्ण या पद अनुभव के समय नष्ट हो चुका होता है।[12]

द्वितीय पक्ष में उक्त रीति से पद का प्रत्यक्ष स्वीकार कर लेने पर भी आप (नैयायिकों) के पद की सत्ता सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि यह प्रत्यक्ष भ्रमात्मक ही होगा। भ्रमात्मक ज्ञान से वस्तु की सत्ता कभी सिद्ध नहीं होती।[13]

नैयायिक तर्क के आश्रय से इसे भ्रमात्मक न मानते हुए यह कहकर प्रमारूप मान सकते हैं कि अन्तिम वर्ण अकार के प्रत्यक्ष तक 'घट' पद 'घ–घ–घ–अ–अ–अ–ट–ट–ट' रूप से विद्यमान ही है। भाष्य–वचन तथा अनुभव–विरूद्ध होने के कारण वैयाकरण इसे भी युक्तिसंगत नहीं मानते। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि क्षण–प्रध्वंसी स्वभाव के कारण वर्णों के संस्कार रूप में उनकी उपस्थिति मानकर यदि अविद्यमान पद में अर्थनिरूपित शक्ति मानते हैं तो 'नष्टो घटः जलवान्' जैसे व्यवहार भी प्रामाणिक होने लगेंगे।[14]

अविद्यमान दशा में भी जल का घट में आश्रयता–सम्बन्ध तथा उसी दशा में घट का जल के साथ आश्रयता–निरूपकत्व सम्बन्ध भी उपर्युक्त रीति से विनष्ट वर्णों के समुदाय रूप पदों को शक्त्याश्रय मानने से आप नैयायिकों के मत में बन ही जायेगा और इस प्रकार के सम्बन्ध आदि का ज्ञान प्रमारूप हो जायेगा। परन्तु इस स्थिति में पद एवं वाक्य के अविद्यमान होने से शब्द तथा अर्थ का वृत्तिरूप सम्बन्ध कथमपि सिद्ध नहीं हो सकेगा। भर्तृहरि ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्पष्ट किया है कि वाक्यार्थ यदि शब्दशक्ति से अलभ्य है तो पद का अर्थ भी पदशक्ति से अलभ्य हो जायेगा।[15] जिस प्रकार पदों का समुदाय रूप वाक्य असत् है उसी प्रकार वर्ण–समुदायरूप पद भी असत् है। अतः दोनों का अर्थ के साथ सम्बन्ध भी असम्भव है। इस प्रकार नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत दोनों

पक्षों में 'एकं पदम्' तथा 'तदेवेदं कृष्णपदम्' जैसी बुद्धि कभी भी नहीं बन सकेगी, क्योंकि पद वर्णसमूह रूप और अनित्य हैं।

नैयायिक यदि यह कहें कि पूर्व नख–केश आदि के विनाश के अनन्तर पुनः जब नये नख–केश उत्पन्न हो जाते हैं तब– 'तदेवेदं नखम्' और 'त एव इमे केशाः' जैसे व्यवहार प्रत्यभिज्ञा के आधार पर होते हैं। अतः यही व्यवहार पद और वाक्यस्थल में भी मान लिया जायेगा, क्योंकि शब्दज–शब्द को लेकर' 'तदेवेदं पदम्' जैसी प्रत्यभिज्ञा तो वहाँ होगी ही। इस पर भी पद की अविद्यमानता के कारण शक्त्याश्रय का ग्रहण सम्भव नहीं हो सकेगा।[16] अतः वाक्यरूपरूषित किसी शाश्वत शब्द की स्थिति माननी पड़ेगी। इस समस्या के निवारण–हेतु वैयाकरणों ने जिस शाश्वत शब्द को स्वीकार किया है वही "स्फुटति अनुभवपथमारोहति अर्थोऽस्मात्" इस व्युत्पत्ति से लभ्य होने के कारण 'स्फोट' कहा जाता है और वही अर्थबोधक शक्ति का आश्रय है।

II

व्याकरणदर्शन में स्फोट वह सत्ता है जिससे अर्थ जगत् का विवर्त होता है। उपहित चैतन्य या द्रष्टा तत्त्व के रूप में स्फोट शब्द और अर्थ का एकीभूत तत्त्व है। इसमें शब्दार्थ–सम्बन्ध तिरोहित रहते हैं। वाग्व्यवहार के उपयोगार्थ वैयाकरण बुद्धि–वृत्ति से उपहित व्यष्टि चैतन्य के उस भाग की स्फोटरूप में कल्पना करते हैं जो 'नाद' से व्यंजित होता है।

वैयाकरणों के अनुसार परमेश्वर की सिसृक्षात्मिका मायावृत्ति से बिन्दुरूप त्रिगुण उत्पन्न होता है। इसी को शक्तितत्त्व कहते हैं। बिन्दु का 'अचित्' अंश 'बीज' और 'चिदचित्मिश्रित' अंश 'नाद' कहा गया है। यहाँ चित् अंश से बिन्दु और अचित् अंश से उस अविद्या का अभिधान किया गया है जो शब्द तथा अर्थ की संस्कार रूप मानी जाती है।

नागेश के अनुसार इसी बिन्दु से शब्दब्रह्म नामक नाद उत्पन्न होता है। इस नाद में वर्ण और वाक्य का भान नहीं होता। इसका स्वरूप ज्ञान–प्रधान तथा सृष्टि के लिए उपयोगी अवस्था विशेष से सम्पृक्त एवं चेतनतत्त्व से मिश्रित होता है। यही जगत् का उपादान कारण है और इसी को 'परा' शब्द से व्यवहृत किया गया है।

यद्यपि परारूप यह शब्दब्रह्म सर्वत्र व्याप्त रहता है तथापि इसकी अभिव्यक्ति प्राणियों के मूलाधार में संस्कृत पवन के चलने से होती है। नागेश ने वर्णोच्चारण की इच्छा से उत्पन्न होने वाले प्रयत्न का वायु के साथ योग होने से ही पवन का संस्कार होना बताया है। इस संस्कृत वायु से अभिव्यक्त शब्दब्रह्म स्वप्रतिष्ठ होने से स्पंदन–रहित होता है। अतः 'परा' वाक् रूप में इसका अभिधान किया जाता है। भर्तृहरि भी वाक्यपदीय की प्रथम कारिका में इसी तत्त्व को स्पष्ट करते प्रतीत होते हैं।[17]

परारूप यह शब्दब्रह्म जब अभिव्यक्त अवस्था में आ कर मन का विषय बनता है और उसका मानस–साक्षात्कार होता है तब 'पश्यन्ती' संज्ञा से उसका व्यवहार होता है। परा वाक् की सूक्ष्मतम अवस्था है, जबकि पश्यन्ती उससे अवर सूक्ष्मतर होती है। सूक्ष्मतम होने के कारण परा का साक्षात्कार योगियों की निर्विकल्पक समाधि का विषय है किन्तु सूक्ष्मतर होने के कारण पश्यन्ती का साक्षात्कार सविकल्पक समाधि में होता है।

नाभिचक्र से ऊपर आकर वही संस्कृत पवन हृदय देश में पहुँच कर पश्यन्ती को अभिव्यक्त करता है। अर्थ विशेष तथा शब्द विशेष को प्रकाशित करने वाली बुद्धि से गृहीत होती हुई वाक् मध्यमा कहलाती है। यह श्रोता का विषय न बन कर वक्ता ही का विषय बनती है। इसलिए सूक्ष्मा कहलाती है। वाक् की परा, पश्यन्ती और मध्यमा रूप तीनों अवस्थाएँ शब्दब्रह्म की सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर और सूक्ष्म प्रणवरूप अवस्थाएँ हैं।

मुखप्रदेश को आता हुआ वही संस्कृत वायु जब कण्ठ देश को प्राप्त कर मूर्धा को आहत करता है और ऊपर जाने का मार्ग न पाकर पीछे लौटता हुआ मुख के अन्तर्गत तालु, मूर्धा आदि स्थानों से उसी मध्यमा वाक् की अभिव्यक्ति करता है तब श्रोता को सुनायी पड़ने के कारण वह वाक् 'वैखरी' संज्ञा प्राप्त करती है।

मध्यमा में जो चेतनरूप नादाँश है वही व्याकरणशास्त्र में 'स्फोट' कहलाता है। वही अर्थ का वाचक या प्रकाशक है। मध्यमा नाद से व्यंग्य यही 'स्फोट' शब्द नित्य एवं ब्रह्मरूप है।[18] यह एक एवं अखण्ड है। भाषा–व्यवहार के निर्वाहार्थ वैयाकरण इसी से अर्थबोध की कल्पना करते हैं अतः वाक्यरूप अखण्ड–स्फोट ही शक्त्याश्रय सिद्ध हो जाता है।

यहाँ पूर्वपक्षी कह सकता है कि अन्वय–व्यतिरेक से वर्णों, पदों और वाक्यों की वाचकता सिद्ध हो जाने से 'स्फोट' जैसे तत्त्व की कोई आवश्यकता ही नहीं है, शक्ति–ग्राहक व्यवहार में जिज्ञासु को पदों के उन अर्थों की वाचकता का ज्ञान हो जाता है, जैसे 'घटम् आनय' इस वाक्य को सुनने के अनन्तर 'घट–आनयन' रूप कर्म को तथा उसके बाद 'पटम् आनय' इसवाक्य को सुनकर 'पट–आनयन' रूप कर्म को देखता हुआ वह अन्वय–व्यतिरेक से 'घट' शब्द से घट रूप अर्थ को तथा 'पट' शब्द से पट रूप अर्थ को समझने लगता है, यह ज्ञान शब्दों के उच्चारण के अनन्तर ही होता है। उनकी अनुच्चरित दशा में इसका भान सर्वथा असम्भव है। अतः वर्णों की वाचकता स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

इस पर वैयाकरणों का उत्तर यह है कि वर्णों के उच्चारण के बाद ही अर्थ–प्रतीति होती है तथापि उच्चारणमात्र से उनकी अर्थबोधकता सिद्ध नहीं हो जाती। स्फोटाभिव्यंजक रूप में ही अन्वय–व्यतिरेक द्वारा उनसे अर्थबोध होता है। अतः साक्षात् वर्ण वाचक न होकर उससे अभिव्यंग्य स्फोट ही वाचक होता है। कण्ठ, तालु आदि के अभिघात से व्यक्त ये वर्ण यद्यपि भिन्न–भिन्न होते हैं तथापि उनमें स्फोट–भेद सम्भव नहीं होता। जैसे मणि, कृपाण आदि व्यंजक भेदों के कारण एक होता हुआ भी मुख भिन्न–भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है उसी प्रकार व्यंजकों के भेद से एक और अखण्ड स्फोट से भेद–प्रतीति होती है।[19] अतः वर्णादि से व्यंग्य स्फोट ही अर्थ का वाचक है। इसी कारण वैयाकरणों ने इसकी द्विधा व्युत्पत्ति की है–

1. स्फुटति अर्थः अस्मात् इति स्फोटः (जिससे अर्थ स्फुटित होता है वह स्फोट है)।
2. स्फुट्यते वर्णैः इति स्फोटः (जो वर्णों में स्फुटित होता है वह स्फोट है)।

प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार वह वाचक है और द्वितीय के अनुसार व्यंग्य। अतः व्याकरणशास्त्र में इस स्फोट को निरवयव, नित्य एवं विभु तथा सभी प्रकार के वागर्थप्रपंच का उपादानभूत प्रणवरूप माना गया है।

III

वस्तुतः स्फोट की एकता और अखण्डता ही वैयाकरणों को अभीष्ट है तथापि व्यंजक उपाधि के भेद से उसमें भेदवत् प्रतीति होती है। भाषा में वर्ण, पद और वाक्य स्फोट के व्यंजक तत्त्व माने गये हैं। अतः इन्हीं के आधार पर कौंडभट्ट ने इसके आठ भेद दिखाये हैं–

1.	वर्णव्यक्तिस्फोट	2.	वर्णजातिस्फोट
3.	सखण्डपदव्यक्तिस्फोट	4.	अखण्डपदव्यक्तिस्फोट
5.	सखण्डवाक्यव्यक्तिस्फोट	6.	अखण्डवाक्यव्यक्तिस्फोट
7.	पदजातिस्फोट	8.	वाक्यजातिस्फोट[20]

यहाँ ध्यातव्य है कि जिस प्रकार बालकों को वास्तविक कत्व आदि के बोधार्थ चक्षु–ग्राह्य लिपियों में श्रोत्रग्राह्य कत्व आदि का अभाव होने पर भी उसका प्रतिपादन किया जाता है, उसी प्रकार वास्तविक वाक्यस्फोट के बोधार्थ ही उपायभूत वर्णस्फोट आदि का प्रदर्शन किया गया है।[21]

जिस प्रकार पारमार्थिक ब्रह्मज्ञान के लिए आनन्दवल्ली में अपारमार्थिक ब्रह्मरूप अन्नमय–प्राणमय–मनोमय–विज्ञानमय और आनन्दमय रूप पंचकोश उपायभूत होने के कारण दिखाये गये हैं तथा ब्रह्म–ज्ञानके लिए उनमें से पूर्व–पूर्व कोश की बहिरंगता तथा उत्तर–उत्तर कोश की अन्तरंगता कही गयी है उसी प्रकार पारमार्थिक स्फोटात्मक शब्दब्रह्म के ज्ञान के लिए उपर्युक्त वर्ण आदि आठ अपारमार्थिक स्फोटों का प्रतिपादन उपाय रूप में ही किया गया है। इनमें से वास्तविक स्फोट–ज्ञान के लिए पूर्व–पूर्व की बहिरंगता तथा उत्तर–उत्तर की अन्तरंगता समझनी चाहिए। वाक्यस्फोट की अन्य स्फोटों की अपेक्षा निरूपाधिक निखिलनामरूपात्मक प्रपंच–कारणीभूत शब्दब्रह्म तो आठ स्फोटों से भिन्न और अनुत्तर ही है।[22]

'वर्णस्फोट' पद में प्रयुक्त 'वर्ण' शब्द यहाँ प्रत्येक वर्ण का वाचक न होकर प्रकृति और प्रत्यय का वाचक है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि वर्णस्फोट के प्रत्येक वर्ण की वाचकता स्वीकार करने में आखिर क्षति क्या है? वैयाकरणों का सीधा उत्तर यह है कि प्रत्येक वर्ण की वाचकता को एक बार अस्वीकृत कर चुकने के बाद उसकी पुनः स्वीकृति से 'अप्रसिद्धान्तापातप्रसंग' आयेगा। अतः वर्णस्फोट के वाचक प्रकृति और प्रत्यय ही हैं। इसकी कल्पना मात्र शास्त्रीय प्रक्रिया के निर्वाहार्थ की गयी है। दाधाध्वदाप् और अर्थवत् आदि सूत्रों के भाष्य से यह पक्ष बहुशः प्रमाणित है तथा कैयट आदि के द्वारा समादृत है।[23]

प्रकृति और प्रत्यय रूप वर्णों की वाचकता सिद्ध हो जाने से उनके समुदाय रूप पद की वाचकता भी सिद्ध हो जाती है। पदस्फोट में प्रयुक्त पद–शब्द सुबन्त और तिङन्त–रूप पदों का बोधक है। 'हरेऽव' 'विष्णोऽव' इत्यादि वाक्यों में विभक्त पदों के ज्ञान की अव्यक्तता के कारण ऐसे स्थलों में पदस्फोट मात्र से अर्थबोध सम्भव न हो पाने के कारण वैयाकरण विशिष्ट वाक्य की वाचकता स्वीकार करते हैं। इन दोनों पक्षों का प्रतिपादन भाष्यकार पतंजलि ने "अथ गौरित्यत्र कः शब्द? इस प्रश्न को उठा कर व्यक्ति,

क्रिया इत्यादि के शब्द तत्त्व का निराकरण करते हुए 'जिसके उच्चरित होने से गलकम्बल, पूँछ, ककुद, खुर और सींग वाले पशु व्यक्ति का ज्ञान होता है वह शब्द है– यह समाधान देकर किया है।[24]

इसी प्रसंग में कैयट ने भी वैयाकरणों के वर्णव्यतिरिक्त पद और वाक्य की वाचकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि प्रत्येक वर्ण की वाचकता मानने में समस्या यह है कि उससे द्वितीयादि वर्णों का उच्चारण व्यर्थ हो जायेगा। इससे बचने के लिए यदि उत्पत्ति पक्ष स्वीकार किया जाय तो वर्णों की युगपत् उत्पत्ति असम्भव होने से वह भी सम्भव नहीं हो पाता। इससे भी बचने के लिए अगर मीमांसक–सम्मत वर्णों की अभिव्यक्ति मान ली जाय तो समुदाय का अभाव होने से वहाँ भी शक्त्याश्रय की समस्या यथावत् बनी रहती है। अतः स्फोट की स्वीकृति दुर्वार हो जाती है।[25] इस प्रकार वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, अखण्डपदस्फोट और अखण्डवाक्यस्फोट की सिद्धि भाष्यप्रमाण से हो जाती है।

यहाँ यह शंका स्वाभाविक है कि वर्ण आदि स्फोटों से अर्थ–प्रतीति सम्भव हो जाने से जातिस्फोट मानने की आवश्यकता क्या है? वस्तुतः अनन्त वर्णों, पदों और वाक्यों की वाचकत्व–कल्पना की अपेक्षा उनमें निहित जाति की ही वाचकता मानने में लाघव है, क्योंकि घट आदि शब्द अनन्त और व्यभिचारी हैं। अतः कोंडभट्ट ने जाति–रूप–रूषित स्फोट की वाचकता का पक्ष प्रस्तुत किया है।[26]

यहाँ कहा जा सकता है कि जाति–स्फोट पक्ष में जाति के प्रत्येक वर्ण में विद्यमान होने के कारण प्रत्येक वर्ण से अर्थबोध का प्रसंग आयेगा। इसके समाधान में वैयाकरणों का कहना है कि इस सम्प्रदाय में 'अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्य' जाति की ही वाचकता का सिद्धान्त स्वीकृत है।[27] अतः प्रत्येक वर्ण में जाति की विद्यमानता होने पर भी उससे अर्थप्रतीति मान्य नहीं है।

यहाँ पुनः यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि स्फोटवादियों के मत में स्फोट के वर्णरहित होने के कारण, गकार, औकार और विसर्जनीय रूप 'गौः' पद ही उनके मत में सिद्ध नहीं होगा। अतः उसके जात्याश्रय होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसके समाधान में यदि वैयाकरण कहें कि जिस प्रकार मुख में मणि, कृपाण, आदर्श आदि के धर्म भासित होते हैं उसी प्रकार स्फोट के वर्णव्यंग्य होने के कारण वहाँ वर्णप्रतिभास हो जाता है और पदनिष्ठ जाति सिद्ध हो जाती है, तो यह भी सम्भव नहीं होगा, क्योंकि व्यंजक वर्ण स्वयं आशु–विनाशी होने के कारण द्वितीय आदि वर्णों के उत्पत्तिक्षण में नष्ट हो जाते हैं। अतः गकार आदि वर्णों का एकत्र अवस्थान होने से उनसे व्यंग्य स्फोट में भी उनका एक साथ प्रतिभास नहीं होगा।

प्रस्तुत प्रसंग में यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि स्फोट के एक होने के कारण 'गौः' यह पदस्फोट भी एक ही होगा। व्यक्ति की एकता के जातिबाधक होने के कारण वहाँ जाति सिद्ध ही नहीं होगी। अगर किसी प्रकार वह सम्भव हो भी जाती है तो जिस प्रकार वर्णवाचकत्ववादी नैयायिकों के मत में पूर्व–पूर्व वर्णजनित संस्कार सहित अन्तिम वर्ण वाचक होता है उसी प्रकार आप स्फोटवादियों के मत में भी पूर्व पूर्व वर्णजनित

संस्कार सहित अन्तिम वर्ण ही स्फोट–व्यंजक होगा और इस प्रकार दोनों मतों के समान हो जाने से वर्णवाचकता–वादियों के मत में भी कोई दोष नहीं आयेगा।

अथवा वर्णों की आशु–विनाशिता के कारण यौगपद्य असम्भव होने के कारण स्मृति में ही उनकी युगपत् प्रतीति मानकर स्मृत वर्णों को ही स्फोटव्यंजक मानने में कोई क्षति नहीं होगी।

उपर्युक्त समस्त तर्कों के निराकरण में वैयाकरणों का कहना है कि यह सत्य है कि एकवाक्यवृत्तिता के कारण 'गौः' पद में गोशब्दत्व जाति नहीं है तथापि प्रत्येक पुरूष में कंठ, तालु आदि व्यंजक भेद से 'गौः' इस पदस्फोट में भिन्न वर्णनिबन्धना अनेकत्व प्रतीति हो जाती है। इसी क्रम में पदस्फोट की अनेकत्व प्रतीति में वहाँ जाति मानने में कोई बाधा नहीं आती। वह जाति महासत्ता रूप होने के कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अतः सर्वत्र ब्रह्म ही वाचक और वाच्य दोनों ही सिद्ध हो जाता है। गोत्व,अश्वत्व, आदि सत्ता उसी महासत्ता के विवर्त हैं। अतः उसका वाचकत्व और वाच्यत्व अविद्याकृत ही माना जाता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने सम्बन्धी–भेद से ही गो आदि में सत्ता भेद माना है।[28]

इस प्रकार विविध सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए कौंडभट्ट ने स्फोट के आठ भेद बताये हैं। इस भेद–क्रम में उन्होंने भाष्य आदि को प्रमाण मानकर भाषातत्त्वों की शास्त्राभिमत व्याख्या प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया है। शताब्दियों से उनका यह विवेचन वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त का प्रतिनिधि उपस्थापक रहा है। किन्तु इस शताब्दी के मूर्धन्य वैयाकरण आचार्य रामाज्ञा पाण्डेय ने कौंडभट्ट द्वारा कल्पित स्फोट–भेदों को शाब्दिकों के सिद्धान्तों के विरूद्ध बताते हुए उनकी नयी संकल्पना प्रस्तुत की है। वस्तुतः श्री पांडेय जी ने स्फोट के मूलभूत ढाँचे में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया तथापि भेदों की अपनी नयी संकल्पना से पं. बदरीनाथ शुक्ल जैसे धुरन्धर नैयायिक तथा काशी की पांडित्य–परम्परा में अभिनव पाणिनि के रूप में विश्रुत आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठी जैसे दो अन्य मनीषियों को अपनी ओर आकृष्ट किया। निस्सन्देह तार्किक होने के कारण आचार्य शुक्ल उनके विपक्ष में खड़े दिखते हैं और पाण्डेय जी के खण्डन के बहाने स्फोट की अभिव्यक्ति के बारे में प्रश्न उठाकर व्याकरणशास्त्र के मर्म पर कड़ा प्रहार करते हैं तथापि श्री पांडेय के भेदों की समीक्षा के सन्दर्भ में कुछ नये भेदों को जोड़कर पांडेय जी के मत को संशोधित भी करते हैं। आचार्यप्रवर त्रिपाठी जी का भेद–विवेचन पांडेय जी के मत के समर्थन में प्रस्तुत किया गया है। इस शताब्दी के इन तीनों मूर्धन्य मनीषियों की उपस्थापना के कतिपय अंशों का व्याकरणशास्त्र के आलोक में समीक्षण ही प्रस्तुत निबन्ध का प्रमुख विवेच्य विषय है, अतः इन आचार्यों की मान्यताओं की संक्षिप्त प्रस्तुति यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगी।

आचार्य पांडेय ने वैयाकरणभूषणसार की प्रभा टीका का आश्रय लेकर कौंडभट्ट के वर्णस्फोट का खण्डन किया है। वर्णस्फोट को स्पष्ट करते हुए प्रभाकर का कहना है–

"तथा पचति इत्यत्र 'पच्' इति प्रकृतिव्यङ्ग्यः 'ति' इति प्रत्ययव्यङ्ग्यः स्फोटः वर्णस्फोटः। तार्किकाणां मते यच्छक्तं पदमिति तद्व्यङ्ग्यस्फोटस्यैव शाब्दिकनये वर्ण–स्फोट शब्देन व्यवहारः।"[29]

अर्थात् 'पचति' इस पद में 'पच्' इस प्रकृति से व्यंग्य तथा 'ति' इस प्रत्यय से व्यंग्य स्फोट वर्णस्फोट है। तार्किकों के मत में जो 'शक्त पद' है उसी से व्यंग्य स्फोट शाब्दिक सम्प्रदाय में वर्णस्फोट शब्द से व्यवहृत होता है। निस्सन्देह प्रभाकर वर्णस्फोट के शाब्दिक–सम्मत स्वरूप से पूर्णतः परिचित हैं और उसी को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने नैयायिकों के पद की अवधारणा को उदाहरण के रूप में लिया है। उनका आशय मात्र इतना है कि नैयायिक प्रकृति और प्रत्यय रूप जिस पदाँश को शक्त मानकर पद कहते हैं, वैयाकरण उसी से व्यंग्य स्फोट को वर्णस्फोट कहते हैं। हमारे अनुसार यह व्याख्या पूर्णतः निर्दुष्ट और पदार्थ को स्पष्ट करने में सर्वथा सफल है। किन्तु श्री पांडेय यहाँ नैयायिक और 'शक्तं पदम्' को सुनकर बिदक गये और उन्होंने सिद्धान्तों पर ध्यान दिये बिना स्फोटभेदों की निराधार संकल्पना प्रस्तुत कर दी।

पांडेय जी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं– अस्यां स्थितौ वाक्यार्थज्ञानामस्माकं कृते वाक्यस्फोटस्य विलय एवं स्यात्। नापि 'पचति' इत्यादौ पदस्फोटव्यवहारः तथा चायं विभागो नहि युक्तियुक्तः।[30]

अगर नैयायिकों के 'शक्तं पदम्' को वर्णस्फोट मान लिया जायेगा तो इस स्थिति में वाक्य से ही अर्थ–बोध मानने वाले हम वैयाकरणों के लिए तो वाक्यस्फोट का विलय ही हो जायेगा। 'पचति' इस पद में पदस्फोट का व्यवहार ही नहीं हो सकेगा। अतः यह विभाग युक्तियुक्त नहीं है।

पांडेय जी का अभिप्राय यह है कि नैयायिकों की पद की अवधारणा को अगर वर्णस्फोट मान लिया जायेगा तो प्रकृति और प्रत्यय में पद का व्यवहार होने लगेगा तथा 'रामः' और पचति' जैसे सुबन्त और तिङन्त पदों में नैयायिकों की दृष्टि से वाक्यव्यवहार होने लगेगा। अतः वैयाकरणों के निष्कर्षभूत वाक्यस्फोट का नैयायिकों के पद में विलय हो जाने से वह लुप्त ही हो जायेगा। पांडेय जी की यह धारणा नितान्त भ्रान्त है क्योंकि प्रभाकर ने उस प्रसंग में जो कुछ कहा है वह वर्णस्फोट के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए ही कहा है। प्रकृति और प्रत्यय नैयायिकों के मत में शक्त हैं किन्तु वैयाकरणों के मत में उनका वह स्वरूप न होने से पांडेय जी जिस अनर्थ से भयभीत हो गये हैं वह नितान्त रज्जु में सर्प की प्रतीति के समान है। जिस प्रकार चन्द्र से उपमित कर देने से मुख चन्द्र नहीं हो जाता उसी प्रकार नैयायिकों की अवधारणा से उपमित होकर वर्णस्फोट पद नहीं हो सकता। अतः पांडेय जी की धारणा पूर्णतः निर्मूल है। तथापि इस विषमता को दूर करने के लिए पांडेय जी नागेश द्वारा निर्दिष्ट स्फोट के आभ्यन्तर और बाह्य रूप दो स्फोट स्वीकार करते हुए बाह्य स्फोट के व्यक्ति और जाति भेद मानते हैं। कौंडभट्ट के विचारों से नागेश की असहमति का वहाँ कोई संकेत भी नहीं है कि उन्हें इस पक्ष में दोषी ठहराया जा सके। उनके टीकाकार बालभट्ट भी कौंडभट्ट की सरणि का अनुसरण करते हुए ही इस तथ्य की व्याख्या करते हैं जिससे पांडेय जी पूर्णतः परिचित हैं, क्योंकि उसका उद्धरण वे अपने ग्रन्थ में देते हैं। तथापि नागेश के आभ्यंतर और बाह्य भेदों को अंगीकार करते हुए पांडेय जी कहते हैं कि यदि इनके जाति और व्यक्ति भेदों से अतिरिक्त भेदों को दिखाने

का आग्रह है तो कल्पित पद और उनमें कल्पित प्रकृति–प्रत्ययों को लेकर व्याडि और वाजप्यायन के व्यक्ति और जाति रूप अर्थों को लेकर निम्नलिखित सोलह स्फोट भेद दिखाये जा सकते हैं–

1.	प्रकृतिस्फोट	2.	प्रत्ययस्फोट
3.	प्रकृतिजातिस्फोट	4.	प्रत्ययजातिस्फोट
5.	अखण्डप्रकृतिस्फोट	6.	अखण्डप्रत्ययस्फोट
7.	वर्णस्फोट	8.	वर्णजातिस्फोट
9.	पदस्फोट	10.	पदजातिस्फोट
11.	अखण्डपदस्फोट	12.	अखण्डपदजातिस्फोट
13.	वाक्यस्फोट	14	वाक्यजातिस्फोट
15.	अखण्डवाक्यस्फोट	16.	अखण्डवाक्यजातिस्फोट[31]

कौंडभट्ट एवं पांडेय जी के स्फोट भेदों से यह स्पष्ट है कि कौंडभट्ट ने स्फोट–व्यंजक भेद से स्फोट–भेदों की स्थापना की है, जबकि पांडेय जी स्फोट–बोध्यार्थ भेद से भेदों का प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने कौंडभट्ट के वर्णस्फोट को यहाँ प्रकृति और प्रत्यय रूप में पृथक् करके छः भेदों में विभक्त किया है। कौंडभट्ट मात्र व्यक्तिस्फोट को सखण्ड और अखण्ड भेदों में विभक्त करते हैं, किन्तु पाण्डेय जी जाति को भी सखण्ड और अखण्ड भेदों में विभक्त करते हैं। इस प्रकार उनके मत में आठ भेद अधिक हो जाते हैं। पाण्डेय जी ने व्यक्तिपदार्थवादी की दृष्टि से जाति को और जातिपदार्थवादी की दृष्टि से व्यक्ति को व्यंग्य मानकर ही भेदों की संकल्पना प्रस्तुत की है।

पांडेय जी के उपर्युक्त स्फोट–भेदों की समीक्षा करते हुए आचार्य बदरीनाथ शुक्ल ने इस भेद–गणना में न्यूनता प्रतिपादित की है। उनके अनुसार श्री पांडेय द्वारा प्रतिपादित स्फोट–विभाग केवल व्यंजक भेद से स्फोट–भेदक जितनी दृष्टियाँ हो सकती हैं, उन्हीं के आधार पर किया गया है। जाति आदि अन्य दृष्टियों से यदि यह विभाग किया जाय तो उनके इस स्फोट–भेद विवेचन में स्वयं न्यूनता दिखने लगती है, क्योंकि जातिपदार्थवादी के मत में व्यक्ति की तथा व्यक्तिपदार्थवादी के मत में जाति की उक्त स्फोट भेदों से अवाच्यता रह जाने के कारण उसके द्वारा प्रयुक्त स्फोट–भेद दुर्घटित हो जाते हैं। श्री पांडेय ने प्रकृति और प्रत्यय के सखण्ड और अखण्ड भेद बताकर व्यक्तिस्फोट और जातिस्फोट के जो षोडश भेद बताये हैं उन्हें न्यून मानते हुए शुक्ल जी ने उनमें 'अखण्ड प्रकृतिजातिस्फोट' तथा 'अखण्डप्रत्ययजातिस्फोट' रूप दो और भेद जोड़ कर भेदों की कुल संख्या को अठारह तक पहुँचा दिया है।[32]

इस सिद्धान्त को गौरवयुक्त निरूपित करते हुए शुक्ल जी ने कहा है कि वाच्य और व्यंजक दोनों ही दृष्टियों से स्फोट–भेदों की कल्पना में एक दोष यह भी है कि वर्णवाचकतावादियों के मत में वर्ण आदि से व्यंग्य आठ व्यक्तिस्फोट तथा आठ जातिस्फोट मिलकर सोलह भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार जो अर्थगतजाति की वाचकता की तरह वर्णादिगतजाति की ही वाचकता मानते हैं उनके मत में वर्णादिगत आठ जाति–व्यंग्य

व्यक्तिस्फोट तथा व्यक्तिस्फोट के संकलन से स्फोट के सोलह भेद बन जायेंगे। इस प्रकार वर्णादिव्यंग्य व्यक्तिजातिस्फोटों की कुल संख्या बत्तीस हो जाती है न कि सोलह। अतः वाच्यभेद से स्फोटभेदों को अस्वीकृत करके व्यंजकभेद से कौंडभट्ट द्वारा किया गया भेद–विधान ही समीचीन है।

आचार्य शुक्ल की समीक्षा से पांडेय जी की रक्षा के लिए आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठी यह कहते हुए स्फोटभेदों की इस श्रृंखला को बत्तीस तक पहुँचा देते हैं कि व्याकरणदर्शनभूमिका में दिखाये गये स्फोट के सोलह भेद संख्यानिर्धारणपरक न होकर उपलक्षणमात्र हैं। भेदों का विमर्श करें तो स्फोट के बाह्य और आंतर दोनों भेदों के निम्नलिखित सोलह–सोलह भेद होंगे–

1.	एकवर्णरूपप्रकृतिस्फोट	2.	एकवर्णरूपप्रत्ययस्फोट
3.	अनेकवर्णवत्प्रकृतिस्फोट	4.	अनेकवर्णवत्प्रत्ययस्फोट
5.	अखण्डानेकवर्णवत्प्रकृतिस्फोट	6.	अखण्डानेकवर्णवत्प्रत्ययस्फोट
7.	एकवर्णरूपप्रकृतिजातिस्फोट	8.	एकवर्णरूपप्रत्ययजातिस्फोट
9.	अनेकवर्णवत्प्रकृतिजातिस्फोट	10.	अनेकवर्णवत्प्रत्ययजातिस्फोट
11.	पदस्फोट	12.	अखण्डपदस्फोट
13.	वाक्यस्फोट	14.	अखण्डवाक्यस्फोट
15.	अखण्डपदजातिस्फोट	16.	अखण्डवाक्यजातिस्फोट[33]

इन्हीं बाह्यस्फोट भेदों को आन्तरस्फोट के पक्ष में भी परिगणित कर लेने से कुल बत्तीस भेद बन जाते हैं।

आचार्य पांडेय और आचार्य त्रिपाठी के भेदविवेचन में मौलिक अन्तर यह है कि पांडेय जी प्रकृति और प्रत्यय को पृथक् परिगणित करते हुए भी 'वर्णस्फोट' को पुनः परिगणित करते हैं, जबकि आचार्य त्रिपाठी प्रकृति और प्रत्यय को स्फोटभेदों में मानकर 'वर्णस्फोट' का पृथक् प्रतिपादन नहीं करते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि त्रिपाठी जी के मन में भाष्यसम्मत सिद्धान्तों के प्रति आस्था है। इन दोनों ही आचार्यों ने अपने–अपने मतों की व्याख्या देने या उसे पल्लवित करने का कोई प्रयास नहीं किया। यद्यपि हमने ऊपर कहा है कि पांडेय जी प्रभा टीका में वर्णस्फोट के प्रसंग में नैयायिकों के 'शक्तं पदम्' की अवधारणा सुनकर केवल बिदक गये हैं। वस्तुतः इन भेदों की संकल्पना आवश्यक नहीं है तथापि उसका यहाँ शास्त्रमुखेन प्रतिपादन उचित और प्रासंगिक होगा।

IV

पांडेय जी का कौंडभट्ट से वैमत्य प्रथमतः 'वर्णस्फोट' को लेकर दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि स्फोटभेदों के प्रसंग में 'वर्णस्फोट' शुद्ध वर्णों का वाचक न होकर प्रकृति और प्रत्यय–रूप पदैकदेश का वाचक है तथापि पांडेय जी इसे शुद्ध वर्णों का वाचक मानकर व्यवहृत करते हैं। पांडेय जी का वर्णस्फोट के प्रति आग्रह 'एऔच्' इस प्रत्याहार सूत्र के अथवा उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते–'रश्रुतेः लश्रुतिः भवति' इस भाष्यवचन पर आधारित है। यहाँ भाष्यकार का आशय यह है कि 'कृपो रो लः'[34] सूत्र

में 'रः' और 'लः' इन दोनों स्थानों में केवल स्फोट का निर्देश किया गया है कि 'कृप' धातु के ऋकार का अवयवभूत जो रेफ है उसे लकार हो जाय। फलतः 'कल्पते' और 'चक्लृपे' जैसे प्रयोगों की सिद्धि हो जाती है।

पांडेय जी का इस भाष्यवचन को शुद्ध ऋकारादि वर्ण के रूप में व्याख्यायित करके उससे वर्णस्फोट की संकल्पना कर लेना उचित नहीं है। क्योंकि वहाँ रेफ से स्थानी रूप तथा लकार से आदेशरूप वर्णैकदेश का ग्रहण ही भाष्यकार को अभीष्ट है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कैय्यट ने उपर्युक्त भाष्यवचन में प्रयुक्त स्फोटमात्र शब्द से जातिस्फोट का ग्रहण किया है जिससे अन्तर्भूत तथा बहिर्भूत रेफ और लकार से व्यंग्य सामान्य या स्थानी और आदेश के रूप में ग्रहण हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि 'रश्रुतेः लश्रुतिः भवति' यह भाष्यवचन शुद्ध वर्णस्फोट की सिद्धि में प्रमाण न होकर वर्ण से वर्णैकदेश के स्थानी और आदेश रूप में गृहीत होने में प्रमाण है। अतः उसे शुद्ध वर्णों के रूप में व्याख्यायित करना सम्प्रदाय–विरूद्ध है। इसी कारण प्रकारान्तर से पांडेय जी के स्फोटभेदों का समर्थन करते हुए भी अभिनव पाणिनिकल्प मनीषी आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठी ने स्फोट–भेदों में वर्णस्फोट का पृथक् परिगणन नहीं किया। नागेश के अनुसार स्फोट के आंतर और बाह्य भेद से दो प्रकार बताते हुए त्रिपाठी जी ने दोनों के सोलह–सोलह भेद दिखाते हुए भी वर्णस्फोट को पृथक् रूप से अपने भेदों में स्थान देना उचित नहीं समझा।

पांडेय जी के मतानुसार यदि वर्णस्फोट के प्रत्येक वर्ण को वाचक मान लिया जाय तो प्रथम वर्ण से ही अर्थबोध हो जाने के कारण द्वितीय आदि वर्णों का उच्चारण व्यर्थ हो जायेगा। वहाँ दूसरी समस्या यह भी आयेगी कि वर्ण के अर्थवान् हो जाने से उसकी प्रातिपदिक संज्ञा को नहीं रोका जा सकेगा और 'धनम्' 'वनम्' जैसे शब्दों में आदि वर्ण के प्रतिपादिक संज्ञा हो जाने से प्रातिपदिकान्त न–लोप हो जाएगा जिससे 'घट' और 'व' रूप पद ही शेष बचेंगे। अतः 'हयवरट्' और 'अर्थवत्' सूत्रों में भाष्यकार ने शुद्ध वर्णों की वाचकता को निराकृत करके उनके समुदाय को अर्थवान् तथा अवयवों को अनर्थक निरूपित किया है। इसे और भी दृढ़ करते हुए एक वर्णरूप धातु, प्रत्यय, प्रातिपदिक, निपात आदि को सामान्यवर्णों से पृथक् करने के लिए भाष्यकार ने उपदेश किया है 'अर्थवन्तो वर्णाः, धातु–प्रातिपदिक–प्रत्यय–निपातानाम् एकवर्णानाम् अर्थ–दर्शनात्। धातव एक वर्णा अर्थवन्तो दृश्यन्ते एति, अध्येति, अधीते। प्रातिपदिकान्ये–कवर्णानि अर्थवन्ति–आभ्याम्, एभिः, एषु, इससे यह स्पष्ट है कि भाष्यकार को प्रकृति और प्रत्यय रूप एक वर्ण की वाचकता अभीष्ट है, किन्तु शुद्ध वर्ण के रूप में उन्हें वाचक मानने में उनकी अभिमति नहीं है। निस्सन्देह पांडेय जी की वर्णस्फोट–संकल्पना उपर्युक्त अर्थवान् वर्णरूप धातु, प्रातिपदिक आदि से भिन्न है, क्योंकि उन्होंने इन्हें प्रकृति और प्रत्ययस्फोट मानकर वर्णस्फोट से पृथक् परिगणित किया है। उनके वर्णस्फोट का आशय शुद्ध ऋकारादि वर्णों से है। पांडेय जी के वर्णस्फोट में अभीष्ट इन वर्णों को यदि अर्थवाचक मान लिया जाय तो 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' सूत्र से 'अर्थवत्' विशेषण भी हटाना पड़ेगा। इस सूत्र में 'अर्थवत्' विशेषण के ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए भाष्यकार ने कहा है– ''अर्थवद्

ग्रहणं किमर्थम्? अर्थवदिति व्यपदेशात् वर्णानां मा भूदिति।"[35] अर्थात् 'अर्थवत्' इस विशेषण के उपदेश से एकवर्णात्मक प्रातिपदिक से भिन्न अकार, ककार आदि वर्णों का ग्रहण यहाँ नहीं हो सकेगा। अतः पांडेय जी द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने से न केवल भाष्यवचन के विरोध का सामना करना पड़ेगा अपितु सूत्रकार के अभीष्ट तथ्यों को भी तिरस्कृत करना पड़ेगा। वस्तुतः 'रश्रुतेः लश्रुतिः भवति' भाष्य को प्रमाण मानकर वर्णस्फोट की संकल्पना का प्रयास निरर्थक है, क्योंकि भाष्य में अनेकत्र ऐसे स्थल हैं जहाँ वर्णों की अर्थवाचकता का स्पष्ट निषेध है।

अपनी रक्षा के लिए पांडेय जी यदि यह पक्ष प्रस्तुत करें कि वर्णस्फोट के प्रथम, द्वितीय आदि वर्ण अर्थबोधक न होकर अर्थ–स्मारक है, इसका चरम वर्ण ही अर्थबोध कराता है तो प्रतिवर्ण से अर्थस्मरण मानना भी अनुभव–विरूद्ध होने से वैयाकरणों को अभीष्ट नहीं है। अतः वर्णस्फोट पद से प्रत्येक वर्ण का ग्रहण न मानकर पदैकदेशरूप प्रकृति और प्रत्यय का ग्रहण मानना ही सम्प्रदाय के अनुरूप होगा। प्रभाकार के वचनों से आहत होकर स्फोट–सिद्धान्त को मूलोच्छिन्न करने की अपेक्षा स्वयं प्रभाकार के वचनों को समझने में ही लाघव होगा।

आचार्य पांडेय की भाँति आचार्य त्रिपाठी भी स्फोट–संख्या के व्यर्थ परिगणन में फँस गये हैं। यद्यपि पांडेय जी की भाँति उन्होंने 'वर्णस्फोट' का पृथक् परिगणन नहीं किया तथापि प्रकृति और प्रत्यय–स्फोट मानकर उनके भेदों की जो श्रृंखला उन्होंने प्रस्तुत की है वह भी निर्दुष्ट नहीं है। त्रिपाठी जी द्वारा प्रदर्शित उपर्युक्त भेदों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कौंडभट्ट के वर्णस्फोट के स्थान पर प्रकृति और प्रत्यय–रूप भेद मानकर उन्हीं के मन्तव्य को व्याख्यायित करने का स्तुत्य उपक्रम किया है। प्रकृति और प्रत्ययों में भी एक वर्णात्मक और अनेक वर्णात्मक भेद दिखाकर उन्होंने 'इ' आदि एकवर्णात्मक तथा सनाद्यंतादिधातुरूप अनेक वर्णात्मक प्रकृति तथा इसी प्रकार के प्रत्ययों की स्फोटरूपता की प्रतिपादित किया है। इनका जाति और व्यक्ति–पक्ष की दृष्टि से विभाग करना भी शास्त्रसम्मत ही है, क्योंकि 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा.सू. 1.2.58) तथा 'सरूपाणाम् एकशेषएकविभक्तौ' (पा.सू. 1.2.64) आदि सूत्रों के माध्यम से महामुनि पाणिनि ने भी इन पक्षों का उल्लेख किया है, जिनका सिद्धान्तानुसारी व्याख्यान स्वयं पतंजलि ने भी किया है।

आचार्य त्रिपाठी की स्फोट–भेद–विषयक संकल्पना उस समय परम्परा के विरूद्ध दृष्टिगत होने लगती है जब वे अनेक वर्णात्मक प्रकृति और प्रत्ययस्फोटों में सखण्ड और अखण्ड भेद दिखाने का साहस कर बैठते हैं। वास्तव में प्रकृति और प्रत्यय एकवर्णात्मक हों या फिर अनेक वर्णात्मक, उनमें अर्थबोधकता सखण्डरूप में हो ही नहीं सकती। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रभाकार ने कहा है–

"वर्णस्फोटस्य सखण्डाखण्डभेदेन द्वैविध्यं तु न। सुबन्त–तिङ.न्त–तदादिभिन्नस्य वाक्यभिन्नस्य च प्रकृति–प्रत्ययसमुदायरूपस्य प्रकृतिरूपस्य प्रत्यय रूपस्य–चैकवर्णमात्रवर्णस्फोटघटकवर्णशब्देन ग्रहणात्।"[36]

अर्थात् जाति और व्यक्ति–भेद से द्विविध होता हुआ भी प्रकृति और प्रत्यय रूप वर्णस्फोट सखण्ड और अखण्ड भेद से दो प्रकार का नहीं है। सुबन्त–तिङ.न्त रूप पदभिन्न और वाक्यभिन्न प्रकृति और प्रत्यय की समुदाय रूप सनाद्यन्तादि प्रकृति, भू, पच्, इ आदि शुद्ध प्रकृति तथा सुप् आदि अनेक वर्णात्मक तथा एक वर्णात्मक प्रकृति और प्रत्ययों का ही यहाँ ग्रहण होता है जो सखण्ड रूप से अर्थबोधक नहीं है।[37] त्रिपाठी जी की वाच्य–भेदों की दृष्टि से स्फोट–भेदों की संकल्पना तो कथंचित् समझ में आती है, किन्तु उस दृष्टि से प्रकृति और प्रत्ययों की सखण्डता का सिद्धान्त स्पष्ट नहीं है। अतः आचार्य त्रिपाठी का अनेकवर्णात्मक प्रकृति और प्रत्यय स्फोटों को सखण्ड और अखण्ड भेद से विशिष्ट करना अपनी पुष्टि के लिए स्पष्टता एवं व्याख्या की अपेक्षा रखता है।

वस्तुतः शास्त्र में प्रकृति और प्रत्यय रूप वर्णस्फोट की संकल्पना अभीष्ट प्रक्रिया–निर्वाह के लिए की गयी है। वैयाकरणों को इनकी अर्थवाचकता अभीष्ट नहीं है। कल्पित प्रकृति और प्रत्ययों में अर्थ भी कल्पित ही होता है। अतः भूवादयो धातवः[38] जैसे सूत्रों की संगति सम्भव हो पाती है। अन्यथा धातुरूप प्रकृति की अर्थवाचकता के अभाव में उन्हें क्रियावाची मानना सम्भव न हो पाता। सनाद्यन्तादि प्रकृतियों में शुद्धप्रकृत्यर्थ तथा प्रत्ययमिश्रित प्रकृत्यर्थ की दृष्टि से भी उनके सखण्डत्व की संकल्पना यद्यपि गौरवग्रस्त होगी तथापि यदि आचार्य त्रिपाठी की अभिमति इस पक्ष में है तो उनके द्वारा प्रदर्शित भेदों में न्यूनता आ जायेगी और उन्हें प्रातिपदिकरूपप्रकृति,सन्नन्तप्रकृति, यङन्तप्रकृति आदि जैसे अनेक भेदों से विशिष्ट करना पड़ेगा। इस स्थिति में सनादि बारह[39] प्रत्ययों से युक्त प्रकृति में शुद्धप्रकृत्यर्थ और प्रत्ययमिश्रित प्रकृत्यर्थ आदि के लिए स्फोट–भेदों की पृथक् कल्पना यहाँ इसलिए आवश्यक हो जायेगी कि 'पच्' आदि शुद्ध प्रकृति सखण्ड रूप में अर्थबोधक नहीं हो सकती। अतः शुद्धानेकवर्णवत्प्रकृति, प्रत्ययमिश्रितानेकवर्णवत्प्रकृति आदि रूप से प्रकृति–पक्ष में तथा इसी प्रकार प्रत्यय–पक्ष में स्फोट–भेदों की संकल्पना करके शुद्ध प्रकृतिपक्ष में सखण्डत्व का वारण किया जा सकता है। यह अलग बात है कि यहाँ इससे कल्पना–गौरव–प्रसंग आ जायेगा।

वस्तुतः प्रकृति और प्रत्ययों में सखण्डत्व और अखण्डत्व की अवधारणा आचार्य त्रिपाठी की अपनी निजी अवधारणा न होकर आचार्य पांडेय की ही अवधारणा का विकसित स्वरूप है। उन्होंने प्रकृति और प्रत्ययों के अखण्ड और सखण्ड भेदों की संकल्पना प्रस्तुत करते हुए एकवर्णात्मक प्रकृति और अनेकवर्णात्मक प्रकृति तथा प्रत्ययों का विभाग नहीं किया था। आचार्य त्रिपाठी ने एकवर्णात्मक प्रकृति और प्रत्ययों में प्रच्छन्न संशोधन करते हुए ही अपने विभागों में अनेकवर्णात्मक प्रकृति और प्रत्ययों के अखण्ड और सखण्ड भेदों की संकल्पना की है। आचार्य बदरीनाथ शुक्ल ने भी श्री पांडेय की समीक्षा करते हुए प्रकृति और प्रत्ययों की सखण्डता और अखण्डता का निर्देश किया है और पांडेय जी द्वारा प्रकृति और प्रत्यय पक्ष में प्रदर्शित छः स्फोटों को न्यून मानते हुए निम्नलिखित आठ भेद प्रस्तुत किये हैं–

1. सखण्डप्रकृतिस्फोट 2. सखण्डप्रकृतिजातिस्फोट
3. अखण्डप्रकृतिस्फोट 4. अखण्डप्रकृतिजातिस्फोट
5. सखण्डप्रत्ययस्फोट 6. सखण्डप्रत्ययजातिस्फोट
7. अखण्डप्रत्ययस्फोट 8. अखण्डप्रत्ययजातिस्फोट[40]

कौंडभट्ट के अनुसार स्फोटभेदों के परिगणन से वाक्यस्फोट के विलय की पांडेय जी की शंका भी यहाँ निर्मूल ही प्रतीत होती है। वास्तव में वर्ण और पदरूप स्फोट–विभागों के माध्यम से वैयाकरण वाक्यस्फोट के अन्तर्गत प्रयुक्त प्रकृति, प्रत्ययरूप वर्णों तथा सुबन्त, तिङन्तरूप पदों में भेद की संकल्पना न करते हुए ही वैयाकरण वाक्यस्फोट से वाक्यार्थबोध मानते हैं। इसी अखण्डता का निर्देश करते हुए भर्तृहरि ने कहा है–

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्वयवा इव।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।।[41]

आशय यह है कि शब्द का अर्थबोधरूप प्रमुख प्रयोजन वाक्य द्वारा ही सम्पन्न होता है। वर्ण या पद अर्थबोधक नहीं है। अतः वाक्य ही सत्य है। वर्ण या पद आदि उसके काल्पनिक विभागमात्र हैं। वाक्य में न तो पद होते हैं, न वर्ण और न वर्णों के अवयव। वह अखण्ड और नित्य होता है। अतः 'घटम् आनय' इस वाक्य के उच्चारण से श्रूयमाण वाक्य ध्वनि यहाँ 'घटकर्मक–आनयन–कार्यत्वबोधक' न होकर उससे व्यंग्य स्फोट ही उसका बोधक है। अतः प्रकृति और प्रत्यय रूप वर्णस्फोट का नैयायिकों के पद से यथाकथंचित् साम्य होने पर भी पांडेय जी को वाक्यस्फोट का विलय नहीं मानना चाहिए था। वास्तव में नैयायिकों और वैयाकरणों का अर्थबोध विषयक सिद्धान्त केवल स्वरूपभेद पर आश्रित नहीं है। शब्दबोध की उनकी अपनी–अपनी प्रक्रिया है जो सैद्धान्तिक भेद पर आश्रित है। 'शक्तं पदम्' कहते हुए नैयायिक प्रकृति, प्रत्यय और प्रातिपदिक आदि को 'शक्त' तो मानते हैं किन्तु 'संस्कार–सहकृत–अन्त्य–वर्ण' की वाचकता मानने के कारण उनका वैयाकरणों से भेद स्वयं सिद्ध हो जाता है। उनसे भयभीत होने की अपेक्षा यही पूछना उचित था कि जब 'संस्कार–सहकृत अन्त्यवर्ण' ही आपकी दृष्टि में वाचक है तो 'शक्त पदम्' का कोई अर्थ ही नहीं रहा जाता। आपको तो अन्त्यवर्ण को ही शक्त मानना चाहिए।

वैयाकरणों की दृष्टि से तो वाक्यस्फोट स्वतन्त्र रूप से वाक्यार्थ–बोधक और साक्षात् व्यवहार प्रयोजक है। उन्होंने इसी वाक्यार्थ को प्रतिभा रूप माना है। वर्णस्फोट तथा पदस्फोट की वाक्यार्थबोध में चरितार्थता नहीं होती। वह तो वाक्यस्फोट द्वारा ही अधिगत होता है। यही भर्तृहरि की 'पदे न वर्णा विद्यन्ते' आदि उपर्युक्त कारिका का आशय है। प्रकृति और प्रत्ययों के काल्पनिक होने पर भी उन्हें शशविषाणप्राय नहीं माना जा सकता। यह पंचकोशों की भाँति सद्–असद् विलक्षण है।[42] पांडेय जी इन तथ्यों की ओर ध्यान दिये बिना न्याय–वासना–वासित–अन्तःकरण से न्याय का ही विरोध कर रहे हैं। वस्तुतः वैयाकरणों की दृष्टि से पदस्फोट और वाक्यस्फोट दोनों परस्पर निरपेक्ष और भिन्न–भिन्न प्रयोजन–विषयक है। शक्तिग्रह के विषय में जिस प्रकार नैयायिकों का पद में ईश्वरेच्छा–विषयक विश्वास है उसी प्रकार वैयाकरणों का वाक्य से ही वाक्यार्थबोध पर

विश्वास है। पद में ही मेरी इच्छा है, वाक्य में नहीं, यह बात ईश्वर स्वयं आकर नहीं कहता। अतः यदि पद में ईश्वरेच्छा है तो वाक्य में भी ईश्वरेच्छा है ही। इस प्रकार वाक्य से ही वाक्यार्थबोध मानना युक्तिसंगत और प्रामाणिक है। पांडेय जी की उसके विलय की शंका व्यर्थ है।

इस प्रकार स्वप्रकाश संवित् रूप अखण्ड स्फोट ही वाक्यार्थ का बोधक और वाक्यशक्ति का आश्रय है। वैयाकरणों को यद्यपि वाक्य की वाचकता ही अभीष्ट है तथापि उससे शब्दानुशासन के लिए वे वर्ण और पद स्फोटों का प्रदर्शन करते हैं, जिससे भाषा के घटक वर्ण और पद जैसे तत्त्व भी स्फोट के दायरे में आ जाते हैं और प्रकृति, प्रत्यय आदि भी प्रक्रिया स्थल में सार्थक बन जाते हैं तथा वर्ण से लेकर वाक्य तक भाषा के समस्त तत्त्वों में स्फोट–सिद्धान्त की व्याप्ति हो जाती है। इसी कारण इसकी ब्रह्मरूपता (सर्वरूपता) प्रसिद्ध है। वर्ण आदि समस्त भाषा–घटक तत्त्वों की स्फोटरूपता का संकेत भाष्य से ग्रहण करके ही भट्टोजिदीक्षित एवं कौंडभट्ट आदि ने वर्ण, पद और वाक्य–भेदों में उसे विभक्त किया है। स्वयं सूत्रकार की अभिमति का जाति और व्यक्ति पक्ष में संकेत पाकर नव्यवैयाकरणों ने पतंजलि भर्तृहरि आदि को प्रमाण मानते हुए जाति और व्यक्ति–भेदों तथा सखण्ड और अखण्ड भेदों से पुष्ट करके इस सिद्धान्त की उपस्थापना की है। उनके विरूद्ध रामाज्ञा पांडेय, रामप्रसाद त्रिपाठी तथा बदरीनाथ शुक्ल जैसे मूर्धन्य आचार्यों द्वारा किया गया उपक्रम परम्परा को पूर्णतः समेट पाने में समर्थ नहीं है। पांडेय जी का वर्णस्फोट पक्ष भाष्यकार के 'रश्रुतेः लश्रुतिः भवति' रूप जिस वचन पर आश्रित है वहाँ भाष्यकार वास्तव में वर्णों की अर्थरूपता का उतना स्पष्ट प्रतिपादन नहीं करते जितना कि 'हयवरट्' और 'अर्थवत्' आदि सूत्रों में उनकी अर्थवाचकता का निषेध करते हैं। वास्तव में 'अर्थवत्' सूत्र में 'वर्णानां मा भूदिति' कहकर वे प्रत्येक वर्ण की वाचकता का खुला बहिष्कार करके वर्ण शब्द से प्रकृति और प्रत्यय का ही ग्रहण सिद्धान्तित करते हैं। ऐसे में पांडेय जी का वर्णस्फोट के प्रति शुद्ध वर्णों के रूप में आग्रह होना परम्परा के अनुरूप नहीं माना जा सकता।

इसी प्रकार इन तीनों आचार्यों का प्रकृति और प्रत्यय पक्ष में अखण्ड और सखण्ड भेदों का प्रतिपादन करना भी युक्तियुक्त न होकर पुनर्व्यवस्थापन की अपेक्षा रखता है। इन भेदों के समर्थन में यदि परम्परा को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जा सके तथा इनकी स्वीकृति में आने वाली विप्रतिपत्तियों के निवारण पूर्वक यदि इनकी उपस्थापना की जा सके तो निस्सन्देह इन आचार्यों का यह उपक्रम इस शताब्दी के व्याकरणशास्त्र के लिए महान् उपलब्धि सिद्ध हो सकता है।

***

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ

1. *वैयाकरणतां त्यक्त्वा विज्ञानान्वेषणेन किम्। भवतामप्रस्तुतेन न केवलमिहोदितम्।। शिवदृष्टि 2.72 तथा वहीं पर वृत्ति–अर्थप्रतीतिहेतुसाधुशब्दानुशासनव्यापारमेव वैयाकरणत्वं त्यक्त्वा मोक्षप्रयोजनैः शास्त्रैः यत् सम्यग् ज्ञानमनुसरणीयं तदन्वेषणेन भवतां करणीयत्वेन अप्रस्तुतेन न किंचित्।"*

2. अवङस्फोटायनस्य, पा.सू. 6.1.123
3. वैयाकरणनागेशः–स्फोटायनऋषेर्मतम्। परिष्कृत्योक्तवांस्तेन प्रीयतामुमया शिवः।। वैयाकरणसिद्धान्तमन्जूषा, ग्रंथांत मंगलाचरण।
4. ऋग्वेद 1.164.39
5. निरुक्त 13.12.12 तथा 13.11.10
6. माण्डूक्य उपनिषद् 1.12
7. श्रीमद्भागवतमहापुराणम् 12.6.39–41
तर्तोऽभूत् त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट्
यत् तल्लिंगभगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः।।
श्रृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्।
येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः।।
स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः।
स मन्त्रोपनिषद्बीजं वेदबीजं सनातनम्।।
8. वहीं, श्रीधरी टीका–
कोऽसौ परमात्मा? तमाह श्रृणोतीति इमं स्फोटमव्यक्तमोङ्कारम्। ननु जीव एव तं श्रृणोतु? नेत्याह। सुप्तश्रोत्रे कर्णपिधानादिना अवृत्तिकेऽपि श्रोत्रे सति। जीवस्तुकरणाधीन–ज्ञानत्वान्न तदा श्रोता। तदुपलब्धिः तस्य परमात्मद्वारिकैव इति भावः।
9. यावद्गकारे वाग् वर्त्तते न तावदौकारे इति येनैव यत्नेनैको वर्ण उच्चार्यते तेनैव विच्छिन्ने तस्मिन् वर्णे उपसंहृत्य तं यत्नमन्यं यत्नमुपादाय द्वितीयः प्रवर्तते। वैयाकरणसिद्धान्त– लघुमंजूषा, सं. आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठी, सं.सं.वि.वि. वाराणसी, 1990, प्रथमभाग, पृ. 257
10. न चोत्तरवर्णप्रत्यक्षकाले... सरो रस इत्यादौ विशेषश्च। वहीं, पृ. 257
11. यद्वा पूर्व – पूर्व – वर्णजाः शब्दाः शब्दजशब्दन्यायेन चरमवर्णप्रत्यक्षपर्यन्तं जायमाना एव भवन्तीति न पदप्रत्यक्षानुपत्तिरिति वाच्यम्। वही, पृ. 257
12. आद्येऽयं पूर्वोऽयं पर इत्यभिलापासम्भवात् नष्टवद्यिमानयोः सम्बधि–नोरव्यवहितोत्तरत्वस्य सम्बन्धतायाः वक्तुमशक्यत्वाच्च। वही, पृ. 257–58
13. वही, पृ. 258
14. अविद्यमाने आश्रयत्वाङ्गीकारे 'नष्टो घटो जलवान्' इत्यादेरापत्तेः। वही, पृ. 258।
15. अशाब्दो यदि वाक्यार्थः पदार्थेऽपि तथा भवेत्। वही, पृ. 258 में वाक्यपदीय से उद्धृत।
16. वही, पृ. 259
17. वाक्यपदीयम्–1.1
अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।
18. द्रष्टव्य, वही पृ. 269–280
19. भूषणसारपरमलघुमन्जूषयोः सिद्धान्तानां समीक्षा, पं. राममनोहर मिश्र, सं.सं.वि.वि., वाराणसी, 1983, पृ. 213
20. कौंडभट्ट, वैयाकरणभूषणसार, प्रभा–दर्पण–सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1969, पृ. 451
21. वहीं प्रभा–यथा बालानां वास्तविक कत्वादि बोधाय चक्षुर्ग्राह्यासु लिपिषु श्रोतग्राह्यकत्वाद्य – भावेऽपि कत्वप्रतिपादनम् तथा वास्तविकाखण्डस्फोट–बोधनायैते वर्णस्फोटादयोऽप्युपायभूता एव। तदुक्तं हरिणा–
उपायःशिक्षमाणानां बालानाम् अपलालनाः
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।।

22. पंचकोशादिवत् तस्मात् कल्पनैषा समाश्रिता।
उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः।।–वैयाकरणभूषणसार, का. 68

23. महाभाष्यम् 1.1.20, 1.2.45 एवं वही प्रदीप

24. महाभाष्यम्, पश्पशाह्निक, पृ. 7

25. वही, प्रदीप–वैयाकरणाः वर्णव्यतिरिक्तस्य पदस्थ वाक्यस्य वा वाचकत्वम् इच्छन्ति। वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयदिवर्णोच्चारणानर्थक्य प्रसङ्गात्। आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे यौगपद्येनोत्पत्यभावात्, अभिव्यक्तिपक्षे तु क्रमेणैव अभिव्यक्त्या समुदायाभावात, एक स्मृत्युपारूढानां वाचकत्वे सरो रस इत्यादावर्थप्रतिपत्त्यविशेषणप्रसङ्गात् तद्व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचकः।

26. शक्यत्व इव शक्तत्वे जातेर्लाघवमीक्ष्यताम्। औपाधिको वा भेदोऽस्तु वर्णानां तारमन्दवत्।। – (वैयाकरणभूषणसार, का. 71)

27. वाक्यपदीयम्–1.93
अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृताः।।

28. सम्बन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः।। (वाक्यपदीयम्,जाति समु. का. 33)

29. प्रभाटीका, पृ. 451

30. व्याकरणदर्शननभूमिका, पं. रामाज्ञापाण्डेय, सं.सं.वि.वि., वाराणसी, 1982, द्वि.सं., पृ. 28

31. वही, पृ. 24

32. स्फोटविस्फोटः, पं. बदरीनाथ शुक्ल, सरस्वती सुषमा, 12.2., पृ. 34–36

33. पाणिनीयव्याकरणे प्रमाणरूमीक्षा, पं. रामप्रसाद त्रिपाठी, सं.सं.वि.वि., वाराणसी, 1972, पृ. 286.

34. पा.सू. 1.2.18.

35. वैयाकरणभूषणसार, प्रभाटीका, पृ. 448

37. वही, पृ. 451, प्रकृतिप्रत्यययोर्वर्णानां चावयवानामनर्थकतया न तत्र सखण्डस्फोटव्यवहारः।

38. पा.सू. 1.3.1

39. सिद्धान्तकौमुदी, तत्त्वबोधिनीटीका, सूत्र सं. 2304
सन्क्यच्काम्यच्क्यङक्यषोऽथाचारक्विण्णिज्यङ्ौ तथा।
यगाय ईयङ्णिङ्चेति द्वादशामी सनादयः।।

40. सारस्वतीसुषमा, 12.2., पृ. 36

41. वाक्यपदीयम् 1.73

42. वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा, सं. कालिकाप्रसादशुक्ल, सं.सं.वि.वि. वाराणसी, 1977, पृ. 301– न च प्रकृतिप्रत्ययविभागस्य काल्पनिकत्वे शशविषाणप्रायत्वम्, पन्चकोशादिवदस्यापि सदसद्विलक्षणत्वात्। एवम् 'रेखागवयन्यायेनापि' शास्त्रमुपायः।

ओशो रजनीश के चिन्तन का दार्शनिक परिप्रेक्ष्य

सरोज कुमार वर्मा

ओशो, पूर्व नाम– भगवान्, आचार्य रजनीश स्वातंत्र्योत्तर भारत के एक अति महत्त्वपूर्ण दार्शनिक हैं। वे महत्त्वपूर्ण क्यों हैं– इसको रेखांकित करते हुये 1990 में उनके निधन के पश्चात् कुमार प्रशांत लिखते हैं– "रजनीश महत्त्वपूर्ण इसलिये थे कि उन्होंने विचार को हथियार की तरह बरतने की कोशिश की। आजादी के बाद उभरे उन अत्यंत थोड़े लोगों में रजनीश एक थे, जिन्होंने विचार को इस प्रकार पकड़ने, समझने–समझाने और उसका संगठन करने की कोशिश की और यह कोशिश पूरी तीव्रता और गहनता से की, अपने मन–प्राणों का बल लगाकर उसे साकार करने का पुरूषार्थ किया। हम रजनीश की प्रतिभा इस तरह नापें कि उन्होंने विचार–प्रचार का आसान रास्ता स्वीकार नहीं किया। 1957 में वे संस्कृत के प्राध्यापक बने और अगले ही वर्ष जबलपुर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र की प्राध्यापकी मिल गई। इतना काफी था अपनी बौद्धिक संतुष्टि के लिये.. ..., पर उन्होंने रूटीन आध्यापकी में संतोष नहीं माना और जब जहाँ वक्त मिला, प्रवचनों के लिये जाते रहे। और यह तो मानना ही होगा कि उनके प्रवचन किताबी नहीं होते थे। उनमें एक जागरूक मन की बेचैनी थी और एक कुरेदने वाली तार्किक उत्कटता थी। एक दार्शनिक की पहली पहचान है कि वह सवाल खड़े करता है– और ऐसे संदर्भों में सवाल खड़े करता है जिसे सामान्यतः हम सोचते नहीं। वे वेद–उपनिषद् के दो–चार सूत्र रटे तोते की तरह स्वीकार नहीं करते थे, इसलिये वैचारिक स्तर पर दुनिया का नवीन–से–नवीन साहित्य वे पढ़ते थे और उसे अपनी शैली में लोक–ग्राह्य बनाकर प्रस्तुत करते थे। हमारे सारे पंथनिर्माताओं में रजनीश सा अद्यतन जानकारी रखने वाला और उसे अपनी विचार सारणी में पिरोनेवाला दूसरा कोई व्यक्ति न तब था और न आज है।"[1]

अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण ओशो स्वातंत्र्योत्तर भारत के विशिष्ट दार्शनिक बन गये और इस युग के चिंतन में अपेक्षित योगदान दिया। कई लोगों का कहना है कि ओशो ने अपने विशाल वाङ्मय में नया कुछ नहीं कहा है, केवल प्राचीन दर्शनों की कूट तर्कों से चटकीले व्याख्या मात्र की है, इसलिये उनमें मौलिकता नहीं है। परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। प्रो. टेलर[2] के अनुसार मौलिक चिंतक वह होता है जो दूसरी विचारधाराओं की आलोचना भी करता है और गहन चिंतन तथा सूक्ष्म परीक्षण के बाद अपने दर्शन का

प्रतिपादन भी करता है। ओशा ने ये दोनों काम गंभीरता से किया है। अपनी वैचारिक यात्रा के पूर्व पक्ष में उन्होंने पूर्व स्थापित मान्यताओं के सम्बन्ध में प्रखरता से सवाल उठाते हुये आलोचक की भूमिका पूरी शिद्दत से निभाई और उसके बाद उत्तर पक्ष में अपनी दार्शनिक स्थापनाओं का प्रतिपादन किया। यह प्रतिपादन उन्होंने या तो स्वतन्त्र रूप से अपने विचारों को प्रस्तुत करके किया अथवा अन्य चिंतकों के विचारों की व्याख्या करके। परन्तु इन व्याख्याओं में भी उनकी निजी स्थापनायें स्पष्ट रूपसे प्रकट होती हैं। उन्होंने स्वयं भी बार–बार कहा है कि ये सब खूंटियाँ हैं जिन पर मैं अपनी कोट टांगता हूँ। उन्हीं के शब्दों में– "मैं जो कुछ कहता हूँ वह कुरान, बाइबिल या गीता से पूछ कर नहीं कहता, अपने अधिकार से कहता हूँ। अपने निजी अनुभवों से कहता हूँ।"[3]

कुमार प्रशांत ने भी उनके अवदानों का उल्लेख करते हुये लिखा है– "अपने इन प्रवचनों में रजनीश ने दुनिया भर के मतवादों की और दार्शनिकों की छानबीन की है– चाहे वे बुद्ध रहे हों या महावीर, सूफी संतों की परम्परा रही हो या जैन धर्म!, इस्लाम और ईसा भी उसमें आये और योग, तंत्र आदि का विषय भी उठाया गया। प्रवचन के बाद वे कभी–कभी अपने श्रोताओं के सवालों के जवाब भी दिया करते थे। इन प्रवचनों में क्या था? सबसे बड़ी चीज है, इनमें रजनीश की व्याख्यायें। उनमें सरलता भी है, गहराई भी है और मानव मन की गांठों को खोलने की कोशिश भी है। इसी क्रम में वे एक और महत्त्वपूर्ण कोशिश करते हैं और वह है वैश्विक आध्यात्मिक धाराओं का भारतीय आध्यात्मिक चिंतन से मेल बिठाना। ऐसा करते हुये वे यहाँ का बहुत कुछ खारिज भी करते हैं और वहाँ का बहुत कुछ छांटते भी हैं। रजनीश की सर्वोत्तम प्रतिभा के दर्शन यहाँ होते हैं।"[4] यद्यपि प्राच्य और पाश्चात्य विचारधाराओं का मेल बिठाने का काम स्वातंत्र्य–पूर्व युग के दार्शनिकों ने भी किया है, परन्तु तब यह काम राष्ट्रीय महत्त्व का था, जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद गौण हो गया। इसीलिए श्री संगमलाल पाण्डेय ने "स्वातंत्र्योत्तर युग के दार्शनिकों का मुख्य कार्य समकालीन भारतीय दर्शन का और आगे अर्थ करना"[5] बताया है। ओशों ने अपनी दार्शनिक स्थापनाओं में यह काम बखूबी किया है।

ओशो की स्थापनाओं को भाषा तथा विचार दोनों आयामों में परखा जा सकता है। जहाँ तक हिन्दी भाषा में उनके दार्शनिक चिंतन का सवाल है तो उन्होंने अपने ज्यादातर प्रवचन हिन्दी में ही दिये हैं और अंग्रेजी में दिये गये उनके प्रवचनों का भी हिन्दी में अनुवाद हो गया है। अनुवाद की प्रेरणा भी उन्हीं की रही। इसलिये हिन्दी भाषा में उपलब्ध उनकी सैकड़ों पुस्तकें स्वातंत्र्योत्तर भारत की हिन्दी भाषा में उनके दार्शनिक चिंतन के पुष्ट प्रमाण हैं। ये पुस्तकें इस बात की भी प्रमाण हैं कि दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने में ओशो ने जितनी सहज–सरल भाषा का प्रयोग किया है, संभवतः अन्य किसी ने नहीं किया। यही वजह है कि हिन्दी साहित्य के विद्वान् निशांत केतु ने उनकी भाषा पर विचार करते हुये लिखा है– "रजनीश की भाषा के भीतर दो विषय तत्त्व समीकृत हो गये हैं। साधारणतः

जहाँ तर्क और तर्कशास्त्र तथा प्रमाण और प्रमाणशास्त्र का वर्चस्व होगा, वहाँ भाव और भावप्रवणता का अभाव होने लगता है। इसका विलोम भी इतना ही सत्य है। किन्तु रजनीश की भाषा का सामरस्य और सौष्ठव यह है कि उनकी व्यंजना तर्क और भाव दोनों को सम्यक् स्थान देती है। बुद्धिजीवी बिना तर्कशास्त्र और विज्ञान के प्रभावित नहीं होते। आचार्य रजनीश की भाषा में यह सब तो है ही "भाव" अनुभूतिगत "प्रवणता" और व्यंजनागत प्रांजलता है। वे "सत्य" को विभिन्न कोणों– दृष्टिकोणों से उपस्थित करते हैं। यही सत्य अनुभूति के स्तर पर अध्यात्म और धर्म बन जाता है, व्यंजना के धरातल पर कला बन जाता है, अनुसंधान की प्रक्रिया में विज्ञान बन जाता है और दर्शन के प्रांगण में तर्क बन जाता है। वे "सत्य" को सभी आयामों से व्यक्त करते हैं।"[6]

ओशो के भाषा–विधान और प्रयोग–विन्यास का भाषा दार्शनिक विश्लेषण करने पर पता चलता है कि इनमें रचनात्मक साहित्यकार की मौलिकता है तथा अभिव्यंजना प्रांजल एवं संप्रेषणीय है। लम्बे काल से इस पर विवाद बना रहा है कि संप्रेषणीयता (Communication) प्रमुख है या अभिव्यंजना (Expression) ? कुछ संप्रेषणीयता का पक्ष लेते हैं और कुछ अभिव्यंजना का। परन्तु अकेले–अकेले दोनों एकांगी हैं। इसलिये सर्वोत्तम स्थिति दोनों का संतुलित समन्वय है। कालीदास की रचनाओं में यह समन्वय मिलता है परन्तु अभिव्यंजना पर अधिक बल देने के कारण कबीर और निराला इस श्रेणी में नहीं आते। इसी प्रकार साम्यवादी संप्रेषणीयता पर अत्यधिक बल देते हैं, इसलिये उनके दर्शन–साहित्य से सरसता की सुगंध तिरोहित हो जाती है। ओशो की भाषा इस एकांगीपन से मुक्त है, क्योंकि वहाँ किसी एक की प्रधानता नहीं बल्कि दोनों का संतुलन है। इसीलिये वह जितनी स्पष्ट है उतनी ही रोचक भी। भाषा की बोधगम्यता उनकी पहली विशेषता है। लेकिन जरूरत पड़ने पर जब वे दुरूह होते हैं तो वहाँ संगीत–सा आनन्द मिलने लगता है। तभी तो उनके प्रति आकर्षित होकर राष्ट्र कवि दिनकर 28 अगस्त, 1971 को अपनी डायरी में लिखते हैं– "आचार्य रजनीश की गतिविधियों में गहरी दिलचस्पी हो गयी है। वे साहित्यिक और चिन्तक बहुत उच्च कोटि के हैं। वक्ता तो वैसा अभी हिन्दी में कोई है ही नहीं। "जिन खोजा तिन पाइयाँ" से लगता है कि वे अध्यात्म के क्षेत्र में भी दूर तक पहुँचे हुये हैं। जैसी हिन्दी वे बोलते हैं, वैसी ही अगर वे अंग्रेजी बोल सकें, तो वे सारे संसार में प्रसिद्ध हो जायेंगे।"[7]

ओशो की भाषा की आन्तरिक बुनावट की पड़ताल करने पर और भी कई बातें स्पष्ट होती हैं। जैसे उनकी भाषा तर्कनिष्ठ है। तर्क आज के बौद्धिक युग की नींव है। वह कोई भी बात जो बुद्धि द्वारा समझी नहीं जा सकती, अस्वीकृत हो जाती है। इसलिये स्वीकृति हेतु तर्क अनिवार्य है। तर्क के सहारे जब कुछ कहा जाता है तो वह बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरता है। ओशो की भाषा में यह तर्क अपने पूरे शबाब पर है। योग की शब्दावली में कहें तो तर्क उनकी भाषा का मूलाधार चक्र है। इसीलिये लोग उनके विचारों से सहमत

होते हैं। परन्तु जो लोग उनसे सहमत नहीं होते वे भी उनकी तर्क–सरणी की प्रशंसा किये बगैर नहीं रहते। फिर यह तर्क तभी संभव होता है तब उसके लिये पर्याप्त बौद्धिकता और तथ्य संग्रह हो। ओशो के पास इन दोनों का अकूत भंडार है। इसीलिये वे अपने तर्क से लोगों की सहमति प्राप्त करने के बाद अपनी भाषा को "यू" आकार ('U' turn) में मोड़ देते हैं, वहाँ ले जाने के लिये जहाँ दर्शन का मूल होता है।

भारतीय दर्शन का मूल ब्रह्म–ज्ञान अथवा स्वयं का साक्षात्कार है। इसे ही मोक्ष, निर्वाण तथा कैवल्य आदि भी कहा गया है। यह एक अनुभूति है जो तर्क के पार जाने से होती है। इसीलिये ओशो अपने तर्क का उपयोग सीढ़ी की तरह इस आत्मानुभूति के द्वारा तक ले आने के लिये करते हैं उसके बाद तर्कभाषा की यात्रा समाप्त हो जाती है और आगे तर्कातीत लोक का संकेत मिलने लगता है। ओशो ने स्वयं कई स्थानों पर कहा है कि मेरे तर्क ऊंगलियाँ है जो तर्कातीत सत्य की ओर इशारा करती हैं। आज के बौद्धिक युग में दर्शन के द्वार तक ले आने के लिये तर्क का इतना कुशल प्रयोग करके ओशो भाषा के स्तर पर अपने चिंतन का योगदान सिद्ध कर देते हैं।

भाषा के संदर्भ में एक बात और उल्लेखनीय है। समकालीन भारतीय दर्शन के राजा राममोहन राय युग में यद्यपि दर्शन की भाषा मूलतः संस्कृत थी, परन्तु हिन्दी का विकास भी दार्शनिक भाषा के रूप में हो रहा था। मगर उस युग के दार्शनिकों ने संस्कृत की जगह अंग्रेजी को दार्शनिक विचार–विमर्श की भाषा बना कर हिन्दी के इस विकास को अवरूद्ध कर दिया। स्वातंत्र्योत्तर युग में यह अवरोध टूटा है और अंग्रेजी की जगह हिन्दी के साथ–साथ अन्य भारतीय भाषओं को भी प्रतिष्ठा मिली है। फलतः संस्कृत और हिन्दी के बीच आने वाली अंग्रेजी विस्थापित हुई है। हिन्दी सीधे संस्कृत से जुड़ी है और उसकी परम्परा से मिल कर भारतीय दार्शनिक भाषा के रूप में स्थापित होने लगी है। संगम लाल पाण्डेय के अनुसार– "हिन्दी दर्शन की यह प्रवृत्ति स्वातंत्र्योत्तर दर्शन की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। यह मौलिक चिंतन और लेखन की प्रवृत्ति है।"[8] वे इस प्रवृत्ति के लम्बे इतिहास की चर्चा करते हुये समकालीन युग में साधुनिश्चल दास (लगभग 1850 ई.) से इसका प्रारम्भ बतलाते हैं और बाद में दादू, कबीर, दयानन्द सरस्वती, राहुल सांकृत्यायन, गोपीनाथ कविराज, बलदेव उपाध्याय, नन्द किशोर देवराज तथा यशदेव शल्य आदि अनेक दार्शनिक विद्वानों को इसे पल्लवित–पुष्पित करने का श्रेय देते हैं। कहना न होगा कि ओशो इसी परम्परा की कड़ी सिद्ध होते हैं। स्वातंत्र्योत्तर युग में हिन्दी को दार्शनिक भाषा के रूप में स्थापित– संवर्द्धित करने का श्रेय सबसे ज्यादा ओशो को ही जाता है।

इस प्रकार यह सुनिश्चित होता है कि हिन्दी भाषा के स्तर पर दर्शन को लोकप्रिय बनाने का महत् काम ओशो ने किया है। भारतीय दर्शन के सदा जीवन से जुड़े रहने की बात कही जाती रही है, परन्तु अपनी भाषायी दुरूहता के कारण यह सदा आम जन से दूर रहा है। ओशो ने भाषा को सरल–सहज बना कर यह दूरी समाप्त कर दी है, और चूँकि

हिन्दी भारत की राष्ट्रीय भाषा है, इसलिये हिंदी में अपने प्रवचन देकर और उसे पुस्तकाकार प्रकाशित करके उन्होंने दर्शन को सीधे जनता से जोड़ दिया है। स्वातंत्र्योत्तर युग में हिन्दी भाषा के माध्यम से दार्शनिक चिंतन को विकसित और स्थापित करने का यह कार्य ओशो का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

जहाँ तक वैचारिक आयाम की बात है, तो ओशो ने अपना विशिष्ट अवदान वहाँ भी दिया है। श्री संगमलाल पाण्डेय के अनुसार– "स्वातंत्र्योत्तर दर्शन मूलतः फुटकर दार्शनिक चिंतन में ही विश्वास करता है और मानता है कि दार्शनिक सम्प्रदाय या निकाय का निर्माण करना दोषरहित नहीं है। चिंतन निसर्गतः प्रकीर्ण है। इन प्रकीर्ण चिंतनों को एकत्र करके एक निकाय की संरचना करना प्रथम कोटि का दार्शनिक चिंतन नहीं है। वह एक द्वितीय कोटि का चिंतन है और दार्शनिक न होकर ऐतिहासिक अधिक होता है। इस कारण स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक किसी दार्शनिक निकाय में विश्वास नहीं करते हैं। वे उन्मुक्त दृष्टिकोण से प्रत्येक समस्या पर विचार करते हैं।"[9] यह उन्मुक्तता ओशो के दृष्टिकोण में भी है। इसीलिए वे अपने चिंतन या चिंतन–पद्धति में किसी प्रकार की कोई बाध्यता स्वीकार नहीं करते। वे तमाम तरह की प्रतिबद्धताओं के विरोधी हैं और स्वतंत्रता के प्रबल पक्षधर। यही वजह है कि वे अंधश्रद्धाओं, धारणाओं तथा कल्पनाओं आदि से मुक्त हो जाने की सलाह देते हैं। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुये डॉ. रामचंद्र प्रसाद लिखते हैं– "आचार्य रजनीश के प्रवचनों का लक्ष्य श्रोताओं को उधोड़ना होता है। वे चाहते हैं कि हम अपनी अंधश्रद्धाओं, धारणाओं और कल्पनाओं में छिपे न रहें। इनसे घिर कर हम अपने को सुरक्षित समझने लगते हें, पर यह "सुरक्षा नहीं, आत्म–प्रवंचना है।" "स्वप्न नहीं, केवल सत्य ही एकमात्र सुरक्षा है।" इससे सुरक्षित होने के लिए आवश्यक है कि हम विचारों, स्वप्नों और कल्पनाचित्रों की मूर्च्छा से जागे–1"[10] स्वयं ओशो ने भी अपनी प्रारम्भिक पुस्तक "क्रांतिबीज"[11] में कई स्थलों पर इस तरह के विचार प्रस्तुत किये हैं।

फिर वे किसी प्रकार के दार्शनिक निकाय में भी विश्वास नहीं करते। इसलिये उन्होंने ऐसे किसी निकाय को स्थापित और विकसित करने का प्रयास नहीं किया। यहाँ एक शंका उठ सकती है कि जब उनका भी एक संप्रदाय है और उसमें दीक्षित शिष्य–शिष्याओं की विशाल संख्या है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उन्होंने किसी निकाय की स्थापना नहीं की? इसके समाधान में यह स्पष्ट हो लेना चाहिए कि दार्शनिक निकाय और धार्मिक संप्रदाय दोनों एक नहीं हैं। दोनों में पर्याप्त अन्तर होता है। दार्शनिक निकाय विचार–सरणी और चिंतन–परम्परा को विकसित–प्रचारित करने के लिए बनाया गया संगठन या समूह होता है, जैसे– पूरब में नव्य–न्यायवाद तथा पश्चिम में भाषा–विश्लेषणवाद आदि हैं। ये क्रमशः न्याय दर्शन और भाषा–विश्लेषण सम्बन्धी विचार को आगे बढ़ाने वाले दार्शनिक निकाय हैं, जबकि हिन्दू, इस्लाम, ईसाईयत आदि धार्मिक संप्रदाय हैं, जिसके मानने वाले अपने–अपने धर्म की मान्यताओं में विश्वास करते हैं और उनके कर्मकांडों का

पालन करते हैं। इस प्रकार दोनों के उद्देश्य, विधान और नियामक तत्व अलग–अलग होते हैं। इसलिये ओशो–संप्रदाय भी हिन्दू, इस्लाम तथा ईसाईयत जैसा धार्मिक संप्रदाय हो सकता है, परन्तु वह नव्य–न्यायवाद तथा भाषा–विश्लेषणवाद जैसा कोई दार्शनिक निकाय नहीं है। अतः ओशो का दार्शनिक चिंतन भी निसर्गतः प्रकीर्ण ही है।

लेकिन उनके इस प्रकीर्ण चिंतन में स्वातंत्र्योत्तर युग की दार्शनिक प्रवृत्तियाँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। संगमलाल पाण्डेय[12] ने साम्यवाद, भाषा–विश्लेषणवाद तथा मूल्यवाद आदि को स्वातंष्योत्तर युग की प्रमुख प्रवृत्तियाँ माना है। ओशो के दार्शनिक चिंतन में यह सभी स्पष्ट और समीक्षात्मक रूप में मौजूद हैं। सबसे पहले साम्यवाद को ही लिया जाये। इस प्रवृत्ति को स्वीकारने वालों में सर्वप्रथम आचार्य नरेन्द्र देव तथा राहुल सांकृत्यायन का नाम लिया जाता है। परन्तु चूँकि ये लोग बौद्ध विद्वान थे इसलिये इनके साम्यवाद पर बौद्ध दर्शन का भी प्रभाव है। बौद्ध दर्शन के प्रभाव से मुक्त साम्यवादियों में एम.एन. राय का नाम आता है, लेकिन वे भी प्रारंभ में ही मार्क्सवादी थे, आगे चलकर उन्होंने जिस मानवतावाद का विकास किया वह साम्यवाद का विरोधी हो गया। मगर डी.डी. कौशाम्बी और एम.ए. डांगे ने जरूर सारे भारतीय इतिहास की व्याख्या मार्क्सवादी सिद्धान्त के आधार पर करने की कोशिश की, जिसे बाद में डी.पी. चट्टोपाध्याय ने और आगे बढ़ाते हुये सम्पूर्ण भारतीय दर्शन का मूल आधार भौतिकवाद को बताया। परन्तु इन तमाम प्रयासों के बावजूद साम्यवाद समूचे भारतीय दर्शन के स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं हो सका, उसका एक पक्ष भर ही रहा।

ओशो भी साम्यवाद को एक पक्ष के रूप में स्वीकारते हैं और किसी के द्वारा पूछे गये इस प्रश्न के कि– "क्या आप प्रच्छन्न साम्यवादी हैं?"– उत्तर में कहते हैं– "प्रच्छन्न होने की कोई जरूरत नहीं है, स्पष्ट ही साम्यवादी हूँ। किसने कहा कि प्रच्छन्न साम्यवादी हूँ। मेरी दृष्टि में जो भी आदमी धार्मिक है, वह साम्यवादी हुये बिना नहीं रह सकता। सिर्फ अधार्मिक आदमी साम्यवादी हुये बिना रह सकता है। जिस व्यक्ति को भी यह ख्याल है कि सबके भीतर एक ही परमात्मा का वास है, वह यह मानने को राजी नहीं हो सकता कि समाज में अर्थ की इतनी असमानतायें हों, इतनी गरीबी, इतनी अमीरी, इतने फासले हों। वह यह भी मानने को राजी नहीं हो सकता कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को विकास का समान अवसर न मिल सके।

साम्यवाद का एक ही अर्थ है कि हम प्रत्येक को बराबर मूल्य देना चाहते हैं और उसके जीवन की जो छिपी संभावनायें हैं, उनके विकास का बराबर अवसर देना चाहते हैं। बुद्ध या महावीर या क्राइस्ट और लाओत्से, उन्होंने कभी "साम्यवाद" शब्द सुना भी नहीं होगा, लेकिन मेरी दृष्टि में वे सभी कम्युनिस्ट थे। दुनिया का कोई भी अच्छा आदमी कभी भी कम्युनिस्ट न रहा हो– ऐसा कहना मुश्किल है। उन सबके मन में एक ही कामना है कि सारी मनुष्यता समान तल पर कैसे पहुँच सके। उन्होंने आत्मा के तल पर समानता की

घोषणा की है कि एक–एक व्यक्ति के भीतर बराबर समान स्तर की, समान मूल्य की आत्मा, समान मूल्य का परमात्मा है। लेकिन वह घोषणा व्यर्थ चली गई। क्योंकि जब तक आर्थिक परिस्थितियाँ समान न हों, आत्मा की समानता को तय करना बहुत मुश्किल है। और जब तक बाहर की समानता की सुविधा न हो, भीतर की समानता सिर्फ शब्द रह जाती है।"[13]

मगर साम्यवाद की इस स्वीकृति के बावजूद ओशो अभी के समाजवाद से सहमत नहीं हैं, क्योंकि यह पूंजीवाद के विरोध में लाया हुआ है, जबकि उनके अनुसार– "समाजवाद पूंजीवाद से उल्टी व्यवस्था नहीं है। समाजवाद पूंजीवाद का चरम विकास है। पूंजीवाद जब पूरी तरह विकसित होता है तो समाजवाद में रूपान्तरित हो जाता है। जब पूंजी इतनी अतिरेक हो जाती है कि उसे व्यक्ति के पास रखने का कोई अर्थ नहीं होता तभी वह समाज में ओव्हरलो करती है। तभी वह समाज में बंट सकती है। लेकिन जब तक पूंजी बहुत कम है, तब तक समाजवाद स्वीसाइडल, आत्मघाती है। अपने हाथ से मर जाने का उपाय है।"[14] इसीलिये वे इस समाजवाद से सावधान रहने की हिदायत देते हैं।

प्रसंगवश यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि साम्यवाद में आर्थिक समानता ही अपने आप में लक्ष्य है और उसके बाद किसी आत्मिक समानता के लिये कोई सूत्र नहीं है, जबकि ओशो आत्मिक समानता को ही अंतिम साध्य मानते हैं और आर्थिक समानता को मात्र उसका साधन। इसलिये उनके साम्यवादी विचार को "साम्यवादी भौतिकवाद" न कहकर "साम्यवादी अध्यात्मवाद" कहना ज्यादा श्रेयस्कर होगा। इस शब्द की प्रासंगिकता इस अर्थ में भी है कि जहाँ मार्क्स का साम्यवाद "मूल तत्व" को भौतिक मानता है वहाँ ओशो का साम्यवाद आध्यात्मिक।

इसी प्रकार भाषा–विश्लेषण को भी ओशो अपने दार्शनिक चिंतन में जगह देते हैं, परन्तु उसी रूप में नहीं, जिस रूप में वह वर्तमान में प्रचलित है। अभी के भाषा–विश्लेषणवाद के अनुसार दर्शन का एकमात्र कार्य भाषा का विश्लेषण करना है। इसलिये विश्लेषण की कसौटी पर जिस वाक्य का परीक्षण नहीं किया जा सके उसे सार्थक नहीं कहा जा सकता। अब चूँकि इस कसौटी पर तत्वमीमांसीय वाक्यों का परीक्षण नहीं किया जा सकता, इसलिये वे निरर्थक हैं। यद्यपि पाश्चात्य और प्राच्य दोनों जगह के दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त को त्रुटिपूर्ण मानते हुये इसकी आलोचना की है, तथापि दयाकृष्ण, यशदेव शल्य, धीरेन्द्र मोहन दत्त, के.जे. शाह तथा कालीदास भट्टाचार्य आदि भारतीय विद्वानों का इसका प्रवक्ता होने के कारण स्वातंत्र्योत्तर दर्शन में इसका प्रभाव बना हुआ है। ओशो भी इसकी जरूरत स्वीकारते हैं, परन्तु आंशिक रूप में ही, सम्पूर्ण रूप में इसे दर्शन का पर्यायवाची नहीं मानते। इस संबंध में उनका कहना है– "... जब तक लैंग्वेज की ठीक से एनालिसिस न हो, तब तक लैंग्वेज की एनालिसिस न होने के कारण बहुत सी भूलें होती रहती हैं, जिनमें व्यर्थ का विवाद होता रहता है। लेकिन फिलॉसफी का कुल काम लैंग्वेज की एनालिसिस

है, इससे मैं राजी नहीं हूँ। फिलॉसफी का एक काम यह भी है। लेकिन फिलॉसफी और लैंग्वेज एनालिसिस पर्यायवाची है, बराबर है, ऐसा मैं नहीं मानता। फिलॉसफी का काम और बड़ा है। लेकिन उसमें एक काम यह भी जरूरी है कि हम भाषा को ठीक से समझने की कोशिश करें, क्योंकि बहुत–सी गड़बड़ी सिर्फ भाषा की वजह से है।

सर विट्गिन्स्टीन का एक वाक्य मुझे पसंद है। उसने एक वाक्य कहा है, "जो न कहा जा सके, उसे नहीं कहना चाहिये।" जैसा कि पुराने सारे दर्शन कहते हैं ब्रह्म है, लेकिन उसके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता। तो वह विटगिन्सटीन कहता है कि कृपा करके इतना भी मत कहो कि "ब्रह्म है।" कम से कम इतना तो तुम कहते ही हो, और इतना भी कहते हो कि उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। मगर तुमने काफी कह दिया। इतना भी मत कहो। इससे उपद्रव पैदा होता है। लेकिन विटगिन्सटीन यह जरूर मानता है कि कुछ है, जो नहीं कहा जा सकता। उससे इंकार नहीं। उसे कहो मत, लेकिन उससे इंकार नहीं, वह है।"[15]

इसी तरह मूल्यवाद भी ओशो के चिंतन में देखा जा सकता है। संगमलाल पाण्डेय मूल्यवाद को स्वातंत्र्योत्तर युग की सबसे प्रबल दार्शनिक धारा मानते हुये कहते हैं– "जैसे पश्चिम में तार्किक प्रत्ययवाद का विकास मूल्यात्मक प्रत्ययवाद में हुआ, वैसे भारतीय प्रत्ययवाद का भी विकास परमार्थवाद या परम मूल्यवाद में हुआ है। परम मूल्यवाद ने एक ओर भावाद्वैत, आत्माद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, भेदाभेद आदि के संघर्षों को शांत कर दिया है, क्योंकि वे सभी एक परमार्थ में विश्वास करते हैं और दूसरी ओर इसने परमार्थ में प्रकारता भेद मानकर यथार्थवाद, प्रत्ययवाद, भौतिकवाद– अध्यात्मवाद आदि के विवाद को भी समाप्त कर दिया है।"[16] फिर वे सत्यम, शिवम्, सुन्दरम् के अतिरिक्त मानवतावाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि कई प्रकार के मूल्यों की चर्चा करते हैं। ओशो की सम्पूर्ण दार्शनिक कृतियों में ये सारे मूल्य किसी–न–किसी रूप में उपस्थित दिखाई देते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर युग की इन सभी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त ओशो दर्शन की एक और प्रमुख विशेषता है– दार्शनिक सिद्धान्तों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या। यद्यपि निकट अतीत तक मनोविज्ञान दर्शन के अन्तर्गत ही था, परन्तु फ्रायड के बाद उसका विकास स्वतन्त्र ढंग से हुआ और आज वह दर्शन से सर्वथा पृथक् रूप में स्थापित हो चुका है। इसलिये आज का युग जितना वैज्ञानिक है उतना ही मनोवैज्ञानिक भी। पदार्थ विवेचन से प्रारंभ होकर लम्बे काल में विज्ञान आज भौतिक उपलब्धियों के जिस शीर्ष युग पर पहुँचा है, मनोविज्ञान ने अपेक्षाकृत बहुत कम समय में मानव मन की गुत्थियों को दूर और गहरे तक समझने में सफलता प्राप्त की है। इसीलिये आज जीवन के उलझनों को सुलझाने के लिये मनोविज्ञान और उसकी पद्धतियों का प्रयोग काफी हद तक किया जाने लगा है। ओशो भी युग के अनुकूल अपने दार्शनिक चिंतन में इस मनोवैज्ञानिक पद्धति का उपयोग बड़ी कुशलता से करते हैं। इसीलिये उनकी व्याख्यायें तर्क सम्मत होने के साथ–साथ मनोवैज्ञानिक भी होती

हैं। वे अपने प्रवचनों में अपने विचारों को तर्क से पुष्ट करते हुये मानव–मन की गांठों को खोलते भी चलते हैं। परन्तु, मूलतः वे दार्शनिक हैं, इसलिये उनकी स्थापनाओं की परिणति अंततः दर्शन में होती है। वे केवल उसकी व्याख्या और उसके प्रस्तुतीकरण में मनोविज्ञान का सहारा लेते हैं। ओशो के इस कार्य को स्वातंत्र्योत्तर भारतीय युग के दार्शनिक चिंतन में एक विशिष्ट योगदान माना जायेगा।

परन्तु अफसोस है कि इन प्रवृत्तियों और योगदानों के बावजूद ओशो को दर्शन की दुनिया में अभी तक अपेक्षित स्थान नहीं मिल पाया है। संभवतः ऐसा उनके इर्द–गिर्द फैले विवादों के कारण हुआ हो। वे जब तक जीवित रहे, विवादों में घिरे रहे। निश्चित ही विवाद के अपने कारण होंगे। परन्तु विवादास्पद होने का अर्थ मूल्यांकन के योग्य नहीं होना नहीं है। अब वे जीवित नहीं हैं। इसलिए उनके आस–पास उठने वाले विवादों पर विराम लग गया है। अब जरूरी है कि उन विवादों के धुंध को परे हटा कर उनके चिंतन का निष्पक्ष अध्ययन किया जाये तथा उनके विचारों को सूत्रबद्ध कर उसका मूल्यांकन करते हुये उन्हें दर्शन जगत् में प्रतिष्ठित किया जाये। वे स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के अप्रतिम हस्ताक्षर हैं।

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ:

1. *कुमार प्रशान्त, "मौन हुये रजनीश", "धर्मयुग", वर्ष 41, 11 फरवरी 1990, अंक–6, पृष्ठ 11–12.*
2. *देखें डॉ. न कि. देवराज द्वारा संपादित "भारतीय दर्शन" में संकलित श्री प्रमोद कुमार "कोयल" का लेख "आधुनिक भारतीय दर्शन", पृष्ठ 641, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रयाग), राजर्षि पुरूषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ, तृतीय संस्करण 1983.*
3. *भगवान श्री रजनीश द्वारा धीरेन्द्र अस्थाना को दिये गये एक साक्षात्कार से उद्धृत "तीसरा विश्व युद्ध अमेरिका और बाकी संसार के बीच लड़ा जायेगा", "दिनमान", अंक–49, 8–14 दिसम्बर 1985, पृष्ठ 17.*
4. *वही, पृष्ठ 13.*
5. *श्री संगमलाल पाण्डेय, "समकालीन भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियाँ", "समकालीन भारतीय दर्शन" संपादक– डॉ. (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना, पृष्ठ 4, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1983.*
6. *निशान्त केतु, "रजनीश का भाषानुशासन और भाषिक–शिल्प", "प्रिय आत्मन्" धारावाहिक–3, पृष्ठ 12, गंगा पुस्तकालय, अशोक राजपथ, पटना–4.*
7. *'दिनकर की डायरी से–, प्रस्तुति– मा शीला भारती, "प्रिय आत्मन्", धारावाहिक–3, पृष्ठ 14.*
8. *वही, पृष्ठ 28.*
9. *वही, पृष्ठ 24.*
10. *डॉ. रामचन्द्र प्रसाद, "आचार्य रजनीशः समन्वय, विश्लेषण और संसिद्धि", पृष्ठ 205, मोतीलाल*

बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली–7, चौक, वाराणसी–1 (उ.प्र.), अशोक राजपथ, पटना–4 (बिहार), द्वितीय संशोधित संस्करण 1973.

11. *भगवान् श्री रजनीश, "क्रांति बीज", पुष्पी कार्यालय, इलाहाबाद।*
12. *वही, पृष्ठ 19.*
13. *भगवान श्री रजनीश, "ओम्, क्रान्तिः क्रान्तिः क्रान्तिः", "प्रिय आत्मन् (गुरू पूर्णिमा अंक), जुलाई 1987, पृष्ठ 16.*
14. *भगवान् श्री रजनीश, "भारत के जलते प्रश्न", पृष्ठ 34, रजनीश फाउन्डेशन लिमिटेड, 17 कोरे गांव पार्क, पूना, 1979.*
15. *भगवान श्री रजनीश, "देख कबीरा रोया", पृष्ठ 535–36, रजनीश फाउन्डेशन लिमिटेड, 17 कोरेगांव पार्क पूना, 1979.*
16. *वही, पृष्ठ 22.*

आचार्य श्रीराम शर्मा का समाज दर्शन

मुकेशचन्द्र डिमरी

एक पौराणिक कथा के अनुसार जगदीश्वर अर्थात् जगत्पिता ने एक ज्योति प्रज्वलित की जिसके फलस्वरूप ज्योतिर्मय एक प्राणी की उत्पत्ति हुई। एक जगत् की रचना के लिये, जो स्वर्ग और नरक के मध्य अवस्थित होगा, एक प्राणी का जन्म हुआ। सृष्टि विकास की प्रक्रिया में पुरूष और प्रकृति के साहचर्य से दो से चार और चार से चार सौ का क्रम क्रियान्वित हुआ जिसके परिणाम स्वरूप देवताओं से विलग मानव का एक सामूहिक स्वरूप क्रमशः विकसित होता गया और उसे ही 'मानव समाज' की संज्ञा से अभिहित किया गया। बड़ी सम्भावनाओं से संबद्ध इस समाज के संयोजक मानव ने अपने प्रकाण्ड मस्तिष्क की सहायता से शनैः शनैः गहन चिन्तन, मनन एवं तार्किक रीति से कार्य–कारण संबंधों की खोज प्रारम्भ कर दी। मानव ने इस प्रक्रिया में प्रकृति को तो अध्ययन का विषय बनाया ही लेकिन वह स्व–अध्ययन भी करनें लगा। प्रकृति के आश्चर्यजनक अनुभवों से स्वयं को अनुरंजित करता हुआ, प्राणियों में श्रेष्ठ, मानव को सामाजिक जीवन की विविधताओं का अध्ययन करना अत्यधिक रोचक एवं समृद्धि से परिपूर्ण लगा। इस तथ्य में भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि एक ही वस्तु या घटना या विषय के संबंध में समस्त विद्वानों का दृष्टिकोण एक समान नहीं होता है। एक ही समस्या के प्रति किसी विचारक का दृष्टिकोण आर्थिक होगा, तो किसी का आध्यात्मिक और किसी विचारक के लिये धार्मिक तत्त्व ज्यादा महत्त्वपूर्ण होंगे तो कोई विद्वान् उसी समस्या को दार्शनिक दृष्टिकोण से सुलझाने की कोशिश करेगा; क्योंकि बौद्धिक भिन्नता मेधावी मानव की एक सामान्य सी विशेषता है।

समाज एवं संस्कृति के विकास में कभी भी कोई भी स्थिति ऐसी नहीं रही जब कि मानव अपने जीवन से संबंधित सभी समस्याओं से मुक्त हो। ऐसा भी कदापि नहीं हुआ है कि वह उन समस्याओं के संबंध में सोचने–विचारने से दूर भागता रहा हो या उन समस्याओं की अनदेखा करता रहा हो। मानवीय अनुभूति ने समस्याओं को सुलझाने की आवश्यकता को सदा ही प्राथमिकता दी है। इक्कीसवीं शताब्दी में समाज से संबंधित समस्त महत्त्वपूर्ण पक्षों के व्यवस्थित रूप को हम आचार्य पंडित श्रीराम शर्मा के समाज दर्शन में देख सकते हैं।

आचार्य पंडित श्रीराम शर्मा का (जन्म 20 सितम्बर 1911) उत्तरप्रदेश के आगरा जनपद के छोटे से गाँव ऑवलखेड़ा में हुआ था। उनके पिता श्री पंडित रूपकिशोर शर्मा ख्यातिप्राप्त विद्वान् एवं भागवत् कथाकार थे उनकी माता दानकुंवरी का जीवन एक आदर्श भारतीय नारी के रूप में सदैव प्रतिष्ठित रहा। माता–पिता के स्नेह–संरक्षण में आचार्य जी का बचपन बीता जो विलक्षणताओं से परिपूर्ण था। बाल्यकाल से ही हिमालय के हिम शिखरों से अत्यधिक प्रेम तथा साधना के प्रति आचार्य जी का विशेष रूझान रहा। किशोरावस्था तक पहुँचते–पहुँचते उनके मन–मस्तिष्क में समाज–सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ जाग्रत होकर मूर्त्त रूप धारण करने लगी थीं। आठ वर्ष की छोटी सी आयु में आपने पंडित मदनमोहन मालवीय जी से गायत्री मन्त्र की दीक्षा प्राप्त की। नियमित उपासना के फलस्वरूप बसन्त पँचमी सन् 1926, के दिन उपासना ज्योति के प्रकाश में गायत्री शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव कराने वाली गुरु सत्ता के रूप में अदृश्य रूपधारी हिमालय के महान् योगी दादागुरु, सर्वेश्वरानन्द जी, के साक्षात् दर्शन हुये। तत्पश्चात् महायोगी के मार्गदर्शन में आचार्य शर्मा का सम्पूर्ण जीवन लोकमंगल में समर्पित रहा। कठोर तपसाधनाओं से परिपूर्ण जीवन में उनकी वामांगी वन्दनीय माता जी का भी सदैव अनन्य सहयोग बना रहा। इससे यह तभी स्पष्ट हो जाता है कि सिद्ध पुरूषों की अनुकम्पा मात्र लोक–हित, जन–हित हेतु सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के लिये ही होती है। 'एकला चलो' गुरु रविन्द्रनाथ के मूल मन्त्र से भिन्न व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण, समाज निर्माण एवं वैचारिक, नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक क्रान्ति को आधार बना कर जनमानस का उन्होंने भावनात्मक परिष्कार किया। नवनिर्माण के लिये पूर्ण समर्पित, नैमित्तिक रूप से समयदान एवं अंशदान करने वाले लाखों की संख्या में कर्मनिष्ठों का एक पारिवारिक संगठन का निर्माण किया। ये संगठन वर्तमान काल में करोड़ों की संख्या में भारतवर्ष में ही नहीं, विदेशों में भी प्रचारात्मक, रचनात्मक एवं सुधारात्मक क्रियाकलापों तथा कार्यक्रमों के माध्यम से मानवीय गरिमा को उजागर करने वाली गतिविधियों में निरन्तर संलग्न है। 'युग निर्माण योजना' के अन्तर्गत इन सम्पूर्ण गतिविधियों का प्रमुख उद्देश्य "मानव में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग का अवतरण" धर्म तन्त्र के माध्यम से लोकशिक्षण के कार्य द्वारा सम्पन्न करने हेतु सतत् प्रयत्नशील है।

आचार्य जी ने जीवनपर्यन्त दूसरों को कोई उपदेश देने से पूर्व स्वयं के जीवन में उसे चरितार्थ किया। साथ ही यह अपेक्षा भी की कि जीवन को ईश्वर प्रदत्त सर्वोपरि उपहार समझें और जीवन का लक्ष्य स्रष्टा के विश्व–उद्यान को अधिकाधिक समुन्नत, सुसंस्कृत बनाना मानें। इस प्रयास में आत्म कल्याण और विश्वकल्याण के दोनों उद्देश्य परिपूर्ण होते हैं।[1] आचार्य श्रीराम जी का स्व प्रज्ञा परिजनों के प्रति कथन है कि वे ज्ञानयोगी की भांति सोचें, कर्मयोगी की भांति पुरूषार्थ करें, भक्तियोगी की भांति सहृदयता विकसित करें' एवं पतन–पराभव के निराकरण में नियोजित रहें।[2]

वर्तमानकाल में सामाजिक परिवेश विभिन्न प्रकार की कठिनाई एवं समस्याओं

से,चिन्ता तथा आशंकाओं से, विपन्नताओं और विषमताओं से आक्रान्त है। मानवीय स्वभाव के फलस्वरूप उसका दोष यों तो साधन सामग्री के अभाव पर थोप दिया जाता है या फिर परिस्थितियों जनित माना जाता है। समस्त प्रकार की समस्याओं के निराकरण एवं सुधार हेतु इच्छुकों का भी यही प्रयत्न रहता है कि परिस्थिति परिवर्तन हेतु साधनों को विपुल मात्रा में उपलब्ध कराया जाए अथवा जुटाया जाए।

प्राचीनकाल की अपेक्षा मानव–जाति वर्तमान काल में सर्वाधिक अनिश्चयात्मक जगत् में जी रही है, जहाँ चहुँ ओर के वातावरण में विषाद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। परम्परायें, संयम, कानून एवं व्यवस्था आश्चर्यजनक रूप से शिथिल हो रही हैं। जो विचार कल तक सामाजिक भद्रता एवं न्याय से अविच्छेद्य समझे जाते थे एवं शताब्दियों से लोगों के आचरण का निर्देशन एवं अनुशासन करने में समर्थ रहे, आज निरर्थक हो गये हैं। समस्त संसार गलतफहमियों, कटुताओं और संघर्षों से विदीर्ण हो चुका है।[3]

मानवीय बुद्धि ने जितने अधिक चमत्कार प्रस्तुत किये हैं, नित–नवीन सृजनात्मकता ने जिस प्रकार से सभ्यता को नवीन आयाम दिये हैं ठीक इसी अनुपात में सदैव मानवीय बौद्धिक विकृतियाँ मानव सभ्यता के सम्मुख भयावह संकट पैदा करती रही हैं। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का भी विचार है कि वर्तमान सभ्यता ऐसी ही संकठ की स्थिति से गुजर रही है। संसार अपने जीर्ण वस्त्र उतार कर फेंक रहा है। जो प्रमाण, लक्ष्य और संस्थायें पिछली पीढ़ी तक भी साधारणतया स्वीकृत थीं उन्हें अब चुनौती दी जा रही है और नयी शक्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं। इस युग के मानस का द्रष्टा, इसकी, आकुलता–अनिश्चितता वर्तमान आर्थिक एवं सामाजिक दशाओं के प्रति इसके असन्तोष और आद्यावधि असमाप्त नयी व्यवस्था की लालसा के प्रति स्पष्ट रूप से सचेत है। यही सब विचार विभ्रम और आदर्शों के लिये अस्थिर उत्साह यह प्रकट करता है कि मानवता एक नया कदम बढ़ाने वाली है।"[4]

आज व्यक्ति और समाज दोनों ही अपने पतन की ओर अग्रसर हो रहे हैं। आचार्य पंडित श्रीरामशर्मा जी के अनुसार धर्मतन्त्रों के विशाल केन्द्र तो आज भी यथा स्थान अवस्थित हैं। परन्तु यह देख कर अत्यन्त ही निराशा होती है कि उनके अन्तराल में लोकजीवन को उत्कृष्टता से अनुप्राणित करने वाला प्राण कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता है।[5] परन्तु यह चिरन्तन सत्य है कि वर्तमान समय एवं वातावरण की विषमता भी अवश्यमेव परिवर्तित होनी है। सभ्यता के विकास का यह समय भी अपनी विकास श्रृंखला का अनिवार्य चरण है। इस चरण को कदापि अन्तिम नहीं कहा जा सकता है, यह अतीत एवं भविष्य की एक अनिवार्य कड़ी है। परिवर्तनशीलता ही प्रकृति का शाश्वत नियम है।

एक आध्यात्मिक विचारक के रूप में आचार्य पंडित श्रीराम शर्मा ने समाज के विकास में आध्यात्मिकता के तत्त्व को स्वीकार किया है। आचार्य जी के मतानुसार पौराणिक काल में भी विषम परिस्थितियों में अध्यात्म का ही आश्रय लिया गया था और वर्तमान में भी युग विभीषिका को दूर करने हेतु आध्यात्मिक शक्ति के उच्चस्तरीय स्वरूप

की परम आवश्यकता है जिसके द्वारा स्वर्गीय वातावरण विनिर्मित होगा। आचार्य जी के विचार में "युग परिवर्तन में तो दृश्यमान भूमिका तो प्रामाणिक प्रतिभाओं की ही रहेगी पर उसके पीछे अदृश्य सत्ता का असाधारण योगदान रहेगा। कठपुतलियों के दृश्यमान अभिनय के पीछे जिस प्रकार बाजीगर की अंगुलियों के तार भूमिका निभाते हैं। सर्वव्यापी सत्ता निराकार है पर घटनाक्रम तो दृश्यमान शरीरों द्वारा ही बन पड़ते हैं। देवदूतों में ऐसा ही उभयपक्षीय समन्वय होता है। शरीर तो मनुष्यों के ही काम करते हैं पर उन श्रेयाधिकारियों का पथप्रदर्शन अनुदानों का अभिवर्षण उसी महान् सत्ता द्वारा होता है, उपनिषद् जिसे 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कह कर उस का परिचय देने का प्रयास करता है।"[6] आचार्य आगे कहते हैं "जिस महान् प्रयोजन में इन दिनों परमेश्वर की महती भूमिका सम्पन्न होने जा रही है उसका श्रेय तो उन जागरूकों, आदर्शवादियों और प्रतिभासम्पन्नों को ही मिलेगा, जिसने अपने व्यक्तित्त्व को परम सत्ता के साथ जुड़ सकने जैसी स्थिति को विनिर्मित कर लिया है।"[7]

आचार्य जी के अनुसार समाज में व्याप्त विसंगतियों विषमताओं एवं विभीषिकाओं का अन्त आध्यात्मिकता के द्वारा ही हो सकता है। इन समस्याओं के समाधान हेतु अनेक उपाय किए गए हैं और किये भी जा रहे हैं। ये उपाय कुछ हद तक समस्याओं के समाधान में सक्षम भी हैं लेकिन ये कदापि स्थायी समाधान नहीं है। समस्त समस्याओं का स्थायी समाधान अध्यात्म के सहारे ही हो सकता है। मानवीय जीवन की सारी समस्यायें पांच वर्गों के अन्तर्गत आ जाती हैं– शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक एवं आत्मिक। आचार्य जी के मत में–यदि हम जीवन में व्याप्त उलझनें सुलझाना चाहते हैं, समस्याओं का हल पाना चाहते हैं तो अध्यात्म की रीति–नीति अपनाने के लिये साहस जुटाना चाहिये। इसी पथ पर चलते हुये मानव जीवन का सच्चा आनन्द और सच्चा लाभ लिया जा सकता है। पुनश्च सुखी जीवन का उपाय एक ही है। समस्त समस्याओं का समाधान एक ही है कि हमारी आस्था बदले, उसमें उत्कृष्टता का अधिकाधिक समावेश हो और उसका प्रतिफल व्यक्तित्त्व में बढ़ते हुये देवत्व के रूप में परिलक्षित हो। देव समाज के लिये स्वर्गीय परिस्थितियाँ सुरक्षित हैं। सन्त इमर्सन कहते थे कि "मुझे नरक में भेज दो, मैं वहीं अपने लिये स्वर्ग बना लूंगा।" उनका यह दावा मिथ्या नहीं था। उत्कृष्टतावादी के लिये सामान्य परिस्थितियों में भी स्वर्गीय सुखशान्ति का सृजन कर सकना नितान्त सरल स्वाभाविक एवं सम्भव है। यदि हम अध्यात्मवादी रीति–नीति अपना सकें तो निश्चित रूप से वैज्ञानिक जीवन में प्रस्तुत अनेकानेक समस्याओं का समाधान पा सकते हैं।"[8]

वर्तमान काल बौद्धिक क्षमताओं के विकास का काल है। लेकिन मानव का आन्तरिक पक्ष अभी भी शून्य है। बौद्धिक बल के द्वारा मानव व्यापार, पांडित्य, विद्वत्ता, शिक्षा एवं उच्च पद को तो प्राप्त कर लेता है परन्तु हृदय की विशालता, व्यापकता इत्यादि के अभाव में मानव की समस्त विद्वत्ता, बड़प्पन, अहं तथा समृद्धि उसे ही काट खाने को दौड़ते हैं। मानव की आंतरिक जीवनी शक्ति के अभाव में ये समस्त सफलतायें निरर्थक,

सुनसान अंधेरे किले एवं भवन के समान प्रतीत होती हैं। स्वयं आचार्य जी के कथनानुसार– "मनुष्य अपने रूप, गुण, समृद्धि, कीर्ति आदि के बोझ को जिस क्षण हृदय से हटा कर मानवता के साथ पंक्ति में बैठ जायेगा, जब अपने हृदय को असीम मानवता के साथ जोड़ लेगा तभी जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान सहज ही हो जायेगा।"[9]

आचार्य पंडित श्रीराम शर्मा का जीवन अत्यन्त ही सादगीपूर्ण रहा। उन्होंने भारतीय समाज के निम्नतर स्तर तक उतर कर और उनके साथ घुल–मिलकर उनकी समस्याओं, भावनाओं और वास्तविकताओं को जानने–पहचानने का प्रयास किया एवं उन्हीं के आधार पर अपने विचारों को प्रस्तुत किया। उनके ये विचार विशुद्ध भारतीय वैदिक परम्परा से ओत–प्रोत विचार थे एवं भारतीय जन–जीवन से संबंधित थे। यही कारण है कि उन्होंने समाज को भौतिकता से परिपूर्ण न मानते हुये आध्यात्मिकता से परिपूर्ण माना। आचार्य जी के अनुसार आध्यात्मिक समाज में मनुष्य में देवत्व का उदय एवं विस्तार सम्भव होगा। यह आध्यात्मिक समाज में वर्तमान जाति से नयी प्रजाति प्रकाश में आयेगी। यह बाह्य रूप से नहीं अपितु आन्तरिक रूप से भिन्न होगी। ऐसा नहीं होगा कि मनुष्य शरीर, बुद्धि व मन से विहीन हो। पिछले युगों में भी ऐसा नहीं हुआ। मन का विकास होने पर शरीर लुप्त नहीं हुआ वरन् उसे मन का अनुगामी बनना पड़ा। बुद्धि के विकास पर मानव शरीर व मन लुप्त नहीं हुये वरन् बुद्धि के सेवक हो गये। अब बारी बुद्धि के सेवक बनने की है। उसे आत्मा का सेवक बनना होगा। मन व शरीर भी इसी का अनुगमन करेंगे। दूसरे शब्दों में, इसे यह भी कह सकते हैं कि समूची मानवी सत्ता आत्मा की अनुगामिनी बनेगी। यह स्थिति किसी अकेले व्यक्ति की नहीं, वरन् पूरे समाज की होगी।[10]

यहाँ पर आचार्य श्रीराम शर्मा जी की विचारधारा में श्री अरविन्द के विचारों की छाप स्पष्ट परिलक्षित हो रही है। श्री अरविन्द ने भी आध्यात्मिक समाज के समान ही दिव्य मानव व दिव्य जीवन की अवधारणा प्रस्तुत की हे। श्री अरविन्द का सन्देश है कि "मानव का विकास हो रहा है और उसका तब तक विकास होता रहेगा जब तक कि व्यष्टि एवं समष्टि रूप से वह पूर्ण नहीं हो जाता। वास्तव में, मनुष्य का विकास जीवन और जगत् के विकास का सब से महान रहस्य है।" श्री अरविन्द के अनुसार– सृष्टि का विकास अभी मानस स्तर तक पहुँच गया है और अब अगली कड़ी अतिमानस की है जिसके अवतरित होने पर धरती पर सभी का दिव्य जीवन होगा। उन्हीं के शब्दों में दिव्य"जीवन की प्राप्ति होने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है। केवल प्रकाश और ज्ञान ही रहता है। दिव्य मानव प्रकाश में रहता है और प्रकाश से प्रकाश की ओर गति करता है।" आचार्य जी के अनुसार भी यही मानव में देवत्त्व का उदय है। विश्व के समस्त महान् पुरूषों ने आध्यात्मिक समाज की स्थापना के लिये दिव्य सत्ता के अवतरण को सुनिश्चित माना है। श्री अरविन्द का भी यही मत है कि विकास प्रक्रिया में मनुष्य का बाह्य स्वरूप नहीं बदलेगा लेकिन उसका दृष्टिकोण बदल जाएगा। मानव का चिन्तन, चरित्र एवं व्यवहार बदल जाएगा और यह तभी संभव है जब मानस में अतिमानस का अवतरण हो जाएगा।

आध्यात्मिक समाज का उदय चमत्कारी शक्तियों के द्वारा अनायास नहीं होगा अपितु इसके पीछे दैवी सत्ता महाकाल की संकल्पशक्ति काम कर रही है। "मानव इतिहास के वर्तमान मोड़ पर दैवी आदेश से आध्यात्मिक जगत् के महानतम ऋषिगण धर्म चक्र प्रवर्तन में संलग्न हैं। इतना वृहत् महान् कार्य इतिहास के सम्मुख कभी उपस्थित नहीं हुआ है।[11] आचार्य जी ने भी कहा है कि आध्यात्मिक समाज की भावी व्यवस्था ऋषि तन्त्र द्वारा संचालित होगी। व्यवस्थाक्रम में इनके तीन स्वर होंगे– विचारक, प्रशासक और लोकशिक्षक। इन्हें ब्रह्मर्षि, राजर्षि और देवर्षि भी कहा जा सकता है।[12]

वसुधैव कुटुम्बकम् एवं विश्वव्यापी मातृत्व के काल्पनिक समझे जाने वाले आदर्श को भावी समय में यथार्थ होने के संकेत अनेकों मनीषियों, विद्वानों एवं विचारकों के कथनों से मुखरित हुआ है। अतः स्पष्ट है कि सृष्टि काल से लेकर वर्तमान समय तक के समस्त परिवर्तनों के पीछे परोक्ष रूप से दैवीय शक्ति कार्य कर रही है। उसी के दिशा निर्देश में दिव्य आत्मायें समय के अनुसार सम्पूर्ण शक्ति एवं सामर्थ्य के साथ प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से धरा पर अवतरित होकर कार्य करती रही हैं। जिनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य मानव मात्र का कल्याण, प्राणिमात्र का कल्याण अर्थात् लोक कल्याण रहा है। इन्होंने ही वैदिक वाणी को भी चरितार्थ किया है– सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। इसी श्रृंखला के अन्तर्गत यदि हम कहें कि पंडित श्रीराम शर्मा जी का दिव्य आत्मा के रूप में धरती पर अवतरण हुआ है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आचार्य जी द्वारा आध्यात्मिक समाज की स्थापना सुव्यवस्थित जीवन के आधार पर निर्मित की गयी। स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन, सभ्य समाज ही आध्यात्मिक समाज का नव निर्माण कर सकता है। इतिहास की सदैव पुनरावृत्ति होती है। भारतीय संस्कृति एवं समाज का मूलाधार "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना या मानव जीवन का आदर्श इस धरा पर पुनः–पुनः साकार होना है। महायोगी श्री अरविन्द ने भी यही माना कि समस्त विश्व एकता अब उद्घाटित होने को तत्पर है। आचार्य जी ने माना कि विश्व एकता का कार्य आध्यात्मिक प्रक्रिया के माध्यम से ही पूर्ण होगा। अध्यात्म और कुछ नहीं केवल मनुष्य के दृष्टिकोण को ऊँचा एवं उदार रखने की एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है।[13] इसी वैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा सम्पूर्ण विश्व में समता एकता की दृष्टि को विकसित होना है। मानवतावादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुये आचार्य श्रीराम शर्मा का कथन है कि "मनुष्य को मानवतावादी होना चाहिये। उसे व्यक्तिवादी आपाधापी से विमुख होकर समूहवादी रीति–नीति अपनानी चाहिये। इसी को शास्त्रीय शब्दों में अध्यात्मवाद और राजनीतिक शब्दों में समाजवाद कह सकते हैं। अच्छा है, इस तत्त्वदर्शन का नामकरण मानवतावाद किया जाए।[14]

आचार्य जी का सदैव मानवतावादी दृष्टिकोण रहा है। समग्र मानवता के कल्याण को सर्वोपरि स्थान देते हुये किसी भी विशेष धर्म सम्प्रदाय को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया है। उनका सम्पूर्ण जीवन एवं चिन्तन में समग्र मानव कल्याण की भावना साकार रूप से परिलक्षित होती है। "हम मानवता के आदर्शों और सिद्धान्तों को अपनाने पर जोर देते हैं।

विभिन्न सम्प्रदायों की मान्यताओं और परम्पराओं से हमारा कोई विरोध नहीं, यदि वे समाज विरोधी न हों।"[15]

समाज की उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने का श्रेय उन्हीं महान् विभूतियों को जाता है जो समाज का वैचारिक दिशा–निर्देश करते हैं। उन्हें हम ऋषि, विचारक, मनीषी, प्रबुद्धजन एवं दार्शनिक किसी भी संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं। ऐसे ही महान विचारक श्रीराम शर्मा का सम्पूर्ण जीवन भी यज्ञमय रहा। उनके जीवन का पर्याय "इंद न मम" बनना है। यज्ञमय जीवन का यह तत्त्वज्ञान आचार्य के जीवन में धीरे–धीरे नित नवीन आयामों में प्रस्फुटित होता गया। आचार्य जी के विचार क्रान्ति अभियान में ऐसे ही विचारवान्, निष्ठावान् व्यक्तियों का आह्वान किया जिन्हें 'प्रज्ञा परिजन' कहा गया। ऐसे ही अनेक प्रज्ञा परिजनों के लिये प्रज्ञा संस्थानों का निर्माण किया गया। इन प्रज्ञा परिजनों को अपने जीवन का उद्देश्य स्पष्ट करते हुये कहा है कि– हम सब मिलकर आज युग–निर्माण के लिये उपयोगी एवं आवश्यक विचारों का प्रयास करें और कल उन आयोजनों, कार्यक्रमों, आन्दोलनों एवं अभियानों की व्यवस्था करें जो आज की अव्यवस्था को उखाड़ दे और उसके स्थान पर स्वर्गीय वातावरण को पृथ्वी पर अवतरित करने के उपकरण उपस्थित कर दें! हमें यही करना है– यही करेंगे भी।[16]

शारीरिक एवं मानसिक समस्या पर आचार्य जी के विचार अत्यन्त सुस्पष्ट एवं सारगर्भित हैं। इनके अनुसार इस समस्या का मूल व्यक्ति की चिन्तन प्रक्रिया है तथा इसका समाधान भी वहीं से होना है। उनके विचार में "पूर्ण सन्तुलित वही व्यक्ति है, जिसमें भावना, विचार तथा कार्य इन तीनों ही तत्त्वों का पूर्ण सामंजस्य हो। ऐसा व्यक्ति मानसिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ माना जाता है।"[17] शारीरिक समस्यायें मानव के आहार–विहार संबंधी असंयम, प्रकृति के निर्देशों का धृष्टतापूर्वक उल्लंघन से उत्पन्न होती हैं। व्यक्ति का विकृत अनुपयुक्त दृष्टिकोण होने पर संसाार की कोई भी वस्तु उसे सुखी नहीं बना सकती है।

आर्थिक समस्या भी मानव जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित करती, असन्तुलित करती है। आचार्य जी का मत है कि आर्थिक विषमताओं से बचने के लिये एक कमाये और सब खायें की परम्परा के स्थान पर लघु गृह उद्योगों की व्यवस्था करके उसमें खाली समय का नियोजन करना चाहये। जितनी आमदनी का साधन है उतना ही खर्च करना चाहिये अर्थात् जितनी चादर है उतने ही पैर पसारने चाहिये। आर्थिक क्षेत्र में श्रम, निष्ठा, मनोयोग पूर्वक कार्य संलग्नता, ईमानदारी, प्रामाणिकता, मितव्ययिता एवं सादगी, यह समस्त गुण आध्यात्म–आदर्शों के अनुरूप हैं। इन्हें अपनाये बिना अर्थ संकट से बचे रहने का, अर्थ–उपार्जन और सन्तुलन का और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इसे अपनाकर अर्थ–संकट से सदैव के लिये छुटकारा पाया जा सकता है।

परिवार एक महत्त्वपूर्ण इकाई ही नहीं अपितु जीवन के लिये सबसे अधिक आवश्यक भी है क्योंकि सर्वप्रथम मानव के सामने अपने जीवन की रक्षा का प्रश्न आता है जो सरलतम रूप में परिवार में ही सम्भव है। दूसरा, मानव की कुछ ऐसी जैवकीय आवश्यकतायें और प्रेरणायें हैं जिनकी सन्तुष्टि केवल परिवार में ही सम्भव हो सकती है।

संयुक्त परिवार भारतीय संस्कृति एवं समाज की एक प्रमुख विशेषता है। परन्तु आज औद्योगीकरण तथा नगरीकरण के फलस्वरूप संयुक्त परिवार का स्थान केन्द्रीय परिवारों ने ले लिया है। भौतिकतावादी प्रवृत्ति के कारण ऐसे परिवारों की संख्या नगण्य है जहाँ परस्पर स्नेह, सद्भाव और सहयोग का वातावरण हो! बाह्य दृष्टिकोण से अच्छे दिखने वाले यह एकल परिवार आन्तरिक दृष्टिकोण से असहयोग, अवज्ञा, उपेक्षा, आपाधापी इत्यादि के कारण अनुशासनहीनता से परिपूर्ण होते हैं। परिवार संस्था जिसे समाज का मेरूदण्ड कहा जाता है, नष्ट–पथभ्रष्ट होती चली जा रही है एवं अनेक समस्याओं को जन्म दे रही है। आचार्य जी का कथन है कि परिवार संस्था जो मानव जीवन की प्रथम पाठशाला है को नवजीवन मिल सके, इसके लिये आध्यात्मिक दृष्टिकोण का गहराई तक समावेश करना होगा। घर को आदर्शवादिता की प्रयोगशाला, पाठशाला, व्यायामशाला के रूप में विकसित करना होगा। आहार–विहार से लेकर दैनिक क्रियाकलाप और पारस्परिक व्यवहार में ऐसे सूत्रों का समन्वय करना पड़ेगा, जिसके सहारे परिवार के सदस्यों में से प्रत्येक को उत्कृष्ट चिन्तन एवं आदर्श कर्त्तव्य अपनाने के लिये अदम्य साहस पैदा हो सके।

आत्मिक समस्या से तात्पर्य है आत्मिक विकास के मार्ग में आने वाली वे समस्त समस्यायें जिनके कारण व्यक्ति आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान पाता है। आत्मिक विकास के द्वारा ही व्यक्ति मानव से महामानव बनता है। आचार्य पंडित श्रीरामशर्मा जी के अनुसार "आत्मचिन्तन, आत्म–सुधार, आत्म–निर्माण और विकास की चार दीवारों पर आत्मिक प्रगति का भवन खड़ा होता है।"[18] आत्मिक विकास के उद्देश्य की पूर्ति के लिये ज्ञान, कर्म एवं भक्ति की प्रक्रिया को साधन रूप में अपनाया जाता है। स्वामी विवेकानन्द का कथन है कि "मनुष्य जैसे–जैसे उन्नति करता है, विवेक और प्रेम उसके जीवन के आदर्श बनते जाते हैं। उसकी इन प्रवृत्तियों का जैसे–जैसे विकास होता है वैसे–वैसे उसके इन्द्रिय विषयों में आनन्द अनुभव की शक्ति क्षीण होती जाती है।"[19] श्री अरविन्द के मत में "वास्तव में मनुष्य का विकास जीवन और जगत् के विकास का सबसे महान् रहस्य है।[20] लेकिन आज का समय बाह्य आडम्बरों, निहित स्वार्थों तथा सकाम आकांक्षाओं की पूर्ति का है। व्यक्ति धर्म से युक्त प्रत्येक क्रिया–कलापों का पालन केवल अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति हेतु करता है आत्मिक विकास के लिये नहीं, मानवीय गुणों की उन्नति के लिये नहीं करता है। आचार्य जी के शब्दों में आत्म साधना का एक ही उद्देश्य है– आत्मशोधन। "महामानवों का सहयोग, देवताओं का वरदान, ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये आध्यात्मिकता को व्यावहारिक जीवन में उतारने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। मनुष्य जीवन की पांचवी सफलता है आत्मिक प्रगति के अवरोध का निवारण। इसी उलझन के कारण मनुष्य को पशु–जीवन जीना पड़ता है और नारकीय यातनायें सहनी पड़ती हैं। इसका समाधान भी आध्यात्मिक आदर्शों को अपना लेने के अतिरिक्त और किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता है।"[21]

निष्कर्ष रूप में, आचार्य जी के विचारानुसार यदि व्यक्ति समस्त समस्याओं का समाधान करना चाहता है तो उसे अध्यात्मवादी रीति व नीति को अपनाना चाहिये। परिणाम

स्वरूप आधुनिक जीवन की समस्याओं का समाधान सहज रूप से हो जायेगा और स्वर्ग सी सुख–शान्ति का वातावरण सामान्य परिस्थितियों में भी अनुभव किया जा सकेगा। उपरोक्त पांच आयामों से मानव स्वजीवन को सुव्यवस्थित, विकसित तथा ऊर्ध्वमुखी बना सकता है! आचार्य जी ने माना है कि इस सुव्यवस्था को सतत् प्रवाहशील रखने का कार्य आध्यात्मिक समाज की श्रेष्ठ परम्परायें निभायेंगी जिसमें मूढ़ताओं, कुरीतियों एवं दुराग्रहों के लिये कोई स्थान नहीं रहेगा। यह समाज–व्यवस्था समाज को ऐसी प्रयोगशाला का स्वरूप प्रदान करेगी, जहाँ रहकर सामाजिक जीवन को अपना कर वैयक्तिक चेतना अपने विकास के उत्कर्ष को पा सके। ये विकसित व्यक्तित्व ही भावी युग में विभिन्न क्षेत्रों में नेतृत्व करेंगे।

अतः आचार्य श्रीराम शर्मा का समाज दर्शन समाज में निहित मान्यताओं एवं सिद्धान्तों की विवेकसम्मत् रचनात्मक आलोचना को केवल प्रस्तुत ही नहीं करता है अपितु उसका आध्यात्मिक समाधान एवं क्रियान्वयन का मार्ग भी प्रस्तुत करता है। आचार्य जी के समाज दर्शन का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन के वास्तविक मूल्यों को प्रभावपूर्ण बनाना है एवं सांस्कृतिक–सामाजिक सन्दर्भ में उनकी विवेचना करना है। उनका दर्शन यह स्मरण कराना है कि मानवीय जीवन की सार्थकता प्रमुख रूप से सामाजिक मूल्यों को एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने में निहित है। समाज के वास्तविक स्वरूप तथा मानवीय व्यवहारों की व्याख्या प्रस्तुत करते हुये सामाजिक आदर्शों तथा नैतिक व्यवहारों की महत्ता को सर्वोपरि माना है। वास्तव में सामाजिक आदर्शों तथा नैतिक व्यवहारों का हमारे वास्तविक व्यवहारों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। आधुनिक मान्यता है कि सामाजिक दशायें ही यह तय करती हैं कि समाज के आदर्शों तथा नैतिकता का स्वरूप क्या हो। परन्तु आचार्य जी का मत ऐसा नहीं, बल्कि यह है कि आध्यात्मिकता से अनुप्राणित स्परूप एवं मूल्य बोध सामाजिक परिस्थितियों का अपेक्षु नहीं वरण् मूलगामी रूप से उनका उन्नायक होता है।

***

संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

1. *ब्रह्मवर्चस् प्रज्ञा अभियान का दर्शन, स्वरूप और कार्यक्रम, पृ. 34*
2. *उपरोक्त वही, पृ. सं. 35*
3 *डॉ. उर्मिला चतुर्वेदी, भारतीय चिन्तन की दिशायें, पृष्ठ, 11.*
4. *डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्– कल्कि या सभ्यता का भविष्य, पृ. 5.*
5. *ब्रह्मवर्चस् शोध–संस्थान, प्रज्ञा अभियान का दर्शन, स्वरूप एवं कार्यक्रम, पृ. 4*
6. *पं. श्रीरामशर्मा आचार्य– सतयुग की वापसी, पृ. 12.*
7. *उपरोक्त वही, पृ. 12–13*
8. *आचार्य श्रीराम शर्मा– भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व वाङ्मय खण्ड 34, पृ. 244*
9. *आचार्य श्रीराम शर्मा – समाज की अभिनव रचना पृ. 31*

10. आचार्य श्रीराम शर्मा– अखण्ड ज्योति, अक्टूबर 1989 पृ0 25.
11. श्री रामनन्दन, नवयुग सन्देश, पृ. सं. 1
12. डॉ. मंदाकिनी श्रीमाली, प्रज्ञा पुरुष का समग्र दर्शन, पृ. सं.8–27
13. शिवप्रसाद सिंह, उत्तर योगी श्री अरविन्द, पृ. सं. 279
14. आचार्य श्रीराम शर्मा–अखण्ड ज्योति, जून 1958, पृ. 35
15. आचार्य श्रीराम शर्मा– अखण्ड ज्योति, जून 1958, पृ. 40
16. आचार्य श्रीराम शर्मा– अखण्ड ज्योति, जनवरी 1962, पृ. 15
17. वही
18. आचार्य श्रीराम शर्मा, समस्त समस्याओं का समाधान– अध्यात्म, पृ. सं. 39.
19. स्वामी विवेकानन्द, विवेकानन्द साहित्य, नवम् खण्ड, पृ. सं. 13
20. आचार्य श्रीराम शर्मा, अखण्ड ज्योति, मई 1958, पृ. सं. 9
21. आचार्य श्रीराम शर्मा, समस्त समस्याओं का समाधान, अध्याय पृ. 42

राधाकमल मुकर्जी का मूल्य-विन्यास

विभा मुकेश

स्वातंत्र्योत्तर युग के भारतीय विचारकों, विशेषकर समाज वैज्ञानिकों, में डॉ. राधाकमल मुकर्जी का स्थान अग्रिम पंक्ति के समाज वैज्ञानिक परिष्कर्त्ताओं में रखा जा सकता है। डॉ. मुकर्जी शास्त्रीय अर्थ में दार्शनिक थे या नहीं, इस विवाद में न पड़ते हुये हम यह कह सकते हैं कि उन्होंने मानव जीवन, सामाजिक व्यवहार, नैतिकता, आर्थिक व्यवस्था, समाज मनोविज्ञान, मानवीय विकास, मूल्य सिद्धान्त, व्यक्तित्त्व का दर्शन और ईश्वर इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों पर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके विचारों पर जिन चिन्तकों का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा है उनमें सर्वश्री ब्रजेन्द्र नाथ सील, विनय कुमार सरकार, नरेन्द्रनाथ सेनगुप्ता, पैट्रिक गीडिंग्स, राबर्ट पार्क, बर्गेस, आगबर्न, रॉस इत्यादि प्रमुख हैं। इसप्रकार भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों की विचारभित्ति पर आधारित उनके विचारों में भारतीय तथा पाश्चात्य विचारधारा का समन्वय स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है। उनके विचारों का यही समन्वयात्मक दृष्टिकोण 'मूल्यों के समाजशास्त्र' में फलित हुआ है।

डॉ. राधाकमल मुकर्जी (1889–1968) का जन्म पश्चिम बंगाल के बरहमपुर जिले में हुआ था। उनके पिता श्री गोपालचन्द्र मुकर्जी एक प्रख्यात वकील थे। डॉ. मुकर्जी का पालन–पोषण बौद्धिक तथा आर्थिक रूप से धनी परिवार में हुआ था। बड़े भाई पूर्व तथा पश्चिम के साहित्य में विशेष रूचि रखते थे। पारिवारिक बौद्धिक वातावरण में डॉ. मुकर्जी को भारतीय दर्शन के संबंध में अपने ज्ञान को बढ़ाने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ था। कॉलेज स्तर पर उनकी शिक्षा कलकत्ता के प्रेसिडेन्सी कॉलेज में हुई थी जहाँ उन्होंने अरस्तू और प्लेटो से लेकर कॉम्ट, हरबर्ट स्पेन्सर, लेस्टर वार्ड, बैगेहॉट, हॉबहाऊस, गिडिंग्स आदि विद्वानों की कृतियों का गहन अध्ययन किया था। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में मिल, मार्शल, कार्नर आदि की कृतियों से डॉ. मुकर्जी अत्यधिक प्रभावित हुये। सन् 1910 में डॉ. मुकर्जी अपने ही गृहनगर के कृष्णनाथ कॉलेज में अर्थशास्त्र के प्राध्यापक नियुक्त हुए। 1916 में पंजाब के सनातन धर्म कॉलेज में उनकी नियुक्ति प्रिंसिपल के पद पर हुई। सन् 1921 में लखनऊ विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर वहाँ के अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष का कार्यभार सम्भाला। सन् 1955–58 की अवधि पर्यन्त लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति रहे तथा तीन वर्ष की अवधि पूर्ण होने पर जे.के. इन्स्टीट्यूट

ऑफ सोसियोलॉजी एण्ड ह्यूमेन रिलेशन्स के निदेशक बने और इसी पद पर अगस्त 1968 में उनका देहान्त हुआ।

डॉ. मुकर्जी के प्रकाण्ड पाण्डित्य की झलक उनके देश–विदेशों में प्रकाशित बहुसंख्यक लेखों व शोध–रचनाओं के अतिरिक्त 53 आधारभूत पुस्तकों की रचना में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। परिस्थिति शास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, संस्कृति, सभ्यता, मानव उद्‌विकास, कला, धर्म, आचार, रहस्यवाद, मूल्य, मानवता इत्यादि अनेक विषयों पर डॉ. मुकर्जी की बौद्धिक पकड़ कितनी जबरदस्त थी यह उनकी विभिन्न शोधकृतियों एवं लेखों से स्पष्ट परिलक्षित होता है। जीवन के अन्तिम वर्षों में अत्यधिक रूझान अध्यात्म की ओर होने के फलस्वरूप उन्होंने 'भगवद्‌गीता' की अपनी एक व्याख्या प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया। यह व्याख्या डॉ. मुकर्जी की मृत्यु के पश्चात् 'The Song of the self supreme' (1971) शीर्षक से प्रकाशित हुई। डॉ. मुकर्जी की कुछ उल्लेखनीय कृतियाँ हैं– The Foundation of Indian Economics, Mind in Society, Democracies of the East, The Theory and Art of Mysticism, The Dynamics of Morals, The Social Structure of Values, The Dimensions of Values, The Philosophy of Man, The Philosophy of Personality, The song of the self Supreme, The Social Ecology.

व्यक्ति एवं समाज के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या, मूल्यों का वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में स्थान तथा महत्त्व, व्यक्ति के समाज के प्रति कर्त्तव्य, व्यक्ति के मूल अधिकार, सामाजिक जीवन व्यतीत करते हुये व्यक्ति की नैतिक उन्नति, वैयक्तिक उन्नति एवं समाज के कल्याण का प्रश्न, इत्यादि ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिन पर प्राचीन एवं आधुनिक समाजवेत्ताओं एवं नीतिविदों ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। समाजवेत्ता एवं नीतिविद् भी ऐसे सामान्य मनुष्यों के ऐच्छिक कर्मों के विषय में विवेचना करते हुये अनेक सिद्धान्तों एवं मानदण्डों को प्रस्तुत करते हैं जो किसी न किसी रूप में स्वयं भी 'सामाजिक जीवन' व्यतीत कर रहे होते हैं। यही समाजदर्शन एवं नीतिदर्शन का व्यावहारिक पक्ष है।

व्यक्ति का अस्तित्त्व समाज पर निर्भर है। समाज में जीवन व्यतीत करते हुये वह अपना विकास करता है। व्यक्ति के सक्रिय तथा सार्थक जीवन का आधार समाज ही है, क्योंकि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त व्यक्ति अपनी समस्त इच्छाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अन्ततोगत्वा समाज पर ही निर्भर रहता है। इसीलिये अरस्तू ने मानव को 'सामाजिक प्राणी' कहा है। अरस्तू के शब्दों में "जो मनुष्य समाज में नहीं रहता, वह वास्तव में मनुष्य न होकर या तो पशु है या देवता।"[1] भारतीय दृष्टि में जब धर्म को मनुष्य का व्यावर्त्तक लक्षण माना जाता है तो उसका भी तात्पर्य अरस्तू से और गहरा है। व्यक्ति के अस्तित्व एवं विकास के लिये समाज को अनिवार्य मानने वाले पाश्चात्य विचारकों में स्टीफेन, अलैग्जेण्डर, स्पैन्सर, हीगेल, ग्रीन, ब्रैडले आदि प्रमुख हैं। इस तथ्य की सत्यता व्यक्ति के विचारों, आदर्शों एवं मूल्यों से स्पष्टतः प्रमाणित होती है कि व्यक्ति अपने जीवन में जिन, विश्वासों, नैतिक आदर्शों एवं मूल्यों के अनुरूप आचरण करता है या अपने कर्मों

को सम्पादित करता है वे उसे अन्ततः समाज से ही प्राप्त होते हैं। यदि मानव अकेले ही अपने जीवन को व्यतीत करता तो उसके कर्मों का न कोई औचित्य अथवा मूल्य विधान होता और न अन्य व्यक्तियों के जीवन में उसका कोई प्रभाव पड़ता। तब शुभ एवं अशुभ जैसे प्रत्ययों का भी कोई 'मूल्य' ही नहीं होता। अतः व्यक्ति का सामाजिक जीवन ही नैतिकता की आवश्यकता एवं सार्थकता को एक सबल आधार प्रदान करता है। अतएव मूल्य का सिद्धान्त मनुष्य के समाजिक एवं नैतिक दोनों ही पक्षों से संबंधित है।

साधारणतया 'मूल्य' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। परन्तु पारिभाषिक अर्थ में जब हम किसी भी शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ सुनिश्चित, असन्दिग्ध एवं सुस्पष्ट होना चाहिये अन्यथा हमारे कथन में अस्पष्टता आ जाएगी। व्यापक अर्थ में मूल्य का संबंध "जो होना चाहिये" से सम्बन्धित धारणाओं से है। ये धारणायें व्यक्ति के विशिष्ट व्यवहार को प्रभावित करती हैं। उदाहरणार्थ "सदैव सत्य बोलना चाहिए" यह एक मूल्य है। मूल्य व्यक्ति के व्यक्तित्त्व और समाज की व्यवस्था के साथ अत्यधिक गहराई से जुड़े होते हैं। मूल्य वैयक्तिक उद्देश्यों, व्यक्तित्व, समाज एवं सांस्कृतिक गतिशीलता के नियामक रूप में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं तथा समाज के रूप में, मानव समूह के रूप में, समूह की आवश्यकताओं को भी नियमित करने का कार्य करते हैं। मूल्य वे लक्ष्य या आदर्श हैं जिनको आधार बनाकर स्थितियों एवं सामाजिक परिस्थितियों का मूल्यांकन किया जाता है। ये मूल्य व्यक्ति के जीवन में कुछ अर्थ रखते हैं एवं इन्हें हम अपने वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण मानते हैं। मूल्यों के द्वारा भावनायें, विचार, क्रिया, गुण, वस्तु, व्यक्ति, समूह, लक्ष्य अथवा साधन जैसे समस्त तत्त्वों का परिमार्जन एवं मूल्यांकन किया जा सकता है। मूल्यों का आधार उद्वेगात्मक (Emotional) होता है अर्थात् मूल्य मानव के उद्वेगों को अपील करता है तथा उन्हीं के बल पर जीवित रहता है। इसी प्रकार, मूल्यों में एक 'बोधात्मक तत्त्व (cognitive element) भी होता है, इस अर्थ में कि एक व्यक्ति को 'क्या उचित है' की धारणा उसके 'क्या है' या 'क्या सम्भव है' की धारणा पर निर्भर करती है। इससे स्पष्ट होता है कि मूल्य तथा आदर्श का नियमों (Norms) से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और कभी–कभी इनमें अन्तर स्पष्ट करना मुश्किल हो जाता है। व्यक्ति, समाज एवं मूल्य के पृष्ठभूमि में, उपरोक्त सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में, ही हम डॉ. राधाकमल मुकर्जी के विचारों को विवेचित कर सकते हैं। मूल्य को परिभाषित करते हुये डॉ. मुकर्जी का कथन है कि "मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इच्छाएँ एवं लक्ष्य हैं जिनका अन्तरीकरण सीखने या समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है और जो व्यक्तिनिष्ठ अधिमान, तथा अभिलाषायें बन जाती हैं।"[2] दृष्टव्य है कि अन्य विचारकों द्वारा मूल्य को उचित रूप में परिभाषित नहीं किया गया है। उदाहरण के लिए मूल्यों को केवल अधिमानों के रूप में मनोविज्ञान में परिभाषित किया जाता है जबकि अन्य सामाजिक विज्ञानों में मूल्यों को क्रियाशील अवश्यकरणीय (Functioning Imperative) या कर्त्तव्यों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। लेकिन ये सब मूल्यों की वास्तविक प्रकृति को उदघाटित नहीं करते हैं। समाज में अव्यवस्था, असुरक्षा एवं अशान्ति का राज्य न फैले, इस स्थिति

को टालने के लिये ही समाज द्वारा मान्यता प्राप्त कुछ मानदण्ड, लक्ष्य एवं इच्छाओं को बढ़ावा दिया जाता है और उनमें से वही समाज में प्रचलित रहते हैं जिन्हें कि मानव सीखने के दौरान अपने व्यक्तित्त्व में सम्मिलित कर लेता है। अतः डॉ. मुकर्जी का विचार है कि व्यक्ति को मूल्य अपने जीवन से, अपने पर्यावरण से, अपने आप से, समाज और संस्कृति से ही नहीं अपितु मानव अस्तित्त्व एवं अनुभव से भी प्राप्त होते हैं।[3]

सामान्य रूप से मूल्यों को "क्या ठीक और महत्त्वपूर्ण है" की आधारभूत मान्यताओं के रूप में देखा और समझा जाता है। मूल्य जीवन के उद्देश्यों और उन्हें प्राप्त करने के साधनों को परिभाषित करने का कार्य करते हैं। व्यक्ति की जितनी भी उद्देश्यपूर्ण गतिविधियाँ होती हैं, वे समस्त गतिविधियाँ मूल्यों से जुड़ी होती हैं। मूल्य वैयक्तिक,सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को परखने की कसौटी हैं। इसी के चलते हमारे व्यक्तित्त्व, समाज एवं सांस्कृतिक पद्धतियों के समन्वय में मूल्यों की प्रमुख भूमिका होती है। मूल्य व्यक्ति के जीवन में, समाज में उठने वाले संघर्षों या द्वन्दों को सुलझाने में, हल करने या कम करने में सहायक होते हैं। डॉ. राधाकमल मुकर्जी का कहना है कि "मनुष्य मूल्यों का निर्माता भी है और यापक तथा वाहक भी। यही विशेषता मनुष्य के व्यक्तित्त्व और सामाजिक संबंधों को विशेष रूप से समूहों और संस्थानों के ढाँचे को प्रभावित करती है जिनसे मूल्यों की अभिव्यक्ति होती है और जो हमारे मूल्यों को साकार करते हैं। मनुष्य मूल्यों का स्रोत ही नहीं वरन् उन मूल्यों का निर्णायक भी है जो समूहों और संस्थानों के कार्य को सही ढंग से चलाने के लिये सभी अंतर्वैयक्तिक लक्ष्यों, संबंधों और व्यवहारों में बिखरे पड़े हैं।"

कुछ मूल्य नितान्त व्यक्तिगत होते हैं। परन्तु व्यक्ति उन मूल्यों को भी जिन्हें वैयक्तिक समझा जाता है, उसी समाज से लेता है जिसमें वह रहता है। मूल्यों का अपना एक अनुक्रम होता है। प्रतिस्पर्धा की स्थिति आने पर कम महत्त्वपूर्ण मूल्य को अधिक महत्त्वपूर्ण मूल्य के सम्मुख झुकना पड़ता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति मूल्यों के अनुक्रम से उस संघर्ष को समाप्त करने या कम करने का प्रयास करता है। यदि वह इस प्रयास में असफल रहता है तो उसके व्यक्तित्व को गम्भीर क्षति पहुँच सकती है। उसके कर्म एवं कर्त्तव्यों में तारतम्य अस्त–व्यस्त हो सकते हैं। हमारी संस्कृति एवं जीवन पद्धति के विभिन्न मूल्यों के मध्य अनिवार्य तालमेल होता है और उनका अनुक्रम अन्ततः आम राय से जुड़ी हुई होती है। डॉ. राधाकमल मुकर्जी के शब्दों में "विभिन्न स्तरों या विभिन्न आयामों वाले, आर्थिक, नैतिक या धार्मिक जीवन–मूल्य एक दूसरे से गुँथे हुये हैं। सभी समूह और संस्थान, चाहे वे आर्थिक या राजनीतिक हों, धार्मिक या शैक्षणिक हों, आपस में एक दूसरे को प्रभावित करते हैं या एक दूसरे से टकराते हैं।" व्यक्ति समूहों और संस्थाओं के सदस्यों के रूप में, जाने या अनजाने में विभिन्न लक्ष्यों और मूल्यों का अनुसरण करते हुए अपने कार्य या व्यवहार में सन्तुलन या तारतम्यता बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। अतः मूल्य किसी भी संस्कृति के केन्द्र बिन्दु और उसकी धारक प्रकृति हैं। यह भी सत्य है कि लोगों

को प्रायः बहुत से मूल्यों का पता नहीं होता क्योंकि वे उनके व्यक्तित्व का एक अंग बन चुके होते हैं।

प्रोफेसर स्पैंगर (Spranger) ने छः आधारभूत मूल्यों का वर्णन किया है।[4] यथा सैद्धान्तिक या बौद्धिक (Theoretical or Intellectual) (2) आर्थिक या व्यावहारिक (Economic or Practical) (3) सौन्दर्यबोधी (Asthetial) (4) सामाजिक या परार्थवादी (Social or attrulistic) (5) राजनीतिक या सत्तासम्बन्धी (Political or Power Seeking) तथा (6) धार्मिक या रहस्यात्मक (Religious or Mystical)। डॉ. राधाकमल मुकर्जी के अनुसार यह अधिक उचित होगा यदि हम मूल्यों को दो मुख्य वर्गों में अर्थात् साध्य मूल्य (Intrinsic value) एवं साधन मूल्य (Instrumental value) के रूप में विभाजित करें। डॉ. मुकर्जी का मूल्यों का यह विभाजन प्रोफेसर सी.एल. लीविस (C.L. Lewis) द्वारा उल्लेखित साध्य या अन्तर्निष्ठ (Intrinsic or Inherent) एवं बाह्य या साधनभूत (Extrinsic or Instrumental) मूल्यों की धारणा पर आधारित है।[5]

डॉ. मुकर्जी का मत है कि साधन मूल्य (Instrinsic values) वे लक्ष्य तथा सन्तोष (Goals and satisfactions) हैं जिन्हें मनुष्य तथा समाज जीवन तथा मस्तिष्क के विकास में व विस्तार की प्रक्रिया में अपने लिये स्वीकार कर लेते हैं, जो व्यक्ति के आचरण में अन्तर्निष्ठ होते हैं और जो स्वयं में साध्य होते हैं। उदाहरण के लिये 'सत्य', 'शिव' एवं 'सुन्दर' से संबंधित मूल्य व्यक्ति के आन्तरिक जीवन से संबंधित मूल्य हैं और स्वतः ही पूर्ण भी हैं। जबकि साधन मूल्य (Instrumental values) वे मूल्य हैं जिन्हें मनुष्य और समाज प्रथम प्रकार के मूल्यों की सेवा हेतु एवं उन्हें उन्नत करने के साधन के रूप में मानते हैं। स्वास्थ्य, सम्पत्ति, सुरक्षा, सत्ता, पेशा, प्रस्थिति (status) आदि से संबंधित मूल्य 'साधन मूल्य' हैं क्योंकि इनका उपयोग कतिपय लक्ष्यों एवं सन्तोषों की प्राप्ति के साधन के रूप में किया जाता है।

डॉ. मुकर्जी के मत में साध्य मूल्यों को अमूर्त्त (Abstract) या लोकातीत (Transcendental) मूल्य एवं साधन मूल्यों को विशिष्ट (Specific) या अस्तित्त्वात्मक (Existential) मूल्य कह कर भी पुकारा जा सकता है। उनके अनुसार साध्य, अमूर्त्त अथवा लोकातीत मूल्यों का संबंध समाज एवं व्यक्ति के जीवन के उच्चतम आदर्शों तथा लक्ष्यों से होता है, जबकि साधन विशिष्ट अथवा अस्तित्त्वात्मक मूल्यों को लौकिक लक्ष्यों की पूर्ति के साधन या उपकरण के रूप में प्रयोग किया जाता है। तथापि इन साधन मूल्यों के उचित चुनाव एवं बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग के अभाव में साध्य या लोकातीत मूल्यों की परिपूर्णता सम्भव नहीं है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि सामान्यतया व्यक्ति का संबंध साध्य मूल्यों की अपेक्षा साधन मूल्यों से अधिक होता है।

डॉ. मुकर्जी ने लिखा है कि समस्त मूल्यों का स्तर एक समान नहीं होता है बल्कि उनमें एक संस्तरण देखने को मिलता है। ये संस्तरण मूल्यों के आयामों से संबंधित होते हैं। मूल्यों के आयाम तीन प्रकार के हैं– जैविक (Biological) सामाजिक (Social) तथा आध्यात्मिक (Spiritual)। जैविक मूल्यों का सम्बन्ध स्वास्थ्य, जीवन–निर्वाह, कुशलता

(Efficiency) एवं सुरक्षा से है। सामाजिक मूल्य सम्पत्ति, प्रस्थिति, प्रेम तथा न्याय से संबंधित होते हैं आध्यात्मिक मूल्य सत्य, सुन्दता, सुसंगति एवं पवित्रता विषयक होते हैं। मूल्यों में आध्यात्मिक मूल्य का स्तर सबसे ऊँचा होता है क्योंकि इसकी विशेषता आत्म–लोकातीत्व (Self-transcendence) है। यही कारण है कि साध्य मूल्य अन्तर्निष्ठ मूल्य या लोकातीत मूल्य (Intrinsic, Inherent or Transcendent values) का प्रतिनिधित्व करते हैं। तत्पश्चात् सामाजिक मूल्यों का स्थान आता है। सामाजिक मूल्यों का उद्देश्य सामाजिक संगठन व सुव्यवस्था को बनाये रखना होता है। यही कारण है कि इन्हें साधन मूल्य, बाह्यमूल्य या क्रियात्मक मूल्य (Instrumental, Extrinsic or Operational values) की संज्ञा दी जाती है। जैविक मूल्यों का स्थान अन्त में आता है। ये जीवन को बनाये रखने तथा आगे बढ़ाने के लिये होते हैं एवं इसीलिये इन्हें भी साधन, बाह्य या क्रियात्मक मूल्य की संज्ञा दी जाती है।[6] मूल्यों का प्रथम स्फुरण जैविक धरातल पर ही होता है और उसकी आरोहण परिणति आध्यात्मिक मूल्य में होती है।

मानव जीवन का आरंभ और संचालन अस्तित्त्व एवं निरन्तरता के जैविक आधार पर निर्भर होती है। इसलिये मूल्यों के संस्तरण में जैविक मूल्यों का उल्लेख सबसे पहले किया गया है। चूँकि जैविक जीवन समाज के अभाव में सम्भव नहीं है, इसलिये जैविक मूल्यों के पश्चात् सामाजिक मूल्यों को स्थान दिया गया है। लेकिन जैविक तथा सामाजिक जीवन की सार्थकता 'सत्यं शिवं एवं सुन्दरम' की प्राप्ति में ही निहित है इसलिये आध्यात्मिक मूल्यों को सबसे अन्त में रखा गया है अर्थात् मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य के रूप में माना गया है। इस दृष्टिकोण से आध्यात्मिक मूल्य सर्वोच्च कोटि का मूल्य हैं, सामाजिक एवं जैविक मूल्यों का स्थान क्रमशः उसके बाद ही आता है।

मूल्यों के संस्तरण में प्राथमिकता तथा आरोहण (Ascent) के संबंध में डॉ. मुकर्जी का निष्कर्ष इस प्रकार है [7] –

(i) साध्य मूल्य साधन मूल्यों से श्रेष्ठ होते हैं। चूँकि साध्य मूल्य सम्पूर्ण मानव जीवन के अनुभव को सुव्यवस्थित एवं सार्थक बनाते हैं इसलिये सर्वश्रेष्ठ हैं।

(ii) मूल्यों के प्रकार्य को दृष्टि में रखकर कहा जा सकता है कि आत्म–यथार्थीकरण (Self-actualization) एवं आत्म लोकातीकरण (Self transcendence) का कार्य केवल जीवन को बनाये रखने तथा उसे आगे बढ़ाने के कार्य से निश्चय ही उच्च कोटि का है। मूल्यों का संस्तरण इस बात पर आधारित है कि मूल्यों में कितनी समग्रता, खुलापन एवं मानव स्वातंत्र्य के तत्त्व हैं।

(iii) मानवीय अनुभव में साध्य मूल्य एवं साधन मूल्य परस्पर एक दूसरे में समाते या व्याप्त होते रहते हैं। इनमें अन्योन्य क्रिया के द्वारा निरन्तरता बनी रहती है।

(iv) मूल्यों के आरोहण में विशेषता यह है कि वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मूल्यों, अनुभवों और सिद्धान्तों की एक द्वन्द्वात्मक अभिसरण (Dialectical movement) सर्वत्र होती है।

(v) मूल्यों के संस्तरण में अनुभव यह सिद्ध करता है कि जैविक आयाम (Biological

dimension) से ऊपरवाले मूल्यों में से कुछ को तो प्राप्त किया जा सकता है लेकिन कुछ के पास तक पहुँचना सम्भव नहीं होता है। तब भी व्यक्ति उच्चतर मूल्यों के साथ एकात्मकता को बनाये रखते हुये जीवन के उच्चतर लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ता रहता है।

(vi) अनन्त, शाश्वत तथा सार्वभौम मूल्य अपनी अनिवार्यता को उस लोकातीत्व (Transcendence) से प्राप्त करता है जो मूल्यों के संस्तारणात्मक एवं विकासात्मक व्यवस्था को निर्देशित तथा नियन्त्रित करता है। इन मूल्यों को आदर्श नियम (Norms) कहते हैं। सामाजिक संगठन के चार आधारभूत रूपों (Types) के संदर्भ में भी डॉ. मुकर्जी ने मूल्यों का एक श्रेणीबद्ध विन्यास[8] (Gradation of values) किया है, यथा भीड़ (Crowd), स्वार्थसमिति (Interest association) समाज (Society) तथा सामूहिकता (Community)। इसमें भीड़ सबसे निम्नतम तथा सामूहिकता सामाजिक संगठन का श्रेष्ठतम स्वरूप है जो कि सचेत अनुशासन, उच्चस्तरीय बुद्धि तथा विवेक का परिणाम होता है। इसके अन्तर्गत सार्वभौम सद्भाव और अपने कर्मों के प्रति आन्तरिक निष्ठा तथा स्वार्थभाव पर परार्थभाव की विजय देखने को मिलती है। सामूहिकता के आधारभूत मूल्य स्वतः प्रेम, सामाजिक उत्तरदायित्व, सहयोग और समानता हैं।

मूल्यों के नियम के संबंध में डॉ. मुकर्जी का कहना है[9] कि समाज के अनुमोदन के माध्यम से समस्त मानवीय अभिप्रेरणायें (Human motivations) मूल्यों में रूपान्तरित हो जाती हैं। समाज द्वारा समस्त प्रेरणाओं (urges) को ढाला जाता है तथा उनकी अभिव्यक्ति के साधनों को भी निश्चित किया जाता है। आधारभूत मूल्यों की परितृप्ति हो जाने पर पसन्द परिहार में बदल जाती है. तब समाज एवं संस्कृति मानव के लिये नवीन इच्छाओं, लक्ष्यों एवं साधनों को प्रस्तुत करते हैं। परिणामस्वरूप नये मूल्यों की उत्पत्ति होती है। यही मूल्यों के चक्र का नियम है। मूल्यों में परस्पर संयोजन–वियोजन होने के फलस्वरूप व्यक्ति के व्यवहार में कभी सन्तुलित रूप में तो कभी असन्तुलित रूप में मूल्यों का सम्मिलन दिखायी देता है।

मूल्यों में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा के कारण साध्य मूल्यों को साधन मूल्यों से उच्च स्तर प्रदान किया जाता है। समाज और संस्कृति मानव को मूल्यों के आधारभूत प्रतिमान प्रदान करती है। व्यक्ति का विवेक एवं निर्णय तथा समाज का अनुभव मूल्यों के अधिमानों (Preferences) का निर्माण करते हैं। मूल्यों का एक नियम यह भी है कि इनमें वैयक्तिकता (Individuality), विभिन्नता एवं अनोखापन देखने को मिलता है। व्यक्ति के आदर्श मूल्यों (Ideal values) यथा बौद्धिक, कलात्मक एवं धार्मिक–की जड़ उसकी अन्तर्दृष्टि (Intuqtion) व परानुभूति (Empathy) में तथा सामाजिक सहयोग एवं संसर्ग में होती है। मनुष्य के आदर्श मूल्य सत्य सम्बन्धी उसकी अन्तर्दृष्टि, सौन्दर्य विषयक उसकी मान्यताओं तथा धार्मिक बोध से निर्धारित होती हैं। ऐसे ही साधन मूल्य व्यक्ति के आविष्कारों एवं प्रयोगवादी कौशल से निर्धारित होते हैं। इस प्रकार मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन मूल्यों से आविष्ठित हो जाता है।

डॉ. मुकर्जी ने मूल्य एवं नकारात्मक मूल्यों (Negative Values) जिसे गैर मूल्य (Disvalues) की संज्ञा दी गयी है, के सम्बन्ध में मौलिक विचार प्रस्तुत करते हुए कहा हैं कि सामाजिक एवं वैयक्तिक व्यवहार के सभी आयामों (Dimensions) में मूल्यों के साथ गैरमूल्य भी सदैव विद्यमान होते हैं। उदाहरण के लिये व्यक्ति कुछ लोकप्रिय गैरमूल्यों द्वारा प्रभावित होकर सर्वमान्य मूल्यों का उल्लंघन करता है या उन्हें अस्वीकार करता है अथवा उनके विरूद्ध आचरण भी कर सकता है। जैसे 'सत्य की सदा विजय होती हैं। यह एक उत्तम मूल्य की अभिव्यक्ति है। लेकिन प्रेम और राजनीति में कुछ भी अनुचित नहीं होता है। निर्बल के बल राम एक आदर्श मूल्य का उदाहरण है। इसके विपरीत भी जिसकी लाठी उसकी भैंस' एक गैरमूल्य की अभिव्यक्ति है। 'स्पष्ट है कि गैरमूल्य उन संस्थाओं या व्यक्तियों के आचरणों के माध्यम से ही अभिव्यक्ति होते हैं जो कानून एवं सामाजिक संहिताओं (Social codes of Conduct) की अवमानना करते हैं। यह भी एक विशेष प्रकार की मूल्यों की सामाजिक गतिशीलता है।

डॉ. मुकर्जी का मानना है कि गैरमूल्यों की उत्पत्ति के तीन कारण हैं। प्रथमतः आधारभूत जैविक आवश्यकताओं (Biological necessities) को नकारने अथवा उनसे वंचित करने तथा उसके द्वारा स्वाभाविक मानव परिपक्वन (Maturation) व विकास को रोकने के फलस्वरूप गैरमूल्य पनपने लगते हैं। द्वितीयतः गैरमूल्य उस स्थिति में भी पनपते हैं जब व्यक्ति अत्यधिक मानसिक तनावों व संघर्षों का शिकार बन जाता है। जब भोजन, प्रेम, प्रतिष्ठा, प्रस्थिति एवं सुरक्षा विषयक आवश्यकताओं की पूर्ति में अत्यधिक बाधा उत्पन्न होती है तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति विकृत मूल्यों के एक ऐसे समूह को अपना लेता है जो आवेगों तथा इच्छाओं की सन्तुष्टि एवं पूर्ति के पथभ्रष्ट तरीके होते हैं। 'तृतीयतः, मानव का मस्तिष्क इतना लचीला एवं जटिल होता है कि संघर्षात्मक स्थितियों में अपने तनाव व दुःख से मुक्ति पाने की आशा में वह खान–पान व नशा करने के मामले में अतिचार एवं अति–परितुष्टि में लग जाता है जो अन्ततः उसके शरीर एवं स्वास्थ्य के विनाश का कारण होता है। उपरोक्त सभी समान रूप से मूल्यों के जटिल विकृतिकरण (Distortion) या गैरमूल्यन हैं। डॉ. मुकर्जी का मत है कि गैर मूल्यों को पनपने से रोका जाए और पनपे हुये गैरमूल्यों का सुधार किया जाए अन्यथा सामाजिक एवं वैयक्तिक दोनों ही प्रकार के विघटन की स्थिति के पनपने का खतरा आसन्न रहता है।

डॉ. राधाकमल मुकर्जी ने अपने मूल्य सिद्धान्त में समाज तथा व्यक्ति को मूल्यों का एक संगठन व संकलन माना है।[11] सामाजिक क्रिया में मूल्यों के अत्यधिक महत्त्व को सिद्ध करने का प्रयास करते हुये उन्होंने कहा है कि "समाज में मूल्य सामूहिक अनुभव होते हैं जिनका निर्माण वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों ही प्रकार के प्रत्युत्तरों तथा मनोवृत्तियों (Responses and Attitudes) द्वारा होता है।

व्यक्ति के जीवन में मूल्यों के महत्त्व के संबंध में डॉ. मुकर्जी का विचार है कि मूल्य, मनुष्य के सामाजिक जीवन के अनुरूप स्थिर तथा सुसंगत तरीके से उसके आधारभूत आवेगों और इच्छाओं का संगठन एवं सन्तुष्टि करके मानव के उद्विकास एवं चुनाव में

महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानव की स्वकेन्द्रित, तात्कालिक तथा अस्थिर आवश्यकताओं को एक स्थायी मानसिक समूहों या मूल्यों में रूपान्तरित किया जाता है इसके बिना मनुष्य का जीवन, हॉब्स के शब्दों में, "घिनावना, पशुवत् एवं संक्षिप्त बन गया होता।"[12]

मूल्य व्यक्ति की सामाजिक विरासत का एक अंग भी होता है। अतः मूल्यों की व्यवस्था (System of Values) मानव अस्तित्त्व के विभिन्न स्तरों या आयामों (Dimensions) में व्यक्ति के अनुकूलन की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण प्रोत्साहन प्रदान करने के साथ-साथ मार्गदर्शन भी करते हैं।[13] डॉ. मुकर्जी के अनुसार मूल्य व्यवस्था व्यक्तित्त्व की संरचना को परिभाषित तथा नियन्त्रित करती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने आचरणों द्वारा मूल्यों की गुणात्मक परिशुद्धि एवं परिमार्जन करता है। व्यक्ति एवं मूल्यों के इस पारस्परिक सम्बन्ध के कारण ही मूल्यों में परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं परिमार्जन होता रहता है। व्यक्ति एवं मूल्य का ऐसा समीकरण अन्ततः उचित प्रतीत नहीं होता। डॉ. मुकर्जी इससे मूल्यों की गतिशीलता की व्यक्ति केन्द्रित व्याख्या तो कर लेते हैं परन्तु इससे मूल्यों की स्वायत्तता स्थापित नहीं होती, वस्तुतः यह मूल्यों के समाज वैज्ञानिक व्याख्या का ही अन्तर्विरोध है।

डॉ. मुकर्जी ने व्यक्ति, समाज तथा मूल्य में पाये जाने वाले पारस्परिक सम्बन्ध और प्रभाव को स्पष्ट करने के लिये दीपक की बत्ती (The wick) तेल (The oil) और ज्योति (The light) के दृष्टान्त को प्रस्तुत करते हैं। उनका मानना है कि यदि समाज अपने अस्तित्त्व को बनाये रखना चाहता है तो उसके लिये यह अनिवार्य है कि वह व्यक्तित्त्व के परम या सर्वोच्च मूल्यों (Supreme Values) की नियमित रूप से पूर्ति करता रहे। मनुष्य की सर्वोत्तम खोज, सुन्दरता, अच्छाई एवं प्रेम के उच्चतम आध्यात्मिक मूल्य (High Spiritual values of beauty, goodness and love) हैं। इसी सुन्दरता, अच्छाई एवं प्रेम के आधार पर सामाजिक संबंधों और संस्थाओं की सृष्टि और पुनः सृष्टि (Creation and Recreation) होती है। सम्पूर्ण मानव समाज एवं मानव कल्याण के लिये इन मूल्यों का संरक्षण अनिवार्य है।[14]

निष्कर्ष रूप में डॉ. राधाकमल मुकर्जी द्वारा वर्णित मूल्यों के प्रकार को भाषायी भेद के द्वारा समस्त विचारकों ने स्वीकार किया है। इन्हें हम अर्बन के मूल्य सिद्धान्त में देख सकते हैं। अर्बन ने मूल्यों के प्रकार को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। प्रथम जैविक मूल्य में वे शारीरिक, आर्थिक एवं मनोरंजनात्मक मूल्यों को लेते हैं। क्षुधा, कामप्रवृत्ति, संग्रह प्रवृत्ति, शरीरश्रम, खेल आदि जैविक मूल्यों से संबंधित मूल प्रवृत्तियाँ हैं। सामाजिक मूल्य के अन्तर्गत साहचर्यात्मक एवं चरित्रात्मक मूल्यों को लिया गया है जिनका मूल संघर्ष एवं जिज्ञासा की प्रवृत्ति है। आध्यात्मिक मूल्य के अन्तर्गत बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक एवं धार्मिक मूल्य को ले सकते हैं जिनसे संबंधित मूल प्रवृत्ति है– रचना, अनुकरण, क्रीड़ा, श्रद्धा एवं आस्तिकता। डॉ. मुकर्जी ने इन समस्त मूल्यों को साध्य एवं साधन मूल्यों के अन्तर्गत रखा है और मूल्य को व्यक्ति की सामाजिक विरासत का एक अंग माना है। हेनरी स्टुअर्ट ने

भी कहा है कि मानवीय मूल्य का सिद्धान्त ही समस्त नैतिकता का सिद्धान्त है। "नैतिक दृष्टि से समाज उसी अनुपात में विकसित होते हैं जिस अनुपात में उसकी संस्थायें मानवीय मूल्यों के गुण–दोष विवेचन में सहायक होती हैं।[15] डॉ. मुकर्जी के मूल्य संबंधी विचार के सम्बन्ध में प्रोफेसर बोगाड़र्स ने लिखा है कि "वह मूल्यों को मानव संसार में सर्वोच्च मानते हैं एवं वह समाज के एक ऐसे महाविज्ञान की स्थापना करने का आह्वान करते हैं जिसमें सभी समाज विज्ञान, दर्शन तथा धर्म समा जाएंगे।[16]

***

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

1. *अरस्तु, पॉलिटिक्स, 1, पृ. 14*
2. *Values may be defined as socially approved desires and goals that are internalized through the process of conditioning, learning or socialization and that becomes subjective preferences, standards and aspirations", Radhakamal Mukherjee, "A General Theory of Society' in Baljit Singh, Op. Cit. pp.22-23.*
3. *R.K. Mukherjee, The Dimensions of Values, George Allen and Unwin, London, 1964, p.9.*
4. *R.K. Mookerjee, The Social Structure of Values, Second edition, S. Chand & Comp., New Delhi 1965, p. 65.*
5. *Radha Kamal Mookerjee, The Philosophy of Social Sciences, Macmillian & Co., London, 1960, p. 85.*
6. *R.K. Mukerjee. The Dimensions of Values, Op. cit. P. 36*
7. *Radha Kamal Mookerjee, The Dimensions of Values, Op. Cit. P. 37.*
8. *Dr. R.K. Mukerjee, The Social Structure of Values, Op. Cit. PP. 99-108.*
9. *Ibid pp 78-79.*
10. *ogh & is- 79-*
11. *R.K. Mookerjee, "A General Theory of Society" in Baljit Singh edited volume, Op. Cit. P. 22.*
12. *वहीं,, पृ. 34*
13. *वहीं,, पृ. 35*
14. *"Between man and society- the floating wick and the deep oil- there is a never ending give-and-take, producing the the bright, steady flame of value experience that eternally radiates light and warmth on our black, dreary universe." Radhakamal Mookerjee, The Social Structure of Values, Op. Cit.,Preface, P. xii.*
15. *Human Values, P. 44.*
16. *"It makes values supreme in the human universe and it calls for a matter science of society that will include all social science, philosophy and religion", E.S. Bogardus, Op. Cit. . 644.*

परिच्छेद : चार

स्वातंत्र्योत्तर युग में अवाप्य दार्शनिक प्रवृत्तियाँ

“वैज्ञानिक प्रगति” के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए टॉमस कून ने कहा है कि विज्ञान के विकास-क्रम में जब कोई क्रांतिकारी परिवर्तन आता है तो वहाँ परिवर्तन मूल प्रतिमानों (*Paradigms*) के स्थान पर एक नवीन प्रतिमान स्थापित हो जाता है, और अब व्याख्या के सभी आयाम इस नये प्रतिमान के अनुरूप रचित होते हैं। इस प्रतिमान-विचार की कड़ी आलोचनायें भी हुई हैं। मैं भी इस विचार का पूर्ण समर्थक नहीं हूँ। किन्तु इसमें निहित एक तथ्य ऐसा है जिसे भिन्न-भिन्न रूपों में, भिन्न नामों के साथ सदा मान्यता मिलती रही है। मतभेदों से ऊपर उठकर इतना तो कहा ही जा सकता है कि हर युग की कुछ विशिष्ट वैचारिक मान्यतायें स्थापित हो ही जाती हैं, या उस युग के ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों पर आधृत होती हैं। इन मान्यताओं में इतनी शक्ति आ ही जाती है कि वे उस समय की वैचारिक संस्कृति के अंश बनकर उभरती हैं और उस काल के जीवन एवं चिन्तन को स्पष्ट रूप में प्रभावित करती हैं। यह ठीक है कि यदि कोई उन मान्यताओं की स्पष्ट रूपरेखा खींचने का, उन्हें स्थापित सत्यों के समान निरूपित करने का प्रयत्न करे तो वह वैसा नहीं कर पाता। उन मान्यताओं को पूर्णतया निश्चित स्थापना करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। कून के विरुद्ध यह एक मूल आपत्ति भी है - फिर भी उनकी इस अनिश्चितता से कोई अन्तर नहीं पड़ता; बल्कि उनके इस अनिश्चित स्वरूप और उसमें निहित उनकी प्रभाव शक्ति में दार्शनिक चिन्तन के लिए एक नया-चिन्तन-विषय उत्पन्न हो जाता है। अनिश्चितता और अस्पष्टता तो दार्शनिक चिन्तन को जन्म देती ही है, साथ ही साथ यह समझ कि अनिश्चितता के रहते हुए भी इन वैचारिक मान्यताओं का जीवन पर व्यापक प्रभाव है दार्शनिक चिन्तन को और अग्रसर करती है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि वर्तमान युग की भी कुछ वैचारिक मान्यतायें उभरकर सामने आ गई हैं, जो जीवन के हर पक्ष को प्रभावित कर रही हैं। इसी प्रभाव में आज की मानव-मानसिकता बदल रही है। इसे 'प्रतिमान' कहें या वैचारिक मान्यता कहें, या कोई अन्य नाम दें - इतना तो स्पष्ट है कि जीवन को इस रूप में प्रभावित करने वाला तथा मानसिकता में मौलिक बदलाव उत्पन्न करने वाला यह उपकरण है - 'टेक्नोलॉजी'।

*

बसंत कुमार लाल : अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के बरेली अधिवेशन (1991) के अध्यक्षीय भाषण से साभार

उत्तर आधुनिकतावाद

अविनाश कुमार श्रीवास्तव

1. भूमिका :

उत्तर आधुनिकता से परिचित होने के पूर्व यह जानना प्रारंभिक रूप से अनिवार्य प्रतीत होता है कि यहाँ सामान्यतया किस प्रकार के विचार का प्रतिपादन हुआ है। इसका निर्धारण अत्यंत ही कठिन है। इसके दो कारण हैं। प्रथमतः, प्रत्येक उत्तर आधुनिकतावादी विचारक एक प्रकार से स्वतंत्र चिंतक है। एक के विचार दूसरे से अलग हैं। द्वितीयतः, उत्तर आधुनिकतावाद का संक्रमण जीवन से जुड़े हुए अलग–अलग क्षेत्रों में होने के कारण यह अलग–अलग प्रकार से अभिव्यक्त हुआ है। यथा, कभी यह नारीवाद का उद्घोष करता है तो कभी आर्थिक जगत् के भूमंडलीकरण एवं उपभोक्तावादी संस्कृति के संदर्भ में जीवन एवं जगत् का खाका खींचता है, कभी यह प्राचीन, परंपरागत, एवं आधुनिक दर्शन की आलोचना करता है तो कभी साहित्य की अभिरचना एवं सैद्धान्तिक विखंडन, तो कभी यह इतिहास के अंत के दृश्य का भी प्रतिपादन करता है। इसकी विविध अभिव्यक्तियों के कारण समस्या की जटिलता बढ़ गई है। उनके सभी विवरण यथार्थ हैं और यथार्थ नहीं भी हैं। ये यथार्थ इस कारण हैं कि उनके वर्णन से विषय से सम्बद्ध पक्ष पर प्रकाश पड़ता अवश्य है लेकिन यह अयथार्थ इस कारण है क्योंकि उनके विमर्शों में उत्तर–आधुनिकतावाद का कोई भावात्मक चित्र नहीं उभरता। उत्तर–आधुनिकतावाद के इस जटिल, भ्रमोत्पादक एवं बहुआयामी स्वरूप की अनेक निंदा एवं स्तुतियाँ हुई हैं, साथ ही इसके स्वरूप को स्पष्ट करने हेतु इसका अनेक प्रकार से वर्णन भी हुआ है। किसी ने इसे वैचारिक कचरा पेटी की संज्ञा दी है जिसमें परंपरागत दर्शनों के विरुद्ध संदेह, आपत्तियाँ, आलोचना, विदपिकाएँ एवं व्यंग्य संगृहीत हैं। तो किसी ने इसे नये युग का चिंतन कहा है। किसी ने इसे अंत का गुणगान माना है तो किसी ने इसे व्यर्थ ही तू–तू, मैं–मैं के रूप में चित्रित किया है। कुछ लोगों ने इसे वैचारिक आंदोलन के रूप में स्वीकारा है तो कहीं इसे परंपरागत दार्शनिक प्रश्नों के प्रति बढ़ते हुए विस्थापक संदेह की परिणति के रूप में वर्णित किया है। किसी ने इसे परंपरा से बाहर निकलने का प्रयास कहा है तो किसी ने इसे परंपरा के प्रति विद्रोह कहा। किसी ने इसे नैराश्य का क्रंदन कहा तो किसी ने इसे हाशिये पर की विधा से संबोधित किया है। परंतु उपरोक्त सभी प्रकार की टिप्पणियाँ उत्तर

आधुनिकतावाद के स्वरूप को स्पष्ट करने में समर्थ तो नहीं हैं फिर भी ये इसके अंश विशेष पर प्रकाश डालने की चेष्टा अवश्य करते हैं। इनमें से कुछ टिप्पणियाँ (निषेधात्मक) उत्तर आधुनिकतावाद को नहीं समझने के कारण दी गयी हैं तो कुछ इनके आकस्मिक साहचर्य और मध्यपाती स्थिति को देखकर की गयी हैं।

1.1 विषय–प्रवेश :

वस्तुतः उत्तर आधुनिकतावाद कोई वैचारिक संप्रदाय नहीं है और न ही यह कोई सर्वसम्मत सार्वभौम सिद्धान्त को प्रतिपादित करने की चेष्टा है। इसके विपरीत इसका अभ्युदय ही इस प्रकार के प्रयत्नों के प्रतिवाद–स्वरूप हुआ है। वस्तुतः परंपरागत दार्शनिक प्रश्नों के प्रति बढ़ते हुए संदेह, नारीवादी एवं बहुसांस्कृतिक दर्शनों के त्वरित विकास एवं परंपरा से बाहर निकलने के प्रयास के ही फलस्वरूप उत्तर आधुनिकता की स्थितियाँ उभरी। इसकी परिणति एक ऐसे चिंतन के विकास में हुई जो उक्त विभिन्नताओं को स्वीकार करे, सम्मान करे तथा परंपरागत दर्शन के मूल प्रश्नों के प्रति संदेह आदि को दर्शन के कलेवर में समाविष्ट करे। नये सहस्राब्दि का आगमन, दो विश्वयुद्धों एवं शीतयुद्धों की परिसमाप्ति, सुदीर्घ ज्ञानोदय बुद्धि एवं दार्शनिक परंपराओं में अविश्वास, अबोधगम्य विशेषज्ञता, अवधारणात्मक दिवालियापन, विश्वव्यापी भ्रांतियों, साहित्यिक अविरचना एवं सैद्धान्तिक विखंडन ने उत्तर आधुनिकतावाद को आन्दोलन का रूप दिया। इसका प्रवेश साहित्य के माध्यम से पाश्चात्य देशों में दर्शन में हुआ तथा जिसका संक्रमण भारतवर्ष में सीमित रूप में हुआ है।

उत्तर आधुनिकतावाद के प्रस्तावकों का मानना है कि यह विचार पूर्णतः पाश्चात्य, संदिग्ध रूप से क्षेत्रिय एवं पूर्णतः निषेधात्मक आंदोलन है। यह नव विज्ञान के विकास, देकार्त एवं ज्ञानोदय काल के चिंतन के प्रति संदेह रखता है। इसके मत में देकार्तीय दर्शन एवं नवीन विज्ञान अपने हिस्से की दौड़ पूरी कर चुका है। वह दर्शन जिसने निरपेक्ष सत्ता का अन्वेषण किया अब अस्तित्त्व में नहीं है। अब तो केवल दर्शनों का अस्तित्व है। अब कोई सत्य नहीं केवल विमर्श है। बात करते हुए, चिंतन करते हुए, उद्घोषणा करते हुए लोग हैं। अब कोई केंद्र नहीं है, फैलते हुए हाशिए हैं।

1.2 शब्द विश्लेषण :

उत्तर आधुनिकतावाद के विवेचन के पूर्व इस शब्द का तनिक विश्लेषण अपेक्षित है। उत्तर आधुनिकतावाद तीन शब्दों के योग से बना है– उत्तर + आधुनिकता + वाद। उत्तर शब्द का अर्थ है बाद में आने वाला, वाद का अर्थ है सिद्धांत और आधुनिकता का अर्थ पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में उस विचार पद्धति से है जिसका आरंभ बेकन से होता है, डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबनिज, लॉक, बर्कले, ह्यूम एवं कांट से होता हुआ यह हीगेल, मार्क्स आदि तक पहुँचता है और नीत्शे में जिसकी गति अवरुद्ध हो जाती है। इसका गहरा प्रभाव समकालीन चिंतन पर पड़ा है। इस प्रकार उत्तर–आधुनिकतावाद शब्द एक दार्शनिक धारा

विशेष के बाद की चिंतन स्थिति का द्योतक है। यहाँ है नहीं वरन् बाद में हैं। लेकिन किसी निश्चित वाद के बाद जो चिंतन प्रारंभ होता है वह या तो उस चिंतन का पूरक होता है या फिर उसका विरोध या उसकी प्रतिक्रिया। इस दृष्टि से जब हम उत्तर–आधुनिकतावाद की ओर दृष्टि डालते हैं तो उसमें हम दोनों बातों को पाते हैं। यह बात दूसरी है कि इसका दूसरा विकल्प इस चिंतन में प्रखर रूप से उभर कर आया है। इसे ही सामान्यतः इस वाद का केंद्रीय लक्षण मान लिया गया है। यहाँ हम दूसरे विकल्प के आलोक में उत्तर आधुनिकतावाद का आकलन करेंगे।

1.3 स्वरूप :

जैसा कि ऊपर वर्णित है उत्तर आधुनिकतावाद अपेक्षाकृत एक नवीन दर्शन है जिसने बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विकसित होकर विश्व की विभिन्न विधाओं को ग्रसित कर लिया है। इसका संक्रमण मुख्य रूप से इतिहास, दर्शन, संस्कृति, साहित्य, राजनैतिक, समाजशास्त्रीय एवं अर्थशास्त्रीय विवेचनाओं में हुआ है। इसका मुख्य लक्ष्य परंपरागत अन्वेषण के तर्कों की मौलिक आलोचना है। परिणामस्वरूप पुराने संसदीय अन्वेषणों का पुनर्सीमांकरण एवं स्थापित सत्यों एवं मूल्यों के प्रतिमानों (Norms) का पुनर्चिन्तनउत्तर आधुनिकतावाद का लक्ष्य है। उत्तर आधुनिक चिंतन जिसे सामाजिक, नैतिक, राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में उत्तर आधुनिक कहा जाता है की सैद्धांतिक अभिव्यक्ति है। इसका उदय मुख्यतः नवोन्मेष (Enlightenment) काल के बुद्धिवादी चिंतन के विरूद्ध हुआ है। उत्तर आधुनिकता आधुनिकता के आदर्शों पर आक्रमण करती है तथा उनके महान सिद्धांतों पर अविश्वास भी। विस्तृत परिवेश में, जिसमें अंत के सिद्धांत के रूप में आधुनिकता की आलोचना एक फैशन बन चुका है, वस्तुतः आधुनिक अधिवृत्तांतों (Meta narratives) का एक उत्तर आधुनिक नकार है। निषेध का यह पक्ष आधुनिक ऐतिहासिक कथानकों (Narratives) की वैधानिकता पर प्रश्नचिन्ह अंकित करता है।

1.4 कार्यक्षेत्र :

अंत के सिद्धांतों में इतिहास का अंत सर्वाधिक संक्रमणशील हुआ क्योंकि इसका तात्कालिक प्रभाव सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं यहाँ तक की वर्तमान युग के आर्थिक कार्य स्थितियों पर भी पड़ता है। फिर भी इतिहास का अंत एकाकी सैद्धांतिक व्यायाम नहीं है। अंत के विचार की अनेक अभिव्यक्तियाँ हैं। यथा मृत्यु, गिरना, असफल होना, छोड़ देना, विरुद्ध, भंग होना इत्यादि। इस विचार का प्रयोग एक विशेष प्रकार के राजनैतिक, सामाजिक एवं दार्शनिक अवधारणा के विरुद्ध किया गया है जिसकी नूतन आकारों में विवेचना इस सैद्धांतिक व्यवसाय का मौलिक कार्य माना है। साथ ही इसे बीसवीं शताब्दी के बौद्धिक विश्व का एक सामान्य लक्षण मान लिया गया है। अधिकांशतः दार्शनिक धाराएँ, यथा– मार्क्सवाद, अस्तित्त्ववाद, संवृत्तिवाद, संरचनावाद, विखंडनवाद, Sur Realism, विश्लेषणात्मक दर्शन अपने अन्तर में अवधारणात्मक विध्वंस समेटे हुए हैं।

फलतः पाश्चात्य देशों में दर्शन का अंत, सत्वमीमांसा का अंत, विषय (Referent) का अंत, सौन्दर्यशास्त्र का अंत, अर्थ का अंत, Narratology का अंत, बौद्धिकता की मृत्यु, मनुष्य की मृत्यु, विषय की मृत्यु, लेखक एवं लेखन की मृत्यु, ईश्वर की मृत्यु, ज्ञानमीमांसा का विरोध, विधि (Method) का विरोध, सिद्धान्तों का विरोध इत्यादि विचार वस्तु प्रचलित हुए। इस प्रकार हम पाते हैं कि उत्तर आधुनिकता के अन्तस्थल में जो प्रतिक्रियात्मक चिंतन पाया जाता है वह वस्तुतः आमूल परिवर्तनवाद (Radicalism) है। इसका आरंभ सीमित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु निश्चित लक्ष्यों को ध्यान में रख कर हुआ था। ऐसा इसलिए कि नवोन्मेष युग (Enlightenment age) के दार्शनिक चरम विकास का पर्यवसान इस काल में आरंभ होने लगा और सत्य, प्रगति एवं मुक्ति की अवधारणाएँ अपना औचित्य खोने लगी। ऐसी अवस्था में दर्शन एवं इतिहास के प्रति उत्तर आधुनिक दृष्टि की विवेचना अपेक्षित है जो आधुनिक एवं आधुनिक सामाजिक स्थितियों के विरुद्ध उठ खड़ी हुई है।

1.5 अर्थ निरूपण :

उत्तर आधुनिकता, उत्तर आधुनिकतावाद जैसे पदों को स्पष्ट करते हुए एक प्रमुख इतिहास दार्शनिक (Keith Jenkins) समस्या का निरूपण कुछ इस प्रकार करते हैं – "What I think is meant by the term Post modernity (the term arguably the best concept under which to signify our socio-economic, political and cultural condition) and by the term Post-modernism (as signifying the best way of making sense of various expressions at the level of theory) .... Post modernity is not ideology or position we can choose to subscribe to or not, postmodernity is precisely our conditions, it is not a historical fate to be living now..... The condition of post-modernity and the post modern theoretical expressions concommitent with it are due to the over all failure of that experiment in social living we can term "modernity".

1.6 पृष्ठभूमि :

आधुनिकता की स्थितियों का उद्गम नवोन्मेष काल में है। इस काल का मुख्य लक्षण, सत्यान्वेषण, विश्व की वस्तुगत स्थितियों एवं तथ्यों के मध्य मनुष्य के स्थान के विवेचन के क्रम में बढ़ती हुई वैज्ञानिक दृष्टि है। इसी कालखंड में डार्विन का "विकासवाद" एवं मार्क्स की "क्रांति" जैसे अधिवृत्तांतों का विकास हुआ जो हमारे समाज के विश्लेषण हेतु एक कठोर वस्तुनिष्ठ मानसिकता या दृष्टि प्रदान करता है। इतिहास की अवधारणा के विषय में यह बात स्वीकारी गयी है कि यह कुछ कठोर अधिवृत्तात्म कथ्य प्रदान करता है जो विश्व एवं मनुष्य के विषय में निरपेक्ष, वस्तुनिष्ठ, सामान्य एवं वैज्ञानिक सत्यों की भांति प्रस्तुत किये गये हैं। आधुनिक चिंतन की ऐसी मान्यता नवोन्मेष काल के चिंतन का आवश्यक अंग है जिसने मानव समाज के नवआरंभ के बिंदु को अपने पूर्ववर्ती मध्य युग के विश्वासों के Ruptur (विखंडन) के रूप में देखा। विज्ञान एवं तकनीकी के तीव्र विकास ने आधुनिक चिंतकों में मानवीय क्षमता के प्रति विश्वास (एक भिन्न प्रकार का अंधविश्वास) जगाया कि वह समाज के लाभ के लिए भौतिक एवं प्राकृति संसाधनों का शोषण एवं

परिचालन कर सकता है। फलतः मानव विवेक के अनुकूल असीमित एवं सतत् प्रगति के विचार पर आधारित समाज की अवधारणा विकसित हुई जो मानव विवेक के अनुकूल असीमित रूप में सतत् प्रगतिशील है। इस प्रकार समाज की विवेचना आंगिक अस्तित्त्व के लिए की गयी जो बौद्धिक उद्देश्य की ओर विकसनशील है। विकास के इस विचार ने सार्वभौम प्रक्रिया में निहित तर्क की व्याख्या करने हेतु इतिहास की प्रयोजनमूलक अवधारणा को जन्म दिया जो भूतकाल के यथार्थ एवं वस्तुनिष्ठ सत्य का प्रतिनिधित्व करता है। उसके द्वारा वर्तमान की घटनाओं के अर्थ की व्याख्या करता है साथ ही भविष्य की प्रक्रिया का दिशा निर्धारण भी।

2. इतिहास का खंडन :

इसके विपरीत उत्तर आधुनिकतावादियों की यह सुदृढ़ मान्यता है कि इतिहास अपनी संपूर्णता में एक भ्रम है। यह वास्तव में ज्ञात तथ्यों एवं स्वस्वीकृत धारणाओं का सम्मिश्रण है तथा इतिहासकार की अपनी रचना है। मिशेल फूको की धारणा है कि इतिहास लेखन में उन्हीं तथ्यों एवं घटनाओं का चयन किया जाता है जो इतिहासकार की विचार पद्धति को सुदृढ़ करते हैं। इसके कथाओं का तानाबाना अपने द्वारा चयनित घटनाओं एवं कल्पित तथ्यों के चारों ओर ही बुना जाता है। इतिहासकार सामान्यतः इतिहास की निरंतरता पर बल देते हैं इसके विपरीत फूको इतिहास के असातत्य, अंतराल एवं भंग पर बल देता है। इनके मत में इतिहास में तारतम्यता नहीं होती। इसमें सीधी रेखावत् वस्तुनिष्ठ अर्थ में वास्तविक इतिहास का अभाव होता है। अतः दर्शन का इतिहास, परंपरा आदि को सुविधाजनक गल्प समझना चाहिए। इसे एक ऐसी कहानी मानना चाहिए जिसे हम लोगों ने विश्व को बोधगम्य एवं स्वीकार्य बनाने के लिए गढ़ लिया है। दर्शन के इतिहास के संदर्भ में हमलोग अपने स्वार्थ को परम्परा के संरक्षक एवं उत्तराधिकारी के रूप में आगे बढ़ाते हैं।

2.1 इतिहासपरक चिंतन आधुनिकता का एक अनूठा निदर्शनात्मक लक्षण है। इतिहासपरक चिंतन का तात्पर्य इतिहास लेखन की विधि या इतिहास की घटनाओं के विषय में चिंतन है। ऐसा इसलिए कि यह अन्य दूसरे विषय, यथा, ज्ञान, संस्कृति, नैतिकता, धर्म इत्यादि का चिंतन अपनी इतिहासपरक चिंतन के साथ ऐकान्तिक संवेदना अन्तर्विष्ट कर सकती है। मिशेल फूको के चिंतन में होर्खीभर द्वारा विकसित इतिहास लेखन विधि के दर्शन हो सकते हैं। फूको तीन प्रकार के इतिहास लेखन विधि की बात करता है।

अ. पुरातत्त्व विषयक इतिहास लेखन विधि : यह विधि अतीत की पुनर्सर्जना का प्रयास वर्तमान की उपेक्षा करके करता है मानो वर्तमान अतीत की प्राप्ति एवं समझने की क्रिया को अनुकूलित नहीं करता हो।

ब. स्मारकीय इतिहास लेखन विधि : यह विधि अतीत की ओर वर्तमान में किए जाने वाले कार्य व्यापार एवं व्यवहार के आदर्शों एवं प्रतिमानों की प्राप्ति हेतु देखता है। यह इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि वर्तमान में नूतनता है। प्राचीन नायकों के उत्स के साथ वर्तमान की तुलना का महत्त्व घटता जा रहा है।

स. समीक्षात्मक इतिहास लेखन विधि : इसमें वर्तमान एवं भविष्य दोनों को ध्यान में रखकर इतिहास लेखन का कार्य किया जाता है। मिशेल फूको समीक्षात्मक इतिहास लेखन विधि के पक्षधर हैं। यह उनके ज्ञान एवं शक्ति की अवधारणा के माध्यम से परिलक्षित होता है। इसी क्रम में फूको के चिंतन में ज्ञान एवं शक्ति की अवधारणा विकसित होती है।

2.1.क. फूको नीत्शे की भांति मानवीय कार्य–कलापों एवं संबंधों में शक्ति की अभिस्वीकृति भूमिका से अवगत था। उसने ज्ञान में विशेषकर इतिहास के ज्ञान में शक्ति की भूमिका का अनुभव किया। फूको ने ज्ञान की वस्तुनिष्ठता की अवधारणा को अस्वीकार कर उसे छल–कपट के उपकरण के एक अंग के रूप में देखा। उनके मत में ज्ञान की कोटियाँ नैतिक दृष्टि से तटस्थ नहीं हैं। इसके विपरीत ये पक्षपात, भेद–भाव, उलझाना, अलग–अलग करना, निंदा करने आदि सामाजिक कार्यों का संपादन करता है। फूको इतिहास लेखन में सामाजिक अस्तित्त्व के उन हाशिए पर के पक्षों पर ध्यान केंद्रित करने के पक्षधर हैं जो सामान्यतः इतिहास दार्शनिकों के द्वारा पूर्णतः उपेक्षित रहे हैं। यथा– जेल, मानसिक आरोग्यशाला, पागलपन, यौनाचार की सीमा इत्यादि। उनकी रुचि अज्ञात, भूले हुए, बहिष्कृत, ध्यान न दिए गये हाशिए पर के विमर्शों का इतिहास लिखने में है। उनकी मान्यता है कि पागलपन, जेल, गरीबी, दण्ड, कामुकता, यौनाचार आदि का भी एक स्वतंत्र इतिहास होना चाहिए।

2.1.ख. उनका अभिप्राय यह दर्शाना है कि किस प्रकार हाशिए पर के सामाजिक अस्तित्त्व के पक्ष और विधाओं की संरचना भाषा शक्ति या विमर्शशक्ति के द्वारा हुई है। कहने का तात्पर्य यह है कि उन बातों में 'सत्य' सामाजिक प्रतिष्ठा एवं राजनीति का कार्य करती है न कि वस्तु स्थिति को स्पष्ट करने की। 1970 में इतिहास लेखन विधि के क्रम में फूको के विचारों में मौलिक परिवर्तन हुआ। इतिहास में पुरातात्त्विक इतिहास लेखन विधि का स्थान Geanology वंशानुक्रम लेखन की विधि ने लिया। फूको के मत में वंशानुक्रम विधि इतिहास लेखन की नयी विधि है जिसमें शक्ति के व्यापार को सिद्धान्त के साथ जोड़ा जाता है और इतिहास के ज्ञान को स्थानीय संघर्षों को परिचालित करने में लगाया जाता हैं। फूको के शक्ति सिद्धान्त की जड़ें वैयक्तिक इतिहास–परक दृष्टि में गहरे तक प्रविष्ट हैं जो परंपरा से आधुनिक औद्योगिक समाज की ओर संक्रमण की प्रवृत्ति के चारों ओर चक्कर काटती है। उसका यह इतिहासपरक विश्लेषण की प्रवृत्ति Madness and civilization तथा The Birth of the clinic में दृष्टिगत होता है।

2.1.ग.प्रश्न है कि हम इतिहास को सही कैसे मान सकते हैं। इस क्रम में उत्तर आधुनिकतावादियों का मानना है कि इतिहास उतना ही है जितना कि हम जानते हैं। जो हम जानते हैं वह इतिहास का बहुत कम भाग है जो वाकई घटित हुआ है। नये–नये तथ्यों के सामने आने से इतिहास में परिवर्तन आता है लेकिन इतिहास लेखन के क्रम में इतिहासकार अपने पूर्वाग्रहों एवं मान्यताओं के सम्मिश्रण से इतिहास को दूषित कर उसे एक संदिग्ध पाठ में परिणत कर देते हैं। क्रिस्टोफर नोरिस के शब्दों में "History is

always a species of narrative construct, a discourse whose meaning is actively produced by the tropes and devices employed to make sense of anotherwise incohate material."

वस्तुतः भूतकाल के संदर्भ में कथन का आकलन तथ्यों से ही संभव है। भूतकाल की घटनाओं के विषय में सत्य निश्चित रूप से तभी परिलक्षित होता है अगर घटनाओं एवं तथ्यों को स्वतः प्रकाश्य रूप में प्रस्तुत करें। हाइडेन ह्वाइट के मत में यह मान्यता मात्र एक भ्रम है। यह भ्रम इस प्रकार का रूप धारण कर लेता है जिसमें विभिन्न प्रतिस्पर्धात्मक सिद्धांत भूतकालिक तथ्यों को अपने निश्चित उद्देश्यों के अनुरूप पुनर्व्यवस्थित करने का प्रयत्न करते हैं। परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के कथा वृत्तांत इन अनेक प्रकार के सैद्धांतिक बाध्यताओं के बंधन में रहते हैं और इस प्रकार वास्तव में इतिहास संभव ही नहीं हो पाता है।

2.2 सार्वभौम धारणा का निषेध :

सभी प्रकार के उत्तर – आधुनिकतावादी एक मत से यह स्वीकार करते हैं कि कोई सर्वस्वीकार्य, सर्वान्तर्भुक्त, समग्र एवं सार्वभौम दृष्टि नहीं है। कोई ईश्वरीय विचार दृष्टि एवं शुद्ध वस्तुनिष्ठता नहीं है। पाश्चात्य आधुनिक दर्शन विशेषकर सार्वभौम विचारों पर बल देता है। वहाँ पहले सिद्धांत खोजे जाते हैं जो सार्वभौमिक हो, फिर व्यवहार पर बल दिया जाता है। बुद्धिवादी दार्शनिकों ने ज्ञान के दो लक्षणों की ओर संकेत किया है, सार्वभौमिकता और अनिवार्यता। सार्वभौमिकता का अर्थ है, सभी देशकाल की वस्तुओं पर समान रूप से लागू होने का भाव और अनिवार्यता का अर्थ है, जिसके विपरीत या जिसके बिना सोचना संभव नहीं हो। इस प्रकार बुद्धिवादियों के अनुसार यथार्थ ज्ञान नित्य होता है।

इसके विपरीत उत्तर–आधुनिकतावाद सार्वभौम प्रत्यय पर आधारित आधुनिक विचारों की पूर्वमान्यता का विरोध करता है। रिचर्ड रोर्टी के अनुसार "उत्तर आधुनिक सिद्धांत की एक विडंबनात्मक सिद्धान्तिकी है जो अमर शाश्वत सत्यों और अनिवार्यताओं के खोज के विरुद्ध चलती है और जो कि एकमात्र व्याख्या या निष्कर्ष की योजना को चुनौती देती है। वस्तुतः मिशेल फूको ने भी किसी भी प्रकार के सार्वभौमिक विमर्शों को शक की दृष्टि से देखा है। यह ही नहीं मनुष्य की प्रकृति के प्राकृतिकता के विषय में फूको का अपना अत्यंत ही गहरा संदेह है। उत्तर आधुनिक विमर्श या अभिव्यक्तियाँ आधुनिकता के आदर्शों के नष्ट होने या भंग के परिणाम– स्वरूप उत्पन्न ऐतिहासिक स्थितियों के सहगामी माने जाते हैं। Patrioia Wague के मत में उत्तर–आधुनिक सैद्धान्तिक विमर्श मुख्यतः नवोन्मेष काल के सार्वभौमीकरण एवं बौद्धिक अधिवृत्तांतों में अनुभूत Break dosn (भंग) को संबोधित है, जिसने आधुनिक पाश्चात्य नीतिशास्त्र, कला एवं राजनीति, एवं ज्ञान को करीब दो सौ पचास वर्षों तक स्थापित रखा। Patrioia Wague के अनुसार उत्तर–आधुनिकतावाद पद का प्रयोग तीन रूपों में हुआ है–

1. समकालीन सांस्कृतिक कालखंड को सूचित करने के लिए,
2. सौंदर्यपरक व्यवहार के अर्थ में,
3. आधुनिकता के विचार के आलोचक सैद्धांतिक विमर्श के रूप में।

2.3 तर्क एवं बौद्धिकता का निषेध :

उत्तर–आधुनिकतावाद उन समस्त प्रकार के युक्तियों पर आधारित वाद–विवाद को निरस्त करता है जिसके साथ प्रमाणों के प्रति आग्रह, रूढ़िवादी सम्मोहन एवं निश्चितता का विचार संलग्न है। बुद्धिवादी तर्कशास्त्र के आत्मसंगतता के प्रति संदेह उत्तर–आधुनिकतावाद की विभिन्न अभिव्यक्तियों, यथा– सांस्कृतिक, सौंदर्यपरक, एवं दार्शनिक दृष्टियों में दृष्टिगत होता है। सार्वभौम बुद्धि (तर्क) पर आधारित सत्य एवं ज्ञान के सभी सिद्धांतों के विपरीत बुद्धि, ज्ञान एवं सत्य के क्षेत्र में सौंदर्य की संभावना के प्रश्न पर सभी प्रकार के उत्तर आधुनिकतावादी एक मत हैं। सार्वभौम तर्क (बुद्धि) की अवधारणा पर आधारित सत्य एवं ज्ञान के सिद्धांतों के विपरीत आधुनिकतावाद की सभी व्याख्याएँ (Versons) या रूपान्तर या प्रकार (Modes) समान रूप से इस तथ्य से सहमत हैं कि तर्क, ज्ञान एवं सत्य के क्षेत्र में सौंदर्य बोध या सौंदर्यपरक की संभावना है। यह तर्क या बुद्धि की सौंदर्यबोधीकरण की प्रक्रिया ही है जिसे ज्ञान के वृत्तांतीकरण के रूप में चित्रित किया गया है। फिर भी सौंदर्यबोधीकरण के स्रोतों एवं प्रकारों की व्याख्याएँ अलग–अलग हैं।

2.3.क. इस प्रकार उत्तर–आधुनिकता की विभिन्न प्रकार से गुहार लगाने वाले सिद्धांतकार विभिन्न कालों की विभिन्न परंपराओं में उत्तर–आधुनिक प्रवृतियों के बौद्धिक पूर्वगामियों को निश्चित एवं निर्धारित कर वंशानुक्रम विकसित करने का प्रयास करते हैं। यह इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि तथाकथित उत्तर आधुनिकतावाद एकाश्म विचारतंत्र का प्रतिनिधित्व नहीं करता और न ही यह कोई नवोद्भूत विचार है। चूँकि उत्तर–आधुनिकतावाद अनेक पृथक्–पृथक् एवं परस्पर विरोधी सिद्धांतों (यथा–फ्रांस का संरचनावाद, संवृत्तिवाद, शून्यवाद, अस्तित्त्ववाद, मार्क्सवाद, भाष्य विज्ञान, Romanticism, Anarchism, Critical theory इत्यादि) का रूपांतरण है तथा उन्हें साथ–साथ लाने एवं अपनाने की प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करता है। फलस्वरूप उत्तर–आधुनिकतावाद के अंदर भी अनेक प्रकार के अभिविन्यास पाए जाते हैं। अतः उत्तर–आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकवाद के अनेक रूप हैं।

2.3.ख. इस प्रकार हम पाते हैं कि अधिकांशतः उत्तर–आधुनिकतावादी यह मानते हैं कि दार्शनिक कथन मात्र व्याख्याएँ हैं (यह कथन नीत्शे से लिया गया है)। ये व्याख्याएँ अलग–अलग प्रकार की हैं। कुछ उत्तर आधुनिकतावादियों के मत में ये व्याख्याएँ अपरिमित रूप से अनेक हैं। इनके विचारों की विभिन्नता अबोधगम्य एवं असमानुपाती है। अतः इनके मध्य के अन्तर का निपटरा या समायोजन एक टेढ़ी खीर है।

2.4 आत्मा का निषेध :

उत्तर–आधुनिकतावादियों का यह मानना है कि आत्मा एक गल्प है जिसे हमारे जीवन के स्थायी आधार में विश्वास करने हेतु पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक देकार्त की आत्मा की अवधारणा इन लोगों को

स्वीकार्य नहीं है। यहाँ तक कि देकार्त से पूर्णतः पृथक् समकालीन अस्तित्त्ववादी दार्शनिक सार्त्र को भी मिशेल फूको की उग्रतम आलोचना का भाजन बनना पड़ा है। सार्त्र ने चयन की स्वतंत्रता की अवधारणा जिसे वे मानवीय आत्मा का आवश्यक लक्षण मानते हैं का बचाव 'चेतना का सार' कह कर किया है। लेकिन फूको के मत में सार्त्र ने इस संभावना की अनदेखी की है कि उनके दर्शन की केन्द्रीय अवधारणा 'चेतना' एवं 'स्वतंत्रता' दोनों ही समाज द्वारा संरचित हो सकते हैं। ये न तो प्राक् अनुभविक हैं और न ही मनन (Reflection) द्वारा प्राप्त हैं और न ही प्रकृति प्रदत्त हैं। वरन् यह संस्कृति एवं भाषा द्वारा निर्मित हैं। अगर ऐसा है तो स्वतंत्रता की अवधारणा मानव अस्तित्त्व का तात्त्विक केंद्र नहीं हो सकता, जैसा कि मानते हैं। अपितु यह निश्चित प्रकार के विचार का विलक्षण विकार है। एक विशेष प्रकार के सोच का एक अद्‌भुत उत्पाद है। पुनः सार्त्र का Being for itself वह नहीं है जो हम सबों के लिए आवश्यक है वरन् एक ऐसी निर्मित वस्तु है जो संस्कृति, भाषा एवं कल्पना द्वारा संरचित है। शायद् इस कारण ही उत्तर आधुनिकतावादी यह तर्क देते हैं कि वस्तुतः कोई विषयी नहीं है, चेतना नहीं है, स्वतंत्रता नहीं है। ये सब शक्ति की अंतर्क्रीड़ा हैं ओर हम सब हैं इन शक्तियों के संभावित संधिस्थल। इस कारण ही उत्तर आधुनिक लेखक स्वीकारोक्तियों में भी स्वयं को एक विशिष्ट निर्वैयक्तिक, विकेन्द्रित, यहाँ तक कि अस्त–व्यस्त रूप में प्रस्तुत करते हैं।

2.5 परंपरा के प्रति संदेह :

उत्तर–आधुनिकतावादियों के मध्य में एक मात्र स्वस्थ बौद्धिक प्रवृत्ति है, दर्शन एवं उनकी क्षमताओं के प्रति सशक्त संदेह की। यह देकार्ती प्रकार का विवेचित संदेह न होकर निषेधात्मक प्रकार का संदेह है जो दर्शन की आधारशिला को ही उखाड़कर फेंक देने को तो तत्पर है। प्रमुख उत्तर आधुनिक चिंतक रिचर्ड रोर्टी यह स्पष्ट कहते हैं कि वास्तविक दर्शन (First order Philosophy) वास्तव में कुछ भी देने में असमर्थ रहा है। जहाँ तक नवोन्मेषकाल का प्रश्न है "अनेक क्रांतियाँ आईं और उस काल के चिंतन पर दृष्टि डाले बिना ही चली गयीं.... ये कभी भी परंपरागत दर्शनों द्वारा प्रतिपादित विषयों के स्थानीय रूपान्तर से अधिक नहीं रहे। ये वृत्तांत समय–समय पर विभिन्न मोड़ ले सकते थे लेकिन इनकी गति पूर्णतः पूर्वनियत थी कहानी के उन घटनाओं की भांति जो अंतिम क्षण में भी निर्णायक मोड़ लेने में असमर्थ होता है।

2.6 दर्शन के विशेषाधिकार का विरोध :

दर्शन के क्षेत्र में उत्तर आधुनिकतावाद दर्शन की स्वनिर्मित उस छवि पर आक्रमण करता है जो यह दावा करता है कि दर्शन एक आधारभूत विषय है और वह ज्ञान के अन्य क्षेत्रों एवं विषयों के संबंध में परम सत्य प्रदान करता है। उत्तर आधुनिकतावादियों की दृष्टि में दर्शन एक ऐसा अधिवृत्तांत है जिसकी स्थिति आधारभूत ज्ञान की है और जो ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में सत्यान्वेषण एवं सत्य प्रदान करने का दंभ रखता है। अतः दर्शन की आलोचना

के क्रम में रोर्टी दार्शनिकों के इस दावे को निरस्त करते हैं कि यह ज्ञान के अन्य क्षेत्रों के विषयों से श्रेष्ठ है। साथ ही वे दर्शन के उस दावे को भी चुनौती देते हैं कि उसका दूसरे विषयों के ऊपर विशेषाधिकार है। इस क्रम में रिचर्ड रार्टी ने दर्शन के इस बौद्धिक श्रेष्ठता के मिथक को तोड़ने का कार्य पूर्णतः व्यवस्थित रूप में किया है। वे यह बताते हैं कि दर्शन भी ज्ञान के अन्य विषयों की भांति एक सामान्य विषय है।

2.7. मानव मस्तिष्क की क्षमता का संदेह :

रिचर्ड रोर्टी ने Philosophy and the Mirror of Nature में यह स्पष्ट किया है "कि वह चित्र, जिसमें परंपरागत दर्शन कैद है, वह मन का है, एक महान दर्पण के रूप में जिसमें अनेक प्रकार के चित्रण एवं प्रदर्शन हैं...... और यह शुद्ध गैर–आनुभविक विधियों द्वारा अध्ययन के योग्य है।" उनकी यह धारणा है कि Plato के काल से ही मन एक महान प्रेक्षकवत् दर्शन को धारण किये रहा है। इस प्रकार ज्ञानमीमांसीय निश्चितता का अन्वेषण पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में प्लेटो से लेकर देकार्त, कान्ट आदि से गुजरते हुए बीसवीं शताब्दी के दर्शन तक चला आया है, दार्शनिकों का यह विचार कि मानव मस्तिष्क सार्वभौम सत्यों को समझने, ग्रहण करने एवं पकड़ने में समर्थ है, का उद्‌गम एवं मूल 'दर्पण का बिंब विधान' विचारों में निहित है। मन के इस बिम्ब प्रदायक चमकीले स्वरूप के कारण ही दर्शन को विश्व की वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को मन के विलक्षण गुण अन्तः अनुभूतिपरक चिंतन या अंतःज्ञान द्वारा प्राप्त करने में समर्थ माना गया है। इस कारण ही दर्शन को बौद्धिकता एवं वस्तुनिष्ठता की अवधारणा को वास्तविक प्रतिनिधित्व की शर्तों पर स्पष्ट करने का कार्य सौंपा गया है।

2.8. दर्शन में लोकोत्तरीकरण का विरोध :

Philosophy and the Miror of Nature में रिचर्ड रोर्टी ने दर्शन के ज्ञानमीमांसीय अनुसंधान, जो दर्शन के ज्ञान को दर्शक सिद्धांत (Spectetor Theory) के रूप में देखता है, को हटाने का विखंडनात्मक कार्य अपने हाथ में लिया है। यहाँ इन्होंने यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि किस प्रकार दर्शन की विश्लेषणात्मक पद्धति प्लेटोवादी, देकार्तीय एवं कान्ट के दर्शन की कहानी को फिर से दोहराने या कहने का प्रयास करती है। इसमें दर्शन भाषा के ज्ञान के सिद्धांत के रूप में अन्वेषण एवं परीक्षण का एक शाश्वत और गैर ऐतिहासिक ढाँचा प्रस्तुत करता है। परंपरागत दर्शन के द्वारा माँग किया गया अन्वेषणात्मक ज्ञान का आधार गैर ऐतिहासिक स्वरूप का था। उसी प्रकार विश्लेषणात्मक दर्शन भी इतिहास से छुटकारा पाने का प्रयास करता है। यद्यपि उसकी प्रतिबद्धता मानसिक तत्त्वों के स्थान पर सभी संस्कृतियों के लिए अन्वेषण के कार्य हेतु एक स्थाई एवं प्राकृतिक ढाँचा प्रदान करने की है। विश्लेषणात्मक दर्शन का संबंध अब मातृभाषा अर्थात् भाषा की मूलाकृति से है जिसे वह यथार्थ सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाले तत्त्व या कारक के रूप में देखता है। यह गैर इतिहासीय ढाँचे की तलाश ही है जो दर्शन को, रिचर्ड रोर्टी के मत

में, लोकोत्तरीकरण की ओर ले जाता है। इस लोकोत्तरीकरण की निम्न लिखित विशेषताएँ हैं –

1. अकाट्य एवं गैर आनुभविक रूप में गणित एवं तर्कशास्त्र को एक साथ एक वर्ग में करना।

2. यह धारणा कि ऐसा कुछ है जिसे मानव ज्ञान की प्रकृति कहते हैं, मात्र दर्शन के द्वारा ज्ञात होने के योग्य है, पर इस प्रकार के ज्ञान का माध्यम गैर आनुभविक है।

3. दर्शन का यह दावा कि मानव ज्ञान की प्रकृति के विषय में दार्शनिक सत्य का प्रयोग ज्ञान की वैधानिकता के अनुरूप संस्कृतियों के अनेक क्षेत्रों में विभाजन हो सकता है।

दर्शन के इस ऐतिहासीकरण एवं लोकोत्तरीकरण के विपरीत रोर्टी का प्रतिनिधि मूलक विरोधी, ज्ञानमीमांसा विरोधी एवं आधारमूलक विरोधी परिप्रेक्ष्य में, दर्शन का वर्णन यह दिखलाता है कि किस प्रकार दर्शन की आंतरिक गत्यात्मकता दर्शन के लोकोत्तरीकरण का विखण्डन एवं ऐतिहासीकरण का निरूपण करता है।

3. उत्तर आधुनिकतावाद का प्रभाव :

1970 ई. में Jean Francois Lyotard की पुस्तक Post Morden Conditions के साथ ही उत्तर आधुनिक स्थितियाँ या दशाओं के जन्म की घोषणा उसमें उल्लेखित अधिवृत्तांतों के भंग की सूचना के साथ हो जाती है। ऐसा माना जाता है कि उक्त पुस्तक से उत्तर–आधुनिकतावाद पर गंभीर वाद–विवाद आरंभ हुआ।

Lyotard के अनुसार अतिविकसित समाज में ज्ञान की दशायें ही उत्तर–आधुनिकता है। उत्तर आधुनिक ज्ञान की दशा उन स्थितियों का प्रतिनिधित्व करती है जो 19वीं शताब्दी के अंत में आये परिवर्तनों के परिणाम हैं। ये विज्ञान, कला एवं साहित्य के नियमों एवं सिद्धांतों को चेतावनी देता है या सावधान करता है। इस प्रकार यह अधिवृत्तांतों के प्रति अविश्वास है और यह अविश्वास विज्ञान के प्रगति के परिणाम हैं जिस प्रकार सत्यान्वेषण के उद्यम में विज्ञान अपनी वैधता अपने नियमों के अनुसार निरूपित करता है और अपनी स्थिति के अनुसार वैधानिकता का विमर्श या सामान्य सिद्धांतों का प्रतिपादन करता है। पुनः उसके द्वारा अपने वृत्तान्तों की वैधता का निर्धारण करता है। इस प्रकार विज्ञान का सदा वृत्तान्तों के साथ विरोध रहा है। विज्ञान के मापदण्डों पर वे सदा ही गलत सिद्ध हुए हैं। चेतना का द्वन्द्व अर्थ का भाष्य विज्ञान बौद्धिक या क्रियाशील विषयों की विमुक्ति आदि महावृत्तान्त विज्ञान के प्रार्दुभाव काल से ही हमारे विचारतंत्र में प्रविष्ट हो गये हैं, सम्मिलित हो गये हैं। Lyotard के अनुसार आधुनिक ज्ञान उत्तर आधुनिकता के विपरीत उन स्थितियों को प्रतिनिधित्व करता है जिसमें कोई भी विज्ञान एक अधि–विमर्श के संदर्भ में स्वयं को विधिसम्मत बनाता है या वैध ठहराता है। उत्तर आधुनिकतावाद आधुनिकता के विपरीत बुद्धि के आग्रह या अपील द्वारा उपार्जित वैधानिकता का त्याग करता है क्योंकि चेतना के नियम एवं बौद्धिक मस्तिष्क के मध्य मतैक्य या सहमति नवोन्मेष काल में स्वीकार कर लिया गया था।

3.1 उत्तर आधुनिकतावाद के दार्शनिक पक्ष की पहचान उत्तर संरचनावाद के विचारों के साथ सामंजस्य स्थापित करके किया गया है। निरपेक्ष सत्य या मूल्यों की संभावनाओं का निषेध उत्तर संरचनावाद का एक विभेदक लक्षण है। यह निषेध हमारे सम्पूर्ण अनुभवों का निर्मायक तत्त्व भाषा की भौतिकता के विचार पर आधारित है। सत् संबंधी हमारे बोध (समझ) भाषाई मध्यस्थता की भौतिकता को भाषा के प्रतीकात्मक आकारों में अर्थ प्रक्रिया के अनंत मार्गों के साथ स्वीकार कर लिया है। शब्दों या अभिव्यंजकों के द्वारा उत्पन्न अर्थ प्रभाव की बहुलता ने अर्थ निरूपण के कारक के रूप में Referent के महत्त्व को कम कर दिया है। अभिव्यंजकों के उन्मुक्त प्रवाह या Playfullness के रूप में भाषा की अवधारणा तथा सहचारी विचार की भाषा सत् को यथार्थ के रूप में प्रतिबिंबित करने वाला दर्पण नहीं है वरन् स्वयं सत् की संरचना करता है, पाश्चात्य तत्त्वमीमांसा के संपूर्ण आधार को ही अस्वीकार कर देता है। इस प्रकार संरचनावादी या आधुनिक दर्शन के वस्तुनिष्ठता या निश्चितता का विचार पाश्चात्य दर्शन के नवीनतम विचार होने पर भी उत्तर आधुनिक आलोचकों की आधारवादी मान्यताओं की आलोचना पाश्चात्य दर्शन के इतिहास पर समान रूप से हावी रहा।

4. उत्तर आधुनिक चिंतन की परिणति :

उत्तर आधुनिक आलोचना के आलोक में दर्शन के परम्परागत विचारों में मौलिक परिवर्तन आये हैं जिससे कि उन विचारों को रूढ़िवादिता के वस्त्र में ही दफन करने की आवश्यकता महसूस हुई। उत्तर आधुनिकता एवं उत्तर संरचनावादी सिद्धांतों के द्वारा ज्ञान के प्रति सार्वभौम एवं बौद्धिक दृष्टिकोण की आलोचना ने मानव चिंतन की दिशा को सौंदर्यबोध की ओर मोड़ दिया। यह सौंदर्यबोधीकरण ही है जो वृत्तांतों के रूप में चित्रित किया जाता है। यह वृत्तांतिक मोड़ दर्शन एवं मानव विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में घटित होता है। Christopher Norris के अनुसार "प्रत्येक प्रकार का ज्ञान किसी न किसी वृत्तांतीय रूचि में भाग लेता है।" इनके मत में रिचर्ड रोर्टी एवं Hidden White महत्त्वपूर्ण विचारक हैं जिन्होंने सांस्कृतिक परिवर्तन के लक्षणों को पहचाना और दर्शन एवं इतिहास को परिमार्जित करने में उसके प्रभाव का आकलन किया।

5. क्या उत्तर आधुनिकतावाद दर्शन है :

5.1 इस प्रश्न के दो उत्तर हो सकते हैं। उत्तर आधुनिकतावाद के प्रस्तावकों एवं प्रशंसकों की यह मान्यता है कि उत्तर आधुनिकतावाद दर्शन है। इन लोगों ने इसे नये युग के दर्शन (A new age philosophy) की संज्ञा दी है। इसके पक्ष में दिये गये तर्क निम्नलिखित हैं –

5.1.क उत्तर आधुनिकतावाद का संबंध दर्शन से है। यह विश्व के दर्शनों, अनेक संस्कृतियों के दर्शन की बात करता है। इसकां प्रमुख उद्देश्य परंपरागत दर्शनों, विशेषकर नवोन्मेष काल के दर्शन एवं आधुनिक दर्शन की विसंगतियों को सामने लाकर उसका

खण्डन करना है। वस्तुतः उत्तर आधुनिकतावादियों ने इस कार्य का सम्पादन कुशलता से करने का प्रयास किया है। जिस प्रकार भारत वर्ष में श्रमण दार्शनिकों ने ब्राह्मण धर्म एवं दर्शन की खुलकर आलोचना की और अपने तीक्ष्ण तर्कों से वेदों एवं उपनिषदों में आगत दार्शनिक विचारों को खण्डित कर अपने दार्शनिक संप्रदाय की स्थापना की ठीक उसी प्रकार पाश्चात्य परिवेश में उत्तर आधुनिकतावादियों ने मुख्यतः बुद्धिवादी, अनुभववादी, दार्शनिकों कान्ट, हिगेल, मार्क्स यहाँ तक कि सार्त्र आदि के मतों का खण्डन कर दर्शन के क्षेत्र में एक नये युग के चिन्तन का सूत्रपात किया।

5.1.ख. इस क्रम में यह कहना भी समीचीन प्रतीत होता है कि जिस प्रकार चार्वाक एवं बुद्ध ने वेदों और उपनिषदों को प्रामाणित नहीं माना, इन ग्रंथों की बातों के दैवी नहीं स्वीकार कर उन्हें अनर्गल प्रलाप कहकर शब्द प्रमाण का खण्डन किया और इन ग्रंथों की मौलिकता को चुनौती दी है। ठीक उसी प्रकार पाश्चात्य उत्तर आधुनिकतावादी जॉक देरिदा ने दर्शन एवं दार्शनिक कृतियों जिसे वे अधिवृत्तान्त की संज्ञा देते हैं, की मौलिकता पर ही प्रश्नचिन्ह खड़ा कर दिया है। उनकी अविरचना का सिद्धान्त (Theory of Deconstruotion) किसी भी अधिवृत्तान्त को मौलिक और प्रमाणित नहीं स्वीकार कर उसकी अर्थवत्ता ही समाप्त कर देता है। ऐसा करने में वे जिन युक्तियों का सहारा लेते हैं उन्हें दार्शनिक युक्ति कह सकते हैं।

5.1.ग. उत्तर आधुनिकतावाद चाहे जो कुछ भी हो शुद्ध रूप से पाश्चात्य परम्परा का एक सम्प्रवाह है। यह पाश्चात्य दर्शन के उन विषयों एवं प्रकरणों के क्रियाशील बिन्दुओं को हमारे सामने लाता है जो कभी न कभी उस सम्पूर्ण परम्परा में निहित रहे हैं यथा– संदेहवाद, अनेकतावाद तथा रूढ़िवादिता, हठधर्मिता, अंधविश्वास इत्यादि का निषेध, सत एवं सत्य जैसे अमूर्त प्रत्यय एवं इनके अमूर्तिकरण के प्रति संशय, दूसरे परम्पराओं एवं संस्कृतियों के प्रति सम्मान इत्यादि ये समस्त बातें इसे दर्शन की श्रेणी में रखने को बाध्य कर सकते हैं।

5.1.घ. उत्तर आधुनिकतावादी इतिहास की आलोचना एवं इतिहास की परम्परा के मध्य का संवाद उत्तर आधुनिकतावाद को एक प्रामाणिक दार्शनिक स्थिति प्रदान करता है। फूको द्वारा असातत्य की दृष्टि से इतिहास को देखने का प्रयास एवं इस क्रम में ज्ञान एवं शक्ति की अवधारणा का उत्तर आधुनिक सृजन उसकी दार्शनिक अंतर्दृष्टि का परिचायक है साथ ही हाशिये पर की विधायें, यथा– मानसिक आरोग्यशाला, यौनाचार की सीमा, जेल इत्यादि तथा दर्शन और इतिहास की दृष्टि से उपेक्षित पक्षों के स्वतंत्र इतिहास लेखन की माँग उसके मत को मौलिकता एवं दार्शनिकता प्रदान करते प्रतीत होते हैं।

5.1.ङ. जिस प्रकार भारतीय परम्परा में बुद्ध ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिक मतों यथा– आत्मवाद, नित्यतावाद, सुखवाद आदि की आलोचना कर उसके स्थान पर अनात्मवाद, क्षणिकवाद, दुखवाद एवं प्रतीत्यसमुत्पादवाद की स्थापना की, ठीक उसी प्रकार जॉन

देरिदा ने विखण्डनवाद रूपी अस्त्र से परंपरागत दर्शन की समस्त विश्वसनीयता पर प्रश्न चिह्न अंकित कर दिया तथा अपने Deconstruction के सिद्धांत की स्थापना की। इसी प्रकार उत्तर आधुनिकतावादी ने बुद्धि एवं बौद्धिक युक्तियों पर आधारित समस्त दार्शनिक वाद–विवाद को निरस्त कर दर्शन के एक नये आयाम का उद्घाटन करते हैं।

6. उत्तर आधुनिकतावाद दर्शन नहीं है :

उत्तर आधुनिकतावाद के समर्थकों के मत में उपरोक्त युक्तियों के आधार पर उत्तर आधुनिकतावाद को दर्शन की श्रेणी में रखा जा सकता है लेकिन इसके विपरीत दूसरे प्रकार के विचारकों के मत में उत्तर आधुनिकतावाद दर्शन है ही नहीं। यह अधिक से अधिक विषय को कहने का एक ढंग है। अपने इस मत के समर्थन में वे निम्नलिखित तर्क दे सकते हैं –

6.1 यह सत्य है कि उत्तर आधुनिकतावाद का संबंध दर्शन से है। यह नवोन्मेष काल के दर्शन, विशेषकर आधुनिक पाश्चात्य दर्शन, की प्रतिक्रिया के रूप में उभरा, उसकी विसंगतियों को प्रदर्शित करने का प्रयास किया। लेकिन दर्शन से संबंधित होना अपने आप में दर्शन नहीं है और न ही दार्शनिक परंपरा की समस्त आलोचनायें दार्शनिक कही जा सकती हैं। वे चिन्तन या वे आलोचनायें जो अपने पूर्ववर्ती दर्शन को एक समर्थ विकल्प प्रदान कर सकें वही दर्शन की परिधि में प्रवेश पा सकता है। उत्तर आधुनिकतावाद में ऐसा कुछ नहीं हैं।

6.2 आधुनिक पाश्चात्य दर्शन की आलोचना के क्रम में उत्तर आधुनिकतावादी बुद्धि एवं युक्ति पर आधारित उन समस्त तर्कों को निरस्त करते हैं जिसके आधार पर परम्परा एवं दर्शन की इमारत खड़ी है। बुद्धि के सत्य को देखने एवं पकड़ने में असमर्थ मानकर ये समस्त दार्शनिक परम्परा का खण्डन कर स्वयं को दर्शन की परिधि से दूर ले जाते हैं। "दर्शन विश्व को सम्पूर्णता में समझने का एक प्रयास है। दर्शन की इस परिभाषा पर ये दोहरी चोट करते हैं। प्रथमतः इन लोगों के मत में कोई समग्र दृष्टि नहीं है और द्वितीयतः बुद्धि सत्य को पकड़ पाने में असमर्थ है। और इस प्रकार ये स्वयं ही अपने मत को अदार्शनिक बना डालते हैं। रिचर्ड रोर्टी ने ठीक ही कहा है कि उत्तर आधुनिक सैद्धान्तिकी एक विडम्बनात्मक सैद्धान्तिकी है जो अमर शास्वत सत्यों और अनिवार्यताओं की खोज के विरुद्ध चलती है, और किसी एक मात्र व्याख्या या निष्कर्ष की योजना को चुनौती देती है।

6.3. ऐसी बात नहीं कि उत्तर आधुनिक योजना में तर्क या युक्ति का स्थान नहीं है। लेकिन इनके तर्क का उद्देश्य खण्डनात्मक होता है। निष्कर्ष प्रदायक नहीं और इस प्रकार यह दर्शन के पथ से भटक गया है। उत्तर आधुनिकतावादी सामान्यतः तर्क के लिए तर्क करते है। Robert Solomen एवं Katnleen M. Higgins के मत में "उत्तर आधुनिक विमर्श कोष्ठ, रेखिका, अल्पविराम आदि विच्छेदक विराम चिह्नों के व्यामोह में फस गया है। मुख्य बात तो यह है कि इनकी युक्तियों में अंतिम निष्कर्ष का अभाव रहता है लेकिन संगत उत्तर

आधुनिकतावादी फिर भी तर्क वितर्क करते रह सकते हैं।" यह ही नहीं ये अपने कथनों को गंभीरता से नहीं लेने पर व्यक्तिगत आक्षेपों के हाशिये की समीक्षा एवं राजनैतिक कटु आलोचना पर उतर आते हैं। यह दर्शन का लक्षण नहीं।

6.4. यह सत्य है कि उत्तर आधुनिकतावाद पाश्चात्य दार्शनिक सम्प्रवाह के क्रियाशील बिन्दुओं को सामने लाता है यथा – सन्देहवाद प्राचीन दार्शनिक परम्परा का एक सशक्त उपकरण है। जिसका प्रयोग दर्शन के इतिहास के मतों के खण्डन एवं मण्डन दोनों कार्यों के लिए हुआ है। देकार्तीय संदेह यदि आत्मा को प्रमाणित करता है तो ह्यूम का संदेह बुद्धिवादी तत्त्वों एवं अवधारणाओं के खण्डन के साथ अपने अनुभववादी दर्शन का मण्डन भी करता है। लेकिन उत्तर आधुनिक संदेह मात्र संदेह के लिए किया गया संदेह है। इसके पीछे उसकी कोई संरचनात्मक योजना नहीं है और न ही कोई सार्थक तर्क। कान्ट का दर्शन तत्कालीन दार्शनिकों एवं समाज को रूढ़िवादी नींद से Dogmatic slumber जगाता है तो उत्तर आधुनिक परम्परा का विरोध सदियों से चली आ रही नैतिक, सामाजिक एवं दार्शनिक ढाँचे को मात्र ध्वस्त करने का ही कार्य करता है। फलस्वरूप इन समस्त क्षेत्रों में संक्रांति की स्थिति पैदा हो जाती है। इससे कोई वैकल्पिक ढाँचा नहीं बनता। जो चिंतन मनुष्य के जीने के सहारे को ही नष्ट कर दे, मात्र यह कहकर या मात्र इस कारण कि यह पुराना है और कोई वैकल्पिक सहारा प्रदान नहीं करे उसे दर्शन की श्रेणी में रखा ही नहीं जाना चाहिए।

6.5. यह सत्य है कि मिशेल फूको इतिहास के संदर्भ में हिगेल एवं मार्क्स के एकता की अवधारणा को विखण्डित करते हैं और इतिहास को अनेक वर्गों में विभक्त होने की सम्भावना को देखते हैं। इतिहास के क्षेत्र में विभेदीकरण की कार्यवाही फूको की देन है जो ज्ञान में विमर्शों की अनेकता को अनुमति प्रदान करता है। इसी अवधारणा के साथ इतिहास की परम्रागत विवेचना पर प्रहार करता है। पर मात्र इस कारण हम मिशेल फूको को असातत्य का दार्शनिक नहीं कह सकते। फूको के इस असातत्य के तथाकथित दर्शन में क्रमभंग या असातत्य की धारणा इतना मौलिक नहीं कि इसे दर्शन की कोटि में रखा जाये। Archaeology of knwoledge में उन्होंने स्वयं स्वीकारा है कि "यह असातत्य या भंग पहले से कार्यरत नियमों के आधार पर ही संभव है।" इस प्रकार यहाँ असातत्य का तात्पर्य पूर्ण परिवर्तन नहीं वरन् पुनर्वितरण, पुनःपरिभाषीकरण एवं पुनःनिरूपण है।

6.6. उत्तर आधुनिकतावादी निषेध को मूलमंत्र स्वीकार करते हैं। निषेध के इस उपकरण से वे परम्परागत दर्शन, इतिहास, राजनीति, साहित्य एवं संस्कृति को नकारते हैं तथा स्यात् विकारशून्य जीवन की ओर उत्प्रेरित करते हैं। इस क्रम में स्पष्ट करना अपेक्षित प्रतीत होता है कि निषेध उनका नव सृजित अस्त्र नहीं है, अपितु प्राचीनतम दार्शनिक पद्धतियों में इस अस्त्र का प्रयोग हजारों वर्ष पूर्व ही हो चुका है। किन्तु दोनों में अंतर दिखलाया जा चुका है। प्राचीन पद्धति जीवन को सकारात्मक दृष्टि प्रदान करती है, इसे गतिशील बनाती है।

इसके विपरीत उत्तर आधुनिकतावाद में जीवन दर्शन का सम्पूर्ण अभाव दृष्टिगत होता है। दर्शन अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाता है। उत्तर आधुनिकतावाद तो प्रकाश को ही अंधकार में विलीन करने का श्रम साध्य प्रयास कर रहा है। ऐसी अवस्था में इसे दर्शन मानना ही नहीं चाहिए। अगर इसे दर्शन मान भी लिया जाये तो यह अंधकारोन्मुखी दर्शन होगा जो कि दर्शन की मूल अवधारणा के सर्वथा विपरीत होगा।

6.7. उत्तर आधुनिकतावाद अपनी सम्पूर्णता में अविश्वास परक चिंतन है। इसका स्थापित दार्शनिक मान्यता में विश्वास नहीं है, इतिहास के क्रमिक विकास में विश्वास नहीं है, साहित्य की सर्जनात्मक प्रवृत्ति में भी विश्वास नहीं है, संस्कृति की चेतना मुखी गति में विश्वास नहीं है शब्दों के फैलते हुए दायरे में विश्वास नहीं है, भाव और अर्थ की निष्पत्ति में विश्वास नहीं है, और तो और मौलिकता की धारणा में भी विश्वास नहीं है। ऐसी अवस्था में एक मौलिक प्रश्न उठता है कि उत्तर आधुनिकतवादियों को 'विश्वास नहीं' या 'अविश्वास' की अवधारणा पर विश्वास क्यों और कैसे होता है, मैं समझता हूँ कि इस प्रश्न का कोई सार्थक उत्तर उनके पास नहीं है। विडम्बना तो यह है कि इस 'विश्वास नहीं' की अवधारणा को तर्क और बुद्धि के सहारे विश्वसनीयता प्रदान करना चाहते हैं, जबकि उनका तर्क और बुद्धि में भी कोई विश्वास नहीं है। जो पद्धति अपने ही तर्क और बुद्धि से अपनी ही अविश्वसनीयता प्रमाणित करने का प्रयास करती हो उसके संबंध में यह सोचना भी कि यह एक दार्शनकि पद्धति हो सकती है, हास्यास्पद है।

6.8. हाशिये पर की विधाओं का इतिहास लेखन एवं उन पर ध्यान केन्द्रित करना उत्तर आधुनिकतावादियों का एक नूतन एवं मौलिक कार्य एवं उनकी विलक्षण एवं प्रगतिशील सूझ का परिचायक माना जाता है। उनका यह कार्य उन्हें दर्शन के क्षेत्र में एक राजनैतिक महत्त्व प्रदान करता है। जहाँ प्राचीन, मध्ययुगीन, नवोन्मेषकालीन, आधुनिक एवं अनेक समकालीन दर्शन पारमार्थिक लोकोत्तरीय चिन्तन, अमूर्तिकरण, भाषा विश्लेषण आदि में व्यस्त हैं वहीं उत्तर आधुनिकतावादी उपेक्षित एवं हाशिये पर के लोगों एवं विधाओं की बात कर दर्शन जगत् में अपना राजनैतिक कद ऊँचा करने में लगे हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि परम्परा के बहिष्करण एवं उपेक्षितों के ममन के क्रम में उत्तर आधुनिकतावादियों ने अपने उन प्रशंसकों और अनुयायियों को आकर्षित किया है जो अल्पज्ञ हैं और अपनी या अन्य परम्पराओं के विषय में जानने की आवश्यकता नहीं समझते। यह दूसरी बात है कि उत्तर आधुनिकतावाद के अधिकांश प्रस्तावक उस परम्परा विशेष के आधिकारिक विद्वान हैं।

6.9. हाशिये की जीवन विवेचना पर आत्यन्तिक बल प्रदान कर उत्तर आधुनिकतावादी अपने को सबल दिखाने की चेष्टा करते हैं जबकि सत्य यह है कि हाशिये पर के जीवन को अध्यानांकित कर ही समस्त दार्शनिक सिद्धांत निरूपित हुए हैं। एक परम शक्ति में विश्वास और उनका व्यक्तिपरक शक्ति के साथ समंजन, दुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति, सच्चिदानंद की स्थिति की प्राप्ति क्या हाशिये पर पलते जीवन के साथ जुड़े नहीं हैं? "सर्वे

भवन्तु सुखिनः" से क्या हाशिये के लोग बहिष्कृत हैं ? उत्तर आधुनिक साहित्य एवं चिंतन में हाशिये के जीवन दायरे के अंतर्गत जिस स्त्री स्वातंत्र्य, यौन व्यवहार आदि की चर्चा उकेरी जाती है वह परंपरा में अधिक शालीनता से चित्रित है। उत्तर आधुनिकतावादियों को अपने स्त्री परक, एवं यौन संबंधी चर्चा के साथ वैदिक ऋचाओं एवं मंत्रों, उपनिषदों और पुराणों के साथ काम सूत्र का पारायण भी कर लेना चाहिए। या फिर उन्हें Women of Rome भी देख लेना चाहिए। जहाँ हाशिये पर घटित घटनाओं के बहुत सारे उल्लेख मिलेंगे जिन्हें शास्वत जीवन दर्शन में पिरोये जाने का उपक्रम किया गया है। वस्तुतः हाशिये की चर्चा करते हुए उत्तर आधुनिकतावादी स्वयं ही हाशिये की वस्तु बन जाता है। तथा मानव अर्जित समस्त उपलब्धियों को अमौलिक बताते हुए स्वयं भी मौलिकता से दूर भागते दिखाई देते हैं।

6.10. प्रत्येक युग के साहित्य, दर्शन, इतिहास, राजनीति ने अपने काल में व्याप्त विकृतियाँ, विकार, मानव अनुभूत संवाद, घुटन, पीड़ा, अलगाव, शोषण, दोहन, उपेक्षा और रुदन को अपनी भाषा में व्यक्त करने का सार्थक प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न को मात्र क्षणिक एहसास मानकर अस्वीकार कर देना और क्षणों से बनते हुए सेतु को नष्ट करते जाना न तो साहित्य है न इतिहास और न अर्थ नीति, दर्शन तो वह कदापि नहीं है।

6.11. उत्तर आधुनिकतावाद या तो समस्त मानवीय उपलब्धियों को अस्वीकार कर जंगल युग में पुनः लौटने का निमंत्रण है या जैसा उत्तर आधुनिकतावादी स्वयं स्वीकार करते हैं कि "लिखा इसलिए जाता है कि उसे फेंक दिया जाये" सब कुछ फेंका चला जाये ही इसका मानसिक व्यायाम है। सब कुछ फेंकते चले जाने का उन्हें तात्कालिक लाभ यह अवश्य प्राप्त होगा लेकिन इससे वे अपने नये युग के आगम का मनु कहलाने के हकदार तो हो नहीं जायेंगे।

6.12. इन्हीं कारणों से उत्तर आधुनिकतावाद ने दर्शन के सुदीर्घ इतिहास में अद्वितीय, अस्पष्टता एवं महत्त्वाकांक्षा को आमंत्रण दिया है। यह दर्शन के क्षेत्र में राजनैतिक महत्त्व हेतु परम्परागत प्रामाणिकता के प्रति कुछ निश्चित संदेह एवं उससे कुछ दूरी बनाये रखने में विश्वास करते हैं। ये पाश्चात्य परम्परा की सामान्य धुँधले आडंबरयुक्त दार्शनिक शैली को अस्वीकार कर अपने असामान्य आडम्बरयुक्त धुँधले शैली को अधिक महत्त्व देते हैं। यद्यपि ये स्वयं को नकारात्मक रूप में शास्त्रीय बनाये रखने का प्रयास करते हैं परन्तु इनमें विनोद पूर्णता का भाव एवं गंभीरता का अभाव पाया जाता है। ये परम्परा एवं रूढ़ियों की आलोचना करते समय स्वयं भी रूढ़िवादी बन जाते हैं। अपनी शैली पर बल देने के क्रम में यह स्वयं रूढ़ शैली का अनुयायी एवं अकल्पनीय नरीस बिन्दु बन गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह वस्तुतः दर्शन का असिद्ध तर्क है। ruducito absurdum तथा दर्शन के निकृष्टतम मूलों का आवर्धन एवं स्तुति बनने की इच्छा रखता है।

7. उपसंहार :

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उत्तर आधुनिकतावाद दर्शन है ही नहीं। अधिक से अधिक यह विषय को कहने का एक ढंग है। तथ्यों को प्रतिपादित करने का एक रूप है, एक Holding Pattern है। यह विश्वदर्शन एवं अनेक संस्कृतियों के दर्शन के विषय में बात अवश्य करता है लेकिन इस प्रकार की बातें स्वयं में दर्शन नहीं होती। यही कारण है कि उत्तर आधुनिकतावादियों के इस नैराश्य के क्रंदन की "परंपरा का समय समाप्त हो गया है" और इसके बिना भी इंग्लैंड, अमेरिका, फ्रांस, हालैण्ड, जापान, यहाँ तक कि भारत वर्ष में भी शास्त्रीय दर्शन का कार्य अबाध गति से चलता आ रहा है। उत्तर आधुनिक चिंतक अपना पूरा जीवनकाल इस उत्तर आधुनिक चिंतन में लगा देते हैं और उन्हें कभी–कभी अपनी इस विडम्बना की अस्वीकृत अनुभूति भी अवश्य होती है।

7.1 दर्शन की मुख्य धारा में मंद गुंजन के साथ जो बहता है वह है विकास करती हुई तकनीक, पहले से अधिक गोपनीय या असामान्य चिंतन या बाद के मध्ययुगीन दार्शनिक संप्रदायों की भाँति दर्शनों का अस्तित्त्व। वर्तमान के कम्प्यूटर शोध में आकस्मिक विकास के फलस्वरूप संज्ञानात्मक विज्ञान पर आधारित उद्योग एवं कृत्रिम मेधा का जाल बिछाने के बावजूद दर्शन में आगत संक्रांति ने इसे संघनित होने को प्रेरित किया। उत्तर आधुनिकतावाद ने कालबद्ध शास्त्रज्ञों की एक नई पीढ़ी को जन्म दे दिया है। और परंपरा के पुराने संरक्षकों– जो मूल संस्कृत, पाली, प्राकृत, ग्रीक एवं लेटिन में दर्शन के ग्रंथों के अध्ययन पर दृढ़ हैं, जिन्होंने अभी तक षड दर्शन, वेद, बौद्ध एवं गीता, सुकरात, प्लेटो, देकार्त, अनुभववाद, कान्ट, हीगेल आदि के दर्शनों की विवेचना के लोभ को नहीं त्यागा है, तथा जो इस नये युग के चिंतन की प्रवृत्तियों से घबराये हुए हैं उन्होंने वास्तविक दर्शन के नाम पर उनसे मौलिक युद्ध भी छेड़ रखा है। कभी–कभी उनके मतभेद आलोचना–प्रत्यालोचना का विकट रूप धारण कर लेते हैं।

7.2 वास्तविक दर्शन के नाम पर इस निरर्थक तू–तू–मैं–मैं का खामियाजा निश्चित रूप से उन विद्यार्थियों को भुगताना पड़ता है जिन्होंने इनमें से किसी एक दार्शनिक सम्प्रदाय में प्रवेश कुछ पुराने दार्शनिक प्रश्न, यथा– जीवन का अर्थ, सुखमय जीवन का सूत्र, अपने विज्ञान की उपाधि एवं कार्य व्यवसाय के अनुसार विश्वास एवं सिद्धांत के विषय में प्रश्न पूछने हेतु लिया है। एक बात और इसमें हानि उठाने वालों में आम जनता एवं निश्चित प्रकार के बुद्धिजीवी समुदाय हैं जिनके पास अभी भी दार्शनिक अंतर्दृष्टि प्राप्ति की भूख है; तथा जो इहलौकिकता से परे का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, इसमें वे लोग भी हैं जो दैनिक संत्रास से पिस रहे हैं लेकिन किसी कारणवश शास्त्रीय दर्शन में भी उन्हें अल्प मात्रा में ही सही मानसिक भूख की खुराक स्यात नहीं मिल पा रही है। और इन सबों से जो बचता है वह है विद्वत् परिषद्, दार्शनिक संगोष्ठियों की वायुनिषिद्ध दीवारें। फिर भी मानव मस्तिष्क शून्य से घृणा करता है।

7.3 वर्तमान चिंतन परिवेश में जहाँ परंपरागत दर्शन पैर रखने में भी भय खाते हैं वहाँ दूसरे इस प्रकार का संकोच या भीरुता भी नहीं दिखलाते। इसी संदर्भ में स्यात् हम लोग उत्तर आधुनिक परिवेश, जिसे कभी युग के दर्शन के नाम से अभिहित किया गया है, को विचारों एवं धारणाओं का अद्‌भुत संग्रह मान लिए हैं जिसमें स्वस्थ चिंतन को लेकर तू–तू–मैं–मैं एवं हाशिये पर के पागलों एवं मूर्खों के स्वर भी सम्मिलित हैं। इस परिवेश में एक जिज्ञासु, अन्वेषक या दर्शन के शोधार्थियों को प्रत्येक चीज एवं प्रत्येक बातें वातावरण पर एक षडयंत्रकारी प्रबंध प्रतीत होती हैं, और कभी अंतहीन वृत्तांतों के प्रामाणिक औषधीय विकल्प और कभी–कभी तो यह बींसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के चित्र कथाओं के प्राचीन इजिप्सीय पात्र (एक विशेष प्रकार के शासकवर्ग) के अवतार प्रतीत होते हैं। लेकिन इस समस्त उत्तर आधुनिक संग्रह को एक आंदोलन के रूप में स्वीकार करना इन्हें गंभीर रूप से गलत समझना होगा।

7.4 इस संपूर्ण उत्तर आधुनिक परिदृश्य एवं वर्तमान चिंतन परिवेश पर दृष्टि डालने पर एक बात तो स्पष्ट होती है कि दर्शन की प्रत्यक्ष भूख, जो नये युग के घटनाक्रम, तथ्यों एवं स्थितियों से व्यक्त हो रहा है, दर्शन के क्षेत्र में दर्शन के लिए एक महत्त्वपूर्ण समस्यायुक्त पूर्वानुमान एवं भविष्यवाणियों को प्रतिध्वनित कर रहा है। दर्शन के क्षेत्र में आने वाले दुर्भाग्यपूर्ण दिन की चेतावनी के उपरान्त भी कुछ उत्तर आधुनिकतावादी एवं तथाकथित शोषित एवं अछूत प्रतीत होने वाले चिंतक समकालीन दर्शन को किसी हद तक परिभाषित करने हेतु उठ खड़े हुए हैं। परंपरा में जो बच जाता है वह है दार्शनिक चिंतन एवं जीवन दृष्टि की भूख जो नये विश्व चेतना के विकास के साथ जटिल हो गयी है। संकीर्ण विचार रखने वाले चिंतक अपने संकीर्ण चिंतन को जारी रख सकते हैं लेकिन बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती है। आज इससे कुछ अधिक संतोषपूर्ण चिंतन की एक अत्यन्त ही आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण माँग है। आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि इस नित्य नूतन एवं स्वतंत्र अध्यवसाय के युग में इस मौलिक माँग की पूर्ति अवश्य ही होगी।

***

सहायक पुस्तकों की सूची :

1. *Christopher Norris, Deconstruction : Theory and Practice, Matheun, 1982.*
2. *Ferdinand Saussur, Course in General Linguistics, London, 1966.*
3. *Founault Mischel, The History of sexuality; Vintage Books, New York, 1980.*
4. *Foucault Mischel, Discipline and Punish, New York, Random House, 1979.*
5. *Foucault Mischel, Madness and Civilization.*
6. *Foucault Mischel, What is Enlightenment ? in the Foucault Reader edi. P. Rainbow, Panguin, 1991.*
7. *Foucault Mischel, Space Knowledge and Power, Penguin, 1991.*
8. *Foucault Mischel, Power, Knowledge, Brighton, 1980.*

9. *Foucault Mishcel, The Archaeology of Knowledge, Pentheon, NewYork, 1972.*
10. *Foucault Mischel, The Birth of the Clinic.*
11. *Habermas, The Philosophical Discourse of Modernity, tr. Fredric Lawrence, Cambridge, M.A. M.I.T. Press, 1987.*
12. *Horkheimer, Tradition and Critical Theory, Tr. Mathew J. O'connell in Critical Theory, New York, Herder and Herder, 1972.*
13. *Horkheimer and Adorno, Dielectic of Englightenment, Tr. John Comming, New York, Continuum, 1972.*
14. *Jacquie Derrida, Margins of Philosophy, 1982.*
15. *Jacquie Derrida, White Methodology, New Literature, History, 1974.*
16. *Jacquie Derrida, Garamatology, John Hopkins University Press.*
17. *Jacque Derrida, Positions of Chicago, The University of Chicago Press, 1982.*
18. *Jean Francois Lyotard, Post Modern Conditions.*
19. *Richard Rarty, Philosophy and the Mirror of Nature.*
20. *सुधीश पचौरी, उत्तर आधुनिकतावाद एक साहित्यिक विमर्श.*
21. *देवेन्द्र इस्सर, नये वादों एवं पुराने विवादों के घेरे में, वागर्थ, अंक 48, मार्च, 1999.*

अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र

संजय कुमार शुक्ला

दर्शन जीवन एवं सत्ता के समग्र सत्य की गवेषणा तथा उपलब्धि है। दर्शन का कर्तव्य केवल जगत् एवं जीवन के अंतिम प्रश्नों का समाधान करने वाली दार्शनिक पद्धति का निर्माण करना ही नहीं है, अपितु हमारे दैनिक जीवन एवं व्यवहार, हमारी प्रवृत्तियों और विश्वासों की, हमारे नैतिक, सामाजिक जीवन का ऐसा मार्ग प्रशस्त करना, जिन पर चलने से हमारा एवं संपूर्ण मानव जाति का लौकिक अभ्युदय एवं कल्याण हो। यदि दर्शन उपरोक्त कर्तव्यों का पालन सचेष्ट एवं सजग होकर नहीं करता है तो उसके औचित्य एवं उपादेयता से सम्बन्धित प्रश्न निरंतर किए जाना अत्यन्त ही सहज एवं स्वाभाविक है। दर्शनशास्त्र को स्वचेतन विमर्शात्मक क्रिया के रूप में परिभाषित किया जाता है एवं इस रूप में वह अन्वीआ के द्वितीय स्तर की क्रिया है जिसकी सामग्री प्राकृतिक, सामाजिक विज्ञान आदि से प्राप्त होती है। दर्शन का सम्बन्ध मानव जीवन के सैद्धान्तिक, आदर्शात्मक और नैतिक पक्ष से ही नहीं, अपितु मानव जीवन के सामाजिक एवं राजनैतिक पक्षों से भी है। वह सामाजिक एवं राजनैतिक मूल्यों की स्थापना करता है, विभिन्न सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं के स्वरूप, उसके कार्य आदि का आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक मूल्यांकन करता है। अतः ये आरोप निराधार प्रतीत होते हैं कि दर्शन अव्यावहारिक, अमूर्त, काल्पनिक एवं अप्रासंगिक है क्योंकि वस्तुतः दर्शनशास्त्र मानव जीवन के लिए उतना ही उपयोगी और प्रासंगिक है जितना की अन्य शास्त्र ! यह हमें प्रामाणिक एवं नैतिक जीवन की कला सिखाता है। दर्शन का सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामूहिक जीवन से है। यह हमें मूल्यों का बोध कराता है तथा उसके मानदण्डों के निर्धारण के लिए निर्देश देता है तथा युक्तियुक्त चिंतन के लिए प्रेरित करता है। आज विश्व में भौतिकतावाद एवं उपभोक्तावादी संस्कृति का विस्तार इस कदर होता जा रहा है कि मनुष्य का अस्तित्त्व खण्डित हो गया है जिसे इरविन एडमण्ड जैसे पश्चिमी विचारक भी खण्ड में 'बँटा हुआ स्व' (Divided self) की संज्ञा देते हैं। यह खण्डित स्व मनोवैज्ञानिक तनाव एवं बौद्धिक अकुलाहट का कारण है। दर्शन मानव जीवन के व्यक्तिगत उत्कर्ष का दिशा निर्देश करने के साथ ही साथ सामुदायिक एवं सामाजिक जीवन के संदर्भ में भी हमारा मार्गदर्शन करता है।

दार्शनिक चिंतन मूलतः आत्मचेतन विमर्श होने से सप्रयोजन है। इस दृष्टि से दर्शन सत्ता एवं मानव जीवन के समस्त पहलुओं से संबद्ध समस्याओं पर उनका समाधान करने

के लिए, जीवन को 'सत्यम्', 'शिवम्' एवं 'सुंदरम्' की ओर ले जाने के लिए एक स्वचेतन एवं युक्तिसंगत चिंतन है। जीवन से असंबद्ध होकर कोई भी दार्शनिक चिंतन यथेष्ट नहीं हो सकता है। यदि दर्शन मात्र सैद्धान्तिक है तो यह मात्र बौद्धिक व्यायाम अथवा विलासिता होगा या फिर काकदंत परीक्षावत् निरर्थक होगा। यह तो सत्य है कि किसी भी दार्शनिक परंपरा एवं समुदाय में कुछ तत्त्व ऐसे होते हैं जिनका ऐतिहासिक महत्त्व होता है, किन्तु एक काल–सीमा के उपरान्त वे अपनी उपादेयता एवं जीवन्तता खो देते हैं, तो वहीं उसके अन्तर्गत कुछ ऐसे भी तत्त्व होते हैं जो कालजयी हैं अर्थात् जिनका परा–ऐतिहासिक (Transhistorical) मूल्य एवं प्रासंगिकता होती है। अतः हमारा ध्यान ऐसे ही परा–ऐतिहासिक मूल्य एवं व्यवस्था में होना चाहिए जो हमारे जीवन को वर्तमान में निर्देशित करे एवं भविष्य में भी हमारे लिए उपयोगी एवं उपादेय सिद्ध हो। दर्शन में आत्ममुग्धता एवं अतीतजीवी प्रवृत्तियों का होना घातक है, अपितु उसके स्थान पर उसे आत्म–अवलोकन एवं आत्मपरीक्षण अथवा आत्मसमीक्षण दृष्टि को विकसित करना चाहिए। यही दर्शन का परा–ऐतिहासिक मूल्य है। दर्शन की प्रासंगिकता अथवा उपादेयता पर प्रश्नचिह्न वर्तमान परिस्थिति एवं परिदृश्य में अत्यन्त ही गंभीरता से लगाया जा रहा है। दर्शन क्यों ? अर्थात् क्या दार्शनिक चिंतन मानवीय समस्याओं का समाधान करने में समर्थ है ? दर्शन के औचित्य का प्रश्न मूलतः वर्तमान समय में मनुष्य के समक्ष जो चुनौतियाँ हैं उसके समाधान से संबद्ध है। शुष्क तत्त्वमीमांसीय चिंतन एवं ज्ञानमीमांसीय उपागम हमारे लिए किस अर्थ में उपयोगी हैं ? अतः इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप दर्शन का भावी स्वरूप जो विकसित हो रहा है उसे अनुप्रयोगात्मक दर्शन (Applied Philosophy) की संज्ञा दी गई है। दार्शनिक चिंतन इस अर्थ में उपयोगी हो सकता है कि वह समस्या का तटस्थ, वस्तुनिष्ठ एवं निष्पक्ष भाव से विश्लेषण एवं विवेचना करे तथा उसका व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करे। इस तरह दर्शन कम से कम सहायक मनोदशा तो उत्पन्न कर ही सकता है जो समस्याओं के समाधान में महत्त्वपूर्ण हेतु होगा। मनुष्य की अस्तित्त्वात्मक समस्या का स्वरूप एवं क्षेत्र विशिष्ट भूखण्ड में सीमित नहीं, अपितु वैश्विक होता है। पारिस्थितिकीय असंतुलन एवं पर्यावरण विक्षोभ, इच्छा मृत्यु, भ्रूण–हत्या, लिंगीय समानता, नैतिक मूल्यों का क्षरण, उपभोक्तावादी संस्कृति एवं उसके दुष्परिणाम, अपसंस्कृति, भ्रष्टाचार की समस्या इत्यादि इन समस्याओं के कुछ दृष्टांत हैं। अतः यदि हम अपने दार्शनिक चिंतन को अपने चतुर्दिक एवं सभी प्रकार के पर्यावरण के प्रति उत्तरदायी एवं संवेदनशील बनायें एवं समस्याओं के समाधान में तार्किक, व्यावहारिक एवं विवेचनात्मक योग्यता एवं समन्वयात्मक दृष्टि प्रदर्शित करें तो समाज में दार्शनिक सिद्धांतों के प्रति विश्वास एवं आस्था की पुनर्स्थापना अवश्य हो सकती है।

II

दर्शनशास्त्र की मूल्यमीमांसीय विधा में नीतिशास्त्र का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसके अंतर्गत शुभ–अशुभ, उचित–अनुचित तथा कर्तव्य–अकर्तव्य इत्यादि की विवेचना एवं मीमांसा की जाती है। नीतिशास्त्र का सीधा सम्बन्ध मानव जीवन की अभीप्सा अथवा लक्ष्य से है एवं इसके अतिरिक्त मानवीय आचरण एवं चरित्र का विश्लेषण एवं नैतिक दृष्टि

से मूल्यांकन किया जाता है। पाश्चात्य नीतिशास्त्र के क्रमिक इतिहास एवं विकास पर यदि दृष्टिपात किया जाए तो इसे हम तीन वर्गों अथवा विधाओं में प्रस्तुत कर सकते हैं –

1. मानकीय अथवा आदर्शमूलक नीतिशास्त्र (Normative or Ideal Ethics)
2. अधिनीतिशास्त्र अथवा विश्लेषणात्मक नीतिशास्त्र (Metaethics or Analytical Ethics)
3. अनुप्रयुक्त अथवा व्यावहारिक नीतिशास्त्र (Applied or Practical Ethics)

मानकीय नीतिशास्त्र नैतिक निर्णय के माध्यम से मानव आचरण का आदर्श अथवा मानक प्रस्तुत करता है जिसका प्रतिनिधित्व पाश्चात्य परम्परा में मैकेन्जी एवं म्यूरहेड करते हैं। अधिनीतिशास्त्र का उद्देश्य नैतिक निर्णय के स्वरूप, प्रमाणीकरण तथा उसमें प्रयुक्त पदों के अर्थ का स्पष्टीकरण है। अधिनीतिशास्त्र पर तार्किक भाववादियों की इस मान्यता का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि दर्शन का कार्य भाषा का विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण है। ए.जे. एयर की दृष्टि में नीतिशास्त्र आचरण एवं उसके नियमों में रुचि नहीं रखता, अपितु, इन नियमों को व्यक्त करने वाली भाषा में उसकी रुचि है। आर.एम. हेयर नीतिशास्त्र को नैतिक भाषा के तार्किक अध्ययन के रूप में स्वीकार करते हैं और उनकी यह मान्यता मानकीय नीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र के रूप में नहीं स्वीकार करती है। हेयर की इस दृष्टि को स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह आत्मघाती है। ऐसा इसलिए कि अधिनीतिशास्त्र की विषयवस्तु मानकीय नीतिशास्त्र से प्राप्त होती है। यदि मानकीय नीतिशास्त्र का निषेध कर दिया जाए, तो अधिनीतिशास्त्र स्वयं ही रिक्त एवं अस्तित्त्वहीन हो जाता है। अतः वस्तुस्थिति यह है कि मानकीय एवं विश्लेषणात्मक नीतिशास्त्र एक दूसरे के पूरक होने के साथ–साथ एक उच्चतर साध्य के साधन हैं। यह उच्चतर साध्य है नैतिक, सद्गुणों से युक्त श्रेष्ठ मानव का निर्माण करना। इस साध्य की ओर बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में विचारकों की दृष्टि गयी, जिसके ही फलस्वरूप व्यावहारिक नीतिशास्त्र अथवा अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र का उद्भव हुआ। अधिनीतिशास्त्र की दार्शनिक आधारशिला बर्कले एवं ह्यूम ने रखी जिसके अनुसार भाषा तथ्य के वर्णन के साथ–साथ संवेगों की अभिव्यक्ति, परामर्श तथा आदेश जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों को संपादित करती है। भाषा के इस विविध कार्यों के आधार पर अधिनीतिशास्त्र संज्ञानवादी (Cognitive) एवं असंज्ञानवादी (Non-Cognitive) में विभक्त होता है। संज्ञानवादी नीतिशास्त्र के अनुसार नैतिक निर्णय उसी प्रकार संज्ञानात्मक अथवा वर्णनात्मक होते हैं, जिस प्रकार तथ्यात्मक कथन होते हैं। संज्ञानात्मक नीतिशास्त्र का द्विविध वर्गीकरण प्रकृतिवाद एवं निर्प्रकृतिवाद के रूप में किया जाता है। प्रकृतिवाद पुनः व्यक्तिनिष्ठवाद एवं वस्तुनिष्ठवाद में विभक्त होता है। व्यक्तिनिष्ठवाद के अनुसार नैतिक निर्णय व्यक्ति अथवा समुदाय की भावना, अभिरुचि अथवा इच्छा का वर्णन करता है जिसका प्रतिनिधित्व पाश्चात्य दर्शन में ह्यूम एवं रसेल करते हैं। वस्तुनिष्ठवाद इसके विपरीत यह प्रतिपादित करता है कि नैतिक निर्णय किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की मनोवृत्ति पर आधारित नहीं होते हैं, अपितु वस्तुनिष्ठ एवं सार्वभौम होते हैं। समकालीन पाश्चात्य दर्शन में फिलियाफूट, पेरी, वारनॉक और गीच आदि वस्तुनिष्ठ प्रकृतिवाद का समर्थन करते हैं। निर्प्रकृतिवाद की यह मान्यता

है कि नैतिक निर्णय की व्याख्या तथ्यात्मक कथनों द्वारा संभव नहीं है। प्राकृतिक पदों का अर्थ आनुभविक प्रेक्षण पर आधारित होता है, तो वहीं नैतिक पद अंतःप्रज्ञा (Intuition) पर अवलम्बित होता है और इस कारण से अंतः प्रज्ञावाद भी कहा जाता है। निर्प्रकृतिवाद अथवा अंतःप्रज्ञावाद से संबद्ध प्रमुख दार्शनिक मूर, रास, प्रिचई, क्राउ इत्यादि हैं। असंज्ञानात्मक नीतिशास्त्र की यह मूल मान्यता है कि नैतिक निर्णय किसी भी प्राकृतिक अथवा निर्प्राकृतिक गुण, सम्बन्ध अथवा वस्तुस्थिति का वर्णन नहीं करते हैं। असंज्ञानात्मक नीतिशास्त्र के दो रूप हमें प्राप्त होते हैं– संवेगवाद (Emotivism) एवं परामर्शवादी अथवा प्रदर्शनवाद (Prescriptivism)। संवेगवाद की मूल स्थापना यह है कि नैतिक निर्णय मुख्यतः वक्ता की भावना अथवा संवेग को अभिव्यक्त करते हैं तथा श्रोता की भावना अथवा संवेग को जागृत करते हैं। समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक जैसे कार्नप, एयर एवं स्टीवेन्सन इत्यादि संवेगवादी नीतिशास्त्र का समर्थन एवं पोषण करते हैं। हेयर एवं नावेलस्मिथ ने परामर्शवाद को प्रस्तावित किया है, जिसके अनुसार नैतिक निर्णय वक्ता की भावना अथवा संवेग को अभिव्यक्त नहीं करता अथवा श्रोता की भावना को जागृत नहीं करता; अपितु वे वक्ता अथवा श्रोता को किसी कर्म को करने अथवा नहीं करने का परामर्श अथवा प्रदेशन करता है। संवेग की अभिव्यक्ति के स्थान पर इसका मुख्य कार्य मार्गदर्शन है। अतः परामर्शवाद नैतिक निर्णय में वस्तुनिष्ठता एवं तार्किकता को स्वीकार करता है अर्थात् तर्क के द्वारा प्रमाणीकरण अथवा अप्रमाणीकरण उचित एवं संभव है।

III

अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र को अधिनीतिशास्त्र की प्रतिक्रिया के रूप में ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि अधिनीतिशास्त्र अत्याधिक शुष्क एवं आकारिक प्रतीत होता है जो कि अपने को केवल नैतिक निर्णय में प्रयुक्त पदों के विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण तक ही सीमित कर देता है। अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र की दार्शनिक पृष्ठभूमि तार्किक भाववाद, अर्थक्रियावाद एवं अस्तित्ववाद ने निर्मित की है। अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र को तार्किक भाववादियों की यह मूल मान्यता स्वीकार्य नहीं कि दर्शन का कार्य भाषा का विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण मात्र है। यह एक दृष्टि में सैद्धान्तिक निष्पत्तियों अथवा आदर्श के व्यावहारिक पक्ष की सार्थक गवेषणा है। यह सिद्धान्त को व्यवहार में रूपान्तरित करने की दृष्टि है। अतः व्यावहारिक पक्ष अथवा प्रयोजनमूलक अथवा अनुप्रयोगात्मक तकनीक सिद्धान्त–निर्माण की तुलना में कहीं अधिक सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह सफलतापूर्वक जीवन जीने में हमें दिशा निर्देश देता है। हम यहाँ पर अर्थक्रियावाद के प्रभाव को स्पष्टरूपेण प्रदर्शित कर सकते हैं जो कि नगद मूल्य सिद्धान्त (Cash value theory) को प्रस्तावित करता है–यदि किसी सिद्धान्त की व्यावहारिक उपादेयता है अर्थात् जिसमें प्रवृत्ति साफल्य है तो वह सत्य है अन्यथा असत्य है। अस्तित्त्ववादी दार्शनिक चिंतन में मनुष्य एवं जगत् का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया है जो कि मानवीय अस्तित्त्वात्मक समस्याओं के समाधान की अनिवार्य पूर्व शर्त है। अस्तित्त्व सार का पूर्ववर्ती है, स्वतंत्रता मानव का आंतरिक स्वरूप है, इत्यादि अस्तित्त्ववाद की मूल–प्रवृत्तियाँ हैं तथा अस्तित्त्ववादी नीतिशास्त्र अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र के

विभिन्न आयामों को हमारे समक्ष उद्घाटित करता है। अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र से संबद्ध प्रमुख चिंतक एवं विचारक पीटर सिंगर, जे.एल. मैकी, साइमन द बेडवा, डोगेयी पार्कर, मरविन कोल, विलियम ग्रे, डी. इहरनफेल्ड, कारोलिन मर्चेन्ट, पीटर ड्रंकर इत्यादि हैं। सिंगर एवं मैकी अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में अनेक नैतिक समस्याओं का विश्लेषण करते हैं। साइमन एवं डोगेयी ने मुख्यतः लिंगीय असमानता का विश्लेषण किया। कोल एवं ग्रे इच्छा मृत्यु तो वहीं इटरनफेल्ड एवं मर्चेन्ट पारिस्थितिकीय असंतुलन एवं पर्यावरण विक्षोभ की समस्या का विवेचन करते हैं। ड्रंकर प्रबन्धन नीतिशास्त्र से संबद्ध समस्याओं का विश्लेषण करते हैं। यह सभी विचारक उन समस्याओं और उनके समाधान की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं जिसे हम समाज में रहते हुए उनका अनुभव करते हैं। यह समस्याएँ वे हैं जो हमारे समक्ष चुनौती के रूप में हैं और जिनका सामना नैतिक सिद्धान्त एवं आदर्श के माध्यम से संभव है। अतः इन विचारकों की यह दृढ़ मान्यता है कि इन समस्याओं एवं मुद्दों का समाधान न तो मानकीय नीतिशास्त्र में और न ही अधिनीतिशास्त्र में संभव है और इसलिए अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र की उपादेयता है। मानकीय नीतिशास्त्र के लिए संभव नहीं क्योंकि वह केवल आदर्श एवं मानकों की स्थापना करता है तो वहीं अधिनीतिशास्त्र महत्त्वपूर्ण नैतिक समस्याओं की उपेक्षा करता है क्योंकि उसका क्षेत्र केवल नैतिक भाषा के विश्लेषण तक ही सीमित है।

अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र मानकीय नीतिशास्त्र से इस दृष्टि में भिन्न है कि मानकीय नीतिशास्त्र स्वरूपतः अधिक सैद्धान्तिक एवं सामान्य है जो कि मौलिक सिद्धान्त अथवा आदर्श अथवा मानकों की गवेषणा करता है`तो वहीं अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र स्वरूपतः व्यावहारिक एवं विशिष्ट है। हमें इससे यह निष्कर्ष नहीं प्राप्त करना चाहिए कि वे दोनों विरोधी विधाएँ हैं क्योंकि मानकीय नीतिशास्त्र स्वयं में अमूर्त होने के कारण व्यावहारिक लक्ष्य की सिद्धि में निष्फल सिद्ध होता है। अतः इस प्रकार से अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र का सम्बन्ध मूर्त विषय अथवा अस्तित्त्वात्मक समस्याओं से है। अंत में हम नीतिशास्त्र की विविध विधाओं का विश्लेषण इस रूप में कर सकते हैं – मुख्यतः मानकीय नीतिशास्त्र संकल्पनात्मक, अधिनीतिशास्त्र विश्लेषणात्मक एवं अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र क्रिया–फलात्मक है। यह इन विधाओं के स्वरूप का विश्लेषण है किन्तु हमें यह निष्कर्ष प्राप्त करने के लिए प्रेरित नहीं करता कि ये एकान्तिक हैं। अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र में संकल्पना एवं विश्लेषण दोनों को स्वीकार किया गया है और इसे क्रियात्मक पक्ष के साथ संबद्ध करने का भी प्रयास किया गया है। अतः अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र अन्य विधाओं की तुलना में अधिक समग्र है। मानकीय नीतिशास्त्र का मूल उद्देश्य नैतिक प्रतिमान की स्थापना है, तो वहीं अधिनीतिशास्त्र प्रतिमान अथवा आदर्श की स्थापना को उद्देश्य नहीं मानता; अपितु इन प्रतिमानों को अभिव्यक्त करने वाले पदों, प्रत्ययों और निर्णयों के स्वरूप, अर्थ और प्रमाणीकरण के प्रश्न को मुख्य उद्देश्य स्वीकार करता है। अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र का मुख्य उद्देश्य विमर्श से प्राप्त निष्कर्षों को वास्तविक जीवन में प्रयुक्त करके मानव जीवन का उन्नयन करना है। अतः अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र मनुष्य की विविध अस्तित्त्वात्मक समस्याओं

का समाधान विश्लेषण एवं आदर्श अथवा मानक के द्वारा प्रस्तुत करता है और उसकी विशिष्टता यह है कि वह केवल सैद्धान्तिक समाधान न हो अपितु व्यावहारिक हो। अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र की मूल मान्यता को हम इस रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं–

1. यह तर्कवाक्यों का समूह नहीं है।

2. यह कोई आदर्श व्यवस्था नहीं है जो कि सैद्धान्तिक दृष्टि से तो उत्कृष्ट है किन्तु व्यवहार की दृष्टि से शुभ अथवा उचित नहीं है।

3. नीतिशास्त्र का सीधा सम्बन्ध यथार्थ जगत् से है और इस दृष्टि से नीतिशास्त्र समाज की समस्याओं के व्यावहारिक समाधान में सार्थक भूमिका निभा सकता है अर्थात् नीतिशास्त्र अनुप्रयुक्त अथवा अनुप्रयोगात्मक है।

पाश्चात्य नीति शास्त्र का त्रिविध वर्गीकरण वस्तुतः दृष्टिभेद है। इसके अन्तर्गत नीतिशास्त्र के पक्ष विशेष पर विशेष महत्त्व दिया गया है किन्तु यहाँ पर मौलिक प्रश्न उपस्थापित किया जा सकता है कि क्या एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्त्व संभव है ? भारतीय नीतिशास्त्र अथवा आचार शास्त्र में इस प्रकार का पार्थक्य दृष्टिगोचर नहीं होता है क्योंकि आदर्श अथवा मानक एवं उसका विश्लेषण साथ ही साथ उसकी व्यावहारिक उपयोगिता को भी निरूपित करता है, क्योंकि उनका अनुपालन करके सफल नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट जीवनयापन संभव है। अतः भारतीय नीतिशास्त्र में एकांगी दृष्टिकोण के स्थान पर हम समग्र दृष्टि को पाते हैं।

IV

पारिस्थितिकीय असंतुलन से कुपित पर्यावरण की समस्या ने वर्तमान समय में प्राणीमात्र के समक्ष अस्तित्त्व का गंभीर संकट उत्पन्न किया है। आसन्न समस्या के प्रति सकारात्मक सोच ही समाधान नहीं, अपितु इसके लिए एक विश्वजनीन क्रियात्मक संकल्प की महती आवश्यकता है। पर्यावरण की समस्या मूलतः मनुष्य एवं प्रकृति के परस्पर सम्बन्ध की पुनर्समीक्षा को प्रस्तावित करती है। दार्शनिक दृष्टि से पर्यावरण विक्षोभ की समस्या प्रकृति विषयक मानवीय दृष्टिकोण एवं व्यवहार से संबंधित है और इस कारण से इसका स्वरूप अस्तित्त्वात्मक है। मानव आचरण का विवेचन परिवेश के परिप्रेक्ष्य में ही संभव होता है और परिवेश का निर्माण चर–अचर प्राणियों के द्वारा होता है। प्रत्येक प्राणी का आचरण परिवेश में प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। मनुष्य ने प्रकृति का जो अविचारित शोषण किया है वह उसकी स्वार्थपरता एवं विवेकहीनता का परिचायक है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संपूर्ण विश्व में पर्यावरण के प्रति जो जागरूकता और चेतना जागृत हुयी है, वह पर्यावरणीय विवेक की ही विलम्बित अभिव्यक्ति है। पारिस्थितिकीय संकट के संदर्भ में दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में यह प्रश्न गंभीरतापूर्वक प्रस्तुत किया गया कि सृष्टि,में कौन से तत्त्व एवं प्राणी आन्तरिक रूप से महत्त्वपूर्ण हैं अर्थात् कौन से तत्त्व स्वयं में मूल्यवान हैं। परंपरागत नीतिशास्त्र में मनुष्य को ही नैतिक दृष्टि से मूल्यवान स्वीकार किया गया है। पारिस्थितिकी दर्शन को दो स्तरों में विभक्त किया गया है– सतही पारिस्थितिकी (Surface Ecology) एवं गहन पारिस्थितिकी (Deep Ecology)। सतही पारिस्थितिकी

चिंतन में जहाँ केवल मनुष्य के अधिकारों तथा प्रकृति पर उसके नियंत्रण की बात की गई है तो वहीं गहन पारिस्थितिकी में मानव के उसके प्रति दायित्त्व एवं कर्तव्य को प्रस्तावित करके एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण को विकसित किया गया है । गहन पारिस्थितिकी के अंतर्गत नैतिकता की परिधि का विस्तार करते हुए, इसमें मानवेत्तर प्राणियों, जीव–जन्तुओं, वनस्पतियों, वृक्षों एवं प्राकृतिक पदार्थों को सम्मिलित किया गया है जो स्वयं में मूल्यवान हैं। लिन वाइट जूनियर ने पारिस्थितिकीय संकट के ऐतिहासिक कारणों का विश्लेषण किया है। मनुष्य एवं प्रकृति सम्बन्धी अलगाववादी धारणा का उत्स बाइबिल में प्राप्त होता है– "ईश्वर ने मनुष्य को अपनी अनुकृति में उत्पन्न किया है तथा समुद्र की मछलियों पर, वायु, एवं पृथ्वी पर तथा पृथ्वी पर रेंगने वाले प्रत्येक जीव पर मनुष्य को नियंत्रण और शासन करने का अधिकार दिया है"– बाइबिल – जेनेक्स 1126। सन्त अगस्टाइन ने भी प्रकृति पर मनुष्य की श्रेष्ठता का समर्थन किया। थॉमस एक्वीनास ने प्रकृति अनुक्रम एवं श्रृंखलाबद्धता का उल्लेख करते हुए बताया है कि इसमें अल्प बौद्धिक क्षमता वाले प्राणी अधिक बौद्धिक क्षमता वाले जीवों के उपभोग के लिए हैं। पर्यावरण के प्रति संवेदनशील आधुनिक ईसाई पर्यावरणवादियों ने ईसाई धर्म की मान्यताओं का बचाव करते हुए कहा कि हमें अधीनता (Dominion) शब्द की व्याख्या अन्य जीवों के प्रति मनमानी करने की छूट के अर्थ में नहीं लेना चाहिए तथा मानवेत्तर प्राणियों व प्राकृतिक सम्पदाओं के अंधाधुंध शोषण का अधिकार नहीं समझना चाहिए। इन विचारकों ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए कहा कि वस्तुतः इसे ईश्वर द्वारा मनुष्य को अन्य प्राणियों के संरक्षण के निर्देश के रूप में ग्रहण करना चाहिए तथा मनुष्य को ईश्वर के प्रति अपनी जवाबदेही का अनुभव करना चाहिए।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि पश्चिमी परंपरा के मानव केन्द्रित (Anthropocentric) नैतिक ढाँचे में प्राकृतिक जगत् को मनुष्य के उपभोग तथा लाभ के लिए उत्पन्न माना गया है तथा केवल मनुष्य को ही इस जगत् में नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सदस्य स्वीकार किया गया है। प्रकृति स्वयं में मूल्यवान नहीं है और इस प्रकार से जब तक पशुओं एवं पौधों के विनाश से मानवहित प्रभावित न हो, उन्हें नष्ट करना न तो अशुभ और न ही अनैतिक है। आधुनिक पाश्चात्य मानव केन्द्रित नैतिकता के विपरीत प्राचीन काल से भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति के अंतर्गत समष्टिवादी (Holistic) नैतिकता की स्थापना की गई जिसमें प्रकृति पर मनुष्य के शासन अथवा नियंत्रण को स्वीकृति नहीं प्रदान की गई है। भारतीय परंपरा में प्रकृति एवं मनुष्य के समन्वय, सहयोग एवं सामंजस्य की संस्तुति की गई है। भारतीय दर्शन की आध्यात्मिकतावादी दृष्टि में जड़–चेतन, प्राकृतिक–अप्राकृतिक, जैविक–अजैविक, मानव–मानवेत्तर, सभी प्राणियों, पदार्थों एवं पौध ों को एक ही परमतत्त्व से उत्पन्न माना गया है। भारतीय चिंतन के अंतर्गत जीवन की पवित्रता एवं प्रकृति के प्रति आदर भाव का प्रतिपादन किया गया है। मनुष्य और प्रकृति का भारतीय दृष्टि में न तो द्वैतभव है और न ही प्राकृतिक शक्तियाँ मनुष्य के लिए रक्तरंजित हाथ। अतः मनुष्य द्वारा प्राकृतिक शक्तियों के दोहन और शोषण को अनैतिक कार्य की संज्ञा दी गई है। भारतीय परंपरा में विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों, प्राणियों और पशुओं को

दैवीय–स्वरूप प्रदान करके उनके संरक्षण का समर्थन किया गया है। अतः पर्यावरणीय नीतिशास्त्र में मानव केन्द्रित प्रारूप (Anthropocentric Model) के स्थान पर ब्रह्माण्ड केन्द्रित प्रारूप (Cosmocentric Model) को वरीयता प्रदान की गई है।

भारतीय परंपरा की तरह समकालीन पाश्चात्य नीतिशास्त्रियों ने भी जीवन की पवित्रता एवं आदरभाव का प्रतिपादन किया है। अल्बर्ट स्वेटजर ने एक ऐसे नैतिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया जिसमें सभी प्राणी समाविष्ट हैं। अतः जिस प्रकार से मैं अन्य प्राणियों के बीच जीवनयापन करता हूँ और अधिकतम सुख एवं न्यूनतम दुःख प्राप्त करना चाहता हूँ वैसे ही सभी प्राणी अपना जीवनयापन करना चाहते हैं। जीवन को संरक्षण देना शुभ है एवं जीवन का विनाश सदैव अशुभ है और इस कारण जीवन की पवित्रता को स्वीकार करते हुए हमें किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए। पॉल टेलर का यह मानना है कि प्रत्येक वस्तु अपने तरीके से अपना हित करना चाहती है। अतः सभी जीवों को स्वयं की भाँति व्यवहृत करना चाहिए और उनके अस्तित्त्व को मूल्यवान समझना चाहिए। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अमेरिकी पारिस्थितिकीविद आल्डो लियोपाल्ड ने एक नवीन नैतिक दृष्टिकोण के विकास की आवश्यकता पर बल दिया है जिसके अंतर्गत मनुष्य के प्रकृति तथा उसके पशु एवं वनस्पतियों के साथ सम्बन्ध की विवेचना की जाए। उनके द्वारा प्रस्तावित भू–नीति (Land Ethics) के अंतर्गत भूमि, जल, वनस्पतियाँ, वृक्ष और पशु सभी सम्मिलित हैं। नार्वे के प्रसिद्ध आर्ने नैस ने गहन पारिस्थितिकी के अंतर्गत संपूर्ण पर्यावरण के संरक्षण का समर्थन इस आधार पर नहीं किया कि वे मनुष्य के हित पूर्ति के लिए आवश्यक हैं अपितु वे स्वयं में मूल्यवान एवं महत्त्वपूर्ण हैं। आर्ने नैस और जार्ज सेसन्स ने गहन पारिस्थितिकी की प्रमुख विशेषताओं को इस रूप में रेखांकित किया–

1. इस पृथ्वी पर सभी मनुष्य एवं मानवेत्तर प्राणी स्वयं में मूल्यवान हैं अर्थात् उनका आंतरिक मूल्य है। मानवेतर जगत् का महत्त्व केवल मानवीय उद्देश्यों की पूर्ति के कारण नहीं है अपितु उनके स्वयं में महत्त्वपूर्ण होने के कारण है।
2. विविध जैविक तत्त्वों की समृद्धि और विविधता उनके आंतरिक मूल्यों की संरचना में सहायक होती हैं।
3. अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त इन जैविक तत्त्वों की समृद्धि एवं विविधता को नुकसान पहुँचाने का मनुष्य को कोई अधिकार नहीं है।

पर्यावरणीय नीतिशास्त्र के क्षेत्र में कार्य करने वाले दो आस्ट्रेलियन विचारक रिचर्ड सिल्वान एवं वान प्लमवुड ने भी चेतन प्राणियों के अतिरिक्त प्राकृतिक तत्त्वों को भी नैतिकता की परिधि में स्वीकार किया है। लारेन्स जानसन की यह धारणा है कि संपूर्ण पारिस्थितिकी तंत्र विभिन्न जीवों का संग्रह मात्र नहीं है अपितु स्वयं में एक समष्टि है। उनके कथन का निहितार्थ है जिस प्रकार व्यक्तिगत मानवीय हितों का नैतिक दृष्टि से संरक्षण करना हमारा दायित्त्व है उसी प्रकार संपूर्ण पारिस्थितिकी तंत्र को भी नैतिकता की परिधि में लाने की आवश्यकता है। पर्यावरणीय नीतिशास्त्र पारिस्थितिकी संतुलन की स्थापना हेतु संपोषणीय विकास (Sustainable Devlopment) की अवधारणा का समर्थन

करता है जिससे कि भावी पीढ़ी के गुणवत्तायुक्त सुरक्षित जीवनयापन के लिए स्वस्थ पर्यावरण, समुचित प्राकृतिक संसाधन संरक्षित किये जा सकें। अतः इसके लिए इतना ही पर्याप्त नहीं कि हम अपनी जीवनशैली में परिवर्तन लायें, अपितु हमें अपनी मानसिकता, दृष्टिकोण और चिंतन में भी परिवर्तन लाना होगा। हमें अपनी आवश्यकता (Need) एवं लोभ (Greed) के बीच अंतर समझना होगा। हमें प्रकृति के अविवेकी शोषण एवं प्राकृतिक संसाधनों के बेशुमार दोहन की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना होगा। भौतिकवादी दृष्टि एवं स्वार्थवादी प्रवृत्ति का परित्याग करके हमें आध्यात्मवादी दृष्टि एवं परार्थवादी प्रवृत्ति को विकसित करना होगा।

पर्यावरण की समस्या पर भारतीय दृष्टि से विचार हमें सुखमय एवं शान्तिमय जीवनयापन के लिए दिशा निर्देश देता है। मनुष्य एवं प्रकृति के सम्बन्ध विषयक भारतीय यथार्थवाद प्राकृतिक व्यवस्था एवं पर्यावरण में परिवर्तन के स्थान पर प्राकृतिक व्यवस्था के साथ सामंजस्य स्थगित करने के लिए स्वयं मनुष्य में मनोदैहिक रूपान्तरण (Prycho - Physical Transformation) की अनुशंसा करता है। यहाँ मनुष्य विरोधी "प्रकृति" एवं "प्रकृति विरोधी मनुष्य" की संकल्पना के स्थान पर मनुष्य एवं प्रकृति की तात्त्विक एकता, बाह्य एवं आन्तर जगत् का अभेद, यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे एवं अलौकिक नैतिक वैश्वीय व्यवस्था 'ऋत' (Supera Cosmic Order) में निबद्ध सृष्टि की अवधारणा की गई है। भारतीय चिंतन परंपरा स्वरूपतः अध्यात्मवादी है। जगत् विषयक अध्यात्मवादी दृष्टि में मनुष्य एवं प्रकृति के मध्य विरोध नहीं है अपितु आत्मगतसमता एवं वस्तुगतसमता की सर्वसमावेशी दृष्टि है। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि यह लोक इसलिए प्रिय है कि यह आत्मा को प्रिय है (न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया! भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति।।" – 2/4/5 वृ.उ.) वस्तुतः आत्मा के प्रिय होने से सब कुछ प्रिय है ("आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति"। इस आत्मप्रेम का संपूर्ण लोक में विस्तार ही श्रेयस दृष्टि है। आत्मवादी विश्वदृष्टि में तो मानवीय श्रेष्ठता के अहंकार के लिए कोई स्थान ही नहीं है। संपूर्ण प्रकृति में आत्मदर्शन और समभाव की विश्वदृष्टि आज पारिस्थितिकी असंतुलन से त्राण पाने के लिए आवश्यक है। भारतीय चिंतन परम्परा में बाह्य एवं आन्तर जगत् की अभेद दृष्टि भी मनुष्य द्वारा प्रकृति के शोषण के स्थान पर पोषण की प्रेरणा प्रदायिनी है। पारिस्थितिकी संतुलन एक प्राकृतिक नियम है एवं नैतिक नियम की भाँति सभी प्राकृतिक नियम ऋत् आधृत होते हैं। वदों में प्राप्त ऋत की अवधारणा भी मनुष्य एवं प्रकृति के मध्य व्यापक सामंजस्य को प्रस्तावित करती है। मानव बुद्धि अहंकार के कारण मनुष्य एवं प्रकृति में अंतर्विरोध देखती है। अतः मनुष्य को ऋत का विरोधी नहीं अपितु ऋतानुगामी होना चाहिए। पर्यावरण को नष्ट करने के मूल में हिंसा की प्रवृत्ति होती है और अहिंसा परमोधर्मः केवल भारतीय संस्कृति का ही मूलमंत्र नहीं है अपितु, विश्व के सभी नैतिक दर्शन अहिंसा को एक सद्गुण के रूप में स्वीकार करते हैं। अतः आवश्यकता है इस मूलमंत्र को धारण करने की जो सामंजस्य एवं समरसता को स्थापित करेगा। भारतीय दार्शनिक चिंतन एवं सांस्कृतिक परंपराओं पर विहंगम दृष्टिपात करने से यह सुस्पष्ट है कि

कई उपागमों द्वारा मानव बुद्धि को प्रकृति प्रेम से संस्कारित किया गया है। संपूर्ण वैदिक नित्यकर्म पद्धतियों एवं यज्ञादि में यह आग्रह परिलक्षित होता है। प्रकृति के विभिन्न क्षेत्रों की अधिष्ठात्री देवी–देवताओं की संकल्पना, पृथ्वी, जल, वायु आदि पंच तत्त्व में देवत्व का भाव, वनस्पतियों में जीवन एवं इसकी पूजा, यज्ञ कर्मों के द्वारा प्रकृति के कोप शान्ति की कामना जैसे कई सांस्कृतिक मूल्य भारतीय जीवन पद्धति में समाविष्ट हैं, जो 'डीप इकोलॉजी' की पृष्ठभूमि निर्मित करते हैं। वर्तमान में इसी दृष्टिकोण के सम्यक् विकास की महती आवश्यकता है जिससे पारिस्थितिकी संकट का निराकरण किया जा सके तथा मनुष्य के भावी जीवन को सुरक्षित, सुखी एवं सुविधा संपन्न बनाया जा सके।

V

आधुनिक समाज में समानता की प्रतिष्ठा सर्वोच्च राजनैतिक एवं सामाजिक मूल्य के रूप में समाजवादी आंदोलन के फलस्वरूप हुई है। समानता का मूल अर्थ है– अवसर की समानता। असमानता अथवा भेद के अनेक आधार संभव हैं – जाति, धर्म, प्रजाति, संस्कृति, राष्ट्रीयता, लिंग आदि। लिंगीय समानता का आदर्श समकालीन चिंतन में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हो गया है जिसका प्रमुख कारण नारी चेतना का विकास है। लिंग शब्द का प्रयोग प्रमुख दो अर्थों के रूप में किया जाता है –

1. जैव वैज्ञानिक अर्थ जो कि नर एवं मादा के प्राकृतिक भेद पर आधारित है एवं प्राकृतिक होने के कारण समाप्त नहीं किया जा सकता है।
2. समाजशास्त्रीय अर्थ, जिसके अनुसार भिन्न लिंग के दो व्यक्तियों के बीच सामाजिक एवं राजनैतिक अधिकारों में, रहन–सहन एवं खान–पान में, शिक्षा एवं उद्योग में, वेश–भूषा में तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में समानता होनी चाहिए। लिंगीय समानता (Gender Equality) का आदर्श समाजशास्त्रीय अर्थ में ग्रहण करने के योग्य है।

कभी–कभी समानता का विरोध करने वाले यह तर्क देते हैं कि समानता संभव नहीं है; क्योंकि प्रकृति ने समस्त प्राणियों को असमान उत्पन्न किया है। समानता विरोधियों का यह तर्क स्वीकार करने के योग्य नहीं है; क्योंकि एक तो समाज प्राकृतिक नहीं और दूसरे प्रकृति की संरचना का संशोधन एवं समायोजन करके संस्कृति का निर्माण होता है और समानता संस्कृति की माँग है। व्यक्ति एवं समष्टि के विकास तथा कल्याण के लिए समान अवसर की उपलब्धता सभ्य समाज की आवश्यकता है। लोकतंत्र में स्वतंत्रता को सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु स्वतंत्रता का प्रत्यय अनिवार्यतः समानता के आदर्श से संबद्ध है। स्वतंत्रता तभी संभव है, जब वह समानरूपेण सबको प्राप्य हो। अतः लोकतांत्रिक समाज में लिंगीय समानता की माँग अत्यन्त सशक्त रूप से उपस्थित हुई है। लिंगीय समानता का आदर्श मूलरूप से यह प्रस्तावित करता है कि व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में देखा जाए, स्त्री अथवा पुरुष के रूप में नहीं। लॉस्की ने समानता शब्द के भाव को इस रूप में स्पष्ट किया–समानता मूलरूप से समानीकरण की प्रक्रिया है जिसका द्विविध आशय है– विशेषाधिकारों का अभाव एवं सभी व्यक्तियों को विकास हेतु पर्याप्त अवसर। नारी–स्वातंत्र्य आंदोलन के फलस्वरूप विश्व पटल पर स्त्रियों की स्थिति में

अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ है जो कि शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति के कारण ही संभव हुआ है। विश्व के विकसित देशों में लिंगीय समानता जहाँ मूर्त आकार ले रहा है, तो वहीं विकासशील एवं अविकसित देशों में अभी भी एक कोरे आदर्श के समान है और स्त्री को पुरुष के समकक्ष आने में पर्याप्त समय लगेगा। कभी धर्म के नाम पर, कहीं परंपरा निर्वहन, तो कभी शारीरिक निर्बलता के आधार पर पुरुषों द्वारा स्त्रियों का शोषण वर्तमान में भी दृष्टिगोचर है। अपनी शारीरिक अशक्तता और आर्थिक निर्भरता के कारण स्त्रियों में स्वयं के प्रति अनिश्चितता का भाव व्याप्त रहता है जो कि उनके आत्मविश्वास के अभाव का द्योतक है। रोबैक की यह मान्यता है कि पुरुषों में तार्किक ढंग से चिन्तन करने की जन्मजात प्रवृत्ति होती है जिसका प्रायः स्त्रियों में अभाव पाया जाता है। शॉपेनहावर ने तो यहाँ तक कहा कि मातृत्व (Motherhood) एवं कुशाग्रता (Genius) में युद्ध होता है अर्थात् दोनों में परस्पर विरोध है। फ्रायड भी रोबैक का समर्थन करते हुए कहते हैं कि स्त्रियों में अवश्य ही तर्कबुद्धि अपेक्षाकृत कम पायी जाती है जिसके फलस्वरूप उनके मन में ईर्ष्या की भावना का अधिक संचार होता है। यदि हम निष्पक्षता एवं गंभीर दृष्टि से विचार करें तो यह पाते हैं कि वस्तुस्थिति यह है कि स्त्रियों का लालन–पालन जिन परिस्थितियों में होता है, वे परिस्थितियाँ ऐसी हैं जिनमें उन्हें आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहन नहीं प्राप्त होता है। लड़कों को व्यक्तिगतता की ओर प्रोत्साहित किया जाता है और उन्हें विचारों एवं कार्यों में स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षण दिया जाता है। लड़कियों को आज्ञापालन, निर्भरता एवं आदरपूर्ण स्वीकृति की शिक्षा दी जाती है। उन्हें यह सलाह दी जाती है कि विचारों एवं कार्यों में स्वतंत्रता उनके लिए अयोग्यता है, स्त्रीत्व के विरुद्ध है। स्त्रियों के साथ जो असमानता, भेदभाव अन्याय एवं शोषण किया जाता रहा है, उसके मूल में पुरुष–प्रधान समाज का पूर्वाग्रह, पुरुषों का मिथ्या अहं तथा आधिपत्य स्थापित करने का दुराग्रह ही प्रमुख कारण है।

साइमन डी बुआ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "दी सैकण्ड सेक्स" के अंतर्गत 'स्वतंत्रता' 'वरण' एवं 'प्रामाणिक जीवन' जैसे केन्द्रीय प्रत्ययों को स्थान देने वाले अस्तित्ववादी दर्शन का प्रबल समर्थन किया है। स्त्रियों के विरुद्ध होने वाले अत्याचारों और अन्यायों का विश्लेषण करते हुए कहा कि पुरुषों ने स्वयं को स्वयं में सत् (Being-for-itself) के रूप में परिभाषित किया है तथा स्त्रियों की स्थिति का अवमूल्यन करते हुए उन्हें अन्य (Other) के रूप में प्रस्तुत किया है। स्त्रियों को वस्तु के रूप में निरूपित किया गया और जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। उनकी यह मान्यता है कि प्रजनन के क्षेत्र में लिंगीय विभेद ने स्त्रियों पर एक अतिरिक्त बोझ अवश्य डाल दिया है किन्तु, सामाजिक मूल्यों एवं प्रवृत्तियों ने मौलिक तथ्यों की अपेक्षा अधिक प्रभाव डाला है। वे मार्क्स के इस विश्लेषण से असहमत हैं कि जिसमें स्त्रियों पर अत्याचार को मजदूरों के अत्याचार एवं शोषण से जोड़ दिया गया तथा इसे पूँजीवादी विकृति का परिणाम माना है। वे सचेत करती हैं कि समाजवादी परिस्थितियों में भी स्त्री की स्थिति में परिवर्तन तब तक संभव नहीं, जब तक कि वे मानवीय चेतना की सत्तामूलक विशिष्टता से परिचित नहीं हो जाती, जिसके अंतर्गत उन्हें 'अन्य'

से व्यवहृत किया जाता है तथा उनकी आत्मनिष्ठता को स्वीकार नहीं किया जाता है। उनके अनुसार पितृप्रधान संस्थाओं, और व्यवस्थाओं ने स्त्रियों के विरुद्ध होने वाले अत्याचार को उत्प्रेरित किया है। जब तक स्त्रियाँ स्वयं अपनी प्रदत्त सामाजिक भूमिका के विरुद्ध प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त करेंगी और अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति सहनशील बनी रहेंगी, तब तक वे स्वतंत्रता की अनुभूति नहीं कर सकती हैं एवं अत्याचार तथा शोषण से मुक्ति संभव नहीं है। स्त्रियों की निष्क्रियता उनके अस्तित्त्व के लिए घातक है। अतः आवश्यकता है कि वे घर से बाहर कार्य करके आर्थिक आत्मनिर्भर या स्वायत्तता प्राप्त करें और साथ ही साथ बौद्धिक चुनौती को स्वीकार करते हुए अपने इतिहास को समझने का प्रयास करें तथा अपने भविष्य की योजनाओं को निर्धारित करें। डोगेयी पार्कर भी साइमन के समान लिंगीय समानता पर अत्याधिक बल देते हैं और उनकी दृष्टि है कि पुरुषों एवं स्त्रियों दोनों को मानव प्राणी के रूप में स्वीकार करना चाहिए, वे एक 'स्वतंत्र व्यक्ति' हैं। लिंगीय असमानता के उत्स हम बाइबिल जेनेमिस में पाते हैं जहाँ यह कहा गया कि ईव की उत्पत्ति एडम की पसली (Ribs), अतिरिक्त हड्डी (Super numerary bone) से हुई है अर्थात ईव का आश्रित अस्तित्त्व है। एक्वीनास ने स्त्रियों को 'अपूर्ण पुरूष' की संज्ञा दी है। मानवता पुरुष मात्र है और स्त्री पुरुष के सापेक्ष अस्तित्त्ववान है अर्थात वह स्वायत्त प्राणी नहीं है। स्त्री पुरुष के लिए भोग्य की वस्तु, यौन प्राणी (Sexual being) है। अतः पुरुष प्राथमिक है तो वहीं स्त्री गौण है। पुरुष एक व्यक्ति है विषयी है, निरपेक्ष एवं स्वायत्त प्राणी है, स्त्री विषय, सापेक्ष एवं पराधीन है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रजातंत्र के समर्थकों ने ईमानदारीपूर्वक और वस्तुगत ढंग से स्त्रियों के विषय में विचार करना प्रारंभ किया। डिडिंटों ने यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया कि स्त्री भी पुरुष के ही समान एक मानव प्राणी है। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप उत्पादक श्रम के क्षेत्र में महिलाओं के प्रवेश ने पुरुष के समक्ष प्रबल प्रतिद्वंद्विता उत्पन्न कर दी है। नूतन आर्थिक विकास ने नारियों को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई है। शिक्षा ने उनके बौद्धिक स्तर में अभिवृद्धि की है, जो इस बात को प्रमाणित करता है कि वे बौद्धिकता के क्षेत्र में पुरुष से पीछे नहीं हैं। नारी मुक्ति आंदोलन में लिंगीय समानता को मूर्त रूप प्रदान किया है यद्यपि इसका वर्तमान स्वरूप पुरुष विरोधी आंदोलन जैसा प्रतीत होता है अर्थात् प्रतिक्रियात्मक (Reactionary) है और प्रतिक्रिया सदैव प्रतिक्रियाओं की श्रृंखला का निर्माण करती है। यदि प्रतिक्रिया की श्रृंखला में यह आंदोलन उलझ जाता है तो मूल उद्देश्य की सिद्धि संभव नहीं है। लिंगीय समानता एक सांस्कृतिक माँग है और इस अर्थ में यह एक मूल्य है। मूल्यों को साध्य एवं साधन मूल्य में वर्गीकृत किया जाता है। लिंगीय समानता के संदर्भ में हम यह पाते हैं कि अनेक परिस्थितियों में यह साध्य मूल्य हो सकता है किन्तु अंततः इसे सामाजिक समरसता, शान्ति,समृद्धि और न्याय जैसे उच्चतर मूल्यों का साधन मानना ही अधिक उचित है।

लिंगीय समानता पर भारतीय दृष्टि से विचार करने पर हमें विश्लेषण की दो पद्धतियाँ प्राप्त होती हैं- ऐतिहासिक एवं संप्रत्ययात्मक (Historical and Conceptual)।

ऐतिहासिक विश्लेषण स्त्री की विभिन्न काल में स्थिति को ही प्रदर्शित करता है किन्तु, संप्रत्ययात्मक विश्लेषण इसके लिए अधिक उपयोगी एवं सार्थक है। समानता की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति भारतीय संस्कृति में इस रूप में होती है– ईश्वर एक है जो कि सभी प्राणियों में निवास करता है (एको देवः सर्व भूतेषु तिष्ठति)। जैविक असमानता तो है किन्तु, आध्यात्मिक समानता भी है। उपनिषद् एवं अद्वैत वेदान्ती परंपरा में 'सर्व खलु इदम् ब्रह्म' की प्रतिष्ठा की गई है जो कि अभेद दृष्टि है। शोषण एवं अत्याचार की संभावना तो वहाँ होती है जहाँ स्वयं से इतर कोई हो अर्थात् अन्य हो और व्यक्ति स्वयं को अधिक मूल्यवान स्वीकार करे। भारतीय दर्शन एवं संस्कृति की आध्यात्मिक दृष्टि दया, करुणा, प्रेम, मुदिता आदि मूल्यों को समाविष्ट करती है। अतः स्त्री एवं पुरुष में प्रेम, सामंजस्य एवं मैत्री भाव अपेक्षित है जो कि लिंगीय समानता की सुदृढ़ आधारशिला होगी।

VI

समकालीन अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र में भ्रूण हत्या, मानव हत्या, मृत्यु–दण्ड की तरह इच्छा मृत्यु (Euthanasia) की समस्या नैतिक दृष्टि से विवादास्पद है। हम जहाँ एक ओर अनेक नीतिविदों को पाते हैं जो कि सबल युक्तियों के द्वारा कानूनी अधिकार के रूप में इसे स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं तो वहीं दूसरी ओर अनेक विचारक आध्यात्मिक एवं धार्मिक मान्यताओं के आधार पर इसका विरोध करते हुए इसे अनैतिक कर्म की संज्ञा देते हैं। जीवन का अधिकार यद्यपि मौलिक है किन्तु निरपेक्ष नहीं है। जीवन के अधिकार की निष्पत्ति जीवन को समाप्त करने का अधिकार है जिसे इच्छा मृत्यु से व्यवहृत करते हैं किन्तु यह अधिकार भी निरपेक्ष नहीं है। यह दोनों ही विभिन्न नैतिक परिस्थितियों को उत्पन्न करते हैं जहाँ विवेक के आधार पर निर्णय अपेक्षित है। अतः जहाँ जीवन निरंतर कष्ट का कारण हो और रोगी के निरोग होने की कोई संभावना शेष न हो तो ऐसी परिस्थिति में चिकित्सकीय परामर्श एवं देख–रेख में इच्छा मृत्यु का नैतिक औचित्य है। विभिन्न नैतिक परिस्थितियों में निर्णय किसी सार्वभौम दृष्टिकोण से संभव नहीं है। जहाँ हमें मृत्यु एवं जीवन की पवित्रता के मध्य चुनाव करना हो जीवन का वरण स्वाभाविक है। किन्तु एक बात जो हमारे समक्ष उभर कर आती है वह यह कि जब मृत्यु ही जीवन से श्रेस्यकर हो जाए तो ऐसी परिस्थिति में मृत्यु का वरण अथवा इच्छा मृत्यु के नैतिक औचित्य को प्रदर्शित किया जा सकता है। शब्दकोश की दृष्टि से यूथनेसिया का अर्थ है एक मृदुल एवं सरल मृत्यु, किन्तु वर्तमान में इसका प्रयोग उन व्यक्तियों की हत्या से है जो कि असाध्य रोग से ग्रसित हैं एवं अत्यधिक कष्ट एवं अवसाद की स्थिति में हैं और इस प्रकार से उन्हें इसके द्वारा कष्टों से मुक्ति प्रदान की जाती है। अब जहाँ तक इच्छा मृत्यु को आसान तरीके से सुलभ बनाने में चिकित्सकों को सहायक बनाने का प्रश्न है, अनेक चिकित्सकों ने पाँचवीं शताब्दी ई. पू. से ही प्रचलित हिप्पोकेट्स शपथ का संदर्भ देते हुए कहा कि किसी भी रोगी को मृत्यु देना अथवा मृत्यु में सहायक होना इस शपथ का उल्लंघन होगा जो कि चिकित्सकीय नैतिकता के विरुद्ध है। विश्व में नीदर लैंड एक ऐसा देश है जहाँ पर इच्छा मृत्यु के अधिकार को कानूनी वैधता प्रदान की गई है एवं

चिकित्सक ऐसे व्यक्तियों की सहायता करते हैं और तब भी वे विधिक दृष्टि से हत्या के अपराधी नहीं माने जाते हैं।

इच्छा मृत्यु का वर्गीकरण ऐच्छिक एवं अनैच्छिक (Voluntary and Involuntary) के रूप में किया जाता है जिसे दृष्टांतों के द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। उपरोक्त विशिष्ट परिस्थिति, जिसके अंतर्गत रोगी अपनी मृत्यु की इच्छा व्यक्त कर सकता है अर्थात् मृत्यु का वरण करता है के विपरीत एक ऐसी परिस्थिति की भी संभवना है जिसमें गंभीर बीमारी अथवा गंभीर दुर्घटना के कारण व्यक्ति अपने निर्णय की क्षमता खो देता है या कोमा में चले जाने के कारण अपनी इच्छा व्यक्त करने में सक्षम नहीं है। अतः इच्छा मृत्यु का अधिकार प्राप्त होने पर भी वह इसका प्रयोग नहीं कर सकता है तो क्या उस परिस्थिति में उसके परिजन या उसकी चिकित्सा कर रहे चिकित्सक उसे भयानक पीड़ा से मुक्ति दिलाने हेतु उसे मृत्यु प्रदान कर सकते हैं, और उनका यह कर्म हत्या के समतुल्य नहीं होगा? हम एक अन्य परिस्थिति की कल्पना कर सकते हैं जिसके अंतर्गत एक अबोध शिशु गंभीर रोग से ग्रसित है और जिसके स्वस्थ होने की कोई संभावना नहीं है और इस रोग के कारण उसे भयंकर कष्ट एवं पीड़ा है। उसे जीवन एवं मृत्यु का कोई बोध अथवा संज्ञान नहीं है और इच्छा मृत्यु का वरण करने के योग्य भी नहीं है। अतः ऐसी परिस्थिति में उसके मृत्यु के निर्णय का अधिकार क्या उसके परिजन एवं चिकित्सक को है जो उसके लिए भी हितकर है एवं परिवार के लिए भी। कोई व्यक्ति गंभीर दुर्घटना के कारण चेतना शून्य अथवा संज्ञानशून्य हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसे दर्द या पीड़ा की कोई अनुभूति नहीं होती है। अतः वह इच्छा मृत्यु का अधिकारी भी नहीं होगा क्योंकि यहाँ पर यह तर्क कार्यरत् नहीं होगा कि पीड़ा से मुक्ति प्रदान करना उचित होगा अर्थात् उसे स्वाभाविक मृत्यु की प्रतीक्षा करनी होगी। इन विभिन्न दृष्टांतों में जटिलता की अभिवृद्धि कालिक तत्त्व (Sine Factor) से भी होती है कि वर्तमान में असाध्य रोग का कोई निदान नहीं है किन्तु इसकी तो संभावना रहती है कि चिकित्सीय अनुसंधान से भविष्य में रोग का इलाज संभव हो जाये। हमें इस दृष्टि से भी विचार करना चाहिए कि क्या महँगी चिकित्सा जो कि एक समय के उपरान्त मध्यमवर्गी परिजन के द्वारा वहन करना संभव नहीं हो तो इच्छा मृत्यु क्या परिजनों के हित में है।

इच्छा मृत्यु के अधिकार को वैधता प्रदान करते समय नीदरलैंड में न्यायालय ने कुछ दिशा निर्देश प्रस्तावित किए हैं :–

1. मृत्यु एक चिकित्सक के द्वारा दी जाए।
2. रोगी ने स्पष्ट रूप से अपनी मृत्यु की इच्छा प्रकट की हो जिसके संदर्भ में कोई संदेह नहीं हो।
3. मरीज का निर्णय समस्त सूचनाओं से युक्त, स्वतंत्र एवं स्थायी हो।
4. उसकी स्थिति उपचार के युक्त न हो और उसे अत्यधिक शारीरिक एवं मानसिक कष्ट हो।
5. रोगी के कष्ट के निवारण के लिए अन्य कोई विकल्प या उपाय शेष न हों।
6. चिकित्सक ने अन्य सुयोग्य चिकित्सकों से परामर्श प्राप्त कर लिया हो एवं वे भी उससे सहमत हों।

अनेक विचारक इच्छा मृत्यु को आत्महत्या की संज्ञा देते हैं और कहते हैं कि दोनों ही परिस्थितियों में व्यक्ति स्वेच्छा से अपनी मृत्यु, का वरण करता है, यद्यपि इन दोनों में भेद किया जा सकता है– इच्छा मृत्यु सुविचारित, बौद्धिक एवं विवेक सम्मत निर्णय होता है तो वहीं आत्महत्या उत्तेजना, तीव्र अवसाद या क्रोध से प्रेरित होती हैं। इच्छा मृत्यु सरल, आसान एवं न्यूनतम पीड़ादायक मृत्यु होती है जब कि आत्महत्या में मृत्यु कभी–कभी अत्यन्तकष्टप्रद एवं पीड़ादायक होती है। अन्त में इच्छा मृत्यु योग्य चिकित्सक की देखरेख में होने के कारण उसकी असफलता की संभावना नहीं होती, तो वहीं आत्महत्या के असफल होने पर कानून के द्वारा दण्ड का विधान है और इतना ही नहीं अंग–अंग तथा विकारग्रस्त होने का भी भय होता है जिससे शेष जीवन में अधिक कष्ट एवं पीड़ा की संभावना होती है। स्टोइक सम्प्रदाय आत्महत्या को अशुभ एवं पाप नहीं अपितु साहसपूर्ण एवं उचित कर्म माना है। सेरेना की स्वीकारोक्ति है–मृत्यु जीवन यात्रा का अंतिम पड़ाव है और यह प्रत्येक मनुष्य की नियति है। अतः जब तक जीवन सुखमय एवं सफलतापूर्वक हो, हमें उसके अन्त के बारे में नहीं सोचना चाहिए। जीवन जब कष्टदायक एवं सहन के योग्य नहीं हो तो जीवन से मुक्ति प्राप्त करना कुछ भी अनुचित नहीं है। प्रश्न केवल जीवित रहने का नहीं है अपितु अच्छी तरह से गुणवत्तायुक्त जीवन जीने का है। दुःखद जीवन का अंत करना मनुष्य का विशेषाधिकार है। सेनेका ने ऐसे व्यक्ति को सच्चे रूप में महान माना है जो स्वयं की मृत्यु का आदेश ही नहीं देता, अपितु मृत्यु के तरीके का भी चुनाव करता है। थॉमस एक्वीनास ने युक्तियों के माध्यम से आत्महत्या को अनैतिक प्रमाणित किया है– (1) प्रत्येक वस्तु स्वयं से प्रेम करती है तथा अपने अस्तित्त्व को बनाए रखना चाहती है। मृत्यु का वरण करना या आत्महत्या इस प्राकृतिक नियम का उल्लंघन है। (2) प्रत्येक अंश या अवयव अंशी अथवा अवयवी का अभिन्न भाग होता है। प्रत्येक मनुष्य मानव समुदाय का अंग है तथा आत्महत्या करके मनुष्य समुदाय को आहत करता है। (3) मानव जीवन ईश्वरीय वरदान है और वही जीवन एवं मृत्यु को प्रदान करने वाला है। आत्महत्या ईश्वर के विरुद्ध पाप है क्योंकि वह उसकी इच्छा के विरुद्ध किया गया कर्म है। इच्छा मृत्यु का समर्थन करने वाले विचारकों के विरुद्ध प्रतिवाद करते हुए एक्वीनास कहते हैं कि मनुष्य में संकल्प स्वातंत्र्य तो है और वह अपने जीवन का स्वामी भी है, किन्तु यह स्वातंत्र्य अथवा स्वामित्व जीवन तक ही सीमित है और इस दृष्टि से जीवन को अंत करने की स्वतंत्रता इसमें निहित नहीं है। आधुनिक उपयोगितावादी विचारकों ने आत्महत्या अथवा इच्छा मृत्यु को अनैतिक कार्य नहीं स्वीकार किया है और उनके तर्क का स्वरूप इस प्रकार से है– यदि मृत्यु का वरण करने वाला दुःख जीवित रहने से मिलने वाले दुःख की तुलना में कम है तो मृत्यु का वरण करना अनुचित कार्य नहीं है क्योंकि कोई भी विचारशील प्राणी अधिकतम दुःख नहीं प्राप्त करना चाहेगा। शापेनहावर आत्महत्या के नैतिक पक्ष का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि यहूदी एवं ईसाई धर्मशास्त्रों में आत्महत्या को अपराध एवं पाप की संज्ञा दी गई है, जिसमें वह सहमत नहीं है। यदि निष्पक्षरूपेण विचार किया जाए तो किसी व्यक्ति का अपने जीवन पर जितना अधिकार होता है, उससे अधिक उसका विश्व

की अन्य किसी वस्तु पर अधिकार नहीं है। यदि यह तथ्य स्वीकार किया जाए तो इच्छा मृत्यु अथवा आत्महत्या नैतिक दृष्टि से अनुचित तो नहीं है किन्तु अवांछित एवं अशोभनीय कार्य अवश्य है। अर्थक्रियावादी विचारक विलियम जेम्स की यह मान्यता है कि मानव जीवन का औचित्य पूर्व निर्धारित नहीं है अपितु यह मानव जीवन की उपलब्धियों एवं परिपूर्णता के द्वारा निर्धारित होता है। सार्थक और उपयोगी जीवन मूल्यवान होने के कारण रक्षणीय है जबकि निरर्थक और अनुपयोगी जीवन का अंत औचित्यपूर्ण है।

अस्तित्ववादी विचारक अलवर्ट कामू आत्महत्या अथवा इच्छा मृत्यु के कृत्य को 'विद्रोह' के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं अपितु इसे निरर्थकता और मृत्यु की चरम स्वीकृति की संज्ञा देते हैं और इसके पीछे उनकी यह दृष्टि है कि विद्रोही जीवन सोद्देश्य एवं सार्थक होता है। समकालीन अनुप्रयुक्त नीतिविदों में पीटर सिंगर का यह मानना है कि साधारणतः मानव हत्या को अनैतिक एवं अवैधानिक स्वीकार किया गया है क्योंकि मानव जीवन अत्यन्त पवित्र है एवं मनुष्य एक आत्मचेतन और बौद्धिक प्राणी है। मनुष्य स्वायत्त (Autonomous) है। अब प्रश्न यह है कि यदि कोई व्यक्ति इन गुणों से वंचित हो गया है, चाहे गंभीर रोग अथवा दुर्घटना के कारण तो क्या ऐसे व्यक्ति को मृत्यु प्रदान करना अनैतिक कृत्य होगा! अबोध शिशु तो उपरोक्त गुणों से युक्त नहीं होता यद्यपि भविष्य में इन गुणों के विकसित होने की संभावना रहती है। अतः असाध्य कष्टप्रद रोग से ग्रसित शिशु की हत्या भी अनैतिक कार्य नहीं है। पीटर सिंगर इच्छा मृत्यु के संदर्भ में यह स्पष्टीकरण अत्यन्त ही प्रभावशाली ढंग से देते हैं कि जब इसके अधिकार की बात की जाती है, तो यह सामान्य परिस्थितियों के लिए नहीं है अपितु अपवादात्मक, विषम एवं असामान्य परिस्थितियों में ही इस प्रकार के अधिकार का समर्थन किया जा सकता है। अतः इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकालना चाहिए कि इस अधिकार का समर्थन करने वाले मानव व्यक्तित्त्व की गरिमा और पवित्रता का अवमूल्यन करते हैं। वस्तुतः जब जीवन अत्यन्त पीड़ादायक, कष्टप्रद एवं वैराग्यपूर्ण हो जाता है, स्वस्थ, सुखमय जीवन की समस्त संभावना समाप्त हो जाती है तो व्यक्ति के हित में इच्छा मृत्यु के अधिकार का समर्थन किया जाता है। अतः इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए कभी–कभी इच्छा मृत्यु व्यक्ति एवं व्यापक परिदृश्य में समाज के हित में होती है।

VII

भ्रूण हत्या एवं गर्भपात (Abortion) की समस्या भी इच्छा मृत्यु के (Euthanasia) समान ही विवादास्पद प्रश्न है। भ्रूण हत्या एवं विनाशात्मक भ्रूण प्रयोग नैतिक मुद्दे को प्रस्तावित करते हैं क्योंकि मनुष्य का विकास विभिन्न चरणों की एक प्रक्रिया है। भ्रूण हत्या के विरुद्ध परंपरागत युक्ति का रूपरूप है–निर्दोष व्यक्ति की हत्या अनैतिक है। मानव भ्रूण एक निर्दोष व्यक्ति है। अतः निर्दोष भ्रूण की हत्या अनैतिक है। उदारवादी दृष्टिकोण जो कि गर्भपात को परिस्थिति विशेष में नैतिक दृष्टि से उचित मानता है उपर्युक्त युक्ति के द्वितीय आधार वाक्य को अस्वीकार करता है कि मानव भ्रूण एक व्यक्ति है। अतः गर्भपात एवं भ्रूण हत्या सम्बन्धी विवाद के मूल में है–मानवीय जीवन का प्रारंभ कब होता है ? भ्रूण

हत्या के विरोधी जीवन के अधिकार को गर्भधारण से प्रदान करना चाहते हैं, चाहे जितना भ्रूण में कालान्तर में विकसित होती है। परंपरावादियों (Conservations) की यह दृष्टि है कि भ्रूण हत्या एक सुनियोजित निर्दोष मनुष्य को मारना है तो उसे हत्या की कोटि में रखना चाहिए। नारी युक्ति (Feminist angument) जो कि गर्भपात के औचित्य को सिद्ध करना चाहती है, यद्यपि इसका निषेध नहीं करती है कि भ्रूण एक निर्दोष व्यक्ति अथवा मनुष्य है–का तर्क है कि स्त्री को वरण करने का अधिकार है कि उसके शरीर के साथ क्या हो रहा है। भ्रूण को मनुष्य किस अवस्था में स्वीकार किया जाए, चेतनायुक्त जीव की अवस्था को वह कब प्राप्त होता है, जैसे मुद्दे से बचने के लिए भ्रूण हत्या के विरुद्ध दिए गए तर्क का परिमार्जन इस रूप में किया जाता है–शक्य (Potential) मनुष्य की हत्या अनैतिक है। मानवभ्रूण एक शक्य मनुष्य है। अतः इस परिमार्जित युक्ति का द्वितीय आधारवाक्य पूर्व में दी गई युक्ति के द्वितीय आधारवाक्य की तुलना में अधिक प्रबल है क्योंकि भ्रूण वास्तव में मनुष्य अथवा व्यक्ति है को लेकर विवाद हो सकता है किन्तु, यह तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मानव भ्रूण एक शक्य मनुष्य है। क्या शक्य मनुष्य को जीवन का अधिकार नहीं है जिस रूप में यह मनुष्य को प्रदत्त है। यदि कोई भ्रूण हत्या करता है तो क्या वह विश्व के इस अधिकार का हरण नहीं करता है कि उसे भविष्य में स्वचैतन्य एवं बौद्धिक प्राणी की जो प्राप्ति होती है वह प्राप्त नहीं हो रही है। यदि बौद्धिक एवं स्वचैतन्य प्राणी स्वयं में मूल्यवान (Intrinsically Valuable) है, तो मानव भ्रूण की हत्या विश्व के स्वयं में मूल्यवान होने का हरण है जो कि नैतिक दृष्टि से सर्वदा अनुचित है।

गर्भपात के नैतिक प्रश्न को हम इस रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं कि यदि गर्भपात प्रत्येक परिस्थिति में नैतिक दृष्टि से अनुचित है क्योंकि परंपरागत दृष्टि में मानव जीवन अत्यन्त ही पवित्र (Saved) है एवं जीवन तथा मृत्यु ईश्वर की इच्छा के अधीन है तो अनेक राष्ट्रों में गर्भपात को विधिक रूप से स्वीकृति क्यों प्राप्त है? हम इस प्रश्न का उत्तर इस रूप में दे सकते हैं कि कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जिसमें गर्भपात को स्वीकृति प्रदान की जाती है –

1. यदि माता के स्वास्थ्य अथवा जीवन को गंभीर संकट हो। यदि शिशु जो कि जन्म नहीं लिया है किन्तु जिसका जन्म माता के मृत्यु का कारण हो सकता है अर्थात् जिसकी प्रबल संभावना है तो जो जीवित है उसका जीवन अधिक मूल्यवान है उसकी तुलना में जो कि अजन्मा है अर्थात् जिसने अभी जन्म लिया ही नहीं है।

2. यदि शिशु का जन्म होता है तो वह स्थायी गंभीर विकलांगता का शिकार होगा अर्थात् यह सामान्य मनुष्य की भांति सुखमय जीवन व्यतीत नहीं कर सकता और इस दृष्टि से परिवार एवं समाज के लिए बोझस्वरूप होगा। अतः अवसाद, उपेक्षित, नैराश्य एक कष्टप्रद जीवन उस शिशु के लिए अभिशाप होगा।

3. माता उस शिशु का जन्म नहीं चाहती और उसका कारण लिंग अथवा शिशु शारीरिक शोषण अथवा बलात्कार की परिणति है। बलात्कार की परिणति रूप से उत्पन्न शिशु को न तो सामाजिक प्रतिष्ठा मिलती है और माता को भी तिरस्कृत जीवन जीना पड़ता है। यह

वह स्थिति होती है जिसमें महिला की स्वीकृति नहीं होती है और ऐसी स्थिति में गर्भपात एवं भ्रूण हत्या नैतिक दृष्टि से उचित है। लिंग परीक्षण के आधार पर गर्भपात नैतिक दृष्टि से अनुचित है कानून की दृष्टि से दण्डनीय भी।

अतः प्रथम स्थिति में योग्य चिकित्सक की राय महत्त्वपूर्ण है तो वहीं दूसरी परिस्थिति में अभिभावक की अनुमति अनिवार्य है क्योंकि यह भी संभव है कि वे विकलांग शिशु का जन्म चाहते हों और अंतिम परिस्थिति में माता के निर्णय को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

गर्भपात एवं भ्रूण हत्या में भी विभेद किया जाता है और इसका आधार यह है कि गर्भपात प्राकृतिक (Natural) एवं कृत्रिम अथवा चिकित्सीय (Clinical) दोनों हो सकता है तो वहीं भ्रूण हत्या सदैव चिकित्सीय एवं सुनियोजित होती है। यदि भ्रूण हत्या एवं गर्भपात सभी संभावित परिस्थिति में अनुचित है तो इस पर कानूनी रोक राज्य के द्वारा क्यों नहीं लगायी जाती है। अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र में इस समस्या पर विधिक दृष्टि से विचार न करके अपितु नैतिक परिदृश्य में इसकी विवेचना की जाती है, वहाँ कुछ परिस्थिति विशेष में तार्किक नैतिक औचित्य को स्वीकार करने के लिए अवकाश है।

भारतीय शास्त्रों में इस बात पर अत्यधिक बल दिया गया है कि भ्रूण की गर्भ में सुरक्षा की जानी चाहिए। यह एक दृष्टि है एवं दूसरी समर्थित दृष्टि यह है कि यह भ्रूण हत्या भारतीय दर्शन के कतिपय सिद्धान्तों एवं संस्कृति के विरुद्ध है। अतः भ्रूण हत्या एवं गर्भपात को नैतिक दृष्टि से उचित नहीं स्वीकार किया जा सकता है। जीवित भ्रूण जो कि गर्भ में पल रहा है उसका सम्मान एवं सुरक्षा अपेक्षित है। सभी इस प्रकार के तर्क अनुचित हैं कि गर्भस्थ भ्रूण व्यक्ति के स्तर को कब प्राप्त होता है क्योंकि गर्भ के विभिन्न चरणों में इस प्रकार का भेद अथवा पार्थक्य तार्किक एवं नैतिक दोनों ही दृष्टियों से अनुचित है क्योंकि परवर्ती अवस्था पूर्ववर्ती अवस्था को स्वीकार करती है। अतः अजन्म (Unborn) की हत्या नहीं होनी चाहिए अपितु उसकी रक्षा होनी चाहिए। भ्रूण का ध्यान एवं उसकी सुरक्षा इसलिए आवश्यक है कि जिससे वह अपने पूर्वजन्मों के कर्मों का फल भोग सके एवं मोक्ष को प्राप्त करने की संभावना लिए हो। अतः भ्रूणहत्या कर्म के सिद्धान्त का उल्लंघन हैं और ऋत (नैतिक वैश्वीय व्यवस्था) के क्षरण का द्योतक है। भ्रूण हत्या को अनैतिक इस आधार पर सिद्ध किया जा सकता है –

1. भ्रूण हत्या प्राकृतिक एवं अनिवार्य कर्म एवं पुनर्जन्म के चक्र को बाधित करती है।
2. भ्रूण हत्या जीवन मुक्ति के प्राप्ति की संभावना को समाप्त करता है और जैसा कि हम जानते हैं मोक्ष को भारतीय दर्शन में परम पुरुषार्थ की संज्ञा दी गई है।
3. भ्रूण हत्या अहिंसा के केन्द्रीय प्रत्यय के विरुद्ध है जो कि हमारे दर्शन एवं संस्कृति में मूल्य के रूप में स्थापित है।

भ्रूण हत्या को केवल एक ही परिस्थिति में स्वीकृति प्रदान की जा सकती है जब माता के जीवन को खतरा हो। गर्भपात एवं भ्रूणहत्या का ही यह दुष्परिणाम है मादा भ्रूण

की हत्या एवं नारी उन्मुक्तता एवं स्वेच्छाचारिता तथा यौन से सम्बन्धित वर्जनाओं (नैतिक) का पतन। पुरुषार्थ जो कि भारतीय मूल्य व्यवस्था रही है उसमें यह प्रतिपादित है कि अर्थ एवं काम को धर्म से अधिशासित होना चाहिए किन्तु गर्भपात को विधिक आधार प्रदान करने का एक दुष्परिणाम यह है कि समाज में उन्मुक्त यौन (Free Sex) के प्रचलन में अभिवृद्धि हो रही है।

VIII

अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र के चलते नैतिकता के क्षेत्र में अभूतपूर्व अभिवृद्धि की गई है जिसमें मनुष्य के प्रति मनुष्य के द्वारा किए गए आचरण की ही विवेचना नहीं की जाती है अपितु मानव के द्वारा पशुओं के प्रति किये गए व्यवहार को भी नैतिक दृष्टि से विवेचनीय स्वीकार किया गया है। यदि मनुष्य केवल अपने अधिकारों एवं हितों को महत्त्वपूर्ण समझें एवं पशुओं के प्रति उसका व्यवहार अमानवीय हो तो क्या सह प्रजाति श्रेष्ठता के भाव का द्योतक नहीं है। क्या मनुष्य ही केवल स्वयं में मूल्यवान (Intrinisic Worth) है एवं पशुओं का अस्तित्त्व केवल मनुष्य के उपयोग एवं उपभोग के लिए ही है। ऐसे ज्वलन्त प्रश्न पशुओं के अधिकार (Animal Rights) को प्रस्तावित करते हैं। कष्ट एवं दुःख का विरोध अथवा परिसीमन नैतिक दृष्टि से उचित है और यह सिद्धान्त सभी पर लागू होता है चाहे वह किसी लिंग, जाति धर्म अथवा प्रजाति का हो और यह सिद्धान्त हमें पशुओं के हित एवं अधिकार की ओर प्रेरित करता है। बंध्याकरण, शिशु को माता से अलग करना, समूह को तोड़ना एवं शिकार, भोजन तथा व्यापार आदि के लिए उनकी हत्या करना पशुओं के प्रति मानव का अमानवीय कृत्य है। व्यक्तिगत लाभ के लिए जंगली पशुओं की अविचारित हत्या के फलस्वरूप बहुत से वन्य प्राणियों की प्रजाति अस्तित्त्व के संकट से गुजर रही हैं। यह अतिश्योक्ति नहीं होगी कि आने वाले समय में भावी पीढ़ी उन्हें केवल चित्रों के माध्यम से जानेगी। हम औषधीय एवं चिकित्सीय उद्‌देश्य से पशुओं पर अनेक तरह के प्रयोग प्रयोगशाला में करते हैं जिसका दुष्परिणाम सर्वविदित है एवं कुछ परिस्थिति में तो उनकी मृत्यु होती है। हम इसके औचित्य का निर्धारण इस आधार पर करते हैं कि यह मनुष्य के हित में हैं तो यहाँ पर प्रश्न यह है कि क्या पशुओं को साधन रूप में प्रयुक्त करना उचित है? उपयोगितावादी इस प्रश्न का उत्तर इस रूप में देंगे कि यदि कुछ पशुओं पर प्रयोग किया जाता है जिससे अधिकाधिक लोग लाभान्वित होते हैं तो औचित्य की सिद्धि होती है, तो वहीं जो निरपेक्ष (Absolute) अधिकार में विश्वास करते हैं, उनकी दृष्टि में किसी का दूसरे के प्रति बलिदान चाहे मनुष्य अथवा पशु हो सदैव नैतिक दृष्टि से अनुचित है। अतः पशुओं पर प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए चाहे परिणाम कुछ भी हो।

जीवन का अधिकार, स्वायत्तता एवं व्यक्तित्त्व को पशुओं के संदर्भ में क्यों नहीं प्रयुक्त किया जा सकता है ? जीवन का अधिकार तो उन्हें प्रदत्त है ही और जहाँ तक उन्हें व्यक्ति मानने का प्रश्न है तो भले ही मनुष्य के अर्थ में उन्हें व्यक्ति न माना जा सके किन्तु वे भी चैतन्य प्राणी ही हैं और उन्हें भी मनुष्य के ही समान सुख एवं दुःख की अनुभूति होती

है। यद्यपि मनुष्य के समान वे उसे भाषा में व्यक्त नहीं कर सकते हैं अतः भोजन के लिए पशु की हत्या का औचित्य तब सिद्ध नहीं हो सकता जबकि भोजन का अन्य विकल्प उपलब्ध हो। शिकार एवं लाभ के लिए व्यवसायिक हत्या मनुष्य की लोभ प्रवृत्ति का द्योतक है जो कि अनुचित है। भारतीय संस्कृति में पशुओं के प्रति अत्याचार नैतिक दृष्टि से अनुचित है क्योंकि यह अहिंसा परमोधर्मः का स्पष्ट रूप से उल्लंघन है। भारतीय धर्म एवं संस्कृति में अवतारवाद की अवधारणा पशुओं को देवत्व प्रदान करती है और यह हमें उनके संरक्षण की शिक्षा देती है। बौद्ध तथा जैन दर्शन एवं धर्म में पशु बलि को यज्ञादि में अनुचित माना गया है। हमें व्यष्टिवाद के स्थान पर समष्टिवाद को स्वीकार करना चाहिए जिससे प्रकृति में जैविक विविधता अक्षुण्ण बनी रहे एवं शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्त्व की स्थापना हो क्योंकि एक का अस्तित्त्व दूसरे के अस्तित्व पर परस्पर निर्भर होता है। अतः हम निष्कर्षरूपेण यह कह सकते हैं कि लोभ के स्थान पर त्याग, हिंसा एवं अत्याचार के स्थान पर अहिंसा, प्रेम एवं करुणा को स्थापित करने की महती आवश्यकता है।

***

पारिस्थितिकी दर्शन

विजयकान्त दुबे

दर्शन के विगत पचास वर्षों की कहानी की शुरूआत सन् 1950 में हुयी मानी जाती है। यह वर्ष इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि परतंत्रता की बेड़ी से स्वतंत्र भारत ने अपनी प्रजातांत्रिक प्रणाली का प्रारंभ कर राजनीतिक स्वतंत्रता को इसी वर्ष घोषित किया था। अब भारतीय चिन्तकों ने भी एक नये परिवेश में अपनी उन्मुक्त दार्शनिक दृष्टि से चिन्तन करना प्रारंभ किया। परिणामस्वरूप दार्शनिक विवेचना में भी परिवर्तन हुआ और दर्शन को विश्लेषण, मूल्यांकन एवं वैज्ञानिक अनुसंधान की पद्धति आदि माना जाने लगा तथा दर्शन का एक नया प्रयोग शुरू हुआ। स्वतंत्रता–पूर्व के अधिकांश दार्शनिक मतों में प्राचीनवेदान्त को आधुनिक युग के अनुकूल व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत किया गया था, जिसमें स्वामी विवेकानन्द, रमण महर्षि, श्री अरविन्द, रवीन्द्र नाथ टैगोर, राधाकृष्णन, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, महात्मा गाँधी आदि ने शास्त्रीय प्रत्ययवाद का किसी न किसी रूप में समर्थन किया, यद्यपि मानवेन्द्र नाथ राय का भौतिकवादी दर्शन भी इसी काल की देन थी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् दार्शनिक मतों में अध्यात्मवादी तत्त्वमीमांसा के प्रति रुझान कम हुआ। दूसरे शब्दों, में इस पारम्परिक बन्धन से मुक्त होकर दार्शनिक चिन्तन को एक नया आयाम दिया गया, परन्तु यह चिन्तन पाश्चात्य विचारों से प्रभावित था। अब प्रत्ययवाद के स्थान पर यथार्थवादी और भाषा–विश्लेषण के दार्शनिक मतों पर निकुंज बिहारी बनर्जी, यशदेव शल्य, धीरेन्द्र मोहन दत्त, दयाकृष्ण, राजेन्द्र प्रसाद आदि भारतीय चिन्तकों ने अध्ययन प्रारंभ किया। कुछ चिन्तकों ने मूल्यवाद एवं मानववाद का भी विमर्श किया, जिसमें राधाकमल मुकर्जी, कालिदास भट्टाचार्य,दयाकृष्ण, के.सच्चिदानन्द मूर्ति, नन्द किशोर देवराज, ए.जे. जावडेकर, डी.पी. चटोपाध्याय, संगमलाल पाण्डेय आदि का नाम अग्रणी हैं। इसी क्रम में दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानववाद अद्वैतीय सिद्धान्तों का सामाजिक क्षेत्र में प्रयोग माना जाता है। परन्तु इसके साथ ही साथ दर्शन का व्यावहारिक रूप भी विवेचना का विषय बन गया और दर्शन के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक आदि स्वरूपों का विकास हुआ। परिणामस्वरूप समाजदर्शन, राजनीतिक दर्शन, धर्म दर्शन, विश्वधर्म, वैज्ञानिक दर्शन, सांस्कृतिक दर्शन आदि के अध्ययन पर जोर दिया जाने लगा। अभी हाल के वर्षों में बल्कि 90 के दशक में विभिन्न सामाजिक एवं

राजनीतिक यथा नारीवाद,दलितवाद, धर्म निरपेक्षतावाद, आतंकवाद, आधुनिकतावाद आदि बहुचर्चित रूप में नये आयाम जुड़े। इसी के साथ दर्शन की एक और नवीन विधा का उद्भव हुआ और वह है 'पारिस्थितिकी दर्शन' जिसका प्राकृतिक पर्यावरण सहित विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आयाम है। इस काल में विश्व के समक्ष पर्यावरण– प्रदूषण की समस्या एक चुनौती बनकर आई, जिस पर दार्शनिक चिन्तन के परिणामस्वरूप विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं तथा ग्रंथों में इससे सम्बन्धित विचार प्रस्तुत किए जाने लगे। भारत में विशेष रूप से हिन्दी भाषा में 'पारिस्थितिकी दर्शन'' पर पहली बार डॉ. हृदय नारायण मिश्र (ज्ञानपुर) ने एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रस्तुत कर दर्शन को एक नयी सोच दी।

मानव सभ्यता के प्रारंभ से ही इस तथ्य को स्वीकृति मिली है कि मानव एवं प्रकृति एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं। मानव के जीवन का आधार ही है प्रकृति। इसलिए मानव ने प्रकृति को सदैव ही पूज्य मानकर उसको महत्त्व प्रदान किया है। वैदिक काल से ही मानव प्रकृति के विभिन्न रूपों, यथा–पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वृक्ष, नदियों एवं सागर आदि के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करता रहा है। कालान्तर में मनुष्य की भोगवादी एवं व्यावसायिक प्रवृत्ति ने प्रकृति का शोषण करना प्रारंभ कर दिया। परिणामस्वरूप पर्यावरण–प्रदूषण सम्बन्धी समस्या का उदय हुआ। इस ज्वलंत समस्या ने विश्व स्तर के वैज्ञानिकों, समाजसेवकों, पर्यावरणविदों व नियोजन कर्ताओं का ध्यान आकृष्ट किया। यहाँ तक कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी स्टाकहोम में इस हेतु एक महासम्मेलन आहूत किया, जिसमें विश्वभर के अन्यान्य विद्वानों ने भाग लिया। परिणामस्वरूप शुद्ध प्रर्यावरण एवं पारिस्थितिकीय संतुलन को अनुकूल बनाये जाने का प्रयत्न किया जाने लगा। इस क्रम में दार्शनिक प्रयास भी आवश्यक था।

सामान्यतः ''पर्यावरण'' और ''पारिस्थितिकी'' को एक दूसरे का पर्याय मान लिया जाता है, जबकि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। पर्यावरण पारिस्थितिकी का ही एक अंश है। पर्यावरण का सम्बन्ध प्राकृतिक सत्ता से है, जबकि पारिस्थितिकी का सम्बन्ध जीवन के समग्र आयामों से है। इसमें सम्पूर्ण जीव व जगत् के अन्तःसम्बन्धों की व्याख्या होती है। इसे ही क्रमशः उथला पारिस्थितिकी (Shallow Ecology) तथा गहन पारिस्थितिकी (Deep Ecology) कहा जाता है। फिर्जाक कॉप्रा तथा अन्य चिन्तकों ने इस अन्तर का समर्थन किया है और कहा है कि गहन पारिस्थितिकी केवल पर्यावरणीय सुरक्षा तक ही सीमित नहीं है, अपितु सम्पूर्ण जीवन के विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि आयामों से जुड़ी है। इसी समग्रता की दृष्टि को पारिस्थितिकीय दृष्टि कहा जाता है, जिसमें जीवन के विभिन्न आयाम एक दूसरे से सम्बन्धित तथा परस्पर निर्भर हैं। इसीलिए जीवन को पूर्णता की दृष्टि में देखा जाना चाहिए। इसी को समग्र दृष्टि या विश्व दृष्टि (Holistic View) कहा जाता है, जबकि पर्यावरणवाद या उथला पारिस्थितिकी का

सीधा सम्बन्ध मनुष्य के कल्याण हेतु किए जाने वाले प्राकृतिक पर्यावरण के नियंत्रण तथा प्रबन्धन से है। वस्तुतः गहन पारिस्थितिकी किसी नितान्त नये दर्शन का प्रस्ताव न होकर एक ऐसी अवचेतना का पुनर्जीवीकरण है, जो हमारी संस्कृति का एक भाग है और यह पारिस्थितिकीय दृष्टि (Ecological Vision) का ही विस्तार है। इसमें सम्पूर्ण विश्व की एकता की भावना है, बल्कि इसे वैश्वीकरण (Globalization) की भावना का प्रसार माना जा सकता है।

वस्तुतः मानव एवं प्रकृति का इस प्रकार का अन्तर्सम्बन्ध है कि दोनों एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं। यह भी सत्य है कि मानव इस जगत् का सर्वोत्कृष्ट प्राणी है।वह प्रकृति के संसाधनों का पूरा प्रयोग करते हुए विकास में संलग्न है। वह आर्थिक,वैज्ञानिक, तकनीकी प्रगति कर रहा है। इसी कारण वह आधुनिकता की ओर बढ़ रहा है। इस क्रम में प्रकृति पर उसकी विजय स्वाभाविक है, परन्तु इस विजय के लिए प्रकृति पर उसका आक्रमण हमारे लिए आत्मप्रशंसा का विषय नहीं है, क्योंकि इससे मानव तथा प्रकृति के सम्बन्धों का संतुलन बाधित होता है और परिणामस्वरूप मानव जाति के सम्मुख अनेक प्राकृतिक समस्याओं, यथा–जलवायु परिवर्तन, पृथ्वी के तापमान में वृद्धि, भूमि की उत्पादन क्षमता में कमी, असमय बाढ़, अकाल, क्लोरो–फ्लो कार्बन (CFC) से ओजोन परत का क्षय, भूकम्प, तेजाबी वर्षा, वैश्व जैव–सम्पदा आदि के विलुप्त होने आदि के संकट उत्पन्न हो जाते हैं। यही है, प्राकृतिक प्रतिशोध, जिसे हम पर्यावरण संकट के रूप में पाते हैं। इस प्राकृतिक दोहन से किया गया विकास भले ही वर्तमान में विकास के रूप में दिख रहा है, परन्तु यह भविष्य का संकट है, जिसकी हम अनदेखी नहीं कर सकते। इस संकट से उबरने के लिए पारिस्थितिकी दर्शन जैसे चिन्तन एवं साहित्य की आवश्यकता है, जो हमें यह अवगत कराता है कि विकास के लिए प्रकृति के साथ ताल–मेल आवश्यक है। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य प्रकृति के ऊपर नियंत्रण रखने के बजाय उसके द्वारा प्रदत्त संसाधनों का प्रयोग तो करे और अपना विकास करता रहे, परन्तु ऐसा करते समय वह प्रकृति या पर्यावरण के साथ सामंजस्य भी स्थापित किए रहे और ऐसा करने के लिए उसे पोषणकारी या अनुरक्षणवादी विकास की नीति अपनानी होगी। यही है संपोष्य विकास (Sustainable Develpment)। अतएव व्यापक अर्थ में पारिस्थितकी दर्शन संपोष्य विकास है। पारिस्थितिकी दर्शन और कुछ नहीं संपोष्य विकास का चिन्तन है। परन्तु ऐसा चिन्तन समग्रता में होना चाहिए। विकास और प्रकृति का संतुलन बने रहना दोनों अनिवार्य हैं। इस सम्बन्ध में गठित विश्व आयोग, जिसका भारत भी सदस्य है, द्वारा दी गयी रिपोर्ट को उद्धृत करना यहाँ समीचीन होगा। इसके अनुसार, 'संपोष्य विकास वह है, जो वर्तमान की आवश्यकता की पूर्ति भविष्य की पीढ़ियों की आवश्यकताओं की पूर्ति बिना समझौता किये करता है।" इसका तात्पर्य यह है कि भविष्य में आने वाली पीढ़ियों के लिए बचाकर प्राकृतिक सम्पदा का उपयोग करना अर्थात् पर्यावरण से उधार ली हुई वस्तु को उसे वापस कर देना

जैसे–यदि वृक्ष काटा जाय तो नया वृक्षारोपण अवश्य किया जाय। इस प्रकार का विकास जनकेन्द्रित (People Centred Development) होता है। ऐसा विकास ही मानव हित का विकास होता है। इस प्रकार की अवधारणा को संयुक्त राष्ट्र संघ के विकास कार्यक्रम में भी स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में पर्यावरणविद् सुन्दरलाल बहुगुणा की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है कि प्रकृति को व्यापार की एक वस्तु मानना अथवा उसका बाजार मूल्य निर्धारित करना या यह कहना कि समाज केवल मनुष्यों का है, उचित नहीं है।

ब्रह्माण्ड की समस्त संरचना अनेक पर्तों पर शृंखलाबद्ध रूप से विकसित होती है, जहाँ व्यक्ति समष्टि से जुड़ा रहता है। इसी प्रकार जैविकी विकास शृंखला पर्त–दर–पर्त विकसित जीवन प्रणाली से जुड़ी हई है, जहाँ जीवन और मृत्यु का निरन्तर आदान–प्रदान होता रहता है। इस प्रकार मनुष्य भी अन्य सभी जीवित प्राणियों की भाँति एक वृहत् पर्यावरण शृंखला के सौर जैविकी मण्डल, ग्रह मण्डल आदि भी एक दूसरे से जुड़े हैं और सभी की अपनी–अपनी कार्य प्रणालियाँ हैं। प्रसिद्ध रसायन वैज्ञानिक जेम्स लवलॉक ने भी रासायनिक पृष्ठभूमि के आधार पर पृथ्वी को जीवंत रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। वह यह सिद्ध करता है कि पृथ्वी ग्रह के सभी जीवित अवयव (अर्थात् पौधे, वैक्टीरिया एवं पशु आदि) एवं निर्जीव अवयव (अर्थात् पत्थर, सागर एवं वायुमण्डल आदि) के मध्य एक गहन अन्तर्सम्बन्ध विद्यमान है।वस्तुतः पृथ्वी को जीवित सत्ता के रूप में स्वीकार करके ही इस सिद्धान्त को पृथ्वी की देवी गया (GAIA) का नाम दिया गया है।

भारत में तो पहले से ही पृथ्वी को माता के रूप में माना जाता है और इसी आधार पर प्रकृति और उसके विभिन्न अंगों को दिव्यत्व प्रदान किया जाता रहा है। भारतीय दृष्टि में भी पृथ्वी एक जीवित आध्यात्मिक सत्ता है। इसके जीव–अजीव सभी अंगों में एकता है। इसे केवल पर्यावरणीय या प्राकृतिक रूपों में देखना उचित नहीं है।

ऐसे ही कॉप्रा का भी मानना है कि गहन पारिस्थितिकीय अवचेतना आध्यात्मिक अथवा धार्मिक अवचेतना है। इसी आधार पर गहन पारिस्थितिकीय को भारतीय परिप्रेक्ष्य में भी देखने की आवश्यकता है। भारतीय धर्म और अध्यात्म ने तो सदैव से ही जीवन को पूर्णता में देखते हुए प्रकृति से मानव को जोड़ा है। यदि हम वेदों को देखें तो उसमें सभी प्राकृतिक तत्त्वों – सूर्य, चंद्रमा, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, वनस्पतियाँ तथा जीव आदि सभी को देवत्व प्रदान किया है। देवत्व का सम्मान और देवों की आराधना भारतीय परम्परा का अंग है। गहन पारिस्थितिकीय की तरह भारतीय धर्म और आध्यात्म भी जीव–अजीव सभी को समग्रता के रूप में देखता है, इसका मुख्य कारण है कि ये सब ईश्वर के अंश हैं। आधुनिक वैज्ञानिक इसी समग्रता के सिद्धान्त को दार्शनिक महत्त्व देते हैं। इस समग्रता को मानने पर मनुष्य प्रकृति के साथ अपना सामंजस्य रखता है और जब यह सामंजस्य टूटता है अथवा इसका संतुलन अनियंत्रित होता है तो अनेक प्रकार के प्राकृतिक संकट उत्पन्न हो जाते हैं। इस संदर्भ में अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त के उस सूक्त

(12/1/12)– "माता भूमेह पुत्रोऽहं पृथिव्यो" अर्थात (तू) भूमि सबकी उत्पादक होने के कारण मेरी माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ – स्मरणीय है। यह पृथ्वी ही समस्त विश्व का भरण–पोषण करने वाली है। यह सब बहुमूल्य संपत्तियों का खजाना है। पृथ्वी को शास्त्रों में विश्म्भरा, वसुन्धरा, हिरण्यवक्षः, निवेशिनी, वैश्वनारम, इंद्रऋषभा आदि कहा गया है। ऐसी पृथ्वी पर सुख से रहने के लिए पृथ्वी के ऊपर पाये जाने वाले अनेक प्राकृतिक संपदा का उपयोग करते हुए अथर्ववेद में भी इस प्रकार प्रार्थना की गई है – "हे पृथ्वी! तेरे पहाड़ और हिमों से ढँके हुए बड़े–बड़े पर्वत और तेरा जंगल सुखकारी हो" एक अन्य मंत्र में कहा गया – "हे भूमि! तुमसे जो औषधि आदि पदार्थ मैं नाना प्रकार से खोद लूँ वे भी शीघ्र ही पुनः उग आये। विशेष रूप से शुद्ध पवित्र करने वाली! मैं तेरे मर्मस्थानों को और हृदय को कभी पीड़ित और विनाश न करूं। औषधि आदि खोदते समय सदा ध्यान रखें की पृथ्वी के मर्म अर्थात जिनमें पृथ्वी के औषधिपोषक अंश हों, और हृदय जिनमें उनके रसप्रद अंश हों, उनको नष्ट न करें, नहीं तो भूमि उसर तथा बंजर हो जायेगी।"

स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तन परम्परा में पर्यावरण संरक्षण के गहरे भाव विद्यमान हैं। ऋग्वेद के (14/90/8) मंत्र में भी ऋषि द्वारा वायु, सिन्धु, ऊषा, रात्रि, सरिता, पृथ्वी, वनस्पतियों आदि से प्रार्थना की गई है। साथ ही प्रकृति को देवी, परमेश्वरी, जीवनदायनी आदि मानते हुए कहा गया है कि सम्पूर्ण संसार इस प्रकृति की संपदा है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में भी "यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति" अर्थात् वास्तविक सुख की प्राप्ति पूर्णता में है न कि अंशों में– कहा गया, जिसका तात्पर्य है सभी दृष्टियों से किए गये विकास से ही पूर्णता प्राप्त होती है। इसमें व्यक्ति के वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, भौतिक, आध्यात्मिक आदि सभी दृष्टियों से विकास की अपेक्षा की गयी है। इस पूर्ण विकास से ही मनुष्य, प्रकृति एवं समाज में एकता स्थापित होगी। उपनिषदों में तो पारस्परिकता और एकता के जैसे आदर्शों का उल्लेख है, वह संपोष्यविकास या गहन पारिस्थितिकी की दृष्टि से अतुलनीय है। कठोपनिषद् में कहा गया कि हम साथ–साथ रहें, साथ–साथ भोजन करें, हमारी बुद्धि शुद्ध और तेजमयी हो, हम एक दूसरे से द्वेष न करें। ऐसा होने से सब जीवन के जाल में एक दूसरे से जुड़े होंगे और यह गहन पारिस्थितिकी का सर्वाधिक चिन्तनीय विषय है। आधुनिक भारतीय परिप्रेक्ष्य में भी यही "वसुधैव कुटुम्बकम्" की अवधारणा है। बसुधा के इस कुटुम्ब में केवल मानव ही नहीं, सभी जीव–जन्तु, वनस्पतियाँ, भौतिक द्रव्य आदि सम्मिलित हैं और परिवार की इस भावना में ही सद्भाव, प्रेम और सहयोग का भाव और विचार आता है। एक ही कुटुम्ब होने की विश्वचेतना संपोष्य मानव विकास के लिए आवश्यक है।

द्रष्टव्य है कि न केवल प्राचीन भारतीय मान्यताओं में अपितु अर्वाचीन भारतीय चिन्तन में भी गहन पारिस्थितिकी की अवधारणा विद्यमान है। स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द और गाँधी के चिन्तन में ऐसे विचार गहरे तौर पर समाहित हैं, क्योंकि उनके चिन्तन

में प्राचीन भारतीय आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विचारों की झलक मिलती है जो आज के वैज्ञानिक युग में अत्यन्त विचारणीय हैं। संपोष्य विकास के विभिन्न आयामों, यथा–प्राकृतिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि के संदर्भ में स्वामी विवेकानन्द के विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहे हैं। प्राकृतिक संदर्भ में स्वामी जी ने माना है कि प्रकृति के प्रति हमारा अनुराग होना चाहिए। हमें किसी भी 'उपभोक्ता संस्कृति' नहीं वरन् 'त्याग की संस्कृति' को अपनाना चाहिए। प्राकृतिक संरक्षण के सम्बन्ध में स्वामी जी ने कहा कि पागलों की तरह हम सोचते हैं कि प्रकृति को हम धोखा दे सकते हैं। हम लोग अल्पदर्शी हैं, समझते हैं कि स्वार्थ–साधना ही जीवन का चरम उद्देश्य है। उन्होंने कहा है कि प्रकृति हम लोगों के पास जो कुछ एकत्रित करती है, वह बाँटने के लिए है। प्रकृति को दोहन से बचाने के लिए मनुष्य को निःस्वार्थ बनकर त्यागपूर्ण जीवन बिताने की सलाह स्वामी विवेकानन्द देते हैं। प्रकृति से हमारा प्रेम तभी होगा जब हम प्रकृति को ईश्वर से अभिन्न कर लें। उन्होंने कहा कि जगत् को ब्रह्मस्वरूप देखो। स्वामी विवेकानन्द ने व्यावहारिक वेदान्त के माध्यम से भी सामाजिक आयाम की दृष्टि से संपोष्य सामाजिक विकास के लिए व्यक्ति के विकास पर बल दिया है, इसमें व्यक्ति के निर्माण की आवश्यकता है और व्यक्ति से समाज का निर्माण होता है। स्वामी जी ने कहा कि एक मनुष्य तैयार करने में लाख जन्म भी लेना पड़े तो मैं उसके लिए तैयार हूँ। व्यक्ति बनने के लिए उसे स्वाभिमान, चरित्रवान, करुणा, परोपकार, प्रेम आदि की भावना, निर्भय, साहस आदि गुणों से युक्त होना चाहिए, तभी वह 'स्व' से 'पर' की ओर उठ सकेगा। इस प्रकार के व्यक्तियों से युक्त समाज ही संपोष्यकारी होगा। इतना ही नहीं इस प्रकार के सुगठित सामाजिक विकास के लिए स्वामीजी ने सामाजिक न्याय, नारी उत्थान, धर्म निरपेक्षता आदि की आवश्यकता पर भी बल दिया। उन्होंने समाजिक विकास के लिए अन्त्योदय अर्थात् अंतिम मौलिक व्यक्ति का उदय या विकास आवश्यक माना है। स्वामी विवेकानन्द ने पारिस्थितिकीय के राजनैतिक आयाम को महत्त्वपूर्ण मानते हुए कहा कि विकास देश की सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिए। इसके लिए राष्ट्रीयता की भावना होनी चाहिए तथा समानता, स्वतंत्रता के सिद्धान्त का मानवता की दृष्टि से पालन किया जाना चाहिए। सांस्कृतिक संदर्भ में संपोष्य विकास के लिए 'सादा जीवन उच्च विचार', त्याग से भोग, सार्वभौमिकरण, विश्वबन्धुत्व जैसे विचार आवश्यक हैं।

अर्वाचीन दर्शन के अग्रिम क्रम में श्री अरविन्द के दर्शन में उपलब्ध पारिस्थितिकीय चिन्तन से सम्बन्धित बीजभूत विचार भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। संपोष्य विकास के प्राकृतिक आयाम के क्रम में श्री अरविन्द ने 'गीता प्रबंध' में यज्ञ की अवधारणा की विवेचना करते हुए कहा है कि यह जीवन एक यज्ञवेदी है। इसमें प्रकृति संपूर्ण विश्व के भरण–पोषण के लिए सामग्री जुटाती है। प्रकृति से हम जो कुछ भी लें उसे यज्ञ के रूप में वापस कर दें। यदि प्रकृति से केवल लूटना ही हमारा उद्देश्य है, तो यह हमारी अज्ञानता

है और इस प्रकार यज्ञमय संसार में अहंकार विमूढ़ जीव मानो ऐसा है जैसे कोई चोर या लुटेरा हो, जो इन दैवीय शक्तियों का दिया हुआ तो सब कुछ लेता है पर बदले में कुछ देने की नीयत नहीं रखता। वह जीवन के वास्तविक अभिप्राय से वंचित रह जाता है और चूँकि वह अपने जीवन तथा कर्मों का उपयोग यज्ञ के द्वारा अपनी सत्ता को उदार, विशाल और उन्नत बनाने में नहीं करता इसीलिए वह व्यर्थ जीता है। श्री अरविन्द ने प्राकृतिक सम्पोष्यता का उल्लंघन करने पर प्राकृतिक दण्ड की वेदों की मान्यता को स्वीकार करते हुए कहा कि जहाँ यज्ञ में स्वेच्छा से आहूति नहीं दी जाती, वहाँ प्रकृति जबरदस्ती वसूल करती है और इस प्रकार जीवन विधान की रक्षा करती है, क्योंकि पारस्परिक आदान–प्रदान जीवन का नियम है। इसीलिए चाहे यज्ञ के रूप में सही प्राकृतिक या पर्यावरण संरक्षण आवश्यक है। यजुर्वेद का यह कथन कितना मर्मस्पर्शी है– "हे मनुष्यों, तुम मुझे दो मैं तुम्हे देता हूँ। तुम मेरे लिए पदार्थ रखो, मैं तुम्हारे लिए पदार्थ रखता हूँ। तुम मुझे वस्तु देते हो, मैं तुम्हें मूल्य देता हूँ। एतदर्थ आहूति देता हूँ"।

श्री अरविन्द ने अपने समग्रतावादी दर्शन में जीवन और जगत् के व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और संस्कृति के संपोष्य विकास की खोजपूर्ण विवेचना की है। यह तो सत्य है कि श्री अरविन्द ने सत् और संभूति दोनों को ही परम सत् के रूप में स्वीकार किया है और व्यावहारिक रूप से मानव समाज, राष्ट्र तथा संस्कृति के विकास की विवेचना की है। व्यक्ति के विकास में शारीरिक विकास नहीं, चेतना के विकास पर उन्होंने विशेष जोर दिया है, प्रत्युत् यह सत् का रूप है और विकास की कड़ी में उसे आगे जाना है। यही स्थायी या सम्पोष्य विकास होगा। श्री अरविन्द ने स्वयं कहा है, "व्यक्ति केवल क्षणभंगुर शरीरधारी प्राणी ही नहीं है, अर्थात् मन और शरीर का कोई ऐसा ढाँचा नहीं है, जो बनता और बिगड़ता रहता है, प्रत्युत वह एक 'सत्ता' है, अनादि सत्य की एक जीवन्त शक्ति है, एक सर्वाभिव्यक्तशील आत्मा है।" आगे चलकर श्री अरविन्द मानते हैं कि समाज, जाति और राष्ट्र भी व्यक्ति की तरह ही अपने मूलभूत विधान और उद्देश्य की पूर्ति अथवा आत्मोपलब्धि के प्रयत्न और सम्भाव्यताओं को अभिव्यक्त तथा उसकी परिपूर्ति करने में लगे हैं। वे व्यक्ति के समान समाज की आत्मा (सामुदायिक आत्मा) भी मानते हैं और उसे अधिकाधिक सचेतन एवं पूर्ण होने के लिए विकासशील मानते हैं। उनका यह मानना कि व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र में एकत्व तथा सभी को जीवित एवं आध्यात्मिक सत्ताओं के रूप में मानकर ही सम्पोष्य विकास की दृष्टि चरितार्थ की जा सकती है। व्यक्ति का विकास ही सुस्थिर समाज का आधार होता है। व्यक्ति जब विकास की परम स्थिति तक पहुँचेगा तब उसका अति मानसिक रूपान्तरण हो जायेगा। तत्पश्चात् सम्पूर्ण समाज (समष्टि) का व्यष्टि की तरह ही दिव्यीकरण हो जायेगा। यही दिव्य समाज की श्री अरविन्द की कल्पना है। वे यह घोषणा करते हैं कि अतिमानसिक चेतना पृथ्वी पर अवतरित होगी और इसके सभी दुखों को दूर करेगी और आनन्द की स्थिति उत्पन्न होगी। श्री अरविन्द के दर्शन में

सांस्कृतिक सम्पोष्यता हेतु कुछ तथ्य निर्धारित किये जा सकते हैं, इस हेतु एक सनातन सत्ता में विश्वास, संस्कृति की जीवन्तता की स्वीकृति, आध्यात्मिकता को अर्थपूर्ण बनाना, विविधता की एकता में विश्वास, अपने सांस्कृतिक आदर्शों में विश्वास करना आवश्यक है, तभी संस्कृति को प्रदूषित होने से बचाया जा सकता है। श्री अरविन्द दर्शन में राजनैतिक सम्पोष्यता के आयाम की विवेचना भी दृष्टिगत होती है। वे राजनीति में होने वाले प्रदूषण से परिचित थे। उन्होंने माना कि यह मनुष्य की बुद्धि का ही कालुष्य है कि आज की राजनैतिक स्थिति और उससे उत्पन्न प्रदूषण से कोई एक राज्य नहीं, सम्पूर्ण विश्व ही दूषित है। इसको दूर करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपनी दिव्य चेतना का विकास करे। परमार्थ की भावना का विकास करे। तभी राजनैतिक भ्रष्टाचार का उन्मूलन संभव है। इससे 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' का विकास होता है। ये राजनैतिक विकास की आधारशिला हैं। इसके लिए अरविन्द ने राजनीति के आध्यात्मिकरण का सुझाव दिया है। इतना ही नहीं श्री अरविन्द ने मानव एकता का दर्शन, स्वतंत्रता, समानता, मानववाद और विश्वराज्य की संकल्पना के तत्त्वों को भी राजनीतिक प्रदूषण की समाप्ति के लिए आवश्यक माना है। आगे चलकर श्री अरविन्द ने राष्ट्रवाद और उससे भी आगे अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को भी मान्यता दी है। परन्तु इन दोनों का उन्होंने आध्यात्मिकरण करने पर बल दिया है और इसके लिए स्वतंत्रता को आधार बताया है। इस आध्यात्मिक राष्ट्रवाद में किसी का दमन नहीं किया जायेगा, अपितु सभी विकास के लिए स्वतंत्र होंगे। उन्होंने व्यक्ति की तरह राष्ट्र की स्वतंत्रता पर भी बल दिया है और राष्ट्रवाद को कमजोर मानते हुए उसे ईश्वर बल से जीवित रखने की बात कही है। उन्होंने कहा कि राजनीति के क्षेत्र में आध्यात्मिक राष्ट्रवाद सतत् और अनवरुद्ध रूप में मानव एकता की ओर फिर विश्व राज्य की ओर अग्रसर होता है। श्री अरविन्द ने राष्ट्रीय एकता की भावना से राष्ट्रों में एकता, इस एकता से मानव एकता और मानव एकता से विश्व एकता की स्थापना मानी है। यह आध्यात्मिक विकास से संभव है, ऐसा प्रतीत होता है। इसे ही श्री अरविन्द ने पृथ्वी पर स्वर्ग की परिकल्पना कहा है।

गाँधी का पारिस्थितिकीय दर्शन भी आधुनिकता की आलोचना पर आधारित एक परिष्कृत परम्परावादी और समग्रतावादी चिन्तन है, पारिस्थितिकीय में प्रकृति के साथ–साथ पशु–पक्षी, कीड़े–मकोड़े, व्यक्ति–समाज और समाज में भी आर्थिक, नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और इसमें भी लौकिक तथा पारलौकिक सभी पक्ष समाहित हैं। गाँधी ने इन सभी के समन्वित विकास की बात कही है। उनकी दृष्टि में प्राकृतिक पर्यावरण का संतुलन बना रहना मानव जीवन के लिए आवश्यक है। उन्होंने माना कि बढ़ती औद्योगिक सभ्यता ने प्रकृति पर सर्वाधिक अत्याचार किया है, जिसके भयंकर परिणाम मानव जातियों को सदियों तक भुगतने पड़ेंगे। यह आवश्यक है कि सम्पोष्य विकास के लिए मनुष्य को प्रकृति से जुड़ना होगा। इसके लिए गाँधी जी ने केवल प्रकृति से ही प्रेम

नहीं जिसका समर्थन पाश्चात्य चिंतक करते हैं, अपितु उससे भी आगे बढ़कर प्रकृति पूजा की आवश्यकता बताई है। यही दृष्टि भारतीय ऋषियों की रही है। क्योंकि 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' को मानते हुए ब्रह्म की तरह ही प्रकृति पूजा का विधान निर्धारित किया गया है। साथ ही गाँधी ने पृथ्वी, वनस्पतियों तथा पशुओं के साथ संतुलन बनाये रखने पर बल दिया है। गाँधी ने इसी समग्र संतुलन के सिद्धांत का प्रयोग जीवन दर्शन में किया है।

गाँधी ने माना है कि उद्योगवाद से सम्पोष्य विकास संभव नहीं है। इसका मुख्य कारण मानवता के लिए आधुनिक पूँजीवादी औद्योगिक अर्थव्यवस्था का घातक होना है। मशीनीकरण के बारे में वे यंत्रों के विरुद्ध नहीं वरन् यंत्रों के दुरूपयोग के विरुद्ध हैं। सामाजिक विकास के लिए गाँधी जी ने यज्ञ अर्थात् त्याग की आवश्यकता बताई। यहाँ वे गीता के यज्ञ संबंधी विचार से सहमत हैं। समाज से कुछ लेने के लिए अपने श्रम से उसे कुछ देना ही होगा। यदि मनुष्य लालच, प्रलोभन और तृष्णा के कारण ऐसा नहीं करता अर्थात् अपरिग्रह को नहीं अपनाता, तो यह प्रवृत्ति, गीता के अनुसार, असुरी प्रवृत्ति होगी, ऐसा गाँधी जी मानते हैं। इसीलिए गाँधी ने 'सादा जीवन उच्च विचार'' के मार्ग को अपनाया और कहा कि मानव शरीर का एक मात्र उद्देश्य सेवा है, भोग कदापि नहीं। सुखी जीवन का रहस्य त्याग में है और त्याग ही जीवन है। भोग का अर्थ तो मृत्यु है। उन्होंने जीवन–स्तर (Standared of Living) के बजाय, जीवन–दर्शन (Standared of Life) बढ़ाने पर बल दिया। यह वैराग्य या गरीबी नहीं है, अपितु इस वैराग्य को गरीब या कोई सन्त व्यक्ति लाचारी से नहीं, अपितु इच्छा से अपनाता है (Poverty by choice)। यह आदर्शों के चुनाव का जीवन है। यही गाँधी का संतोष–प्राप्ति एवं कष्ट–सहिष्णुता का जीवन है।

गाँधी की संपोष्य जीवन दृष्टि ही उनके सर्वोदयी समाज की आधारभूत दृष्टि है। सर्वोदयी मत के जाने माने समर्थक दादा धर्माधिकारी ने इसकी परिभाषा देते हुए कहा था, "सर्वोदय ऐसे वर्गविहीन, जातिविहीन, शोषण मुक्त समाज की स्थापना करना चाहता था, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपने सर्वांगीण विकास के साधन तथा अवसर प्राप्त रहेगें"। UNDP और HDR (Human department Report) संपोष्य मानव विकास के यही विचार देते हैं। इस सर्वोदय समाज में व्यक्ति का धर्म होगा, करुणा, अहिंसा और सेवा। इससे व्यक्ति का विकास होगा और समाज का भी तथा मानवता की पूजा होगी। राजनीतिक संपोष्यता के समर्थन में गाँधी का विचार है कि यह तभी संभव है जब राज्य लोकतंत्रीय विकेन्द्रीकरण का समर्थक हो, परन्तु ऐसा सहयोग और अहिंसा के माध्यम से होना चाहिए। गाँधी बहुमत नहीं आम सहमति से प्रजातंत्र चलाने के पक्ष में थे। इसका लक्ष्य 'सर्व भूत हिते रता' होना चाहिए। यही गाँधी का लोक कल्याणकारी राज्य या रामराज्य की परिकल्पना थी। इसी को उन्होंने 'भूमि का स्वर्गीकरण' कहा है।

गाँधी के साथ प्रकृत प्रसंग में मार्क्स के पारिस्थितिकीय दर्शन की भी विवेचना

तुलनात्मक दृष्टि से आवश्यक है। मार्क्स ने माना है कि पारिस्थितिकीय रक्षा या संपोष्यता उसके वर्गविहीन समाज के सिद्धान्त पर निर्भर है अर्थात् वह समाज में पूँजी के समान वितरण को सामाजिक विकास के लिए आवश्यक मानता है। परन्तु यहाँ वह समाज को अभिजात्य वर्ग तथा वर्गविहीन समाज में बाँटता है। इससे तो सामाजिक विकास नहीं समाजिक विग्रह उत्पन्न होता है। और फिर मार्क्स के मत में व्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है। इस प्रकार मार्क्स के संपोष्य विकास को मान्यता नहीं दी जा सकती। वस्तुतः मार्क्स का चिन्तन पारिस्थितिकी के सामाजिक, आर्थिक आयाम में एक बड़ी क्रांति रही है लेकिन अपनी विश्वदृष्टि में यह भौतिकवाद ही है और सामाजिक, आर्थिक पारिस्थितिकी की सभी समस्यायें उन्हीं भौतिक पारिस्थितियों में निर्मित होती हैं। यही इसकी विडम्बना है।

इस प्रकार पर्यावरण को समग्रता की दृष्टि में रखकर ही संरक्षित किया जा सकता है। केवल प्रकृति नहीं उसे सम्पूर्ण मानव जीवन के विभिन्न आयामों– सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि को दृष्टि में रखकर विचार करने से ही संपोष्य विकास सम्पोषित होगा। हमारे श्रुतियों, स्मृतियों या पुराणों अथवा अर्वाचीन दार्शनिक मतों में इस प्रकार के ज्ञान भरे पड़े हैं। परन्तु यदि हम इन्हें अपने जीवन में उतार पायें तो इस प्रकार की सारी समस्याओं का समाधान हो सकेगा। इतना अवश्य है कि इन आदर्शों का किसी न किसी रूप में हमारे विचारों पर प्रभाव तो पड़ता ही है, परन्तु जब पूरा तन्त्र ही बिखरा हो तो ये आदर्श कितना उपयोगी बन पायेंगे, यह कहना मुश्किल है। आज की उपभोगवादी संस्कृति में जहाँ मात्र फलवाद या उपयोगितावाद की माँग हो, ऐसे महत्त्वपूर्ण आदर्श भी कोरे दिखायी देते हैं। परन्तु फिर भी यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि इस विश्वव्यापी समस्या के समाधान हेतु न केवल दार्शनिक दृष्टि अपितु क्रियात्मक संकल्प की महती आवश्यकता है।

***

परिच्छेद : पाँच

परिशिष्ट

5.1 विचारों में स्वराज : कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य

: अनु.-प्रतापचन्द्र

भारतीय **स्वतंत्रता के दो अर्थ–सन्दर्भों** की चर्चा मैंने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में 'परा–ऐतिहासिक' एवं 'ऐतिहासिक' अर्थ–सन्दर्भ के रूप में पारिभाषिक तौर पर की है। वास्तव में दोनों अर्थ–सन्दर्भ अपनी सम्पूर्ण निष्पत्तियों के साथ स्वतंत्र हुए भारत के समक्ष दो अलग–अलग प्रकार के व्यापक पूर्वपक्षों को उपस्थापित करते हैं। इसमें पहला है बाहरी और सर्वथा वैजात्य विश्वदृष्टि वाली पश्चिमी सभ्यता का पूर्वपक्ष और दूसरा है विभाजनोपरान्त शेष भारत की आन्तरिक सांस्कृतिक संरचना का पूर्वपक्ष। स्वनामधन्य स्व. प्रो. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य का यह व्याख्यान प्रथम पूर्वपक्ष के तन से मन तक हम भारतीयों में प्रविष्ट होने का पुंखानुपुंख विवेचन करता है। इसमें उन्होंने तलस्पर्शी ढंग से जिन–जिन संवेदनशील बिन्दुओं का संकेत किया है, उन्हीं वर्जनाओं के साथ भारत का स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक चिन्तन सृजनात्मक भाष्यधर्मी अभियान के द्वारा अपने जातीय अनुभव और साथ ही अपनी सांस्कृतिक आत्मा में प्रतिष्ठ हो सकता है। यद्यपि इस व्याख्यान में 'विचारों में स्वराज' के भाषीय राजपथ रूप राष्ट्रभाषा अथवा मातृभाषा की आवश्यकता एवं महत्त्व पर उतना बल नहीं दिया गया है तथापि इसके एक–एक वाक्य सूत्र की तरह 'अर्थगर्भ' हैं जो बहुत दूर तक हमारी 'सांस्कृतिक आत्मा' का स्पर्श करते हैं। प्रो. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने यह व्याख्यान 1928–29 में हुगली कॉलेज के प्रिंसिपल पद से अपने कॉलेज के विद्यार्थियों के समक्ष दिया था। विश्वभारती क्वार्टरली – खण्ड 20, 1954 में पहली बार इसका प्रकाशन अंग्रेजी में हुआ था। पुनः महात्मा गाँधी के 'हिन्द स्वराज' के प्रकाशन की 75 वीं वर्षगांठ के सुअवसर पर परामर्श 'हिन्दी' (वर्ष 5, अंक 4, 1984) पत्रिका के द्वारा इस व्याख्यान का डॉ. प्रतापचन्द्र, दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय कृत हिन्दी भाषान्तर प्रकाशित किया गया था। साथ ही इण्डियन फिलॉसफ़िकल क्वार्टरली, वर्ष 11, अंक 4, 1984 को 'स्वराज इन आइडियाज़' विशेषांक के रूप में प्रकाशित किया गया था जिसमें इस देश के कुछ प्रतिष्ठित दर्शनशास्त्रियों ने प्रो. भट्टाचार्य के व्याख्यान के कुछ पहलुओं पर भाष्य लिखने का प्रयास किया था। इस तरह देखा जाय तो यह व्याख्यान भारत के दार्शनिक और अकादमिक जगत् के लिए ध्यानाकर्षी रहा है। वर्तमान पीढ़ी के विचारोत्सुक व्यक्तियों, विशेषकर हिन्दी भाषा–भाषियों के लिए इस व्याख्यान की उपयोगिता को ध्यान में रखकर यहाँ इसका पुनः प्रकाशन किया जा रहा है। परामर्श 'हिन्दी' के कर्मठ एवं उदीयमान सम्पादक डॉ. सुभाषचन्द्र भेलके जी के प्रति एतदर्थ हम अपनी ओर से एवं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की ओर से आभार प्रकट करते हैं। आज से लगभग 75–76 वर्ष पूर्व दिये गये इस व्याख्यान के द्वारा हम भारतीयों को जिसके लिए आगाह किया गया था, आज वह वर्तमान की तथ्यात्मकता बन चुकी है। अतएव कहा जा सकता है कि प्रो. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की चेतावनी आज हमारे लिए पहले की अपेक्षा अधिक उपादेय हो गई है। सांस्कृतिक पराधीनता सामान्यतौर पर अचेतन प्रकार की होती है और इसी के चलते वैचारिक दासता के प्रति जागरूक होने में समय लगता है। परन्तु जब तक हम वैचारिक स्वराज के प्रति आत्मचेतन नहीं हो जाते,मनस्वियों की एतद्विषयक गवेषणायें किसी. न किसी माध्यम से अपने को उजागर करती ही रहती हैं।

: **अम्बिकादत्त शर्मा**



विचारों में स्वराज*

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य

आज हम राजनीतिक संदर्भ में स्वराज अथवा आत्म–निर्णय की बात करते हैं। मनुष्य का मनुष्य के ऊपर आधिपत्य राजनीति के क्षेत्र में ही सबसे अधिक महसूस होता है। किन्तु आधिपत्य का एक सूक्ष्मतर रूप भी होता है जो विचारों के क्षेत्र में एक संस्कृति द्वारा दूसरी संस्कृति पर हावी होने में दिखाई देता है। यह आधिपत्य अन्ततः अधिक चिन्ताजनक होता है क्योंकि साधारणतः इसे लोग महसूस नहीं करते। राजनीतिक दासता का मूल अर्थ होता है किसी राष्ट्र के बाह्य जीवन पर नियन्त्रण। यद्यपि इस नियन्त्रण की प्रवृत्ति शनैः शनैः आन्तरिक जीवन में उतरने की होती है तथापि इस नियन्त्रण के प्रति सजगता इस प्रवृत्ति के विरुद्ध कार्य करती है। जब तक व्यक्ति किसी बन्धन के प्रति सचेत है तब तक उसके द्वारा उसका प्रतिरोध भी संभव है। उसे एक अपरिहार्य बुराई के रूप में सहते हुए भी आत्मा में वह स्वतंत्र रहा जा सकता है। दासता तब प्रारंभ होती है जब व्यक्ति बुराई को महसूस करना ही बन्द कर देता है। जब अशुभ को शुभ के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तो वह दासता और गहन–गंभीर हो जाती है। सांस्कृतिक पराधीनता साधारणतः अचेतन प्रकार की होती है और उसमें दासता प्रारंभ से ही निहित होती है। जब मैं सांस्कृतिक पराधीनता की बात करता हूँ तो मेरा अभिप्राय किसी विदेशी संस्कृति को मात्र अपना लेने से नहीं होता। इस प्रकार का अपना लेना अवांछनीय ही हो यह आवश्यक नहीं है। एक स्वस्थ विकास के लिए यह कभी–कभी जरूरी भी हो सकता है। किसी भी परिस्थिति में उसका अर्थ स्वाधीनता की हानि नहीं होता और नहीं होना भी चाहिए। सांस्कृतिक पराभव केवल तब होता है जब व्यक्ति के अपने परम्परागत विचारों और भावनाओं को बिना तुलनात्मक मूल्यांकन के ही एक विदेशी संस्कृति के विचार और भावनाएँ उखाड़ फेंकते हैं और वह विदेशी संस्कृति व्यक्ति को एक प्रेत या भूत की तरह वश में कर लेती है। इस प्रकार की पराधीनता आत्मा की दासता है। जब व्यक्ति अपने आप को उससे मुक्त कर लेता है तो उसे लगता है जैसे उसकी आँखें खुल गईं। उसे एक नये जन्म की अनुभूति होती है। इसे ही मैं विचारों का स्वराज कहता हूँ।

** अनुवाद – डॉ. प्रतापचन्द्र, मेटाफिजिक्स ऑफ परपेच्युअल चेंज एवं इण्डियन माइण्ड नामक प्रसिद्ध पुस्तकों के रचयिता तथा सागर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के पूर्व उपाचार्य।*

इन दिनों जब हमारा राजनीतिक भाग्य अनिश्चित अवस्था में है, एक ऐसे सन्देह को शब्द देने की इच्छा होती है जिसे अभी तक अस्पष्टतः ही महसूस किया गया है और अभद्र कह कर उसे दबा दिया गया है। हमने किस सीमा तक अपनी पश्चिमी शिक्षा को सामान्यतः आत्मसात् किया है और कहाँ तक उसने एक सम्मोहन की तरह काम किया है? निश्चय ही कम–से–कम कुछ लोगों ने उसे किसी अर्थ में आत्मसात् किया है, किन्तु उनके बारे में भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उन्होंने इस बाहरी संस्कृति को अपनी इस देशज संस्कृति के साथ पूरे और सजग संघर्ष का मौका देने के बाद उसे स्वीकार किया है ? आज उस बात को स्वीकार किया जा रहा है जिसे पश्चिमी शिक्षा के प्रारंभिक दिनों में यथेष्ट मान्यता नहीं दी जाती थी–कि हमारे पास भी एक अत्यन्त समृद्ध संस्कृति थी जिसका तुलनात्मक मूल्य अभी तक पूरी तरह सुनिश्चित नहीं हुआ है। वर्तमान व्यवस्था में सामान्यतः पहले हमें पश्चिमी संस्कृति दी जाती है और फिर हम कभी–कभी अपनी प्राचीन संस्कृति में इस तरह झाँकने की कोशिश करते हैं मानों वह कोई कौतुक की बात हो। हमारी दृष्टि विदेशी प्राच्यविदों की दृष्टि ही होती है और फिर भी हम कहते हैं कि हमारी यह प्राचीन संस्कृति कोई अजूबा नहीं है। हमारे अनेक शिक्षित लोग अपने इस देशज रूप को न जानते हैं और न जानना भी चाहते हैं। जब वे उसे खोजते हैं तो यह महसूस करके नहीं कि वे अपनी ही आत्मा को खोज रहे हैं, जैसा उन्हें करना चाहिए।

इस बात से कोई असहमत नहीं हो सकता कि ये पश्चिमी संस्कृति–विचारों और भावनाओं का एक पूरा तन्त्र हमारे ऊपर आरोपित की गई है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अनिच्छुक लोगों पर लादी गई है : हमने स्वयं ही इस शिक्षा की माँग की थी और यह मानना शायद उचित ही है कि कई मामलों में यह वरदान सिद्ध हुई है। मेरा इतना ही मन्तव्य है कि इस शिक्षा को हमारे प्राचीन भारतीय मन के साथ सजगतापूर्वक नहीं जोड़ा गया है। वह भारतीय मन अधिकांश शिक्षित लोगों में निष्क्रिय हो चुका है और संस्कृति के सचेतन स्तर के नीचे चला गया है। वह उनके पारिवारिक जीवन के चले आ रहे कामों और कुछ सामाजिक और धार्मिक कृत्यों में अभी भी सक्रिय है, किन्तु इनका इन शिक्षित लोगों के लिए कोई अर्थ नहीं रह गया है। यह मन नई शिक्षा से प्राप्त होने वाले विचारों का न स्वागत करता है, न विरोध। वह सांस्कृतिक क्षेत्र में दखलन्दाजी करने का साहस ही नहीं करता।

इन परिस्थितियों में एक आरोपित संस्कृति का सार्थक या जीवन्त आत्मीयकरण हो ही नहीं सकता। और फिर भी नये विचारों को एक प्रकार से अपनाया ही जा रहा है। कुछ लोग उन्हें समझ लेते हैं और कल्पना की सहायता से उनका मर्म जान लेते हैं। ये विचार भाषा तथा कुछ आरोपित संस्थाओं में स्थापित हो चुके हैं। इस भाषा और उन संस्थाओं के लगातार अभ्यास से कुछ ऐसी निष्प्राण विचारणा की आदतें पैदा होती हैं जो सच्ची विचारणा जैसी लगती हैं। पश्चिम के समृद्ध और सशक्त जीवन से उत्पन्न हुए ये विचार

हम में एक ऐसे छाया–मन को जन्म देते हैं जो सच्ची सर्जनात्मकता के अतिरिक्त अन्य मामलों में एक वास्तविक मन की तरह काम करता है। इन प्राण फूँकने वाले पश्चिमी विचारों के साथ सौ वर्ष के सम्पर्क के बाद कोई भी यह अपेक्षा करेगा कि आधुनिक विश्वसंस्कृति और विचारों को एक विशिष्ट भारतीय शैली में एक सशक्त भारतीय योगदान मिलेगा, विशेष कर इतिहास, दर्शन और साहित्य जैसे मानविकी विषयों को–एक ऐसा योगदान जो एक ओर तो उन भारतीयों को आनन्दित कर सके जिनमें अभी सच्चा भारतीय मन मर नहीं गया है और दूसरी ओर जिसे अन्य लोग भारत की अपनी आत्मा का दर्पण मान सकें। कुछ विलक्षण प्रतिभाओं को छोड़कर–और विलक्षण प्रतिभाएँ काल–मुक्त होती हैं– हमारे शिक्षित लोगों के ऐसे सर्जनात्मक योगदान का विशेष प्रमाण कहीं दिखाई नहीं देता।

सर्जनात्मकता के सरलतर रूपों की बात भी की जा सकती है – उस प्रकार की सर्जनात्मकता जो हमारे दैनिक जीवन में दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, विश्व में हमारी वास्तविक स्थिति के विषय में निर्णयों की रचना में। हम विश्व आन्दोलनों के बारे में बात करते हैं और पश्चिमी जीवन और विचारों के तत्त्वों और ब्योरे के साथ हमारा अच्छा परिचय है। फिर भी हम सदैव यह ठीक तरह से नहीं समझ पाते कि हम आज वास्तव में कहाँ खड़े हैं और अपने किताबी सिद्धान्तों को जीवन में अपनी स्थिति पर कैसे लागू करें। हम या तो पश्चिमी संस्कृति द्वारा दिये गये निर्णयों को बिना सोच समझ के स्वीकार कर लेते हैं या उन्हें दोहराते हैं, या उनका नपुंसक विरोध करते हैं। अपनी स्थिति के आन्तरिक ज्ञान पर आधारित अपने विषय में कोई अनुमान हम फिर भी नहीं लगा पाते।

राजनीति के क्षेत्र में, उदाहरण के लिए, हम अभी यह समझना शुरू ही कर रहे हैं कि हम बहुत समय से व्यर्थ ही उन सिद्धान्तों पर निर्भर करते जा रहे हैं जिनकी सार्थकता केवल स्वतन्त्र और सुस्थापित देशों में ही हो सकती है। 'शक्ति' नामक उस अल्पज्ञात वस्तु की हमें यथेष्ट समझ नहीं है जो किसी भी तर्क या राजनीतिक विद्वत्ता से अधिक वास्तविक है। समाजसुधार के क्षेत्र में हमने अपनी परम्परागत सामाजिक संरचना के अन्तर्मुखी स्वरूप को समझने का प्रयास कभी नहीं किया और न यह प्रश्न उठाया है कि पश्चिम के सामाजिक सिद्धान्त व्यवहार में कहाँ तक सार्वभौमिक बन सकते हैं। हम या तो एक अविवेचित रूढ़िवाद को अपना रहे हैं या उस काल्पनिक प्रगतिशीलता को जो वस्तुतः पश्चिम की निर्हेतुक नकल मात्र है।

फिर, शिक्षा के क्षेत्र में हममें से कितने व्यक्तियों ने पश्चिमी संस्कृति और चिन्तन को विशिष्ट भारतीय दृष्टि से परखा है? एक विदेशी के लिये किसी अन्य देश के साहित्य का रसास्वादन करना संभव तो है किन्तु यह अपेक्षा करना स्वाभविक ही नहीं बल्कि उचित ही होगा कि उसका मन एक मूलनिवासी के मन से भिन्न तरह से प्रतिक्रिया करेगा। उदाहरण के लिये एक फ्रांसीसी शेक्सपियर को एक अंग्रेज की तरह नहीं समझ सकेगा।

हमारी शिक्षा मुख्यतः अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से किया हुआ आयात है। परम्परा और इतिहास की दृष्टि से भारतीय मन अंग्रेजी साहित्य की आत्मा से फ्रांसीसी या जर्मन मन की अपेक्षा कहीं अधिक दूर है और भी जहाँ तक मैं जानता हूँ किसी भारतीय ने अंग्रेजी साहित्य का ऐसा मूल्यांकन नहीं किया है जिसमें उसकी भारतीय मानसिकता झलकती हो।

उसके निर्णय वास्तव में किसी अंग्रेज आलोचक के निर्णयों से भिन्न नहीं होते और इससे यह सन्देह पैदा होता है कि ये उसके अपने निर्णय हैं भी या नहीं, या ये पश्चिमी शिक्षा द्वारा प्रभावित मन की यन्त्रवत् विचारणा है।

किसी आधुनिक शिक्षा–प्राप्त भारतीय के दार्शनिक लेखन में यह संकेत नहीं मिलता कि उसने भारतीय और पश्चिमी चिन्तन का संश्लेषण करने में सफलता पाई है। भारतीय दर्शन के दृष्टिकोण से पश्चिमी दार्शनिक तन्त्रों पर कोई निर्धारण दिखाई नहीं देते। यद्यपि भारतीय दर्शन का पश्चिमी दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने के प्रयास हुए हैं तथापि अभी तक यह स्वीकार नहीं किया गया है कि दोनों दार्शनिक परम्पराओं के आधारभूत तत्त्वों की समीक्षा किसी सार्थक तुलनात्मक मूल्यांकन के पहले आवश्यक है। दर्शन में ही पूर्वी और पश्चिमी विचारों के प्रभावी सम्पर्क की संभावना है। विश्व संस्कृति को प्राचीन भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान दर्शन के क्षेत्र में ही है। यदि आधुनिक भारतीय मन को प्रयोजनपूर्ण दार्शनिक पुनर्रचना करना है तो उसे पूर्वी और पश्चिमी विचारों का एक दूसरे से सामना कराना होगा और, यदि संभव हो तो, उनका संश्लेषण अथवा तर्क–सम्मत–अस्वीकरण करना होगा। आधुनिक भारत को भारतीय आत्मा की खोज यदि कहीं करना आवश्यक है तो दर्शन में ही किया जाना चाहिए। यहीं हमें यदि संभव है तो, अपने पुरातन और वर्तमान मन के बीच सातत्य प्राप्त करना है और भारत का कोई लक्ष्य है तो उसे सिद्ध करना है। कला में भारतीय आत्मा के अनावरण का कार्य तो कोई एक विलक्षण प्रतिभा कर सकती है किन्तु उसे विधिवत् खोजने का प्रयास दर्शन में ही संभव है।

हमारी शिक्षा ने अब तक हमें अपने आप को अपने अतीत के महत्त्व को, अपने वर्तमान की वास्तविकताओं को तथा भविष्य के लक्ष्य को समझने में कोई सहायता नहीं दी है। उसने हमारे वास्तविक मन को अचेतन में धकेलने और उसके स्थान पर एक ऐसे छाया–मन को ही बैठाने का कार्य किया है जिसकी जड़ें हमारे अतीत तथा वर्तमान की वास्तविकताओं में नहीं हैं। हमारे पुरातन मन को पूरी तरह भूमिगत होने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता और उसका आरोपित स्थानापन्न कभी वैसा प्रभावी एवं सर्जनात्मक नहीं बन सकता। फलतः इन दोनों मनों के बीच अस्पष्टता की स्थिति है और वैचारिक जगत् में एक ऐसी निराशाजनक स्थिति बन गई है जिसमें कोई किसी की बात नहीं समझ पा रहा है। हमारा चिन्तन पूर्णतः संकर बन चुका है और एक अनिवार्य परिणाम के रूप में बन्ध्या भी। दासता हमारी आत्मा में प्रविष्ट हो चुकी है।

विचारों की यह संकरता मातृभाषा और अंग्रेजी की उस खिचड़ी भाषा में परिलक्षित

होती है जिसे अधिकांश शिक्षित लोग आज बोल रहे हैं। सांस्कृतिक धारणाओं को अपनी भाषा में व्यक्त करने में हमें विशेष कठिनाई होती है। उदाहरण के लिये, आज का प्रवचन मुझे यदि बँगला में देना पड़ता तो बहुत अधिक श्रम करना पड़ता। अपनी भाषा में गंभीर बातचीत की एक स्तुत्य प्रवृत्ति इन दिनों दिखाई पड़ रही है, किन्तु उसमें सदैव सफलता नहीं मिलती। संक्रमण काल में शायद यह स्वाभाविक ही है। भाषा की इस कठिनाई पर विजय विचारों में स्वराज की दिशा में एक बड़ा कदम होगा।

हमारी शिक्षा तथा हमारे दैनिक जीवन पर पश्चिमी राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं के प्रभाव ने वैचारिक संकरता उत्पन्न की है जो आज की परिस्थिति का एक अत्यन्त क्लेशकर पक्ष है। वह अप्राकृतिक है और उसके साथ वही सलूक होना चाहिये जो एक परम्परावादी हिन्दू वर्ण–संकर के साथ करता है। इसका अर्थ बौद्धिक जगत् में अव्यवस्था मात्र नहीं है। सभी महत्त्वपूर्ण विचारों में आदर्श निहित होते हैं। उनमें एक पूरा सिद्धान्त और एक जीवन–दृष्टि समाहित रहती है। चिन्तन या तर्कबुद्धि सार्वभौमिक हो सकते हैं, किन्तु भिन्न–भिन्न संस्कृतियाँ अपनी–अपनी प्रतिभा के अनुसार प्रत्ययों का निर्माण करती हैं। एक सांस्कृतिक भाषा के किसी प्रत्यय का शुद्ध अनुवाद, दूसरी सांस्कृतिक भाषा में नहीं हो सकता। प्रत्येक संस्कृति का एक अपना 'आकृति विज्ञान' होता है जो उसके प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विचार और आदर्श में प्रतिबिम्बित होता है।

विभिन्न संस्कृतियों से प्राप्त विचारों की पिगली या पैबन्द पण्डितोचित बुद्धि को उसी प्रकार अप्रिय लगेंगे जिस प्रकार आध्यात्मिक चेतना को आदर्शों की खिचड़ी लगती है। विभिन्न संस्कृतियों और सांस्कृतिक आदर्शों की सीमाओं के अन्तर्गत रहकर भी समन्वय तथा संश्लेषण के लिए स्थान अवश्य होता है। बदलते समय और आदर्शों के साथ अनुकूलन ही जीवन है। किन्तु अनुकूलन की विधि के विषय में हम सदैव स्पष्ट नहीं रह पाते। चूँकि हमें जीवित रहना है इसलिये हमें तथ्यों को स्वीकार करना पड़ता है और अपने धर्मेत्तर जीवन और विचारों को समय के अनुकूल बनाना पड़ता है। परिस्थिति के अनुसार अपने आपको बदलना भी पड़ता है। इसके विपरीत आध्यात्मिक जीवन के समक्ष समयानुसार आदर्शों के साथ समझौता करने की कोई मजबूरी नहीं होती। यहाँ तो यदि संभव हो और जहाँ तक हमारी सामर्थ्य में हो, समय को ही अपने जीवन के अनुकूल बनाया जाता है, जीवन को समय के साथ नहीं।

विश्व हमारा सामना आक्रामक हितों से ही नहीं आक्रामक आदर्शों से भी कराता है। इन थोपे हुए आदर्शों को हमारे परम्परागत आदर्श क्या प्रत्युत्तर दें ? नये आदर्शों को स्वीकार किये बिना हम उनका सम्मान कर सकते हैं, हम समझौता किये बिना संश्लेषण करने का प्रयास कर सकते हैं या उन्हें हम अपने ही आदर्शों की परिपूर्णता मानकर स्वीकार कर सकते हैं। भिन्न–भिन्न आदर्शों के लिये भिन्न–भिन्न प्रत्युत्तरों की आवश्यकता हो सकती है, किन्तु किसी भी अवस्था में एक अनुकूलन–हीन अथवा यान्त्रिक अनुकूलन द्वारा

बनी हुई वैचारिक खिचड़ी को आत्मतोष में समाधान के रूप में स्वीकार करना अवांछनीय होगा, क्योंकि इसमें सम्मिलित किसी भी आदर्श को आत्मा की पूरी निष्ठा प्राप्त नहीं हो सकेगी। जहाँ विभिन्न आदर्श इस आशा में स्वीकार कर लिये जाते हैं कि कालान्तर से कोई संश्लेषण जन्म ले लेगा वहाँ इस 'खिचड़ी' से समाधान नहीं माना जाता है और उसका अवांछनीय होना आवश्यक नहीं है।

हम पश्चिमी विचारों और आदर्शों की अपने परम्परागत विचारों और आदर्शों के साथ टकराहट की बात–शायद अत्यधिक वाक्‌चपलता के साथ करते हैं। अनेक बार तो यह टकराहट न होकर मात्र वैचारिक अव्यवस्था होती है और वास्तविक समस्या इस अव्यवस्था को दूर कर पहले उसे एक निश्चित टकराहट का रूप देने की होती है। खतरा इस अव्यवस्था को इतमीनान के साथ चुपचाप स्वीकार कर लेने में है। आदर्शों के द्वन्द्व को पहचान सकना तो आत्मा की गहराई में वृद्धि का द्योतक है। द्वन्द्व या टकराहट होती ही तब है जब व्यक्ति आदर्शों के प्रति वास्तव में गंभीर होता है, जब वह प्रत्येक आदर्श को जीवन–मरण का प्रश्न मानता है। हम कभी–कभी भी आदर्श के विषय में वास्तव में गंभीर होने से पहले ही भावुकता में द्वन्द्व की सोचने लगते हैं ।

इसी प्रकार हम पूर्वी तथा पश्चिमी आदर्शों के संश्लेषण की माँग के बारे में बोलने की भी जल्दी में रहते हैं। संश्लेषण प्राप्त करने का प्रयास हर मामले में आवश्यक नहीं है। किसी समुदाय के आदर्शों का जन्म उसके पूर्व इतिहास तथा धरती से होता है। वे सार्वभौमिक रूप से सार्थक हों, यह आवश्यक नहीं है, और वे अन्य समुदायों को सदा स्वयं प्रकाशित लगते भी नहीं हैं। कुछ ऐसे पश्चिमी आदर्श हैं जिनका हम दूर से आदर तो कर सकते हैं किन्तु जिनके प्रति हमें कोई आकर्षण महसूस नहीं होता। फिर ऐसे आदर्श भी हैं जो एक सीमा तक हमें आकृष्ट करते हैं क्योंकि वे विदेशी होते हुए भी हमारे अपने आदर्शों के निकट होते हैं। ऐसे आदर्शों द्वारा जो कुछ निर्दिष्ट होता है उसे हमें अपनी ही तरह मानना चाहिये। आदर्श को व्यवहार में कैसे उतारा जाय यह हमें अपने समुदाय की प्रकृति के अनुसार तय करना होगा। अपने आदर्शों के साथ संश्लेषण करने की माँग वास्तव में की भी नहीं जाती। जहाँ की जाती है वहाँ विदेशी आदर्श को अपने आदर्श में मिलाना होगा, अपने आदर्श को विदेशी आदर्श में नहीं। किसी भी परिस्थिति में यह माँग कोई नहीं करता कि हम स्वत्व को ही त्याग दें : स्वधर्म निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

ऐसे लोग भी हैं जो किसी इतिहास–जन्म समुदाय के विशिष्टत्व को इस तरह महत्त्व देना अतिवाद मानते हैं। उन्हें यह राष्ट्रीय, साम्प्रदायिक या जातिवादी दम्भ की अभिव्यक्ति और एक विकृत ज्ञान–विरोध को उचित ठहराना प्रतीत होता है। उनका विश्वास पूरी मानवता के लिये स्वयं–प्रकाशित अमूर्त तथा मात्र एक–सार्वभौमिक धर्म तथा तर्कबुद्धि में है।

सार्वभौमिक दृष्टिकोण के पक्ष में भी कुछ कहा जा सकता है। किसी समुदाय और

मानवता की प्रगति में आदर्शों का क्रमिक साधारणीकरण और एकीकरण निहित होता है। यह तर्कानुकूलन की दिशा में, एक सामान्य तर्कबुद्धि के विकास की ओर, प्रगति है। बुद्धिवाद के दो रूपों और इस साधारणीकरण की प्रक्रिया की दो दिशाओं के बीच अन्तर करना फिर भी आवश्यक है। एक में तर्कबुद्धि आत्मा की प्रसव–वेदना के बाद जन्म लेती है : यहाँ बुद्धिवाद पारम्परिक संस्थाओं में उस निष्ठा का बहिःस्त्राव है जिसके माध्यम से ही प्रथागत भावनाएँ पारदर्शी आदर्शों के रूप में गहरी होती हैं। बुद्धिवाद के अधिक प्रचलित दूसरे रूप में, आदर्शों का साधारणीकरण और सामान्यीकरण आध्यात्मिकताहीन प्रज्ञा द्वारा परिहार्य और अपरिहार्य को यान्त्रिक विधि से अलग करके किया जाता है। अपरिहार्यता का निर्णय यहाँ निर्णायक की पसन्द और नापसन्द के आधार पर होता है, निष्ठा अथवा गहन आध्यात्मिक दृष्टि द्वारा नहीं। युगों से चली आ रही प्रथाओं और संस्थाओं को (तर्क के नाम पर) निरर्थक और मृत कहकर ठुकरा दिया जाता है और विनयशील होकर उनका मर्म समझने का कोई कल्पनाशील प्रयास नहीं किया जाता। क्या अपरिहार्य है और क्या नहीं इस बात का निर्णय करना ही होता है क्योंकि समय ठहरता नहीं है, मात्र ऐतिहासिक भावुकता से काम नहीं चलता। व्यावहारिक जीवन में आदर्शों के स्पष्टीकरण से पहले ही कदम उठाने पड़ सकते हैं; फिर भी आदर्शों के क्षेत्र में अनुकूलन के लिये विनयशीलता और धीरज के महत्त्व को स्वीकार करना पड़ेगा। आदर्शों के जगत् में व्यवस्था असीम धीरज तथा विनय द्वारा ही संभव होती है। सही प्रकार का बुद्धिवाद यही है। आदर्शों के क्षेत्र में तर्कबुद्धि के नाम पर अक्खड़ व्यावहारिक निर्णय गलत और असौम्य बुद्धिवाद में लिये जाते हैं।

इस प्रकार बुद्धिवाद का एक वैध एवं बाह्याकार रूप भी है। किसी आदर्श को सरलतर और अपने ही आदर्शों की एक गहनतर अभिव्यक्ति महसूस करते हुए भी उसे केवल इसीलिए अस्वीकार कर देना अनुचित होगा कि वह विदेशी है। ऐसे आदर्श को ठुकराना 'विशिष्टत्व के लिये विशिष्टत्व' पर अड़े रहना और राष्ट्रीय दम्भ तथा ज्ञान–विरोध का एक रूप होगा। उसे अपनाना अपने विशिष्टत्व का बलिदान नहीं है। इस विदेशी देवता को पूजना अपने ही देवता को पूजना है। यह विदेशी आदर्श हमारा अपना आदर्श है। एक सच्चे गुरु को तो यह स्वीकार करना ही होगा, चाहे वह कहीं का हो। किन्तु प्रत्येक विदेशी आदर्श हमारे आदर्शों के निकट हैं और वस्तुतः उनके ही एक विदेशी मुहावरे में वैकल्पिक रूप हैं; कुछ ऐसे हैं जिनकी हमारे परिवेश में कोई सार्थकता नहीं है।

सार्वभौमिक दृष्टिकोण के प्रतिपादक यह भूल जाते हैं कि तर्कबुद्धि तथा धर्म का तथाकथित सार्वभौमिक रूप अभी बन रहा है और उसे एक स्थापित हो चुकी सार्वभौमिक नियमसंहिता के रूप में मानना संभव नहीं। सार्वभौमिक यदि कुछ है तो अन्य आदर्शों के प्रति खुलापन, यह निश्चय कि यदि वे हमारे आदर्शों के अन्तर्गत हैं तो उन्हें ठुकराना नहीं है, और तब तक उन्हें स्वीकार नहीं करना है जब तक इस बात का निर्णय न हो जाय।

वस्तुतः नये आदर्शों के मूल्यांकन का एक ही तरीका है – अपने वास्तविक आदर्शों के माध्यम से उसे परखना। नयी निष्ठा पाने के लिये पुरानी निष्ठा को अधिक गहरा करना होगा। आध्यात्मिक जगत् में प्रगति निर्लिप्त तर्कबुद्धि द्वारा पुराने तथा नये देवता के बीच चुनाव करने से नहीं होती। तथ्यों को जानने की विधि से मूल्यों का ज्ञान संभव नहीं है।

भारतीय चिन्तन और आत्मा की विशिष्टता तथा भारतीय समाज के युगों लम्बे ऐतिहासिक जीवन द्वारा विकसित मूल्यों की संरक्षा पर मेरे द्वारा बलाघात के विरुद्ध सार्वभौमिक दृष्टि के नाम पर उठाई गई आपत्ति के विषय में इतना काफी है। पाठकों को अमूर्त तर्कों द्वारा थकाने का खतरा मोल लेकर भी मैंने सार्वभौमिक दृष्टि का थोड़ा विशद परीक्षण आवश्यक समझा क्योंकि मेरी समझ में यह दृष्टि ही सबसे बड़ा खतरा है। यह हमारी 'जड़–हीन' शिक्षा का अनिवार्य परिणाम है और जिसे मैं विचारों में स्वराज कहता हूँ उसके मार्ग में यही सबसे बड़ी रुकावट है।

हमारी परिस्थिति में राष्ट्रीय दम्भ तथा अपनी संस्कृति में हर बात का प्रशस्तिगान और अन्य संस्कृतियों की हर चीज की निन्दा के दूसरे खतरे पर अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा नहीं है कि अमूर्त रूप में यह कम गंभीर खतरा है वरन् इतना ही कि हमारे शिक्षित लोग अति–आत्मविश्वास से नहीं अति–आत्मसंशय से, विशिष्टतावाद से नहीं 'मूल्यविहीन' सार्वभौमवाद से पीड़ित हैं। दूसरों द्वारा अपने ऊपर दिये गये निर्णयों से क्षुब्ध न होकर हम उन्हें स्वीकार करने को हमेशा तैयार रहते हैं। जो कुछ हमें पढ़ाया जाये उसे पवित्र मानने की हमारी आदत बहुत पुरानी है। यह आदत आसानी से बदलने वाली नहीं है, चाहे हमें जो पढ़ाया जा रहा है वह मात्र औरों के मत ही क्यों न हों–ऐसे लोगों के मत जो हमारे विषय में कुछ नहीं जानते या जिनकी हमारे प्रति कोई सहानुभूति नहीं है। हमारे बारे में औरों द्वारा अच्छा या बुरा इतना अधिक लिखा जा रहा है और हमें उपदेश दिये जा रहे हैं कि यह प्रश्न उठाना उचित ही होगा कि क्या इन लेखकों–उपदेशकों को हमारे आन्तरिक जीवन का यथेष्ट ज्ञान भी है ? प्रत्यक्षतः किसी भी विदेशी के लिए उस समुदाय के मन को समझना अत्यन्त कठिन होगा जिससे वह परम्परा और इतिहास की दृष्टि से बहुत दूर है तथा जिसके जीवन में वह घुल–मिल नहीं गया है। यह स्वाभाविक ही होगा कि वह समुदाय अपने विषय में ऐसे व्यक्ति के निर्णयों के प्रति मानसिक रूप से सशंक रहे। यदि विदेशी स्पष्टतः अभद्र या अज्ञानी नहीं है तो उसके निर्णय आत्मनिरीक्षण के लिये तो प्रेरित कर सकते हैं किन्तु उन्हें बिना प्रश्न उठाये स्वीकार कर लेने के लिये कोई नहीं कह सकता।

शिक्षा के नाम पर हमें जो कुछ पढ़ाया जा रहा है– इतिहास, दर्शन, नैतिक उपदेश– उसमें ऐसा बहुत कुछ है जो अचेतन या चेतन रूप से विकृत अर्थ वाला या कोरा प्रचार मात्र है । उसमें विदेशी दृष्टिकोण से हमारा, हमारे विगत इतिहास का और हमारी वर्तमान परिस्थिति का मूल्यांकन निहित होता है। उसके प्रति हमारा रुख समीक्षात्मक संशय का

होना चाहिये, विनयपूर्वक स्वीकरण का नहीं। इस समीक्षात्मक दृष्टि की हमारे विदेशी शिक्षक, और हमारे अपने शिक्षित लोग भी, असंस्कृत कहकर निन्दा करते हैं, मानो वह उतना ही अक्षम्य अज्ञान हो जैसा ज्यामिति के किसी सत्य को स्वीकार न करने में दिखाई देता है। जहाँ किसी राष्ट्र की शिक्षा विदेशियों के हाथ में होगी वहाँ यह होगा ही। इस हालात में विदेशी मूल्यांकनों का विद्यार्थी पर थोपा जाना और आलोचनात्मक दृष्टि का अवरोध अनिवार्य ही है।

ज्ञान की कुछ शाखाओं, जैसे गणित और प्राकृतिक विज्ञान, के संदर्भ में ऐसे आरोपण का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि उनकी कोई राष्ट्रीयता नहीं होती और न उनमें मूल्यांकन किया जाता है। जहाँ भी मूल्यांकन होगा वहीं निर्णायक की विशिष्टतावादी दृष्टि–राष्ट्रीय, सामुदायिक या जातिवादी के हावी होने का संदेह होगा। एक विदेशी जब अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण से हमारी संस्कृति का मूल्यांकन करता है तो वह समीक्षात्मक परीक्षण का विषय होता है, तत्काल स्वीकार कर लेने का नहीं। वह एक उत्तेजना है जिसे हमारी प्रतिक्रिया की आवश्यकता है। इस संदर्भ में मुझे सर जॉन वुडरफ की एक बात याद आ रही है। यह स्वाभाविक ही है कि आत्मरक्षात्मक आक्रोश हमारी पहली प्रतिक्रिया हो–इसमें राष्ट्रीय दम्भ निहित हो यह आवश्यक नहीं है। बिना समीक्षा के विनम्र स्वीकरण तो दासता होगी।

आदर्शों के मूल्यांकन के लिये समीक्षात्मक रुख की सबसे अधिक आवश्यकता है। मात्र स्वीकरण यहाँ न केवल अव्यवस्थित ज्ञान उत्पन्न करेगा, वह नैतिक दृष्टि से भी अवांछनीय होगा। वैज्ञानिक सम्प्रत्ययों को छोड़कर–और यहाँ भी संदेह को स्थान है–सभी सम्प्रत्ययों और विचारों पर उन्हें जन्म देनेवाली संस्कृति की स्पष्ट छाप होती है। ऐसे सांस्कृतिक विचारों के प्रति हमारा क्या रुख होना चाहिये ? उन्हें स्वीकार तो करना होगा, किन्तु केवल लक्षणा और प्रतीकों के रूप में जिनका रूपान्तरण हमारे अपने सम्प्रत्ययों में होना है। एक विदेशी भाषा में निबद्ध विचारें की पूरी समझ तभी संभव है जब हम उन्हें अपनी तरह व्यक्त कर सकें। अपनाने या ठुकराने से पहले विदेशी विचारों का अपने निजी विचारों में एक प्रामाणिक अनुवाद मैं आवश्यक मानता हूँ। हमें सदा अपने ही सम्प्रत्ययों में सोचने का दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए। अपने आप सफल चिन्तन करना हमारे लिये तभी संभव होगा।

राजनीति में तथ्यों ने हमारे शिक्षित लोगों को यह जानने को बाध्य कर दिया है कि जब तक वे जनता को साथ लेकर नहीं चलेंगे तब तक उनके साथ भले काम करने की कोई सामर्थ्य नहीं होगी, बुरे काम करने के लिए भले ही हो। अन्य क्षेत्रों में अभी इसका पूरी तरह अहसास नहीं हुआ है। उदाहरण के लिये, सामाजिक क्षेत्र में अनेक लोग अभी भी यह मानते हैं कि वे बाहर से उपदेश देकर प्रस्ताव पास करके या कानून बना कर जनता पर सुधार थोप सकते हैं। विचारों के क्षेत्र में, इस बात का अहसास नहीं के बराबर है, कि

हम प्रभावी ढंग से तभी सोच सकेंगे जब हम इस भूमि पर जन्मे उन विचारों में सोचेंगे जो जनता के जीवन और मन में धड़क रहे हैं। हम अपने देश की वर्ण–व्यवस्था की भर्त्सना तो करते हैं किन्तु हम इस तथ्य की अनदेखी कर जाते हैं कि हम पश्चिमी शिक्षा प्राप्त लोगों का एक ऐसा वर्ग बन चुका है जो पारम्परिक वर्णों से अधिक अभिजात्य और असहिष्णु है। हमें दृढ़ निश्चय के साथ इस नये वर्ण की दीवारों को तोड़ना होगा। हमें वास्तविक भारतीय जन के सांस्कृतिक स्तर की ओर लौटना होगा और उनके साथ मिलकर एक ऐसी संस्कृति विकसित करनी होगी जो हमारे समय तथा जन्मजात प्रतिभा के अनुरूप हो। यही विचारों में स्वराज प्राप्त करना होगा।

***

परिच्छेद : छह

परिशिष्ट

6.1 भारतीय दर्शन के 50 वर्ष : एक परिचर्चा
: संयोजक - अम्बिकादत्त शर्मा

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्वर्ण–जयंती अधिवेशन (24–28 अक्टूबर 2004, अहमदाबाद) के अवसर पर इस परिसंवाद का आयोजन बड़े उत्साह के साथ किया गया था। चूँकि परिषद् की रजत–जयन्ती में 'भारतीय दर्शन के 25 वर्ष' पर ऐसे ही परिसंवाद के द्वारा चर्चा की गई थी, अतएव स्वर्ण–जयंती अधिवेशन में 'भारतीय दर्शन के 50 वर्ष' का लेखा–जोखा प्रस्तुत किया जाना जायज भी था। इस परिसंवाद के लिए मैंने समन्वयक की भूमिका में आचार्य यशदेव शल्य, प्रो. गोविन्द चन्द्र पांडे, प्रो. दयाकृष्ण प्रो. सिद्धेश्वर भट्ट, प्रो. रामजी सिंह, प्रो. राजेन्द्र प्रसाद, प्रो. नवजीवन रस्तोगी, प्रो. रिपुसूदन श्रीवास्तव, प्रो. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय, प्रो. सभाजीत मिश्र और परिषद् के अध्यक्ष स्वयं प्रो. एस.पी. दुबे एवं दार्शनिक त्रैमासिक के प्रधान–सम्पादक डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल को आमंत्रित किया था। परन्तु किन्हीं कारणों से सभी वक्तागण मुझे परिसंवाद के लिए उपलब्ध नहीं हो पाये। इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर उतने ही महत्त्वपूर्ण लोगों की अनुपस्थिति के लिए मुझे उनकी तरफ से एवं अपनी ओर से खेद है। तब भी जिन लोगों ने परिषद् के आमंत्रण को सारस्वत निमंत्रण समझा और परिसंवाद में यथासम्भव अपने विचार प्रस्तुत किये, उनके प्रति हम अपनी ओर से एवं परिषद् की ओर से कोटिशः आभार एवं कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

इस परिचर्चा के माध्यम से जिन विचार्य बिन्दुओं को आरेखित किया जाना सम्भव हुआ है, उन्हें सम्पुटित करते हुए कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के 50 वर्ष दार्शनिक विकास की दृष्टि से सम्भावनाओं से भरा हुआ काल–खण्ड रहा है। प्रथमतः यह कि हम अपने मूल 'भारतीय दर्शनों की शास्त्रीय परम्परा' से विलग नहीं हो सकते। उनके बहु–ध्रुवीय विकास के सातत्य को उनकी रीति और गति से बनाये रखना आज उतना ही आवश्यक है जितना कि ये पहले गतिशील थे। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि परम्परागत दार्शनिक चिन्तन कोई बीते दिनों की वस्तु हो गई है, जिसे संग्रहालय में ही रख दिया जाये। इसके लिए एक कार्य जो बहुत आवश्यक है, वह यह कि शास्त्रीय भारतीय दर्शन का अतिविकसित रूप अभी भी अधिकांशतः वाचिक परम्परा का ही अंग बना हुआ है और इस कारण वर्तमान पीढ़ी उससे न्यूनाधिक रूप में अनभिज्ञ ही है। अतएव उसे लिखित परम्परा में रूपान्तरित करने की महती आवश्यकता है। द्वितीयतः यह कि भारत में पुनर्जागरण काल में हुए वेदान्तिक अनुभव के नवोन्मेष को उसकी सम्पूर्ण सम्भावनाओं एवं युगीन निष्पत्तियों के साथ समाज, संस्कृति एवं यूरोपीय सभ्यता के सापेक्ष एक वैकल्पिक सभ्यताबोध की भूमिका में दुनियाँ के सामने लाना बहुत आवश्यक है। यह कहने में मुझे संकोच नहीं कि पश्चिम के अवाप्तिकरण में हमने इस सुदृढ़ पूर्वपीठिका को उभारने एवं गति प्रदान करने में शिथिलता बरती है। तृतीयतः यह कि स्वातंत्र्योत्तर काल में किन्ही कारणों से हम वैचारिक स्वराज और उसके भाषीय राजपथ के मर्म को समझ नहीं पाये और यूरोपीय दर्शन का चाकचिक्य हमारे लिए निकष बनता गया। हम तुलनात्मक दर्शन के विस्तारवादी अभिगम को अपना कर भी अपने जातीय अनुभव से शनैः–शनैः च्युत होते रहे। अन्दर ही अन्दर उत्पन्न हुआ यह हमारे दार्शनिक चिन्तन में आया एक बहुत बड़ा विकार है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि तुलनात्मक पद्धति के द्वारा हमें अपने मूलगामी निज–बोध की समुन्नत प्रतिष्ठा करनी चाहिए। विडम्बना यह कही जायेगी कि यूरोपीय दर्शन की समृद्ध समझ के प्रतिबल से भारतीय दार्शनिक चिन्तन को उन्मीलित होना चाहिए था न कि उन्मूलित। चतुर्थतः यह कि स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीय दार्शनिक चिन्तन को संसदीय रूप प्रदान किया जाना चाहिए। वर्तमान पीढ़ी की अध्येतृता के समक्ष यह बड़ी चुनौती है। आज हम अतीत से जितना दूर होते जा रहे हैं, वर्तमान से उतने ही अनभिज्ञ। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि हम भारत की सांस्कृतिक–राजनीतिक स्वतंत्रता के उन 'अर्थ–सन्दर्भों' को भलिभांति समझें और उनके परिप्रेक्ष्य में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के पूर्वपक्षों एवं उत्तरपक्षों की सही पहचान करते हुए दार्शनिक चिन्तन को अग्रसारित करें। यदि हम ऐसा नहीं करते तो स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन एक गोत्र–विहीन कालिक प्रत्यय बनकर ही रह जायेगा, जैसा कि बहुतों के द्वारा शास्त्रीय भारतीय दर्शन एक भौगोलिक प्रत्यय के रूप में समझा जाता रहा है।

इस परिचर्चा के माध्यम से सम्माननीय वक्ताओं ने अपने–अपने तरीके से उपर्युक्त आधारभूत महत्त्व की बातों को उभारने का भरसक प्रयास किया है, फिर भी परिचर्चा अभी बाकी है, और यही शेष भारतीय दर्शन का कभी न समाप्त होने वाला अशेष है। अतएव शेष को अशेष की ओर बढ़ाने का प्रयास करते हुए ही यहाँ मैंने प्रो. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के 'स्वराज इन आइडियाज़' का हिन्दी रूपान्तरण इससे पहले परिशिष्ट के रूप में लगाया है जो संयोगवश पहली बार 1954 में ही प्रकाशित किया गया था, जब अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना हुई थी। पुनः इस ग्रन्थ की प्रस्तावना 'स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के मूलभूत अर्थ–सन्दर्भ' भी एक तरह से इसी परिसंवाद के उत्तरांग रूप में प्रणीत हुआ है।

: **अम्बिकादत्त शर्मा**

*

भारतीय दर्शन के 50 वर्ष : एक परिचर्चा

1. प्रो. रामजी सिंह

यह भी एक संयोग है कि भारत की स्वतंत्रता के साथ भारतीय दर्शन–परिषद् की अर्द्धशती समारोह के अवसर पर "भारतीय दर्शन के पचास वर्ष" का भी हम मूल्यांकन कर रहे हैं। यह सार्थक एवं सिद्धि–साधक है। स्वतंत्रता मानव–हृदय की एक स्वाभाविक वृत्ति और उसकी अभीप्सा भी है। शायद इसीलिये भारतीय दर्शन में स्वतंत्रता की परमावस्था मोक्ष या मुक्ति को परम पुरुषार्थ माना गया है। लेकिन यह भी एक गंभीर संकेत है कि बिना ज्ञान के मुक्ति भी नहीं होती – "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।" इसका निहितार्थ यह भी है कि बिना ज्ञान या दर्शन के हम स्वतंत्रता की भी अपेक्षा नहीं कर सकते। भारतीय दर्शन का स्वर्णकाल यदि हम उपनिषद्–युग को मानें तो यह भारतीय राष्ट्र की स्वतंत्रता का भी *स्वर्ण–युग* कहा जा सकता है। मध्य युग में संत–साहित्य भी उपनिषद् की गंगोत्री से ही निकला लेकिन उसमें वैसी उदात्त दार्शनिक सृजनात्मकता नहीं थी। महाकवि निराला इस व्यथा को मध्ययुग के काल–दर्शन में चिह्नित करने में पूर्ण तथा स्पष्ट दीखते हैं–

"भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे तमस्तूर्य दिक्मंडल"

लेकिन इतिहास–चक्र उदय के बाद अस्त और फिर नवोदय का विधान है ही। लगभग एक हजार वर्ष के विदेशी शासन के पश्चात् भारत ने अंगड़ाई ली और मात्र अर्द्धशती की स्वतंत्रता के पश्चात् विश्व में एक महाशक्ति के रूप में प्रकट होना चाहता है। लेकिन हमें स्मरण रखना होगा कि भारत में स्वातंत्र्य–जागरण के पूर्व सांस्कृतिक एवं वैचारिक नव–जागरण के कारण स्वातंत्र्य–आन्दोलन को विचार–शक्ति की समिधा मिली थी। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, गुरुदेव रवीन्द्र, श्री अरविन्द, तिलक, सुब्रह्मण्यम भारती, गाँधी आदि सचमुच भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण के अद्वितीय पुरोधा थे। ये भले ही डेकार्ट, स्पीनोजा, लॉक, बर्कले आदि की भाँति तथाकथित संसदीय दार्शनिक की श्रेणी में

नहीं रक्खे जायें लेकिन उनका जीवन और जीवन–दर्शन तथा उनकी सांस्कृतिक साधना संसदीय–दर्शन का मूल (Roots of Philosophy) माना जायेगा। स्वामी विवेकानन्द का "व्यावहारिक वेदांत", महर्षि दयानन्द के सत्यार्थ–प्रकाश में "वैदिक संस्कृति का उन्मेष", रवीन्द्र नाथ की "साधना" एवं गीतांजलि में "सीमार मांझे असीम तुमि" तिलक द्वारा गीता–रहस्य में प्रचंड पुरुषार्थ का "कर्मयोग" एवं गाँधी के "स्वराज्य एवं सत्याग्रह" की प्रतिध्वनि आदि नवीन विश्व–दर्शन की आधार भूमि है। श्री अरविन्द ने वेद एवं उपनिषद् के आधार पर जिस दिव्य–जीवन के लिये भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद के निरर्थक द्वैत का निरसन किया, भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन– नवनीत रूप में डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने जिस प्रकार वेदान्त की प्राणवान एवं बुद्धियुक्त व्याख्या की उनसे अनेकानेक भ्रांतियाँ मिट गयीं और अध्यात्म तथा अपरोक्षानुभूति के प्रति एक नयी समझ बनी है। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने वेदान्तिक सत्य की चार अवस्थाओं का जिस तार्किकता एवं मौलिकता से वर्णन किया, वह इस आधुनिक युग की तर्क–पद्धति का कीर्तिमान है।

फिर भी मुझे आश्चर्य तब हआ जब आज से लगभग आधी शताब्दी पूर्व मैंने दर्शन के एक सामान्य विद्यार्थी के रूप में कलकत्ता विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के तत्कालीन विशिष्ट आचार्य शिशिर कुमार मैत्र से आधुनिक भारतीय दर्शन के विषय में कुछ मार्ग–दर्शन एवं संदर्भ–ग्रंथों के संबंध में एक निर्दोष जिज्ञासा प्रस्तुत की तो उन्होंने मुझसे परिप्रश्न कर दिया– क्या कोई "समकालीन भारतीय दर्शन" है भी ? "मैंने डरते हुए कहा– "हमारे विश्वविद्यालय के दर्शन–पाठ्यक्रम में इस विषय का एक पत्र है।" यह सुनकर उन्होंने पूछा– "वे समकालीन भारतीय" दार्शनिक कौन हैं जिन्हें पाठ्यक्रम में पढ़ाया जाता है? मैंने सोचा गाँधी का नाम यदि कहूँ तो शायद महात्मा के प्रभाव से काम हो जाये। लेकिन छूटते ही उन्होंने कहा– "गाँधी तो दार्शनिक नहीं हैं!" तब मैंने रवीन्द्र नाथ ठाकुर का नाम उछाला। लेकिन उन्होंने तुरंत कहा– "वे तो महाकवि हैं, दार्शनिक कोटि में तो नहीं आ सकते।" तब मैंने श्री अरविन्द का नाम पेश किया। इस पर वे थोड़ा अनुकूल हुए, फिर भी उन्हें पूर्ण दार्शनिक नहीं, साधक बताया। शायद उनका मतलब हो कि समकालीन भारतीय दर्शन भी प्राचीन वेदान्त, सांख्य, न्याय–वैशेषिक के प्रभामंडल से बाहर नहीं है, अतः उसमें मौलिकता या जड़–मूल से नवीनता नहीं है। कुछ हद तक यह सत्य हो सकता है। लेकिन उनकी व्याख्याओं में जो सर्जनात्मकता एवं गतिशीलता, विवेचनात्मकता, तुलनात्मकता एवं समन्वय दृष्टि से एक विश्व–दर्शन का विकास गर्भित है उसके मूल्य को समझना होगा।

समकालीन भारतीय दर्शन के महत्त्व की उपेक्षा का एक संरचनात्मक कारण यह भी है कि भारतीय मनीषा अतीत के प्रति अत्यन्त आदर एवं आस्था रखती है, इसलिये वर्तमान में अवदान के प्रति किंचित् गर्वस्फीत भाव प्रकट नहीं होता है। अतीतोन्मुखता गलत नहीं है, लेकिन वर्तमान के अवदान की भी प्रतिष्ठा होनी चाहिए। यह ठीक है कि हमारा अतीत अत्यन्त गौरवपूर्ण रहा है, लेकिन दर्शन के एक विद्यार्थी के नाते हमारी जिज्ञासा है

कि यदि हम इतने महान्, इतने वीर एवं पराक्रमी, इतने विद्वान् रहे तो आखिर एक हजार वर्ष की दासता क्यों हुई ? राम का धनुष, घनश्याम का सुदर्शन, शिव का त्रिशूल, अर्जुन का गांडीव, भीम की गदा, हनुमान का पौरुष रहते हुए भी हमारा पराभव क्यों हुआ ? सरस्वती के इस देश में और जगद्गुरु की उपाधि से अपने को विभूषित करने के साथ आज के भारत में दुनियाँ की आधी निरक्षर जनता क्यों रह रही है ? जहाँ हम ''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'' का यशगान गाते हैं, वहीं नारी–उत्पीड़न के नाम पर आज भी बाल–विवाह, अनिवार्य वैधव्य, बधू–दहन, दहेज, बढ़ते बलात्कार आदि क्यों कायम रहे, क्या एक विडम्बना नहीं है ? इसके विपरीत आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण ने इस भूमि से सतीप्रथा को मिटाया, अनिवार्य वैधव्य पर गदा–प्रहार किया, शिक्षा को बढ़ाया, दासता का अंत करने में सहयोग किया आदि–आदि, संक्षेप में आध्यात्मिक अभियंत्रणा एवं सामाजिक अभियंत्रणा के बीच समन्वय की साधना की। विवेकानन्द, दयानन्द, केशवचन्द्र आदि समाज–सुधारकों ने जाति–प्रथा के गर्हित विधान पर चोट की। ज्योतिबा फूले, महात्मा गाँधी, अम्बेडकर आदि ने अस्पृश्यता के अभिशाप का लगभग उन्मूलन करने के लिये संघर्ष किया। अतएव यहाँ आधुनिक भारतीय चिंतन धारा के आधारभूत वैशिष्ट्य के कुछ बिन्दुओं पर दृष्टिपात करना समीचीन होगा।

1. **तत्त्व–दर्शन के साथ समाज–दर्शन का समन्वय** : हम एक ओर उपनिषद् एवं अद्वैत की प्रशस्ति तो करते हैं लेकिन दूसरी ओर समाज में वर्ण–भेद के नाम पर जातिभेद एवं अस्पृश्यता को वैचारिक एवं धार्मिक आधार भी प्रदान करते रहे हैं। आधुनिक भारतीय दार्शनिकों ने तत्त्वज्ञान और समाज–दर्शन का सामंजस्य कर एक नवोन्मेष एवं सांस्कृतिक क्रांति लाने में भी अपनी भूमिका निभायी। ये लोग एक साथ सारस्वत व्यक्ति एवं समाज–सुधारक भी थे। स्वामी विवेकानन्द का वेदान्त एक सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना का उद्घोष था। स्वामी दयानन्द ने अद्वैत की साधना के साथ जातिविहीन, कर्मकांड–मुक्त एक समाज–साधना का घोषणा पत्र रखा। यही काम प्रारम्भ में भगवान बुद्ध एवं महावीर ने भी किया था। समकालीन दार्शनिकों की दृष्टि में दर्शन मात्र बौद्धिक व्यायाम नहीं बल्कि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का आचार–धर्म है। संक्षेप में, यह एक व्यावहारिक जीवन–दर्शन था जिसमें शुष्क तर्कजाल एवं शब्द–शिल्प के बदले जीवन एवं जगत् की यथार्थता का ध्यान रखते हुए एक जीवनादर्श का निरूपण होता है। स्वामी विवेकानन्द या महर्षि दयानन्द के लिये अद्वैत वेदान्त एक व्यावहारिक जीवन–धर्म और स्वस्थ समाज–दर्शन का आधार बना। गुरुदेव ने अध्यात्म के आधार पर एक शिक्षा–दर्शन एवं श्री अरविन्द ने एक सभ्यता–दर्शन एवं विकास–दर्शन तथा अतिमानस के रूप में एक नया मनोविज्ञान दिया। गाँधी का जीवन ही उनका दर्शन बन गया। रमण महर्षि तो गाँधी के भी प्रेरणा–स्रोत रहे क्योंकि उनका जीवन ही अध्यात्म का दर्पण था। इस प्रकार समकालीन भारतीय दर्शन ने आध्यात्मिक विरासत को अक्षुण्ण रखते हुए सामाजिक गतिशीलता के अश्वमेघ को आगे बढ़ाया।

2. धर्म और विज्ञान का समन्वय : आधुनिक युग विज्ञान का युग माना जाता है। अतः यहाँ धार्मिक अंधविश्वास एवं सामाजिक रूढ़िवाद के लिये स्थान नहीं हो सकता। धार्मिक कर्मकांड के नाम पर प्रचलित कुरीतियाँ भी नहीं चलायी जा सकतीं। चाहे विश्वकर्त्ता का ईश्वरीय सृष्टिवाद सम्बन्धी सिद्धान्त हो या आर्ष ग्रंथों की अकाट्यता या प्रातिभज्ञान की अखंडता आदि सबों को चुनौतियाँ भी दी गयीं और उनके विकल्प भी प्रस्तुत हुए। सृष्टिवाद के बदले विकासवाद, ''बाबा वाक्यं प्रमाणम्'' के स्थान पर आत्मज्ञान, जड़–चेतन के द्वैत के बदले दोनों का समन्वय आदि कुछ नयी दिशायें भी मिली हैं। मायावाद का कहीं तो खंडन हुआ और कहीं उसे वैज्ञानिक आधार मिला। धर्म और विज्ञान का विरोध समाप्त हुआ। दोनों में समन्वय के सूत्र ढूढ़े गये। धर्मों का भी समन्वय साधा गया। स्वामी विवेकानन्द ने ''व्यक्तिगत धर्म'' के बदले ''सार्वभौम धर्म'', रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ''साम्प्रदायिक धर्म'' के बदले ''मानव–धर्म'', गाँधी ने कर्मकांडीय–धर्म के बदले ''नीति–धर्म'' एवं 'सर्वधर्म–समभाव' को स्थापित किया। दयानन्द, विवेकानन्द, रमण महर्षि, श्री अरविन्द एवं गाँधी ने धर्म को अंधविश्वास, रूढ़िवाद, कर्मकांड और संकीर्णता से मुक्त करने का प्रयत्न किया। यही भारत का मिशन भी माना गया कि धर्म एवं विज्ञान का समन्वय हो–

''एक हाथ में कमल, एक में धर्मदीप्त विज्ञान।
लेकर उठने वाला है, धरती पर हिन्दुस्तान।।''

3. जीवन्तता एवं गतिशीलता : भारतीय दर्शन जीवन में शाश्वत सिद्धान्त के प्रति अगाध आस्था तो रखता रहा है किन्तु उसकी जीवन्तता एवं गतिशीलता कालक्रम में प्रभावित हो गयी। यही कारण है कि शास्त्र एवं सिद्धान्तवाद ने जीवन और दर्शन के बीच खाई पैदा कर दी। जब दर्शन गतिहीन हो जाता है तो फिर उसमें सड़ांध आ ही जाती है। आधुनिक भारतीय दर्शन इसे तत्त्वज्ञान के भँवरजाल में नहीं छोड़ता बल्कि उसे जीवन का अंग बनाने का प्रयास करता है। स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त–दर्शन की व्यावहारिक व्याख्या कर उसे गतिशीलता प्रदान की, श्री अरविन्द का दर्शन केवल विद्या–विलास न रहकर जीवन का व्यवहार बना; गाँधी ने तो सत्य के साथ सत्याग्रह को स्थापित कर उसे स्थावर नहीं रहने दिया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अद्वैत के विश्व–दर्शन को शांतिनिकेतन में ''अत्र भवति विश्वं एक नीड़म्'' का मंत्र देकर गतिशील स्वरूप प्रदान किया। डॉ. मुहम्मद इकबाल ने इस्लाम की गत्यात्मक पुनर्रचना की और मानवेन्द्रनाथ राय ने मार्क्सवाद के साथ नव–मानवतावाद को जोड़कर उसे अधिक जीवन्त एवं मानवीय स्वरूप प्रदान किया। डॉ. राधाकृष्णन् ने शंकर के अद्वैत सिद्धान्त की अधिक जीवन्त एवं बौद्धिक प्रस्तुति की। निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि समकालीन भारतीय दर्शन ने भले ही प्राचीन भारतीय दर्शन की विरासत पर अपना नवीन रचना–संसार बनाया, लेकिन उसे आधुनिक परिवेश के उपयुक्त बनाकर अधिक सकारात्मक एवं प्राणवान किया।

4. तुलनात्मकता : जहाँ तक स्वातंत्र्योत्तरकाल में भारतीय दर्शन के स्वरूप एवं चरित्र

का प्रश्न है, उसमें एक ओर तो भारतीय अस्मिता का स्वाभाविक गुरुत्वाकर्षण है और दूसरी ओर आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का प्रभाव भी स्पष्ट है। लम्बी दासता के कारण हमारे शिक्षित वर्ग पर पश्चिम का प्रभाव स्वाभाविक ही है। हमारे विश्वविद्यालयों के दर्शन–पाठ्यक्रमों में स्वतंत्रता के उषाकाल तक भारतीय दर्शन के लिये मात्र एक–दो पत्र ही प्राप्त थे। यूनानी दर्शन, मध्यकालीन ईसाई दर्शन और आधुनिक युग में डेकार्ट से लेकर बर्ट्रेन्ड रसेल हम पर हावी थे। इसका एक प्रभाव हुआ कि हमारी दृष्टि कभी साम्प्रदायिक नहीं हो पायी। दूसरी तरफ हमने तुलनात्मक दृष्टिकोण को अपनाया, जिससे एक विश्व–दृष्टि का निर्माण हुआ। जहाँ तक पिछले 30–35 वर्षों का सवाल है, हमारे ऊपर पश्चिम के तार्किक भाववाद और भाषा–विश्लेषण का बेहद असर पड़ा। लेकिन यह प्रभाव मात्र 15–20 वर्षों तक रहा। हमारे यहाँ भी नव्य–न्याय में ''अवच्छेदकता'' पर आधारित 'आदर्श भाषा' की गंभीर एवं विकसित परम्परा है। अतः भाषा–विश्लेषण नवीन होकर भी हमारे लिए नवीन विधा नहीं थी। लेकिन शीघ्र ही भाषा–विश्लेषण के बादल छँटने लगे। हमने भाषा–विश्लेषण को विचार की स्पष्टता के लिये अवश्य ही सुन्दर उपकरण माना। यह एक सुन्दर साधन है, लेकिन यह दर्शन का साध्य नहीं हो सकता। अतः अब तो भाषा–विश्लेषण का ज्वर बहुत कुछ संतुलित हो गया है। समकालीन दर्शन ने तुलनात्मकता को अमृत के रूप में स्वीकार किया है। नीर–क्षीर विवेक पद्धति से इससे अत्यधिक लाभ मिला है। लेकिन इसका गुरुत्वाकर्षण प्राचीन भारतीय दार्शनिक चिंतन में है। यही कारण है कि डॉ. राधाकृष्णन् से लेकर समकालीन वरिष्ठ दार्शनिकों में डॉ. राणाडे, डॉ. पी.टी. राजू, टी.एम.पी. महादेवन्, डॉ. टी.आर.व्ही. मूर्त्ति, डॉ. सच्चिदानन्द मूर्ति, डॉ. डी.एम. दत्त, डॉ. एस.सी. चटर्जी, प्रो. हुमायुं कबीर, प्रो. दयाकृष्ण, प्रो. के.जे. शाह, प्रो. सुरेन्द्र बारलिंगे, डॉ. प्रो. कालिदास भट्टाचार्य आदि ने भाषा–विश्लेषण का विरोध नहीं किया, बल्कि उसे आदर दिया, किन्तु उसमें अपने को विलीन तो नहीं ही किया; उसे आत्मसमर्पित भी नहीं किया। एकाध प्रखर नाम जैसे प्रो. राजेन्द्र प्रसाद का है, अभी भी भाषा–विश्लेषण के प्रति एकनिष्ठ भाव से लगे हैं। पुराने विद्वानों में प्रो. रासबिहारी दास की विलक्षण वस्तुपरकता एवं परम्परागत अद्वैत की छाया से अलग रहकर अपना दार्शनिक अवगुंठन रखना महत्त्व का है। भारतीय दर्शन के इतिहास–लेखक प्रो. सुरेन्दनाथ दासगुप्त की विद्वता के साथ निष्पक्षता अभूतपूर्व है।

5. **सभ्यता एवं संस्कृति विमर्श** : तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा दर्शन के केन्द्रीय विषय अवश्य हैं किन्तु समाज और सभ्यता–विमर्श की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। प्राचीन भारतीय दर्शन में लगभग यह पक्ष उपेक्षित था। अधिक से अधिक धर्ममीमांसा तक ही वे अपनी अभिरुचि रखते थे। शायद स्मृतियों को हमने धर्मशास्त्र के नाम पर समाज एवं सभ्यता–विमर्श का कार्य सौंप दिया था। लेकिन समकालीन दर्शन ने भारतीय नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र पर भी ध्यान दिया जिसके अन्तर्गत राजनीतिशास्त्र की समस्यायें भी आती हैं। प्रो. दयाकृष्ण समाज एवं संस्कृति के प्रखर अध्येता हैं। यशदेव शल्य की भी

संस्कृति पर अपनी मौलिक दृष्टि है। यह दुर्भाग्य है कि हम टायनवी की "द स्टडी ऑफ हिस्ट्री" एवं जोड की "स्टोरी आफ सिविलाइजेशन" या मार्क्स–एंजिल्स के 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' या काप्रा के "टर्निंग प्वाइंट" या "द फ्यूचर शॉक" को पढ़ना सभ्यता–अध्ययन के लिये आवश्यक मानते हैं किन्तु गाँधी के हिन्द स्वराज्य (1909) या विनोबा के स्वराज्य शास्त्र की उपेक्षा करना वास्वत में उस विचार के गहरे और मूलगामी सूत्रों की उपेक्षा करना है।

पिछले 50 वर्षों में वैदिक परम्परा के प्रभाव–क्षेत्र से बाहर श्रमण संस्कृति के बौद्ध एवं जैन दर्शन के क्षेत्र में भी काफी चिंतन एवं लेखन हुए हैं। जगह–जगह इनके अध्ययन–पीठ बन गये हैं। नव नालन्दा महाविहार से भिक्षु जगदीश कश्यप ने त्रिपिटक का उद्धार किया। उसी तरह कई स्थानों से जैनागम एवं अन्य मानक ग्रंथों की टीकायें निकलीं। जैन वाङ्मय का पिछले 50 वर्षों में, विशेषतः हिन्दी में, जितना प्रकाशन हुआ है उतना पिछले 500 वर्षों में नहीं हुआ। सबसे सुखद आश्चर्य की बात है कि सर्वाधिक उपेक्षित एवं लांक्षित लोकायत–दर्शन पर अंग्रेजी एवं अन्य भाषाओं में आलोचनात्मक साहित्य का मानक प्रकाशन हुआ है। आज के भारतीय दार्शनिक बिना पक्षपात और उपेक्षा से जैन, बौद्ध एवं चार्वाक मत का अध्ययन, मनन करते हैं। इस तरह समकालीन भारतीय दर्शन में सारस्वत–साधना पंथ एवं सम्प्रदाय–निरपेक्ष है। इस्लामी एवं ईसाई दर्शनों का भी अध्ययन हो रहा है, लेकिन ये इतने स्वतंत्र एवं निष्पक्ष नहीं हैं। उधर सिक्ख धर्म के अध्ययन के लिये धार्मिक पीठों के अलावा विश्वविद्यालय भी बने। सब मिलाकर देखा जाय तो समकालीन भारतीय दर्शन धर्म एवं संस्कृतियों का संगम–स्थल बनकर उभर रहा है।

6. **समकालीन भारतीय दर्शन का भविष्य** : 1952 में मैसूर विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में भारतीय दार्शनिक महासभा में अध्यक्षीय पद से अपने भाषण में मेरे पूज्य गुरु डॉ. धीरेन्द्र मोहन दत्त ने "समकालीन भारतीय दर्शन की आवश्यकता और उसकी सामाजिक भूमिका" पर अपना भाषण केन्द्रित किया तो कई वरिष्ठ भारतीय दार्शनिकों की भौंहें तन गयी थीं और अफसोस प्रकट किया कि ऐसे गंभीर पद से ऐसे अति सामान्य विषय पर भाषण दिया गया। लेकिन लगभग 50 वर्षों के पश्चात् आज जब प्राचीन दर्शन तंत्रों का आकर्षण कुछ क्षीण हो रहा है और सभ्यता का संकट प्रतिदिन गंभीर से गंभीरतर हो रहा है तो एक विश्व–दर्शन के आविर्भाव की वैश्विक आकांक्षा प्रकट हो रही है। मानव की सभ्यता और संस्कृति में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। आज हम किसी छोटे घरौंदे में नहीं सोच सकते। आज देश और काल का बंधन ढीला हो रहा है। आज वैदिक–अवैदिक, श्रमण आदि की शब्दावली में सोचना ही गलत है। आज न साम्प्रदायिक धर्म टिक सकता है, न संकीर्ण राष्ट्रवाद या कोई कट्टर सिद्धान्तवाद ही चल सकता है। हमारे चिंतन का पैमाना विश्व पर्यन्त से कम का हो नहीं सकता। इस दृष्टि से समकालीन दर्शन के पिछले पचास वर्ष एक विश्व–दर्शन की प्रसव–वेदना थी। हमें एक विश्व–दर्शन, एक विश्व–सभ्यता, एक विश्व–संस्कृति का निर्माण करना होगा। यही भारत और भारतीय दर्शन का मिशन

होना चाहिए। हर देश का अपना–अपना मिशन होता है। प्राचीन रोम का मिशन साम्राज्य–विस्तार था, प्राचीन यूनान का मिशन था ज्ञान–विस्तार। साम्यवाद का मिशन था विश्व–साम्यवाद। आज विश्व–इस्लाम और विश्व–ईसाईयत टकराने को तैयार हैं। मेरा मानना है कि व्यक्तिगत धर्म और संकीर्ण राष्ट्रवाद के दिन तो लद ही गये; विश्व स्तर पर एक सिद्धान्त नहीं चल सकता है। हम अणुयुग के प्रांगण में हैं, अतः अब किसी प्रकार का व्यक्तिवाद विश्व–मानवता के लिये प्रतिउत्पादक है। हिंसा काल– बाह्य हो चुका है। आग्रहवाद चाहे धार्मिक हो या सांस्कृतिक, राष्ट्रीय हो या सैद्धान्तिक, छोड़ना ही पड़ेगा। आग्रह ही हिंसा की जननी है। यदि हमारा धर्म, हमारी संस्कृति, हमारा राष्ट्र और हमारा सिद्धान्त श्रेष्ठ है तो दूसरे का हीन नहीं मानना पड़ेगा। अतः विचारों का सह–अस्तित्त्व, संस्कृति का संगम, धार्मिक–समभाव किसी बुद्ध या गाँधी की सनक नहीं, युग की माँग है, भविष्य–भारती का उद्घाटन अथवा उन्मेष है।

2. प्रो. सिद्धेश्वर भट्ट :

मेरी दृष्टि में परिषद् की स्वर्ण जयंती के अवसर पर परिचर्चा के लिए इस विषय का चयन बहुत ही सार्थक और सामयिक है। 1947 में हमारे राष्ट्र ने राजनैतिक स्वातंत्र्य प्राप्त किया परन्तु आर्थिक और वैचारिक स्वातंत्र्य प्राप्त करने में गति थोड़ी ढ़ीली रही है और वह मंद गति मेरी दृष्टि में अभी भी मंद ही है। आवश्यकता है उसमें तीव्रता लाने की।

पिछले 50 वर्षों में जो दार्शनिक चिंतन हुआ है उसे हम चार भागों में बाँट सकते हैं। एक तो वह चिंतन है जिसको मैं यदि अंग्रेजी शब्दावली का प्रयोग करके कहूँगा तो एपिंग द वेस्ट–पाश्चात्य विचार की नकल करना। कहीं–कहीं तो नकल में अकल लगाई गई और कहीं–कहीं अकल भी नहीं लगाई गई है; अंधानुकरण हुआ है। चिंतन का एक दूसरा पक्ष यह रहा जिसमें पुनः अंग्रेजी शब्दावली में कहें तो पेरेटिंग दी पास्ट अर्थात् जो कुछ भारत में प्राचीन मनीषियों ने कहा उसी का पिष्ट–पेषण। एक मुहावरा अच्छा तो नहीं है लेकिन उसका प्रयोग करना चाहूँगा : मक्षिका स्थाने मक्षिका पातः। जो कुछ उन्होंने कह दिया बस उसी में शब्दों का अंतर कर दिया; कोई नई सूझबूझ पैदा नहीं हुई। एक तीसरी परंपरा यह रही कि भारतीय दार्शनिकों या दर्शन के संप्रदायों का पाश्चात्य दार्शनिक सम्प्रदायों के साथ तुलनात्मक अध्ययन। उदाहरण के रूप में शंकर और रामानुज के साथ स्पिनोजा, हेगल, ब्रैडले, आदि के ऊपर तुलनात्मक प्रबंध लिखे गये। सांख्य दर्शन और हुसर्ल, कांट और बौद्ध दर्शन आदि पर भी तुलनात्मक विचार हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलनात्मक दृष्टि भी कुछ विचारकों में उभर कर आई। तुलनात्मक दृष्टि का एक लाभ तो है कि हम अपने विचारों को दूसरों के विचारों के संदर्भ में अधिक अच्छी तरह से समझ सकते हैं। परन्तु आवश्यक नहीं है कि ऐसा हमेशा हो। कभी–कभी इस प्रकार से होता है कि इससे हमारे विचारों में गुत्थियाँ आ जाती हैं। लेकिन हमें सावधानी रखनी

होगी। एक उदाहरण देता हूँ मैं, लेकिन इस उदाहरण को कृपया अन्यथा न लें। एक प्रश्न उठाया गया, इज़ न्याय रियलिज़्म? न्याय के 'रियलिज़्म' पर बहुत चर्चा हुई। मेरी जिज्ञासा यह है कि 'रियलिज़्म' से क्या तात्पर्य है ? रियलिज्म पश्चिम में तो 5–6 प्रकार का है और आज जो 'रियलिज़्म' प्रवृत्त है वह 'सांइटिफिक रियलिज़्म' है। लेकिन आज जो 'रियलिज़्म' है वह वैसा 'रियलिज़्म' नहीं है जो कि मध्य काल में या प्लेटो के समय में था। अतः 'रियलिज़्म' की परिधि एवं स्वरूप को स्पष्ट किये बिना यदि आप न्याय 'रियलिज़्म' है या नहीं इस पर चर्चा करेंगे तो संभवतः वह सार्थक नहीं होगी। लोगों ने इसका हिन्दी में अनुवाद 'वास्तववाद' किया है। लेकिन हमारी परंपरा में इस प्रकार का शब्द उपलब्ध नहीं होता। परंपरा में 'रियलिज़्म' का पर्यायवाची शब्द क्या है और किस अर्थ में हम इसका प्रयोग कर रहे हैं यह विचारणीय है। 'रियलिज़्म' और 'आइडियलिज़्म' इस प्रकार की 'डाइकोटॉमी' (द्विभाजन) हमारी परंपरा में नहीं रही। फिर 'एपिस्टेमोलॉजिकल' (ज्ञानमीमांसीय) और 'आन्टोलॉजिकल' (तत्त्वमीमांसीय) की डाइकोटॉमी या द्वन्द्व भी हमारी परंपरा में नहीं रही। वेस्ट (पश्चिम) में जो 'रियलिस्ट' है वह 'आइडियलिस्ट' नहीं हो सकता है। परन्तु शंकराचार्य में ये दोनों प्रवृत्तियाँ हैं। अपनी पूरी ज्ञानमीमांसा या 'एपिस्टेमोलॉजी' में शंकराचार्य 'रियलिस्ट' हैं और इस प्रकार वे विज्ञानवाद का प्रतिरोध करते हैं। तुलना हम करें, यह अच्छी चीज है। लेकिन उसमें थोड़ी सावधानी बरतने की आवश्यकता है। एक चौथा वर्ग है – इसको मैं प्रबुद्ध वर्ग इसलिए कहता हूँ कि इसमें वैचारिक स्वातंत्र्य है। इस वर्ग के लोग अपनी परंपरा में रह करके, अपने सुदृढ़ पाँव अपनी ही भूमि पर रख करके, कानों को खुला रखते थे और बाहर से जो विचार आ सकते थे उनको वे आत्मसात् करते थे और तदुपरांत अपनी कृति को बनाते थे, रचना करते थे। संभव है इनमें से सभी पाश्चात्य दर्शन से अभिज्ञ न हों। इनमें से कुछ संस्कृत के पंडित थे। लेकिन उनमें जिज्ञासा थी। पंडित बदरीनाथ शुक्ल में, हमने देखा था – उनके साथ रहने का अवसर भी मिला था, बहुत जिज्ञासा थी। उनमें पाश्चात्य दर्शन के सिद्धांतों, अवधारणाओं और विचारों को जानने की, समझने की, आत्मसात् करने की बलवती जिज्ञासा थी।

कहने का तात्पर्य यह है कि पिछले 50 वर्षों में जिस तरह से दर्शन–परिषद् का अनवरत विकास हुआ है, भारतीय दार्शनिक चिंतन का भी विकास हुआ है। मैं यह भी चाहूँगा कि चौथा वर्ग और अधिक समुन्नत हो, और उसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। एक तो यह कि हमारे विद्वान् अपने शास्त्रों से सुपरिचित हों। केवल एक दार्शनिक संप्रदाय के शास्त्रों से परिचित होना पर्याप्त नहीं होगा। यह हमारी परंपरा नहीं है। हमारी परंपरा पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष के रूप में दार्शनिक चितन करने की है। पूर्व पक्ष के रूप में हमने जो समस्त अन्य परंपरायें हैं उनको ध्यान में रखा है 'अपरे तु' कहकर। 'अपरे' का मतलब हमसे अन्य है। लेकिन हमने अपनी ही परंपरा में जो वैभिन्न्य है उसको भी स्वीकार किया है। 'स्वपक्षे तु' अथवा 'स्वयुथ्ये तु' कहकर। मत–मतांतर हैं तो हमें पूर्व पक्ष के रूप में इन

सबों को रखकर फिर अपने उत्तर पक्ष का निर्धारण करना है और उस पूर्व पक्ष में न केवल हमारे शास्त्रों को ही वरन् जो पाश्चात्य परंपरा के शास्त्र हैं वे भी रहे क्योंकि वहाँ भी दार्शनिक चिंतन हो रहा है और वह चिंतन भी उतना ही प्रगाढ़ है जितना कि हमारे यहाँ का चिन्तन। हमारे यहाँ का चिंतन किसी रूप में कम नहीं है। लेकिन उनका भी बराबरी का चिंतन है। उनसे भी हम अभिज्ञ होवें। हम अपने चिंतन को व्यवस्थित रूप में अपने अनुभवों के आधार पर रखें। अपना अनुभव हो – न तो पराया, विदेशों का अनुभव, न प्राचीन लोगों का अनुभव, उसी में हमारी परिसमाप्ति न हो। अपने स्वयं के अनुभव को ध्यान में रखना होगा। वाचस्पति मिश्र ने बड़ा सटीक कहा है: संविदेव हि भगवति वस्तूपगमे नः शरणम्। तो जो संवित् है वह पर–संवित् नहीं, हम आत्म–संवित् की नींव पर सुदृढ़ होवें और दूसरों के विचारों से लाभान्वित होवें तथा दार्शनिक चिंतन करें। मेरी दृष्टि में हम इस ओर बढ़ें, और अधिक गति से बढ़ें यह आज के समय की आवश्कयता है।

पिछले 50 वर्षों में जो भी दार्शनिक चिन्तन हमारे यहाँ हुआ है अच्छा हुआ है, समृद्ध हुआ है और उसमें जो अच्छा पक्ष है वह और भी आगे बढ़े। हमारे बीच नये–नये चिंतक हैं। इनको हम आगे बढ़ायें। मुझे ऐसा लगता है ये हमसे अधिक भाग्यशाली हैं। जब मैं पढ़ता था तो मुझे पाश्चात्य दर्शन ही पढ़ाया गया। भारतीय दर्शन की उस समय अवहेलना थी। भारतीय दर्शन तो मैंने अपनी शास्त्रीय परंपरा में पढ़ा – प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा में; यूनीवर्सिटी माध्यम से नहीं पढ़ा। मुझे साइकोलॉजी (मनोविज्ञान) पढ़ाया गया, पाश्चात्य दर्शन और दूसरे विषय पढ़ाये गये; भारतीय दर्शन नहीं पढ़ाया गया। मुझे भारतीय दर्शन पढ़ाने का भी अवसर नहीं मिला था। मुझे अपने अध्यापन काल के प्रारंभिक 15 वर्षों तक केवल पाश्चात्य तर्कशास्त्र, पाश्चात्य दर्शन ही पढ़ाने को कहा गया। लेकिन बाद में मुझमें एक प्रकार से परिवर्तन आया और मैं भारतीय दर्शन की ओर मुड़ गया। और जब मुड़ गया तो पीछे नहीं हटा। हम अपेक्षा करते हैं हमारे बीच उपस्थित इन नवयुवाओं से कि ये आगे बढ़ें और हमारा मार्गदर्शन भी करें, तथा अपने से जो समान पीढ़ी वाले हैं उनका भी मार्गदर्शन करें।

अपेक्षा यह है कि हमारा दार्शनिक चिंतन जीवन, जगत् एवं सत्ता के सभी वैविध्यमय पहलुओं पर पारस्परिक अनुस्यूतता, तारतम्य एवं कमबद्धता से व्यवस्थित विश्लेषण और विवेचन करें। हम दार्शनिक चिंतन के प्रयोजन और फल के प्रति सचेत रहें। दार्शनिक चिंतन की जीवन्तता वैयक्तिक, सामाजिक और वैश्विक प्रासंगिकता में है। अतः इसके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों में समन्वय रहे।

3. प्रो. एस.पी. दुबे :

इस संगोष्ठी के आयोजन के पीछे 25 वर्षों के इतिहास का सन्दर्भ है। परिषद् के रजत–जयंती अधिवेशन में यहीं पर भारतीय दर्शन के 25 वर्ष विषय पर संगोष्ठी आयोजित

की गई थी। उसमें भी मैं एक वक्ता था और मेरे उस आलेख को कई लोगों ने बड़ा पसंद किया था, खास तौर से मेरे गुरु प्रोफेसर नन्दकिशोर देवराज ने। और उन्होंने मुझसे कहा था कि उस लेख को हमें दे दो, मैं उसको छापना चाहता हूँ; छपा भी। अभी जो मैंने लिखा है वह उसी आलेख का संशोधित संस्करण जैसा है। आगे के 25 वर्षों में जो कुछ हुआ उसका बहुत अच्छा आकलन अभी यहाँ नहीं हुआ है। आकलन हमसे संभव भी नहीं है। 'क्षणे क्षणे यन्नवतां उपैति तदैव रूपं रमणीयताया'। जो दर्शन जीवंत है उसको 50–51 वर्षों में बांधना बहुत कठिन है। जितना पकड़ में आता है उससे अधिक छूट जाता है। बड़ी तेजी से भाग रहा है भविष्य की ओर हमारा दर्शन। मुझे समझ में नहीं आता है कि उसको हम लोग कितना बाँध पायेंगे। न बँधे तो ज्यादा अच्छा है। फिर भी मैंने कुछ लिखा है उसको यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। बीच–बीच में एकाध टिप्पणी भी करना चाहता हूँ। एक बात मैं कहना चाहता हूँ कि जो कुछ भी लिखा गया है उससे कहीं बहुत अधिक हम लोग चर्चा करते हैं और उस पर जिसको हम वाचिक परम्परा (ओरल ट्रेडिशन) कहते हैं, ध्यान कम जाता है। प्रायः एक टिप्पणी की जाती है सांख्य दर्शन पर, वह सही है अपनी जगह पर। ग्रंथ के रूप में ज्यादा चीजें नहीं आ रही हैं मीमांसा में या सांख्य दर्शन की परम्पराओं में। लेकिन वे भी जीवन्त परम्परायें तो हैं ही। सांख्य दर्शन के बारे में भी बहुत से लोगों को भ्रान्ति थी कि यह भारत का एक मृत दर्शन है। परंतु बिहार के मधुपुर और वाराणसी के कापिल मठ के बारे में जो लोग नहीं जानते हैं वे ही ऐसा कह सकते हैं। दूसरी बात यह है कि जो हमारी परम्परा है उसको हम अपने शब्दों में समझने और समझाने का जो प्रयास करते हैं वह भी ज्यादातर मौखिक परंपरा या 'ओरल ट्रेडिशन' ही है। उसको हम श्रुत्यर्थविमर्श (हरमेन्यूटिक्स) के माध्यम से समझते तो हैं लेकिन प्रायः लिखते नहीं। भारतीय चिंतन–परंपरा का यह एक दोष रहा है और उससे हम अभी भी ग्रस्त हैं। ऐसे अनेक लोग हमारे बीच में हैं जो जानते बहुत हैं, चर्चा में बता भी देते हैं बहुत कुछ लेकिन जब उनसे कहा जाता है कि उसे लिखें संगोष्ठी के लिए या पुस्तक के लिए तो उनके लिए लिखना बड़ा कठिन हो जाता है। लेकिन कुछ नये लोग हैं जो अच्छा लिख रहे हैं। हमारे बीच में अभी आज ही स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण सीरीज के अन्तर्गत दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा सम्पादित प्रस्तुत हुए हैं और एक ग्रंथ मौलिक रूप में प्रस्तुत हुआ है विटगेंस्टाइन के दर्शन पर कालीचरण पांडे का। तुलनात्मक दर्शन पर भी एक संकलन प्रस्तुत हुआ है। ये सब कुछ समय के बाद में दर्शन के इतिहास में मील के पत्थर माने जायेंगे।

मैं अब संक्षेप में अपनी बात कह देना चाहता हूँ। भारत में स्वतंत्रता–प्राप्ति के पश्चात् सभी क्षेत्रों में एक नवीन उत्साह दिखाई पड़ा। विदेशी शासन–तंत्र से मुक्ति के बाद स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग होने लगा। भाषा एवं चिन्तन के क्षेत्रों में भी राष्ट्रीय सम्मान के अनुरूप देशी भाषाओं के माध्यम से भारतीय विचारकों का पुनर्मूल्यांकन एवं उपस्थापन प्रारम्भ

हुआ। चूँकि हिन्दी अधिकांश भारतीयों की भाषा रही है, अतः इसको अंग्रेजी के स्थान पर राष्ट्रभाषा के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रयास हुआ। इसे राजभाषा बनाया भी गया। आज के प्रसंग में भाषा एवं दर्शन दोनों ही दृष्टियों से 1954 का वर्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा जब अखिल भारतीय दर्शन–परिषद् की संकल्पना हुई। सत्यकाम जाबाल की ही भाँति इसके जन्म का प्रमाण–पत्र नहीं मिलता। परंतु दार्शनिक त्रैमासिक का एक अंक (निरंक?) इसी वर्ष निकला। जनवरी 1955 में दार्शनिक त्रैमासिक का व्यवस्थित अंक (प्रथम अंक के रूप में) छपा और परिषद् का प्रथम अधिवेशन प्रयाग विश्वविद्यालय में इसी वर्ष (1955 में) आयोजित करने की घोषणा हुई। कुछ कारणों से यह स्थगित हुआ और फिर 1956 की फरवरी के सप्ताहान्त में यह आयोजित हुआ। सन् 1925 में भारतीय दार्शनिक काँग्रेस (महासभा) की स्थापना के उपरान्त यह तिथि भारतीय दर्शन के क्षितिज का प्रमुख संकेतक है। हिन्दी के माध्यम से दर्शन को विकसित करने का तथा दार्शनिक चिन्तन द्वारा इस भाषा को पुष्ट एवं समृद्ध बनाने का लक्ष्य रखकर इस दर्शन–परिषद् ने पिछले 48–49 वर्षों में जो कार्य किया वह श्लाघ्य है। अपने प्रकाशनों, अधिवेशनों एवं गोष्ठियों के माध्यम से भाषा एवं चिन्तन दोनों को ही परिष्कृत करने का उद्यम स्वयं में स्पृहणीय है। दर्शन–परिषद् के परिवेश के भीतर तथा बाहर दर्शन के क्षेत्र में क्या हुआ, क्या नहीं हुआ, इसका आकलन एकाधिक ग्रन्थ–रचना के द्वारा ही संभव है। यह कार्य होना अवश्य प्रारंभ हो गया है। परन्तु अत्यल्प ढंग से इस अवधि की उपलब्धियों की ओर अपनी दृष्टि से संकेत करने का हम यहाँ प्रयास करेंगे।

स्वतंत्रता के पूर्व भारत में अंग्रेजी शासन के कारण अंग्रेजी माध्यम से पाश्चात्य एवं कुछ भारतीय विचारकों के संबंध में हमारे विश्वविद्यालयों के दर्शन–विभाग कुछ चर्चा किया करते थे। राधाकृष्णन् एवं म्योरहेड द्वारा सम्पादित 'कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसफी' ने पहली बार समसामयिक भारतीय दर्शन को प्रकाश में लाया। परन्तु विश्वविद्यालयों में दर्शन–शास्त्र के पाठ्यक्रमों में समसामयिक भारतीय विचारकों का समावेश इस शताब्दी के छठे दशक से पूर्व नहीं हो पाया था। दुर्भाग्य से उस समय तक समकालीन कहे जाने वाले प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक {डॉ. राधाकृष्णन् (1888–1975) को छोड़कर} दिवंगत हो चुके थे। स्नातकोत्तर कक्षाओं के विद्यार्थी गाँधी, टैगोर, श्री अरविन्द, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, इकबाल इत्यादि के विचारों से परिचित होने लगे थे। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि ये सभी विचारक प्रायः आदर्शवादी परम्परा के थे और राधाकृष्णन्–म्योरहेड के संस्करण में 25 लोग आदर्शवादी रहे। पिछली पीढ़ी के इन विचारकों की अपेक्षा परवर्ती पीढ़ी के लोगों में यथार्थवादी विचारधारा भी मिलती है तथा स्वतंत्रता के उपरान्त के भारतीय दर्शन में इसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। दर्शन–परिषद् द्वारा 1962 में प्रकाशित तथा डॉ. के0 सच्चिदानंद मूर्ति द्वारा सम्पादित' समकालीन भारतीय दर्शन में डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद ने समकालीन भारतीय वस्तुवादी विचारकों में मानवेन्द्र नाथ राय तथा जी.सी. चटर्जी प्रभृति नामों का उल्लेख करते हुए उनके विचारों का विश्लेषण किया है।

स्वतंत्रता के बाद भारत में अनेक नये विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के प्रारम्भ होने पर उनमें दर्शनशास्त्र का अध्ययन–अध्यापन होने के कारण दर्शन–शास्त्र को समझने वाले लोगों की कमी नहीं रही। गुणात्मक विकास की दृष्टि से दर्शन–शास्त्र की प्रगति हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने 1964 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, विश्वभारती तथा मद्रास विश्वविद्यालय में दर्शन के उच्चाध्ययन केन्द्रों की स्थापना की। इन केन्द्रों ने कलकत्ता, इलाहाबाद तथा अमलनेर में हुए दर्शन के ह्रास की पूर्ति प्रारम्भ की। पूना में इण्डियन फिलॉसफिकल क्वार्टर्ली तथा परामर्श का प्रकाशन प्रारंभ किया गया। अनेक पत्र–पत्रिकाओं, गोष्ठियों इत्यादि के माध्यमों से दर्शन शास्त्र का प्रचार–प्रसार होने लगा। परन्तु इन सबके बीच दर्शन और चिन्तन सम्बन्धी कोई मौलिक योगदान हो पाया या नहीं यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण बनता गया। सन् 1950 में प्रोफेसर धीरेन्द्रमोहन दत्त ने एक टिप्पणी की थी कि समकालीन भारतीय दर्शन या तो विशुद्ध पाश्चात्य प्रभाव से उत्पन्न है अथवा भारत भूमि पर यूरोपीय दर्शन का एक विचित्र विस्तार है। इस टिप्पणी को यदि किसी ने झुठलाया तो एक ऐसे व्यक्ति ने जिसको विश्वविद्यालय या उच्च शैक्षणिक संस्थान में पढ़ने या रहने का शायद मौका नहीं मिला। उसका नाम है श्री यशदेव शल्य। यह अखिल भारतीय दर्शन परिषद् उन्हीं की स्थापना है।

यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार पुरानी पीढ़ी के द्वारा महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, पं0 सुखलाल संघवी एवं डॉ. सम्पूर्णानन्द के चिन्तनों की उपेक्षा की गई उसी प्रकार आज की पीढ़ी अनेक ऐसे विचारकों की उपेक्षा कर रही है जो इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं या किये हैं। ऐसे लोग सम्भवतः इसीलिए पर्याप्त समादृत नहीं हो सके क्योंकि इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम अंग्रेजी को नहीं बनाया। और तथ्य वस्तुतः यह है कि मौलिक चिन्तन करने के लिए अपनी भाषा और अपना परिवेश आवश्यक है। दर्शन के क्षेत्र में भी यह बात पूर्णरूपेण लागू होती है। हम हिन्दी में लिखें और न्यूयार्क में बैठकर लिखें, यह सहज नहीं है, पारिस्थितिकी की दृष्टि से भी यह बहुत सटीक नहीं है। पूना, काशी या उज्जयिनी जैसे स्थानों में बैठकर ही हिन्दी में मौलिक चिंतन एवं लेखन सहजता से हो सकेगा।

भारतीय दर्शन के एक–दो सम्प्रदायों के अतिरिक्त प्रायः सभी दर्शनों (आस्तिक, नास्तिक) के अनुयायी आज भी हमें न्यूनाधिक संख्या में मिल जायेंगे। वेदान्त के अनुयायियों की संख्या सबसे अधिक प्रतीत होती है। नव्य–वेदान्त के अतिरिक्त नव्य–न्याय, योग एवं भाषा–विश्लेषण की परम्पराओं का पर्याप्त प्रचलन है। गाँधी एवं श्री अरविन्द जैसे आधुनिक विचारकों के दर्शन के भी सम्प्रदाय–से बन गये हैं।

नवीन दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में आधुनिक भारत की पृष्ठभूमि में तुलनात्मक दर्शन का उदय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि प्राचीन काल में अशोक तथा मध्ययुग के कबीर, नानक एवं दारा शिकोह ने तुलनात्मक दर्शन की आधारशिला रख दी थी परन्तु

वर्तमान युग में इसे स्थापित करने का कार्य डॉ. राधाकृष्णन् का है। राधाकृष्णन् (एवं अन्य) द्वारा सम्पादित ग्रन्थ से इसका प्रारम्भ होता है तथा डॉ. पी.टी. राजू के द्वारा यह सम्पुष्ट होता है। आज ही परिषद् द्वारा इस विषय पर प्रकाशित ग्रन्थ विमोचित किया गया है। अनेक ऐसे विद्वान् मिलेंगे जो इस धारा के पोषक हैं, भले ही वे स्पष्टता से इसे स्वीकार न करें। तुलनात्मक दर्शन का लक्ष्य रहा है विश्व में चर्चित दर्शन की समस्याओं का भारतीय समाधान प्रस्तुत करना। पश्चिम के लोगों में सारी समस्याओं के समाधान का स्रोत पश्चिम को ही स्वीकार करने की प्रवृत्ति समाप्त होकर जब भारतीय एवं पाश्चात्य योगदानों को समान रूप से ग्रहण करने की भावना विकसित हो जायेगी तब सम्भवतः इसका भारतीय पक्ष कमजोर पड़ जाय। परन्तु अभी तो तुलनात्मक दर्शन के विकास की प्रचुर आवश्यकता है। प्रो. पी.टी. राजू ने वेदान्त दर्शन को आधार मानकर तुलनात्मक दर्शन की पद्धति एवं इसके लक्ष्य का निर्धारण किया है। प्रो. एन.एस.एस. रमण ने इसकी पद्धति को और भी अधिक स्पष्ट बनाने पर बल देते हुए स्वीकार किया है कि इससे विभिन्न संस्कृतियों एवं परम्पराओं के लोग परस्पर निकट आते हैं। तुलनात्मक दर्शन के आधार पर ही प्रो. संगमलाल पाण्डेय ने 'संदर्शन' जैसे नवीन दर्शन की स्थापना का दावा किया है जिससे हमें एक ऐसी दृष्टि मिलती है कि तत्त्व को पूर्णरूपेण देखा जा सके। इसमें पाश्चात्य भाषा–विश्लेषण एवं भारतीय अद्वैतवाद का रोचक समन्वय मिलता है।

प्रोफेसर देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय द्वारा संपादित 'दर्शनशास्त्र : पूर्व और पश्चिम ग्रन्थमाला' (1990) के आठ मोती हैं (1) दर्शनशास्त्र के स्रोत, (2) चीन में दर्शनशास्त्र, (3) भारत में दर्शनशास्त्र, (4) यूनान में दर्शनशास्त्र, (5) यूरोप में दर्शनशास्त्र : बेकन से मार्क्स, (6) यूरोप में दर्शनशास्त्र : मार्क्स के बाद, (7) बीसवीं शताब्दी में दर्शनशास्त्र एवं (8) दर्शनशास्त्र और भविष्य । ये ग्रन्थ विभिन्न विद्वानों द्वारा मूलतः अंग्रेजी में लिखे गये हैं, तथा इनके अनुवादों को राजकमल प्रकाशन ने प्रकाशित किया है।

अब हम तीन ऐसे नामों की चर्चा करेंगे जिन्होंने तुलनात्मक दर्शन एवं वेदान्त के आधार पर आधुनिक भारतीय दर्शन को नई दृष्टि प्रदान करने का प्रयास किया है। ये नाम हैं – डॉ. टी.आर.व्ही. मूर्त्ति, डॉ. नन्दकिशोर देवराज एवं डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी।

प्रोफेसर मूर्त्ति (1902–86) के बौद्ध दर्शन संबंधी ग्रंथ से हम सभी सुपरिचित हैं। यहाँ हम उनके परवर्ती चिंतन की चर्चा करेंगे जिसका संकेत हमें भारतीय दार्शनिक काँग्रेस के 1963 में सम्पन्न चण्डीगढ़ अधिवेशन में मिला था। अपने अध्यक्षीय भाषण में डॉ. मूर्त्ति ने भारतीय भाषा पर अपने कुछ विचार व्यक्त किये हैं। यह भाषण भारत में तथा अन्यत्र पर्याप्त चर्चित हुआ है। इससे भारतीय भाषा–दर्शन के विकास के संकेत मिलते हैं। मूर्त्ति के अनुसार भाषा–दर्शन भाषा का प्रतिवर्त्ती चिन्तन (रिफ्लेक्टिव अवेयरनेस) है; इसके कार्यों की समालोचना है। भाषा–दर्शन स्वयं में एक लक्ष्य भी है, भाषा के प्रयोग में अधिक दक्षता प्राप्त करने का माध्यम ही नहीं। दर्शन के माध्यम से वाणी में स्वयं के प्रति चेतना उत्पन्न

होती है एवं शब्दों तथा अर्थों के धातु एवं सृजक के रूप में इसकी भूमिका के प्रति दर्शन इसे उद्‌बुद्ध करता है, ताकि भाषा विश्व के समस्त पदार्थों को अपने में समाविष्ट कर सके। आधुनिक भाषा–विश्लेषणवादियों (जैसे– विट्‌गेन्सटाइन) की भाँति यह 'भाषायी खेल' नहीं, जिसे हम तात्कालिक रूप से खेला करें। यह एक शाश्वत प्रश्न का स्थायी समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास है।

डॉ. मूर्त्ति के अनुसार मीमांसा एवं व्याकरण दर्शनों ने भाषा–दर्शन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। वाणी के बाह्यार्थ को स्पष्ट करने में न्याय दर्शन ने भी श्रेष्ठ भूमिका निभाई है। वेदों में भाषा को दैवी वाक् के रूप में ग्रहण किया गया है। पतंजलि इसे महान् देवता स्वीकार करते हैं। भाषा एवं शब्दों का गूढ़ार्थ सामान्य–जन को ज्ञात नहीं हो पाता। जिस प्रकार प्रेयसी अपने प्रेम को पति के सम्मुख ही व्यक्त करती है उसी प्रकार भाषा भी सारे अर्थ को प्रबुद्ध लोगों के समक्ष ही अभिव्यक्त करती है। ऋग्वेद कहता है :

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् शृणोत्येनाम्।
उतोत्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्या उशती सुवासाः ।।

ऋग्वेद, 10–71–4

डॉ. नन्दकिशोर देवराज (1917–99) भारतीय संस्कृति एवं अद्वैत दर्शन की पृष्ठभूमि में सृजनात्मक मानवतावाद की स्थापना करते हैं। इनके अनुसार दर्शन का कार्य मात्र निषेधात्मक नहीं है। दर्शन मनुष्य की मूल्य–चेतना के सामान्य स्वरूप की व्याख्या कर उसे विशद बनाता है। यह मानव–संस्कृति की व्याख्या है। इसकी व्याख्या के द्वारा मनुष्य अपना गुणात्मक विकास करता है; सृजनात्मक परिष्कार करता है।

डॉ. देवराज के अनुसार संस्कृति–दर्शन अथवा सृजनात्मक–मानवतावाद का केन्द्र मनुष्य है, न कि ईश्वर। मनुष्य की सृजनात्मक प्रक्रिया का दर्शन हमें प्राकृतिक व्यवस्था को बदलने में तथा उसकी सौन्दर्यात्मक अभिरुचि में होता है। मनुष्य बाह्य घटनाओं के प्रति अपनी प्रतिक्रिया विभिन्न ढँगों से व्यक्त करता है। उसकी सृजनात्मकता का यह भी एक लक्षण है। पुनश्च, उसकी प्रतिक्रिया का दायरा सदा विस्तृत होता जाता है। हम मनुष्य के सृजनात्मक इतिहास में सदा स्पष्ट विकास एवं प्रगति देखते हैं।

डॉ. देवराज का सृजनात्मक मानवतावाद पूर्णतः नवीन न होकर पाश्चात्य मानवतावाद एवं भारतीय आदर्शवाद का समन्वय है। एक ओर डॉ. देवराज लेमाण्ट एवं शिलर के चिन्तन का विवेचन कर अधिक संतोषजनक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं तो दूसरी ओर वे कोरे आदर्शवाद का भी विरोध करते हैं। उनका संस्कृति–दर्शन प्रकृतिवाद एवं आदर्शवाद के मध्य एक नवीन दर्शन की स्थापना करता है।

डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी (1918–81) राधाकृष्णन् और मूर्त्ति की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए अद्वैत–दर्शन को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। इनके अनुसार आत्मान्वेषण ही दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है। जिस प्रकार डॉ. देवराज मनुष्य को जगत् का

केन्द्र मानते हैं उसी प्रकार डॉ. त्रिपाठी आत्मा को व्यक्ति के संसार का केन्द्र मानते हैं। दर्शन का एकमात्र सर्वनिष्ठ पक्ष सम्भवतः प्रतिवर्त्ती चिन्तन ही है। यह एक ऐसी चेतना है जो स्वयं के बारे में चिन्तन कर सके। वस्तुनिष्ठ चेतना का अनुवर्त्ती अभिज्ञान ही दार्शनिक चेतना है। प्रारम्भ में दर्शन एक आलोचनात्मक विधा के रूप में दीखता है। परन्तु निषेधात्मक स्तर से आगे जाकर यह पूर्ण सत्य का अनुसंधान करता है। यह तर्क से श्रुति की ओर तथा श्रुति से अनुभूति की ओर अग्रसर होता है।

तत्त्वज्ञान को समझने के लिए प्रो. त्रिपाठी सुषुप्ति, समाधि एवं मृत्यु की व्याख्या को आवश्यक मानते हैं। सुषुप्ति में हम अपने अस्तित्त्व–बोध के बिना ही स्थित रहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि शुद्ध चेतन स्वयं–प्रकाश एवं उपाधि–शून्य हो सकता है। इस स्थिति में हमें आनंद की अनुभूति होती है। समाधि में भी हमें ऐसी ही आनन्दानुभूति होती है। इन दोनों स्थितियों के आधार पर हम मृत्यु के उपरान्त की संभावना को स्पष्ट कर सकते हैं। सुषुप्ति एवं समाधि की अवस्थाओं के उपरान्त आत्मा का अस्तित्व होने के कारण मृत्यु के उपरान्त भी इसके अस्तित्त्व का अनुमान होता है। आत्मा की अमरता एवं शाश्वत स्थिति का यह बोध हमें अज्ञान से मुक्त करता है। जीवन एवं मृत्यु के प्रति व्यक्ति का ऐसा दृष्टिकोण चूँकि अद्वैत दर्शन में अधिक संतोषजनक रूप से विवेचित है अतः प्रो. त्रिपाठी के अनुसार यह अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक पूर्ण दर्शन है।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि यदि स्थिति का वस्तुनिष्ठ विवेचन किया जाय तो हम पायेंगे कि पिछले पाँच दशकों में भारतीय दर्शन में जो कुछ हुआ है वह न तो बहुत अधिक निराशापूर्ण है और न ही पर्याप्त उत्साहवर्धक। आवश्यकता है हमें और अधिक काम करने की। हमारे भीतर मौलिक चिन्तन का उत्साह और साहस होना चाहिए, प्रामाणिक विश्व–बोध की लालसा होनी चाहिए। हमारे मध्य आज ऐसे अनेक विद्वान् एवं विचारक विद्यमान हैं जो अपनी लेखनी से भावी पीढ़ी को बहुत कुछ दे सकते हैं और नयी पीढ़ी को प्रोत्साहित भी कर सकते हैं। इस बीच जो कुछ लिखा गया है या लिखा जा रहा है उसका भी समुचित आकलन करना आवश्यक है।

4. डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल :

अभी इस गोष्ठी में यह जो चर्चा हो रही है या होगी उससे अधिक काम परिषद् के मंत्री डॉ0 अम्बिकादत्त शर्मा ने स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण के दो खंडों में करके दिखाया है जिनका विमोचन आज ही हुआ है, जिसमें स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन का एक विहंगम चित्र दिखाई दे रहा है। इसके अतिरिक्त डॉ. शर्मा तत्त्वमीमांसा के यूरोपीय निराकरण का भारतीय प्रत्युत्तर जैसे विषय पर भी काम कर रहे हैं जिसकी ओर इस अर्द्धशती में किसी का ध्यान ही नहीं गया। उससे अधिक कुछ कहना शायद संभव नहीं है। यह बात इस नाते भी कह रहा हूँ कि मैं 50 वर्षों की इस लंबी यात्रा का साक्षी भी

नहीं हूँ और ऐसे लोगों के बीच कुछ कहना है जो इस 50 वर्ष की विकास यात्रा में इसके स्वरूप के वाहक हैं, निर्माताओं के सहयात्री हैं। लेकिन एक बात जरूर कहना चाहूँगा कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन के इतिहास को देखा जाये तो किस प्रकार से कालखंड तेजी से बदलते रहे हैं और उसके बीच समकालीन दर्शन में या स्वतंत्रता के बाद के दर्शन में कुछ हुआ कि नहीं इसका मूल्यांकन करना चाहिए। एक सीधी विभाजक रेखा भारतीय दर्शन के इतिहास की, उसके अनादि इतिहास से लेकर छठीं शताब्दी तक दिखाई देती है। दूसरी रेखा 6वीं शताब्दी से 11वीं या 12वीं शताब्दी तक, फिर 12वीं शताब्दी से 17 वीं शताब्दी तक; पुनः 17वीं शताब्दी से 19वीं के उत्तरार्द्ध तक, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 20वीं के उत्तरार्द्ध तक और 20वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध – जिसकी हम चर्चा करना चाहते हैं। बड़ी तेजी से परिवर्तन हो रहा है और ऐतिहासिक कालखण्ड में जिन कालखंडों को एक साथ समेकित रूप से देखा जाता है तो जरूर कोई कारण होगा कि 50 वर्षों को एक साथ नहीं देखेंगे, इस छोटे कालखंड को समग्रतया नहीं देखेंगे तो कुछ बात छूट जायेंगी क्योंकि इसके पूर्व के 100 या 50 वर्षों का जो इतिहास है उस इतिहास में एक हिस्सा गायब है। भारतीय दर्शन की दृष्टि से और भारत भूमि की दृष्टि से जब हम विचार करेंगे तो एकेडेमिक फिलॉसफी या यूनिवर्सिटी और कॉलेज में विकसित हुई फिलॉसफी में एक हिस्सा गायब है और वह है विशुद्ध भारतीय दर्शन का।

स्वतंत्रता के बाद के 50 वर्ष का कालखण्ड काफी समृद्ध दिखाई देता है। लेकिन साथ ही जो भारतीय दर्शन की दो मूल धारायें रही हैं – एक जीवन में सामाजिक संदर्भों को लेकर के काम कर रहे लोगों के द्वारा जो दार्शनिक दृष्टि का उन्मेष होता है और दूसरा जो विभिन्न साम्प्रदायिक निष्ठाओं के साथ अपने सम्प्रदायों के अंदर अपने अपने मतावलंबियों को जीवन मूल्यों के साथ जीवन की प्रेरणा देने का कार्य कर रहे थे, जो अपने साम्प्रदायिक निष्ठा के साथ अपने अनुमत सांप्रदायिक सीमा के अंदर अपने सिद्धांतों का परिष्कार और विकास कर रहे थे। इन 50 वर्षों को तीन हिस्सों में बाँटने की जरूरत है। दूसरा कि यदि भारतीय दर्शन के आलोक में पुनः मूल्यांकित कर रहे हैं तो भारतीय दर्शन को देखने की दो दृष्टियाँ हैं : भारतीय दर्शन का संप्रदायबद्ध, निकायबद्ध इतिहास है जिसमें हम अद्वैत वेदान्त, द्वैत वेदान्त इत्यादि को, इनके भेदों को देखते हैं। यह एक दृष्टि है। इस दृष्टि से कुछ काम हुआ है। आज भारतीय दर्शन क्लोज़ सिस्टम है ऐसा कोई मजबूती से कहने की स्थिति में नहीं है। यह इन 50 वर्षों का ही योगदान है।

लेकिन एक हिस्सा अधूरा है। भारतीय दर्शन की सिर्फ यही एक धारा नहीं, दूसरी भी धारा है। भारतीय दर्शन में समस्याओं के आधार पर पाँच–पाँच सौ वर्षों, छह–छह सौ वर्षों के भिन्न–भिन्न सम्प्रदायों के आपसी संवाद का इतिहास भी प्राप्त होता है। साकारवाद–निराकारवाद की समस्या हो या प्रामाण्यवाद की समस्या हो, इन समस्याओं पर 600 वर्षों का इतिहास स्पष्ट होता है। इसी प्रकार जो भारतीय ज्ञानमीमांसा है वह

चार–पाँच प्रस्थानों में होकर के विकसित होती है। तत्त्वमीमांसा को समझने की चार–पाँच दृष्टियाँ हैं। अनिर्वचनीय की दृष्टि से चिंतन विकसित होता है तो अनिर्वाच्यता की दृष्टि से भी विकसित होता है। संतान की दृष्टि से या शून्यता की दृष्टि से भी यह विकसित होता है। इस प्रकार की धारायें दिखाई पड़ी हैं। सातकड़ी मुखोपाध्याय काशी में प्रामाण्यवाद पर एक निबंध प्रस्तुत करते हैं और बौद्ध दृष्टि से उनके प्रमाण्यवाद पर प्रस्तुत किये गये निबंध पर लगातार चर्चा होती है। यह जो भारतीय परंपरा रही है जिसको हमने कहा कि कुछ लोग यह मानते हैं कि यह क्लोज़्ड सिस्टम है उस क्लोज्ड सिस्टम के अंतर्गत आधुनिक संदर्भों का ख्याल करते हुए और अद्यतन जो भी साहित्य उपलब्ध है उस प्रकाश में उनकी समस्या पर हम विचार करते हैं। अनेक नवीन संभावनायें प्रस्तुत की गई हैं। और मुझे नहीं लगता कि इतना समय है और यह आवश्यकता भी है कि यहाँ क्या आया था उसकी चर्चा हो।

बदरीनाथ शुक्ल जी की चर्चा आई है। न्याय दर्शन में आत्मा का सिद्धांत एक स्थापित सिद्धांत है। इसके बारे में 14वीं 15वीं शताब्दी के बाद न्याय दर्शन में आत्मा को लेकर के कोई विचार नहीं किया गया, उसको मान लिया गया कि यह हमारी दार्शनिक सीमा में यह सिद्धांत अंतिम रूप से स्थापित हो गया है, आत्मा के स्वरूप को जिस रूप में हम प्रस्तुत करना चाहते थे, हमने प्रस्तुत कर दिया है। सन् 1980 में उस पर नये सिरे से बात शुरू होती है। बदरीनाथ शुक्ल जी नई बहस शुरू करते हैं और देहात्मवाद का सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं। यह सिद्धांत उन्होंने गंभीरता से प्रस्तुत किया या कौतुकता से, यह इतिहास बतायेगा। परन्तु लगभग 4 वर्ष बाद ही जब वे *शतश्लोकी* लिख रहे होते हैं तो इसमें देहात्मवाद का स्वयं खण्डन करके वेदान्त के सर्वात्मवाद को न्याय दर्शन में स्थापित करते हैं। इस प्रकार के नये–नये प्रयोग और इनके बीच भिन्न–भिन्न विचारकों के बीच चर्चा – यह एक क्रम जो बंद हुआ है उसे चलना चाहिए था। एक प्रयोग आई.सी.पी.आर. ने किया था। उसके कुछ अच्छे परिणाम भी आये थे। जिन कारणों से आचार्य बदरीनाथ शुक्ल जैसा व्यक्ति पाश्चात्य दर्शन की समस्याओं को समझना चाहते थे, वह संवाद परंपरा जो प्रयास कर आयोजित की जाती थी, ऐसी संवाद–परंपरा का अकाल हुआ है। इस नाते दार्शनिकों के बीच की तुलना निरर्थक होने के बाद भी बंद नहीं हुई है, चल रही है। आज भी भारतीय दर्शन के क्षेत्र में जो विषय पी–एच.डी. में रजिस्ट्रेशन के लिए आते हैं उनको यदि देखा जाये तो हम पायेंगे कि बड़ी मात्रा में वही होता है जो तुलनात्मक दर्शन कहलाता है। दर्शन का यह एक हिस्सा है। इस दृष्टि से विचार किया जाये तो पूरब का और पश्चिम का विचार केन्द्रित, समन्वित कर हम कोई ढ़ाँचा खड़ा कर सकें तो बात बन सकती है। यह सही है कि इस बीच विपुल साहित्य आया है भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में। सोसल फिलॉसफी जिसकी मैं चर्चा करना चाहता था, उस क्षेत्र में काम हुआ है। क्लासिकल काम भले न हुआ हो। लेकिन तीन धारायें इस तरफ दिखाना चाहूँगा जिनमें गाँधी–दर्शन निकाय के रूप में

प्रतिष्ठित हुआ है; इस पर प्रश्नचिह्न नहीं खड़ा हो सकता है। भारतीय दर्शन की चिंतनधारा के अंतर्गत अगर सर्वदर्शन का अर्थ लिख रहे होते हैं तो उसमें सायणमाधव 12 दर्शनों का समावेश करते हैं। 13वाँ आज गाँधी–दर्शन है। इसको 13वें दार्शनिक निकाय के रूप में हमें स्वीकार करना पड़ेगा। यह गाँधी की देशना से नहीं हुआ है। यह गाँधी पर गाँधी के अध्येताओं ने जो दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया उसके नाते हुआ है। दूसरा, जिसका उल्लेख मैं जरूर करना चाहूँगा। इस उत्तरार्द्ध में संपूर्ण वेदों का भाष्य करने का प्रयास किया गया। और भाष्य की भूमिका के रूप में अभिनव–शंकर स्वामी करपात्री जी ने हिन्दी भाषा में लगभग 1000 पृष्ठों की सामग्री सिर्फ वेद–प्रामाण्य को केन्द्रित करते हुए प्रस्तुत की जिसमें संपूर्ण भारतीय वाङ्मय की आलोचना है। इसके साथ ही उन्होंने सायण माधव से लेकर आनंद कुमार स्वामी और श्री अरविंद तक वेद भाष्य की जो विविध प्रणालियाँ हैं उन सभी की समीक्षा की है। एक शास्त्र – वैदिक दर्शन को समझने की प्रणाली क्या हो सकती है इसको प्रस्तावित किया है। ऐसे बहुत सारे काम हुए हैं।

लेकिन फिर मैं कहना चाहूँगा कि समस्या–केन्द्रित भारतीय दर्शन का जो 500–500 वर्षों का जो इतिहास है – इंद्रियार्थ सन्निकर्ष जन्यं ज्ञानम् से लेकर के ज्ञानाकरणकं ज्ञानम् तक न्याय में जो परिभाषा परिष्कार का अपना इतिहास है – उस प्रकार से हम उन संप्रदायों के अंदर किसी प्रकार का 50 वर्षों में प्रयास नहीं कर सके हैं। और समस्याओं को लेकर के ही ज्ञान की स्वप्रकाशता और परप्रकाशता की समस्याओं को लेकर के कैसे एक साथ जूझते हैं, अपने–अपने अवदान करते हैं और खंडन–मंडन करते हैं। प्रत्यक्ष को लेकर लक्षणों की समस्याओं से सभी दार्शनिक जूझते हैं। अनुमान में व्याप्ति में लक्षणों, लक्षणों के लक्षणों को लेकर के की हुई बात हो, ऐसी सारी समस्याओं पर जो चर्चा हुई है, इस चर्चा के आलोक में अगर हम क्लासिकिल फिलासफी महाविद्यालय व विश्वविद्यालय में कर रहे हों और इस चर्चा का उन्मेष नहीं करेंगे तो निश्चित रूप से फिर एक बार पश्चिम की दृष्टि हमारे ऊपर हावी होगी ही। वह इतिहास की चक्रक गति होगी। इस चक्रक गति से हमें बचना है। जो स्वरूप इन पुरोधाओं ने खड़ा किया है उसे यदि हम और आगे ले जाना चाहते हैं तो फिर समीक्षा पर आधारित संभावनाओं के नये द्वार खोलने होंगे। हम 50 वर्ष का पूरा मूल्यांकन तो नहीं कर सकते लेकिन भविष्य में हमारे ऊपर जो जिम्मेदारी है उसकी याद करते हुए हम अपनी बात समाप्त करते हैं।

5. प्रो. सभाजीत मिश्र :

स्वतंत्रता के बाद के ये 50 वर्ष दर्शन या दार्शनिक चिंतन की दृष्टि से हमारे लिए कितने महत्त्वपूर्ण रहे हैं, हमारी क्या उपलब्धियाँ रही हैं और विशेष करके यह प्रश्न कि क्या हमने किसी नवीन दार्शनिक चिंतन का विकास किया है जिस तरह कि पश्चिम में 20वीं शताब्दी में अनेकानेक नयी दार्शनिक विचारधाराओं का विकास हुआ। यह एक ऐसा प्रश्न

है जिसको जो दार्शनिक मंडली है उसके बीच भी उठाया जाता रहा है। जो दार्शनिक चिंतन के मिज़ाज़ से ठीक से परिचित नहीं है लेकिन जिनका कहीं न कहीं दार्शनिक चिंतन और भारतीय शिक्षा के भविष्य के निर्धारण में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है उनके मन में भी यह प्रश्न उठता है कि जिस तरह से पश्चिम में रोज कोई नई विचारधारा जन्म ले लेती है भारत में ऐसा तो कुछ नहीं हुआ! वर्तमान का भारतीय दार्शनिक चिंतन अवरुद्ध है या जो कुछ कहा जा रहा है वह वही कुछ है जो शास्त्रों में कहा गया है, इससे आगे कुछ नहीं। यह प्रश्न है बहुत महत्त्वपूर्ण लेकिन इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें इस बात को भी समझना चाहिए कि जिस सांस्कृतिक परिवेश में दार्शनिक चितन का विकास होता है उसका अपना मिजाज कैसा है। 20वीं शताब्दी में निश्चय है कि दार्शनिक दृष्टि से पश्चिम का जो इतिहास है बहुत समृद्ध रहा है। लेकिन पाश्चात्य चिंतन की एक विशेषता यह भी रही है, जो मैं आलोचना की दृष्टि से नहीं कह रहा हूँ – उसकी अपने मिज़ाज़ की दृष्टि से कह रहा हूँ, कि वहाँ एक विचारधारा को दबा करके या उसको निरस्त करके ही दूसरी विचारधारा जन्म लेती है और विचारधाराओं के विकास का एक क्रमिक रूप चलता है। साथ–साथ विचारधारायें चलती हों ऐसा पश्चिम में बहुत कम हुआ है। एक विचारधारा के अवसान हो जाने के बाद ही दूसरी विचारधारा पूरी तरह से विकास को प्राप्त करती है। भारतीय संस्कृति का मिज़ाज़ ऐसा कभी नहीं रहा कि यहाँ एक विचारधारा को दबा करके दूसरी विचारधारा का विकास हो। यहाँ वैचारिक संघर्ष बहुत हुए हैं – बौद्धों का, वेदान्तियों का, नैयायिकों का। आप सभी लोग इस बात को जानते हैं। पर यहाँ ऐसा कभी नहीं हुआ कि जब एक चिंतन समाप्त हो जाये तभी दूसरे का विकास हो। अतः जब हम स्वातंत्र्योत्तर भारत में दर्शन की क्या स्थिति है इसकी चर्चा करते हैं तो हमें इस मूल को, अपने सांस्कृतिक चिंतन के इस मिज़ाज़ को ध्यान में रखना चाहिए। और इसी दृष्टि से हमें अपने को इस प्रश्न के उत्तर के लिए प्रस्तुत रखना चाहिए कि हम क्या कोई नई विचारधारा विकसित कर रहे हैं। यह एक बात है। दूसरी बात मैं जो कहना चाहता हूँ वह बात कही भी जा चुकी है, लेकिन वह बात इतनी महत्त्वपूर्ण है कि भले ही पुनरावृत्ति हो लेकिन मैं कहने की इच्छा रखता हूँ। आज से लगभग 20 वर्ष पहले की बात है स्व. प्रो. एन.के. देवराज से किसी क्षण में वार्ता हो रही थी और उस समय पश्चिम में हैबरमास का नाम चर्चित हो रहा था और हैबरमास के चिंतन का व्यामोह हमारे ऊपर भी कोई कम नहीं था। बहुत सारी गोष्ठियाँ, बहुत सी चर्चायें, बहुत से लेख हैबरमास के चिंतन पर आ रहे थे। प्रो. देवराज ने किंचित् दुःखी स्वर में मुझसे कहा कि मिश्र जी! देखिये, जो बात हैबरमास आज कह रहे हैं उसपर कितनी चर्चा हो रही है – निरपेक्ष संदर्भ या सिद्धान्त (transcendental reference or principle) पर। इसे हम कई वर्षों पूर्व कह चुके हैं परंतु हमारे ऊपर कोई चर्चा करने को तैयार नहीं है। एक विचारक या दार्शनिक की पीड़ा देखिये! हम किसी दार्शनिक के विचार से सहमत हों या न हों, यह बात अलग है। यह

महत्त्वपूर्ण नहीं है। लेकिन यदि वह कोई बात कहता है – कोई नई उद्भावना प्रस्तुत करता है या किसी दर्शन–विशेष के संदर्भ में कोई अभिनव अवधारणा प्रस्तुत करता है तो उस व्यक्ति के प्रति इससे अधिक अपमानजनक कोई दूसरी बात नहीं हो सकती है कि हम उसकी चर्चा ही न करें, उस पर बहस न करें। हम बहस करके उसकी बात को खंडित कर दें, उसको निर्मूल सिद्ध कर दें, यह ज्यादा बेहतर स्थिति है बजाय इसके कि हम उसकी अवहेलना करें। तो बात वहीं पर आती है कि परस्पर संवाद की, एक समझ भरे संवाद की आवश्यकता आज जितनी है उतनी संभवतः कभी नहीं थी। यदि हमें 21वीं शताब्दी में भारतीय चिंतन को किसी एक रूप में प्रस्तुत करना है और विश्व–समुदाय के समक्ष उसको एक सशक्त चिंतन के रूप में प्रस्तुत करना है तो परस्पर संवाद, परस्पर समझ, परस्पर आदर का भाव आवश्यक है। यह भाव कि जो व्यक्ति हमारे सामने है वह कौन सी महत्त्वपूर्ण बात कह सकता है यह हमारे लिए हमेशा घातक रही है, न केवल चिंतन के क्षेत्र में बल्कि जीवन के अनेक क्षेत्रों में भी। हमें इससे ऊपर उठकर एक दूसरे का आदर करना चाहिए, उसकी बात को सुनना चाहिए, उससे बहस करनी चाहिए। इससे भारतीय चिंतन का या किसी भी प्रकार के चिंतन का विकास होता है। यही उसका स्वरूप है और इसी में उस परम्परा के अविच्छिन्न विकास की सम्भावनायें विद्यमान रहती हैं।

***

शिलष्टा क्रिया कस्यचिदात्म संस्था,
संक्रान्तिरन्यस्य विशेष युक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकानां,
धुरि प्रतिष्ठा परितव्य एव।

कालिदास, मालविकाग्निमित्रम्



शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोधः,
प्रगल्भ्य मभ्यस्त गुणा हि वाणी।
कालानुरोधः प्रतिमानवत्वं,
एते गुणा कामदुधा क्रिया सु।

भवभूति, मालती माधव

***

परिच्छेद : सात

लेखकीय परिचय

: अम्बिकादत्त शर्मा

यशदेव शल्य

कस्याऽपि कोप्यऽतिसयोस्ति स येन लोके, ख्यातिं प्रयाति न च सर्व विदस्तु सर्वे - इस दुनियाँ में किसी को यूँ ही प्रसिद्धि नहीं मिलती, उसमें कुछ 'अतिशय' होता है तभी उसे प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। अपनी दार्शनिक प्रतिभा में ऐसे ही 'अतिशय' से सम्पन्न आचार्य यशदेव शल्य स्वातंत्र्योत्तर भारत में, कम से कम, अकेले खड़े व्यक्ति हैं। 26 जून, 1928 को इनका जन्म फरीद कोट, पंजाब में हुआ। आधी-अधूरी इनकी प्रारम्भिक शिक्षा गुरूकुल पद्धति से हुई। बाद में किसी महाविद्यालय अथवा विश्वविद्यालय में इन्होंने संसदीय रूप से शिक्षा ग्रहण नहीं किया। अपने प्रारम्भिक जीवन में कुछ दिनों तक ये हाईस्कूल में हिन्दी के अध्यापक रहे और स्वाध्यायी तौर पर इनकी अभिरुची तब हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में ही थी। 1951 में इन्होंने "पन्त का काव्य और युग" नाम की एक पुस्तक का प्रकाशन भी किया था। उसके पश्चात् दर्शन के क्षेत्र में इनका पदार्पण मानों एक प्रायोजित संयोगवश हुआ और वह अप्रतिम संयोग एक स्वतंत्र दर्शन-प्रस्थान के विभिन्न कल्प एवं सोपानों से गुजरते हुए अपनी भवितव्यता को अद्यतन 'चिद्द्वैतवाद' के रूप में चरितार्थ कर रहा है। अब तक आचार्य यशदेव शल्य की प्रकाशित दार्शनिक कृतियों में - मनस्तत्त्व (1957), दार्शनिक विश्लेषण (1961), ज्ञान और सत् (1967), संस्कृति : मानव कर्तृत्व की व्याख्या (1969), विषय और आत्म (1972), चिद्विमर्श (1986), सत्ताविषयक अन्वीक्षा (1987), नागार्जुन कृत मध्यमक शास्त्र और विग्रहव्यावर्तनी : युक्ति परीक्षा एवं सिद्धान्त विमर्श (1990), समाज : दार्शनिक परिशीलन (1992), मूल्य-तत्त्व मीमांसा (1994), युग चिन्तन एवं साहित्य चिन्तन (1998), मुख्य भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तन धाराएँ (1999), तत्त्व चिन्तन (2003), काव्य विमर्श (2003), समसामयिक चिन्ताएँ (2004), इत्यादि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने अनुभववाद (1960), समकालीन दार्शनिक समस्यायें (1966) और समकालीन पाश्चात्य दर्शन (1970) इत्यादि अतिगम्भीर पुस्तकों का सम्पादन भी किया है। अपने सघन चिन्तन एवं सृजनशील अकादमिक जीवन में आचार्य यशदेव शल्य विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं यथा दार्शनिक त्रैमासिक, दर्शन समीक्षा, तत्त्व चिन्तन एवं उन्मीलन इत्यादि के संस्थापक एवं सम्पादक भी रहे हैं। इन्होंने अखिल भारतीय दर्शन परिषद् और दर्शन प्रतिष्ठान जैसी संस्थाओं की स्थापना एवं लम्बे समय तक उनका संचालन भी किया है। संसदीय शिक्षा की किसी भी उपाधि से वियुक्त रहने के बावजूद इन्हें पंजाब विश्वविद्यालय ने विजिटिंग फैलो (1978), भारतीय दार्शनिक

अनुसन्धान परिषद् ने वरिष्ठ फैलो (1983-86), भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद् ने वरिष्ठ फैलो (1988-90) और पुन: भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् ने वरिष्ठ फैलो (1991-93) बनाकर अपने को सम्मानित किया है। आचार्य यशदेव शल्य को हिन्दी समिति, उत्तरप्रदेश ने डॉ. भगवान दास पुरस्कार (1962), अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ने प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार (1988), बिड़ला फाउण्डेशन ने शंकर पुरस्कार (1995), हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने मंगलाप्रसाद पुरस्कार (2002), राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, मध्यप्रदेश ने नरेश मेहता वाङ्.मय पुरस्कार (2003) एवं भारतीय ज्ञानपीठ ने मूर्तिदेवी पुरस्कार (2004) से सम्मानित किया है। राष्ट्रभाषा के माध्यम से इन्होंने दार्शनिक चिन्तन को जैसा उत्कर्ष प्रदान किया है वह विचार को उसका पुरुषार्थ प्रदान करने जैसा प्रतीत होता है। एक दार्शनिक के रूप में आचार्य यशदेव शल्य भारत की उस गौरवशाली परम्परा के अंगभूत माने जा सकते हैं जिसके लिए "ऋषिणां उत्तरोत्तर प्रामाण्यम्" कहा जाता है।

*

सुरेन्द्र बारलिंगे

1919 में जन्मे सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे अपने समय के गणमान्य स्वतंत्रता सेनानी, समाज चिंतक एवं दर्शनशास्त्री थे। नागपुर विश्वविद्यालय से एम.ए. (1942) एवं पी-एच.डी. (1956) की उपाधि प्राप्त कर वे उच्च अध्ययन के लिए ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय (1958-59) पोस्ट डॉक्टोरल फैलो के रूप में गये। उन्होंने तिरुपति (1959-62) और दिल्ली (1964-68) में एशोसियेट प्रोफेसर के रूप में अध्यापन कार्य भी किया था। तदन्तर पुणे विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में पदस्थापित हुए (19769-72)। कुछ समय तक वे आस्ट्रेलिया में विजिटिंग प्रोफेसर एवं युगोस्लाविया में प्रोफेसर ऑफ इण्डियन फिलॉसफी भी रहे। ऐसे ही चीन, मारिशस, जापान, जर्मनी एवं अमेरिका इत्यादि देशों के प्रतिष्ठित विद्या संस्थानों में व्याख्यान देकर उन्होंने भारती विद्या को प्रसारित किया। प्रो. बारलिंगे पिपुल्स कॉलेज-नान्देड़ के संस्थापक प्राचार्य भी रहे। उन्होंने ही प्रताप सेन्टर ऑफ फिलॉसफी-अमलनेर एवं इण्डियन फिलॉसफ़िकल क्वाटर्ली पत्रिका को पुनर्जीवित किया था। परामर्श-हिन्दी एवं मराठी के वे संस्थापक सम्पादक भी रहे। महाराष्ट्र सरकार के साक्षरता एवं संस्कृति बोर्ड के चेयरमैन के रूप में उन्होंने 1980 से 1988 तक सेवा प्रदान की थी। प्रो. बारलिंगे भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् के फैलो भी रहे। उनकी अनेक कृतियाँ एवं लघुशोध-प्रबन्ध हिन्दी, अंग्रेजी एवं मराठी में प्रकाशित हुए हैं, उनमें ए मॉडर्न इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन लॉजिक, ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी, पोवर्टी एण्ड प्रोग्रेस, बिलीफ, रिजन्स एण्ड रिफ्लेक्शन्स, भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की नयी परिभाषा, सौन्दर्य तत्त्व और काव्य साहित्य इत्यादि प्रमुख हैं। राष्ट्रभाषा के प्रति उनके मन में अगाध प्रेम था।

एतदर्थ वे अपनी मौलिक रचनाओं को समानान्तर रूप से हिन्दी में भी प्रस्तुत करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। तर्कशास्त्र एवं सौन्दर्य दर्शन पर उनकी स्थापनायें बहुत मौलिक रही हैं। प्रो. बारलिंगे अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अध्यक्ष (राँची अधि.) भी मनोनीत हुये थे । उनका स्वर्गवास 1997 में हुआ।

✳

नन्दकिशोर देवराज

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन में सर्जनात्मक मानववाद के प्रणेता प्रो. देवराज का जन्म 1917 ई. में उत्तरप्रदेश के रामपुर कस्बे में हुआ था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से स्नातक (1936) एवं वेदान्त शास्त्री की शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने दर्शन शास्त्र में एम.ए. और डी.फिल्. की उपाधि इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्राप्त की। अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत उन्होंने छपरा (बिहार) से की और तदन्तर लखनऊ विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए । इसी दौरान उन्हें लखनऊ विश्वविद्यालय से 'दर्शन एवं संस्कृति' विषय पर डी. लिट्. की उपाधि प्रदान की गई। 1960 में वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में गायकवाड़ प्रोफेसर ऑफ इण्डियन सिविलाइजेशन एण्ड कल्चर पद पर नियुक्त हुए जहाँ अपनी सेवा निवृत्ति पर्यन्त दर्शनशास्त्र के उच्चानुशीलन अध्ययन केन्द्र का निर्देशन करते हुए अपनी दार्शनिक साधना को उत्कर्ष प्रदान किया। इसके अतिरिक्त वे अमेरिका के हवाई विश्वविद्यालय तथा सागर विश्वविद्यालय (मध्यप्रदेश) में अतिथि प्रोफेसर भी रहे। भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् एवं भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान-शिमला के फैलो के रूप में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अध्यक्ष (जयपुर अधिवेशन) और विभिन्न कालावधियों में दार्शनिक त्रैमासिक, आन्वीक्षिकी, एवं युग साक्षी जैसी पत्रिकाओं के सम्पादक भी रहे। दर्शन में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के साथ-साथ साहित्य के क्षेत्र में विशेष योगदान के लिए उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार से भी नवाजा गया। दर्शनशास्त्र के हिन्दी एवं आंग्लभाषीय इतिहासपरक पुस्तकों के अतिरिक्त अपने सर्जनात्मक मानववादी चिन्तन के विभिन्न कल्प एवं सोपान के रूप में उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ-संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, भारतीय संस्कृति : महाकाव्यों के आलोक में, दर्शन: स्वरूप, समस्यायें एवं जीवन दृष्टि, दर्शन धर्म-अध्यात्म और संस्कृति, दि फिलॉसफी ऑफ कल्चर : एन इन्ट्रोडक्शन ऑफ क्रियेटिव ह्यूमेनिज्म, द माइण्ड एण्ड स्पीरिट ऑफ इण्डिया, हिन्दूइज्म एण्ड क्रिश्चियनिटी, फिलॉसफी, रेलिजन एण्ड कल्चर, हिन्दूइज्म एण्ड माडर्न एज, टूआर्डस् ए थ्योरी ऑफ परसन एण्ड अदर एस्सेज, फ्रीडम क्रियेटिविटी एण्ड वैल्यु, ह्यूमेनिज्म इन इण्डियन थॉट, लिमिट्स ऑफ डिसएग्रिमेन्ट इत्यादि हैं। प्रो. देवराज प्राप्त देह से न्यूनाधिक रूप में अपना काम पूरा करके 1999 में इस दुनिया से विदा ले लिए।

✳

हर्षनारायण

प्रो. हर्षनारायण का जन्म (1922) उत्तरप्रदेश के बलिया जिले में हुआ था। इनकी प्रारम्भिक से लेकर स्नातक पर्यन्त शिक्षा बलिया में ही हुई। दर्शनशास्त्र में स्नातकोत्तर एवं पी-एच.डी की उपाधि इन्होंने क्रमश: नागपुर और लखनऊ विश्वविद्यालय से प्राप्त की। अपने अध्यापकीय जीवन में प्रो. हर्षनारायण किसी एक संस्थान से बँधे नहीं रहे और वैसे ही इनके अध्ययन क्षेत्र में भी उल्लेखनीय परिवर्तन होता रहा। उत्तर प्रदेश सचिवालय में अधीक्षक का पद त्यागकर इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में लेक्चर बनना स्वीकार किया और कुछ दिनों के पश्चात् रीडर पद पर नियुक्त होकर नार्थ ईस्टर्न हिल युनिवर्सिटी, शिलाँग चले गये। इसी प्रकार कुछ दिनों तक प्रो. नारायण गुरूकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार एवं अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में विजिटिंग प्रोफेसर भी रहे। यू.जी.सी. प्रोजेक्ट के अन्तर्गत दर्शन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय को भी इन्होंने अपनी महत्त्वपूर्ण सेवा प्रदान की थी। 1966 में इन्होंने लखनऊ में 'लखनऊ अकादमी' की स्थापना की थी जो 1977 तक सफलतापूर्वक चली। अरब सरकार द्वारा इन्हें वेदों का अरबी भाषा में अनुवाद करने के लिए ससम्मान आमंत्रित किया गया था, लेकिन इसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। अयोध्या रामजन्म भूमि विवाद को लेकर बाबरी एक्शन कमेटी और विश्व हिन्दू परिषद् के मध्य बातचीत के लिए इन्हें गृहमंत्रालय, भारत सरकार की ओर से विशेषज्ञ नियुक्त किया गया था। हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, पाली, प्राकृत, उर्दू, अरबी, फारसी एवं लैटिन इत्यादि भाषाओं के विस्तृत ज्ञान-जगत् में अत्यन्त अवाप्तकारी प्रतिभा के धनी प्रो. हर्षनारायण ने बहुआयामी और प्रचुरमात्रा में लेखन कार्य किया है, जिसमें से अधिकांश प्रकाशित और कुछ अब भी अप्रकाशित ही है। डॉ. मुक्तावली (पुत्री) से प्राप्त जानकारी के अनुसार इनकी प्रकाशित-अप्रकाशित कृतियाँ- एवोल्यूशन ऑफ न्यायवैशेषिक कैटेगोरियोलॉजी (दूसरा भाग अप्रकाशित), एवोल्यूशन ऑफ डायलेक्टिक इन वेस्टर्न थॉट, डिस्कवरी ऑफ मार्क्स (इण्डियन फिलासफी बुक पुरस्कार 1988), फैसेट्स ऑफ इण्डियन रिलिजियो फिलासफिक आईडेण्टिटी, मिथ्स ऑफ कम्पोजिट कल्चर एण्ड इक्वलिटी ऑफ रिलिजन्स, दि माध्यमिक माइण्ड, कल्चर कम्पोजिट एण्ड ऐंगलोईट बेस रिलिजन्स (बर्टेण्ड डू बाइट द्वारा फ्रेंच में अनूदित), सिर्रे अकबर सहित उपनिषद् समुच्चय, जजिया एण्ड दि स्प्रेड ऑफ इस्लाम, दि अयोध्या टेम्पल-मॉस्क डिस्प्यूट : फोकस ऑन मुस्तीम सोर्सेज, हिन्दू-मुस्लिम डायलॉग : बेसिक इश्यूज (अप्रकाशित), फ्रेस लुक्स ऑन बुद्धिस्ट थॉट (अप्रकाशित), भारतीय सेक्यूलरवाद पर पुनर्विचार,समिश्र संस्कृति एवं सर्वधर्म समता के प्रवाद, प्रमाण कारिका:, दयानन्द एक प्रामाणिक मूल्यांकन (अप्रकाशित), न्याय वैशेषिक इश्यूज (अप्रकाशित) इत्यादि हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी-अंग्रेजी में शताधिक परिष्कारात्मक शोध निबन्धों के अलावा प्रो. हर्षनारायण ने इन्साइक्लोपीडिया ऑफ

लेक्जिऑन्स, इन्साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, उर्दू इन्साइक्लोपीडिया के माध्यम से भी महत्त्वपूर्ण लेखन किया है ।

*

राजेन्द्र प्रसाद

पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा की नवीनतम विधाओं को स्वयूथ्य रूप में सात्मीकृत किये हुए कुशाग्र विश्लेषण क्षमता से सम्पन्न प्रो. राजेन्द्र प्रसाद का जन्म (1926) पटना में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा गृहनगर पटना में हुई और पटना विश्वविद्यालय से ही दर्शनशास्त्र में एम.ए. (1948) करने के पश्चात् 'आल्मामेटर' से ही उन्होंने अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत की। 1957 में "फुलब्राइट फैलोशिप" के अन्तर्गत उच्च अध्ययन के लिए वे 'यूनिवर्सिटी ऑफ मिचिगन' भेजे गये। प्रो. प्रसाद को पी-एच.डी. की उपाधि 'मॉरल फिलॉसफी' के क्षेत्र में 'यूनिवर्सिटी ऑफ मिचिगन' से ही प्राप्त हुई। 1963 में इनकी नियुक्ति आई.आई.टी. कानपुर में एशोसियेट प्रोफेसर के रूप में हुई, 1965 में प्रोफेसर पद से उन्हें अलंकृत किया गया और 1986 में वहीं से अध्यक्ष के रूप में सेवानिवृत्त हुए। इन्हें अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का अध्यक्ष (1990) और भारतीय दार्शनिक महासभा के अध्यक्ष तथा यू.जी.सी. नेशनल लेक्चरर एवं आई.सी.पी.आर. के वरिष्ठ अध्येता के रूप में भी मनोनीत किया जा चुका है। आरम्भ से ही अपने अकादमिक जीवन के प्रति प्रो. प्रसाद बहुत सचेष्ट रहे हैं। उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह बहुत ही सुचिन्तित लेखन है। अवकाश प्राप्त करने के उपरान्त भी उनका लेखन कर्म उत्तर-परिपक्वता के साथ आज भी जारी है। प्रो. प्रसाद ने अपनी विश्लेषणात्मक क्षमता में पाश्चात्य परम्परा के समकालीन अधिनीति शास्त्र, भाषा दर्शन एवं तर्कशास्त्रीय प्रणालियों को स्वायत्त कर उसका पद्धतिमूलक अनुप्रयोग भारतीय नैतिक चिन्तन एवं भारतीय तर्कशास्त्र के क्षेत्र में करते हुए जिस प्रकार के परिष्कारों एवं उपस्थापनाओं को प्रस्तावित किया है वह एक मॉडल है कि भारतीय दार्शनिक चिन्तन को विश्लेषणात्मक स्वरूप प्रदान करने के लिए पाश्चात्य दर्शन के अधुनातन तकनीकों का रचनात्मक विनियोग किस रूप में किया जाना चाहिए। वस्तुत: विश्लेषणात्मक पद्धति का उद्देश्य भी यही है कि विश्लेषण द्वारा विश्लेष्य के विविक्त स्वरूप और आधारिक संरचना को वह उद्घाटित करे। इसी दृष्टि से अनुप्राणित प्रो. प्रसाद की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ कर्म, कॉजेशन एण्ड रिट्रीब्यूटिव मॉरलिटी एण्ड अदर कॉन्सेप्चुअल एस्सेज इन एथिक्स एण्ड मेटा-एथिक्स, रेगुलैरिटी, नॉरमेलिटी एण्ड रूल्स ऑफ लैंग्वेज एण्ड अदर एस्सेज इन फिलॉसफिकल एनालिसिस, धर्मकीर्तिज थ्योरी ऑफ इन्फरेन्स इत्यादि हैं। तत्त्वमीमांसा, एवं दर्शनशास्त्र की रूप-रेखा इनके द्वारा लिखी गई प्रारम्भिक काल की प्रामाणिक टेक्स्ट बुक है।

*

सूर्यप्रकाश श्रीवास्तव

भारतीय दर्शन एवं भारतीय मनोविज्ञान के दुर्लभ अध्येताओं में एक डॉ. सूर्यप्रकाश श्रीवास्तव का जन्म सीतापुर, उत्तरप्रदेश के अन्तर्गत 1925 में हुआ। इन्होंने अपना स्नातक एवं स्नातकोत्तर अध्ययन क्रमशः इलाहाबाद एवं लखनऊ विश्वविद्यालय से सम्पन्न किया। "A Systematic Survey of Indian Psychology with special referene to Structure and development of Human Personality" जैसे उल्लेखनीय प्रबन्ध पर आगरा विश्वविद्यालय, आगरा से इन्हें पी-एच.डी. की उपाधि प्रदान की गई। अपने अध्यापकीय जीवन की शुरुआत इन्होंने वाई.डी. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखीमपुर से 1950 में की और वहीं से 1987 में उप- प्राचार्य एवं कला संकायाध्यक्ष, कानपुर विश्वविद्यालय के रूप में सेवानिवृत्त हुए। डॉ. श्रीवास्तव ने हिन्दी, अंग्रेजी में अनेक महत्त्वपूर्ण शोध निबन्धों एवं पुस्तकों का प्रकाशन किया है। इनमें Systematic Study of Indian Psychology,'Scientific Status of Spirituality' Shri Ramchandra's Autobiography - Part II (उर्दू से आंग्लभाषा में अनुदीत) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अपने लम्बे और अद्यावधि सक्रिय अकादमिक जीवन में अनेक शोधछात्रों ने आपके निर्देशन में पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की और इस दौरान आपने दर्जनों बार विदेशों की अकादमिक यात्रायें कीं। श्री रामचन्द्र मिशन से जुड़कर इन्होंने लम्बे समय तक 'सहज मार्ग' पत्रिका का सम्पादन भी किया। अपने छात्र जीवन से ही इन्हें लाल बहादुर शास्त्री एवं आचार्य नरेन्द्रदेव जैसी महान विभूतियों की संगत प्राप्त थी। इन्होंने भारत छोड़ों आन्दोलन-1942 में भी सक्रिय भागीदारी निभाई थी।

*

राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय

मूलगामी विश्लेषण क्षमता के प्रकर्ष को अपने में स्वायत्त कर प्राच्य विद्या एवं पाश्चात्य विचार पर समान अधिकार रखने वाले प्रो. पाण्डेय का जन्म 1935 में वर्तमान छत्तीसगढ़ प्रान्त के 'बम्हनी' जिला महासमुंद में हुआ। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा के दौरान ही 'न हि ज्ञानेन् सदृशं पवित्रमिह विद्यते' का संस्कार अर्जित कर वे उच्च शिक्षा के लिए सागर विश्वविद्यालय आये जहाँ से उन्होंने एम.ए. दर्शनशास्त्र (1959) एवं पी-एच.डी. (1963) की उपाधि प्राप्त की। इसी दौरान (1962-64) कल्चरल एण्ड टेक्निकल एक्सचेंज फैलोशिप के अन्तर्गत वे अमेरिका के हार्वर्ड, हवाई एवं मिनेसोटा जैसे विश्वविद्यालयों में पाश्चात्य दर्शन की समसामयिक विद्याओं के उच्च अध्ययन के लिए भेजे गये। प्रखर वाग्मिता एवं सौम्य

शिक्षकोचित चरित्र के लिए विख्यात् प्रो. पाण्डेय 1983 से 1986 तक टैगोर की साधना स्थली "विश्वभारती" में प्रोफेसर ऑफ फिलॉसफी पद पर आसीन रहते हुए अध्यापन कार्यों के साथ-साथ अपने महत्त्वपूर्ण शोध अध्ययन को भी सम्पन्न किया जो विश्वभारती से ही "प्रॉबलेम ऑफ फैक्ट" नाम से प्रकाशित है। तदुपरान्त वे रायपुर विश्वविद्यालय (छत्तीसगढ़) में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष के रूप में 1987 से 1995 तक अपनी सेवा प्रदान करते हुए वहीं से सेवा निवृत्त हुए। प्रो. पाण्डेय ग्रेट-ब्रिटेन के लन्दन एवं ब्रिस्टल विश्वविद्यालय में विजिटिंग टीचर (1967) रहे और उन्होंने कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भी भाग लिया। वे अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के हरिद्वार अधिवेशन (1998) के अध्यक्ष भी रहे। आंग्ल भाषा में कई उच्चस्तरीय शोध-निबन्धों को प्रकाशित करने के साथ-साथ वे आरम्भ से ही राष्ट्रभाषा में भी अपनी विश्लेषणात्मक प्रतिभा का उपयोग करते हुए दर्शन की अधुनातन समस्याओं पर दार्शनिक त्रैमासिक, तत्त्व चिन्तन, दर्शन समीक्षा एवं उन्मीलन जैसी पत्रिकाओं के माध्यम से लिखते रहे हैं। विट्गेन्स्टाइन के दर्शन में उनकी गहरी अभिरुचि है, एतदर्थ उन्होंने "तर्क एवं दर्शन का विवेचन" शीर्षक से ट्रक्टेटस लॉजिको फिलॉसफिकस का हिन्दी में अनुवाद भी किया है। शायद हिन्दी भाषा में इस विश्वप्रसिद्ध दुरूहतम प्रबन्ध का किया गया यह पहला अनुवाद है। ऐसे ही फेनोमेनालॉजी पर भी उन्होंने संक्षिप्त परन्तु प्राञ्जल एक पुस्तिका लिखी है। आज भी वे दार्शनिक चिन्तन एवं मनन में उतना ही अभिनिवेश रखते हैं जितना पहले रखा करते थे।

*

बलिराम शुक्ल

काशी की पाण्डित्य परम्परा में न्याय सार्वभौम संज्ञित पं. हरिराम शास्त्री शुक्ल के ज्येष्ठ आत्मज प्रो. बलिराम शुक्ल का जन्म वाराणसी में हुआ। आन्वीक्षिकी 'प्रदीप: सर्व विद्यानाम्' की सारस्वत् दीक्षा इन्होंने वंशज भाव से पितृचरण में ग्रहण की और तदुपरान्त नव्यन्याय में आचार्य की उपाधि सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्पन्न कर दिल्ली विश्वविद्यालय में अर्ह किया। पुन:, दर्शनशास्त्र में स्नातकोत्तर अध्ययन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्पन्न कर दिल्ली विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि से विभूषित हुए। अपने अध्यापकीय जीवन की शुरुआत श्री रामानुज दर्शन महाविद्यालय, वाराणसी एवं तदनन्तर श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली से करते हुए अन्तत: तत्त्वज्ञान विभाग, पुणे विश्वविद्यालय में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। प्रो. शुक्ल ने अपने अकादमिक जीवन का सर्वाधिक सृजनात्मक समय पुणे विश्वविद्यालय को ही प्रदान किया है। पुणे को ही साधना-स्थली बनाकर अपनी शास्त्र निष्ठा और निर्दुष्ट विद्या का स्वार्थसंवित्

और परार्थबोधाय दोहन करते हुए इन्होंने देश-विदेश के अनेक शोधार्थियों को न्यायशास्त्र के निगूढ़तम क्षेत्र में शोध-कार्य करने का जैसा अवसर उपलब्ध कराया, वह अन्यत्र दुर्लभ था। न्यायशास्त्र की प्राचीन एवं नव्य परम्परा के प्रचार-प्रसार में विशिष्ट योगदानों के लिए इन्हें कई संस्थाओं एवं धर्माचार्यों के द्वारा सम्मानित किया जा चुका है। श्री राघवेन्द्र स्वामी मठ मंत्रालय (आन्ध्रप्रदेश) द्वारा इन्हें "न्यायभूषण" की उपाधि से मण्डित किया गया है। प्रो. शुक्ल के द्वारा दिये गये विशिष्ट व्याख्यानों एवं सैकड़ों प्रकीर्ण निबन्धों के अतिरिक्त उनकी कृतियों में अनुमान प्रमाण, न्यायसिद्धान्त मञ्जरी, नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ-दो भाग, आत्मदर्शनम् (सम्पा.), आत्मत्वजाति विचार (सम्पा.) एवं ए बेसिक कोर्स ऑफ इण्डियन लॉजिक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नव्यन्याय की लक्षण-परिष्कार विद्या में कई कोटियों तक शास्त्रार्थ करने में समर्थ प्रो. शुक्ल ने उत्तरापेक्षी बोध के साथ प्राप्त परम्परा को जिस तरह से आगे बढ़ाया है, उसके लिए वे कोटिशः धन्यवादार्ह हैं।

*

रामजी सिंह

प्रसिद्ध गाँधीवादी विचारक प्रो. रामजी सिंह का जन्म (1931) मुंगेर (बिहार) के जमालपुर (इन्दरूख) अंचल में हुआ। इनकी प्रारम्भिक और स्नातक पर्यन्त शिक्षा मुंगेर में ही सम्पन्न हुई। स्नातकोत्तर (दर्शनशास्त्र) एवं पी-एच.डी. की उपाधि इन्होंने पटना विश्वविद्यालय से प्राप्त की। इन्हें दर्शनशास्त्र एवं राजनीति शास्त्र जैसे दो-दो विषयों में डी. लिट् की भी उपाधि प्राप्त करने का श्रेय प्राप्त है। मुंगेर के आंचलिक महाविद्यालयों से अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत करने वाले प्रो. सिंह 1966 से 1969 तक लोकसभा के सदस्य; 1980 से 1993 तक दर्शन विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष; 1992 से 1994 तक जैन विश्वभारती, लाडनू के कुलपति; 1994 से 1996 तक गाँधी अध्ययन संस्थान-राजघाट, वाराणसी के निदेशक; इत्यादि महत्त्वपूर्ण दायित्त्वों पर रहते हुए अपने अकादमिक जीवन को उल्लेखनीय उत्कर्ष प्रदान किया है। इसी अन्तराल में उन्होंने इण्डियन सोसायटी ऑफ गाँधीयन स्टडीज (1991-95), अखिल भारतीय दर्शन परिषद् (1982-94) तथा फेडरेशन ऑफ बिहार यूनिवर्सिटी टीचर्स एसोसियेशन (1989-94) इत्यादि संगठनों एवं संस्थाओं का अध्यक्षीय कार्यभार भी सम्भाला है। इसके अतिरिक्त प्रो. सिंह भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, रॉयल इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी-लंदन; माइण्ड एसोसियेशन-ऑक्सफोर्ड इत्यादि संस्थाओं के सदस्य भी रहे हैं और अनेक सरकारी एवं गैरसरकारी समितियों के सदस्य रूप में भी इन्हें नामित किया जाता रहा है। इन्होंने कई महत्त्वपूर्ण अवसरों पर अमेरिका, जापान, इटली, फ्रांस, आदि देशों की अकादमिक यात्रायें भी की हैं और 'वर्ल्ड पार्लियामेन्ट ऑफ

रिलिजन्स-शिकागो (1993)', 'वर्ल्ड फिलॉसफी कॉंग्रेस (1988 एवं 1992), ईस्ट-वेस्ट फिलॉसफिक ल मीट, हवाई (1995) इत्यादि सम्मेलनों में भाग लेकर भारतीय विद्वानों का प्रतिनिधित्व किया है। सम्प्रति प्रो. सिंह एफ्रो एशियन फिलॉसफिकल ऐसोसियेशन के उपाध्यक्ष, बिहार सर्वोदय मण्डल के अध्यक्ष एवं विक्रमशिला हिन्दी विद्यापीठ (भागलपुर) के कुलाधिपति हैं। इन्होंने छोटे-बड़े अनेक ग्रन्थों की रचना, सम्पादन एवं अनुवाद किया है। उनमें से कुछ उल्लेखनीय कृतियाँ—गाँधी दर्शन मीमांसा, गाँधी विचार, समाजदर्शन का मूलतत्त्व, भारतीय दर्शन और चिन्तन, जैन कॉन्सेप्ट ऑफ ओमनिसियेन्स, रेलिवेन्स ऑफ गाँधीयन थॉट, डायमेन्शन्स ऑफ इण्डियन थॉट एण्ड कल्चर इत्यादि हैं। इसके अतिरिक्त भी गाँधी वाङ्मय पर इनकी दर्जनों कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। प्रो. सिंह का अकादमिक जीवन कई मायने में अनुकरणीय है। प्राप्त की सम्यक् रक्षा एवं अप्राप्त की निरन्तर पर्येषणा में प्रगति के उर्ध्वाधर पथ पर उद्यम करते हुए इन्होंने अपने को शिखर पर स्थापित किया परन्तु राज वैभव के बीच भी गाँधी जी के सादगी-विलास को कभी नहीं छोड़ा। इसी संकल्प पथ पर उनकी सम्पूर्ण मेधा गाँधी वाङ्मय को आज भी समर्पित है।

*

सिद्धेश्वर भट्ट

प्रो. एस.आर. भट्ट का जन्म (1939) मध्यप्रदेश के मंदसौर अंचलान्तर्गत सीतामऊ कस्बे में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा आंचलिक परिवेश से और स्नातक स्तर की शिक्षा क्रिश्चियन कॉलेज, इन्दौर से सम्पन्न हुई। बाद के वर्षों में ये उच्च शिक्षा के लिए बड़ौदा गये और एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा से इन्होंने ससम्मान पी-एच.डी. (1966) की उपाधि प्राप्त की। प्रो. भट्ट 1969 से 1979 तक दिल्ली विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रह कर अपने शोधोत्तर अध्ययन एवं अध्यापन क्रम को जारी रखा। किन्हीं कारणों से इन्हें कुछ समय के लिए (1979-1980) महाराजा शिवाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा जाना पड़ा जहाँ इन्होंने दर्शन विभाग के प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष के रूप में कार्य किया। पुन: ये दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में पदस्थ (1980) हुए और क्रमश: रीडर, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष होकर 2004 में अन्तिम रूप से सेवानिवृत्त हुए। प्रो. भट्ट अनेक बार अकादमिक आमंत्रण पर विदेश गये और स्वयं भी अपने देश में पचास से अधिक राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों एवं दार्शनिक सम्मेलनों का आयोजन किया। लम्बे समय तक भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद, भारतीय दार्शनिक महासभा एवं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् से सम्बद्ध रहकर भारत में भारतीय दार्शनिक गतिविधियों को बढ़ावा दिया। आज भी पूरे मनोयोग से ऐसे ही कार्यों में संलग्न हैं। भारतीय दार्शनिक महासभा एवं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ने

इन्हें अपना अध्यक्ष मनोनीत कर अपने को सम्मानित किया है। प्रो. भट्ट की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ पांचरात्र दर्शन, रामानुज वेदान्त, बुद्धिस्ट एपिस्टेमोलॉजी इत्यादि हैं। इसके अतिरिक्त कई एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन एवं अनेक शोध निबन्धों का प्रकाशन इन्होंने किया है। भारतीय विद्याओं के अकादमिक एवं संस्थागत विकास के प्रति इनकी निष्ठा अनुकरणीय है।

*

सभाजीत मिश्र

पाश्चात्य दार्शनिक विचारधाराओं की गहरी परन्तु सहज ही सम्प्रेषणीय समझ रखने वाले अधिकारी विद्वान प्रो. सभाजीत मिश्र का जन्म (1942) उत्तर प्रदेश के वनपुरवा ग्राम, जिला फैजाबाद में हुआ। ग्रामीण परिवेश में ही अपनी प्रारम्भिक शिक्षा से उत्तीर्ण होकर वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय गये जहाँ से उनकी बी.ए. (1961) एवं दर्शन शास्त्र में एम.ए. (1963) तक की शिक्षा-दीक्षा सम्पन्न हुई। इलाहाबाद में प्रो. एस.एस. राय, प्रो. एस. दत्ता, प्रो. नरवड़े एवं प्रो. एस.सी. विश्वास उनके शिक्षक रहे। ऐसे उन्नायक चरित्र के शिक्षकों का सान्निध्य उनमें एक ऐसी दार्शनिक भावभूमि को निर्मित कर गया जो उनके माध्यम से आजीवन अभिव्यक्ति पा रहा है। इन्हें पी-एच.डी. की उपाधि (1975) गोरखपुर विश्वविद्यालय से प्राप्त हुई क्योंकि वे 1964 में ही वहाँ नियुक्त कर लिये गये थे। अपने अध्यापकीय जीवन की शुरुआत से लेकर सेवा निवृत्ति पर्यन्त (2002) प्रो. मिश्र गोरखपुर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में ही प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के रूप में अपनी सेवा प्रदान करते रहे हैं। सम्प्रति प्रो. मिश्र दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रति कुलपति, उत्तरप्रदेश दर्शन परिषद् के अध्यक्ष एवं "संदर्शन" पत्रिका के सम्पादक हैं। इनकी प्रमुख एवं पुरस्कृत कृतियाँ-दि ऐंग्विस्ड फ्रीडम, कांट का दर्शन, अस्तित्त्ववाद के प्रमुख विचारक (सह लेख.), समकालीन भारतीय दर्शन (सह सम्पा.) एवं समकालीन पाश्चात्य दर्शन (सह सम्पा.) इत्यादि हैं।

*

श्रीप्रकाश दुबे

प्रो. श्रीप्रकाश दुबे का जन्म (1944) उत्तरप्रदेश के देवरिया अंचल में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा काशी में ही हुई और तदनन्तर इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की धार्मिक शिक्षा पाठ्यक्रम से प्रथमा (1954), मध्यमा (1960) एवं उत्तमा (1962) इत्यादि परीक्षाओं को उत्तीर्ण किया। वहीं से दर्शनशास्त्र में स्नातकोत्तर उपाधि (1963) स्वर्ण पदक सम्मान के साथ प्राप्त कर प्रो. दुबे उच्चतर अध्ययन के लिए मैकमास्टर विश्वविद्यालय हैमिल्टन,

कैनाडा (1966-1968) चले गये जहाँ इन्होंने धार्मिक विज्ञान पद्धति से रूडोल्फ आटो का अध्ययन किया और इसी विषय पर उन्हें पी-एच.डी. (1967) की उपाधि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त हुई। स्वदेश लौटने के पश्चात् प्रो. दुबे ने अपने अध्यापकीय जीवन की शुरुआत लेक्चरर (1969-1983) के रूप में दर्शन विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.) से की और वहीं क्रमश: रीडर (1983-1990), प्रोफेसर (1990-अद्यतन) आदि पदों पर आसीन होते हुए विभागाध्यक्ष एवं संकायाध्यक्ष इत्यादि पदों को भी सुशोभित कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने समय-समय पर प्रोफेसर इन चार्ज-ओशोपीठ, प्रोफेसर इन चार्ज-योग सेन्टर, नोडल ऑफिसर-यू.जी.सी. मूल्य शिक्षा, प्रधान-सम्पादक-'विश्लेषण', अध्यक्ष- मध्यप्रदेश विश्वविद्यालय शिक्षक संघ इत्यादि दायित्त्वों को भी संभाला है। प्रो. दुबे अपने रचनात्मक अकादमिक जीवन का विस्तार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर करने में सफल रहे हैं। राष्ट्रीय स्तर पर प्रोफेसर दुबे प्राय: भारत के सभी विश्वविद्यालयों में संगोष्ठियों, परिचर्चाओं, विशिष्ट व्याख्यानों एवं विशेषज्ञ के रूप में बहुधा आमंत्रित किये जाते रहे हैं। भारत के दर्शन-जगत् से इन्होंने हर एक स्तर पर अधिकाधिक संवाद स्थापित किया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रो. दुबे ने कैनाडा, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, स्विट्जरलैंड, इटली, जापान, रूस एवं हाँगकाँग इत्यादि देशों की अकादमिक यात्रा कर भारतीय दर्शन एवं भारतीय धर्म विज्ञान को गुंजायमान किया है। भारत में दर्शन शास्त्र के संस्थागत एवं संगठनात्मक विकास के प्रति इनका योगदान भारतीय दार्शनिक महासभा (संयुक्त सचिव-10 वर्ष) एवं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् (संयुक्त सचिव, महामंत्री, अध्यक्ष-20 वर्ष) के माध्यम से बहुत ही उल्लेखनीय रहा है। अपने इस महत्त्वपूर्ण प्रयास से प्रो. दुबे ने दर्शन से जुड़े बहुसंख्यकों को भारत में दर्शनशास्त्र की मुख्यधारा से जोड़ा है। देश–विदेश की अनेक प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छोटे-बड़े सैकड़ों शोध-निबन्धों के अतिरिक्त-रूडोल्फ आटो एण्ड हिन्दुइज्म, आइडियलिज्म ईस्ट एण्ड वेस्ट, ग्रीक फिलॉसफी (बर्नेट कृत का हिन्दी अनु.), फैसेट्स ऑफ रिसेन्ट इण्डियन फिलॉसफी, (4 भाग सम्पा.) इत्यादि इनकी बहुमान्य कृतियाँ हैं। आज भी प्रो. दुबे स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन को अकादमिक स्वरूप प्रदान करने के लिए तन, मन और धन से संकल्पकृत हो कर कार्य कर रहे हैं।

*

अशोक बोहरा

प्रो. अशोक बोहरा सम्प्रति दिल्ली विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र के प्रोफेसर हैं। उन्होंने एक दशक तक सेंट स्टीफन कॉलेज में दर्शन का अध्यापन किया। वे 1995 से 1998 तक भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के सदस्य सचिव रहे। उनके पचहत्तर से अधिक

शोध-प्रबन्ध एवं लेख राष्ट्रीय एवं अन्तर-राष्ट्रीय शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। वे विट्गेन्स्टाइन्स फिलॉसफी ऑफ माइन्ड (क्रूम-हेल्म, लन्दन-सिडनी) के लेखक, राधाकृष्णन: हिज़ लाईफ़ एण्ड आईडियाज़ (स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयार्क) के सह लेखक (प्रो. के. एस. मूर्ति के साथ), द फिलॉसफी ऑफ के. सच्चिदानंद मूर्ति और धर्म : द कैटेगोरियल इम्पैरिटिव के सह संपादक हैं। उन्होंने विट्गेन्स्टाइन की तीन पुस्तकों : फिलॉसफिकल इन्वेस्टिगेशन्स; ऑन सर्टेन्टि; और कल्चर एण्ड वैल्यू का हिन्दी में अनुवाद किया है। भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान में दिए गए राधाकृष्णन लेक्चर्स का हिन्दी अनुवाद भी इन्होंने प्रकाशित किया है। आजकल प्रो. बोहरा विट्गेन्स्टाइन के आकर ग्रन्थ 'ट्रैक्ट्स लॉजिको फिलोसोफिक्स' का हिन्दी अनुवाद कर रहे हैं।

*

पृथ्वीनाथ शास्त्री

बहुआयामी प्रतिभा के धनी डॉ. पृथ्वीनाथ शास्त्री का जन्म 1923 में हुआ। उत्तर प्रदेश शासन के इन्स्ट्रक्शन विभाग से 1941 में इन्होंने 'हिन्दी' विशेष योग्यता की परीक्षा पास की। साहित्य शास्त्री (1945) बनारस, इण्टरमीडियेट परीक्षा यू.पी. बोर्ड (1946) से उत्तीर्ण होकर स्नातक (1948) एवं प्राचीन भारतीय इतिहास एवं विश्व इतिहास विषय में स्नातकोत्तर (1951) अध्ययन उन्होंने क्रमश: इलाहाबाद एवं नागपुर विश्वविद्यालय से सम्पन्न किया। अपने उल्लेखनीय एवं पुरस्कृत शोध-प्रबंध 'डायलेक्टिस ऑफ निगेशन' के लिए पुणे विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि (1984) से सम्मानित हुए। लखनऊ विश्वविद्यालय से 1954 में ही इन्होंने विधिशास्त्र का एक वर्षीय अध्ययन एवं श्रीलंका से 1987 में चिकित्साशास्त्र का भी अध्ययन किया। दिल्ली, लखनऊ एवं कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले 'Monthly Public Opinion' के सहायक सम्पादक (1954-57) रहे। मुद्रक मण्डल, कलकत्ता से प्रकाशित ''सुप्रभात एवं रागरंग' मासिक पत्रिका के प्रबन्ध सम्पादक (1957-59) के रूप में कार्य किया। भारतीय ज्ञानपीठ के कार्यकारिणी सदस्य (पुरस्कार समिति) (1962-65) भी रहे 'The Strugle' नामक साप्ताहिक पत्रिका के सह सम्पादक के रूप में इन्होंने 1969-72 तक कार्य किया। भारतीय विद्या भवन की पत्रिका 'नवनीत हिन्दी डायजेस्ट के सम्पादन का दायित्त्व भी 1980-81 में सम्हाला। एम.पी. बिड़ला फाउन्डेशन की इकाई 'Encyclopedia India and Classics of the East Project' के 1986-90 तक प्रबन्ध सम्पादक एवं प्रकाशक रहे। हिन्दी में बहुविध प्रकीर्ण लेखन के अतिरिक्त हाल फिलहाल में इनकी दो पुस्तकें (1) Now why Negation (2) The Thinker Extraordinary प्रकाश में आई हैं। सम्प्रति, 33, पूर्वपल्ली, शान्तिनिकेतन में डॉ. शास्त्री स्थायी रूप से निवास करते हैं।

*

विजयकान्त दुबे

महर्षि श्री अरविन्द के दर्शन में पैठ रखने वाले कुछ एक लोगों में विशिष्ट डॉ. विजयकान्त दुबे का जन्म वाराणसी के अन्तर्गत 1952 में हुआ। स्वाभाविक तौर पर प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा वाराणसी में हुई और दर्शनशास्त्र में स्नातकोत्तर उपाधि इन्होंने स्वर्ण-पदक के साथ 1972 में आगरा विश्वविद्यालय, आगरा से प्राप्त की। सर्वविद्या की राजधानी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में 'डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी' की उपाधि से विभूषित हुए। अपने अध्यापकीय जीवन की व्यवस्थित शुरुआत इन्होंने काशी नरेश स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर (उ.प्र.) से किया जहाँ विगत पच्चीस वर्षों से अध्यापन करते हुए अद्यतन अपनी अध्येतृता का बहुविध लेखन एवं शोध-निर्देशन इत्यादि के द्वारा संवर्धन कर रहे हैं। इन्होंने कुछ काल के लिए अगस्त्य मुनि स्नातकोत्तर महाविद्यालय, चमोली (उत्तरांचल) के प्राचार्य का दायित्त्व भी सम्हाला है। डॉ. दुबे छात्रोपयोगी कई पुस्तकों के रचयिता एवं दो दर्जन से अधिक शोध-निबन्धों के लेखक रूप में सम्मानार्ह हैं।

*

बी. कामेश्वर राव

सांख्य दर्शन के इने-गिने विद्वानों में एक, सेश्वर सांख्य के परिष्कर्त्ता डॉ. बी. कामेश्वर राव का जन्म श्रीकाकुलम (आं. प्र.) के देवपुरम ग्राम में 1951 में हुआ। दर्शनशास्त्र में एम.ए., पी-एच.डी. एवं डी.लिट् की उपाधि प्राप्त डॉ. राव ने अपने उत्साही अध्यापकीय जीवन की शुरूआत रामपुर से की। सम्प्रति पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर के तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययन शाला में उपाचार्य पद पर प्रतिष्ठ होकर अपने अकादमिक, प्रशासनिक दायित्त्वों का निर्वाह करते हुए अपनी अध्येतृता का सुचिन्तित सम्पादन कर रहे हैं। सांख्य प्रज्ञा (ईश्वरकृष्ण कृत कारिकाओं की परमात्मवादी व्याख्या) इनकी गम्भीर कृति है। पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय द्वारा सम्पादित "संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास" में सांख्य दर्शन पर एक स्वतंत्र अध्याय इन्होंने ही लिखा है। हाल-फिलहाल में "भारत की अस्मिता: हिन्दू राष्ट्र" नामक इनकी चर्चित रचना प्रकाश में आई है। इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य सम्पादित पुस्तकों में भी इन्होंने महत्त्वपूर्ण अध्याय लिखे हैं और दो दर्जन से अधिक शोध-निबन्धों का प्रकाशन मानक पत्रिकाओं के माध्यम से किया है। अपने सरल व्यक्तित्व और सांख्य विद्या में निपुणता के लिए डॉ. राव भारत के दार्शनिक जगत् में भलि-भाँति जाने-पहचाने जाते हैं।

*

अम्बिकादत्त शर्मा

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा का जन्म (1960) झारखण्ड के चतरा अंचल में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा ग्रामीण परिवेश में तथा स्नातक स्तर की शिक्षा राँची विश्वविद्यालय से सम्पन्न हुई। एम.ए. (1985), पी-एच.डी. (1988) की उपाधि इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त की है। लगभग 10 वर्षों तक शोधोत्तर अध्ययन में संलग्न रहने के पश्चात् डॉ. शर्मा ने अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत 1996 में विनोबा भावे विश्वविद्यालय सेवा से लेक्चरर के रूप में की और सम्प्रति दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय में रीडर पद पर 1998 से आसीन हैं। इनकी गणना इस समय देश के उदीयमान अध्येताओं में की जाती है। भारतीय प्रमाण दर्शन, तर्कशास्त्र एवं भाषा दर्शन से सम्बन्धित अपने कुछ महत्त्वपूर्ण शोध-निबन्धों के द्वारा इन्होंने भारतीय दार्शनिक चिन्तन की युक्त्यनुसारी परम्परा को फिर से दार्शनिक विमर्श का विषय बना दिया है। डॉ. शर्मा की रुचि का विषय बौद्ध दर्शन और उसमें भी विशेषकर उसकी न्यायवादी परम्परा है। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति से लेकर रत्नकीर्ति और ज्ञानश्री मित्र तक के न्यायवादी बौद्ध आचार्यों के अति दुरूह दार्शनिक चिन्तन पर लगातार कुछ चर्चित निबन्धों को लिखकर डॉ.शर्मा ने दर्शन की इस धारा को समकालीन दर्शनविदों के समक्ष फिर से जीवन्त कर दिया है। यहाँ ध्यातव्य है कि डॉ. शर्मा दर्शन की काशी हिन्दू विश्वविद्यालय परम्परा द्वारा दीक्षित दर्शनशास्त्री हैं। दर्शन की इस परम्परा को बीसवीं सदी में शास्त्रीय भारतीय दर्शन को अकादमिक स्वरूप प्रदान करने का श्रेय दिया जाता है। पारम्परिक भारतीय दार्शनिक चिन्तन का कोई भी विवेचन तब तक अधूरा माना जाता है जब तक दर्शन की काशी हिन्दू विश्वविद्यालय परम्परा की चर्चा न की जाय। इस परम्परा के दार्शनिकों में प्रो.टी.आर.वी. मूर्ति (माध्यमिक दर्शन), प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय (भाषा दर्शन), प्रो. ए.के. चटर्जी (योगाचार), प्रो. रमाकान्त त्रिपाठी एवं प्रो. (गुरूवर) रेवती रमण पाण्डेय (अद्वैतवेदान्त), प्रो. कमलाकर मिश्र एवं प्रो. एल.एन. शर्मा (काश्मीर शैव),प्रो. के. एन. मिश्र (वल्लभ वेदान्त), प्रो. आर.आर. द्रविड एवं प्रो. हर्षनारायण (न्याय-वैशेषिक) ने परम्परागत भारतीय दर्शनों की मौलिक एवं विश्लेषणात्मक व्याख्या के द्वारा इन्हें बीसवीं सदी की प्रवाहमान दार्शनिक चिन्तन धारा के रूप में पुनर्प्रतिष्ठित किया है। इसी परम्परा की कड़ी को आगे बढ़ाते हुए डॉ.शर्मा न्यायवादी बौद्ध परम्परा के गहरे मन्थन में संलग्न होकर अपनी दर्शन-साधना को अग्रसारित करते हुए दार्शनिक त्रैमासिक के कार्यकारी सम्पादक, उन्मीलन के प्रबन्ध सम्पादक और अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के मंत्री के रूप में दर्शन के संस्थागत और संगठनात्मक दायित्त्वों का भी सफलतापूर्वक निर्वहन कर रहे हैं।



अविनाश कुमार श्रीवास्तव

सिद्धार्थ गौतम की बुद्ध भूमि के निकटवर्ती क्षेत्र बिहार शरीफ (नालंदा) के सुखाननपुर ग्राम में डॉ. अविनाश कुमार श्रीवास्तव का जन्म 25 दिसम्बर, 1955 को हुआ। आस-पास के स्कूलों में बुनियादी शिक्षा प्राप्त कर डॉ. श्रीवास्तव ने दर्शनशास्त्र में नालंदा से स्नातक, पटना विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर (1976) एवं मगध विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. (1981) की उपाधि प्राप्त की। अपने अध्यापकीय जीवन का प्रारम्भ इन्होंने जे.जे. कॉलेज, झुमरी तिलैया से किया और सम्प्रति नालंदा कॉलेज, बिहार शरीफ में उपाचार्य पद पर प्रतिष्ठित हैं। दर्शन शास्त्र की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में (दार्शनिक त्रैमासिक, परामर्श, दर्शन इण्टरनेशनल, प्रज्ञा भारती एवं बिहार पुराविद् परिषद की पत्रिका इत्यादि) प्रकाशित महत्त्वपूर्ण आलेखों एवं सम्पादित पुस्तकों में सम्मिलित किये गये निबन्धों के चलते डॉ. श्रीवास्तव पूरे देश में अपनी सक्रिय दार्शनिक भूमिका के लिए जाने-पहचाने जाते हैं। भारतीय दर्शन की मूल समस्यायें (1984) इनकी प्रारम्भिक और स्वतंत्र कृति है। डॉ. श्रीवास्तव अध्ययन, अध्यापन एवं शोध के अतिरिक्त संयुक्त मंत्री (अखिल भारतीय दर्शन परिषद्), संगठन मंत्री (नालंदा हिन्दी साहित्य सम्मेलन), कार्यकारिणी सदस्य (इण्डियन सोसायटी फॉर बुद्धिस्ट स्टडीज), एवं बिहार दर्शन परिषद् के संगठन सदस्य जैसे संस्थानिक दायित्त्वों का भी सफलतापूर्वक निर्वाह करते रहे हैं।

*

प्रियव्रत शुक्ल

दर्शन शास्त्र के प्रति समर्पित काश्यस्थ आचार्य परम्परा एवं संतपरम्परा के साधक डॉ. उमेश दत्त शुक्ल (सम्प्रति स्वेच्छयां सेवानिवृत्ति लेकर संयस्त स्वामी हरिहरदर्शनानन्द) के आत्मज डॉ. प्रियव्रत शुक्ल का जन्म 1 जनवरी, 1960 को जबलपुर (मध्यप्रदेश) में हुआ। प्राथमिक से स्नातकोत्तर स्तर तक इनकी सम्पूर्ण शिक्षा सदैव प्रथमश्रेणी के परिणाम के साथ काशी में ही सम्पन्न हुई। इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से दर्शन, संस्कृत आदि विषयों के साथ कला स्नातक एवं दर्शन शास्त्र में स्नातकोत्तर उपाधि अर्जित की। तदुपरांत तंत्र दर्शन के आचार्य लक्ष्मीनिधि शर्मा के कुशल निर्देशन में "ए कम्परेटिव स्टडी ऑफ इण्टीग्रल फिलॉसफी ऑफ प्रत्यभिज्ञा एण्ड श्री अरविन्द" विषय पर लिखे गए शोध प्रबन्ध पर इन्हें इसी विश्वविद्यालय से वर्ष 1987 में शोध उपाधि प्रदान की गई। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा वर्ष 1984 में राष्ट्रीय स्तर पर सर्वप्रथम आयोजित शोध अध्येतावृत्ति परीक्षा

(नेट-जेआरएफ) में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से चयनित होकर इन्होंने कनिष्ठ एवं वरिष्ठ अध्येतावृत्ति प्राप्त की। डॉ. शुक्ल मार्च, 1988 से स्नातकोत्तर दर्शन अध्ययन एवं अनुसन्धान विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (मध्यप्रदेश) में प्राध्यापन कर रहे हैं तथा सम्प्रति प्रवाचक पद पर कार्यरत हैं। अभी तक अनेक शोधार्थी आपके निर्देशन में शोधकार्य कर पी-एच.डी. उपाधि अर्जित कर चुके हैं। आगमिक परम्परा के अनुसन्धानों में विशेष अभिरूचि रखने वाले डॉ. शुक्ल की प्रकाशित रचनाओं में "फिलॉसफिकल एनालिसिस" एवं "आधुनिक पाश्चात्य दर्शन (सहलेखन)" नामक पुस्तकों के अतिरिक्त विभिन्न ग्रंथों में विविध आलेखों का योगदान एवं शोधपत्रिकाओं में दार्शनिक महत्त्व व समीक्षात्मक प्रकृति के अनेक शोधपत्रों की गणना की जा सकती है। दर्शन जगत् में एक तटस्थ समीक्षक के रूप में इनकी विशिष्ट पहचान है। सम्प्रति डॉ. शुक्ल मध्यप्रदेश दर्शन परिषद् के उपाध्यक्ष भी हैं।

*

आलोक टण्डन

दर्शनशास्त्र की व्यवस्थाओं से अपने को बाहर रखकर दर्शन शास्त्र की संसदीय सेवा करने के लिए हर समय तत्पर डॉ. आलोक टण्डन एक प्रखर दार्शनिक समालोचक के रूप में सुविख्यात हैं। इनका जन्म 1952 में वैशाली जनपद के अन्तर्गत जन्दाहा ग्राम में हुआ। विज्ञान में स्नातक होने के उपरान्त इन्होंने समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं दर्शन शास्त्र में स्नातकोत्तर उपाधि ग्रहण की। लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त करने के साथ-साथ भारतीय समाज विज्ञान अनुसन्धान परिषद् के सामान्य अध्येता के रूप में 'धर्म एवं हिंसा' विषय पर अनुसन्धान कार्य किया। डॉ. टण्डन को राष्ट्रीय प्रतिभा छात्रवृत्ति भी प्राप्त हुई थी और भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् के रेजिडेन्ट फैलो भी रहे। विभिन्न पुस्तकों (सम्पादित) एवं पत्रिकाओं में एप्लाइड फिलॉसफ़ी से सम्बन्धित विषयों पर इन्होंने 50 से अधिक विचारोत्तेजक आलेख प्रकाशित किये हैं। 'Man and his Destiny with Special Reference to marx and Sartre' इनकी अब तक की गम्भीर कृति है। सम्प्रति बैंक ऑफ इण्डिया, हरदोई में सेवारत रहते हुए अखिल भारतीय स्तर पर दार्शनिक जगत् के क्रियाकलापों में सक्रिय भागीदारी निभाते हैं। नीति एवं समाज दर्शन, विज्ञान दर्शन, अस्तित्ववाद, मार्क्सवादी चिन्तन, आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता तथा संस्कृति-विमर्श में इनकी आलोचनात्मक प्रतिभा प्रखर अभिव्यक्ति पाती है।

*

रजनीश कुमार शुक्ल

भगवान बुद्ध की महापरिनिर्वाण भूमि 'कुशीनगर' में जन्मे डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल की आरम्भिक शिक्षा कुशीनगर एवं विधिवत प्रारम्भिक शिक्षा वाराणसी में सम्पन्न हुई। महात्मागाँधी काशीविद्यापीठ, वाराणसी से स्नातक (1986) एवं स्नातकोत्तर (1988) स्तर तक की शिक्षा को पूर्ण कर इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से यू.जी.सी. वरिष्ठ अध्येता के रूप में पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। सम्प्रति डॉ. रजनीश तुलनात्मक दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय-वाराणसी में उपाचार्य पद पर आसीन रहते हुए अपने अकादमिक जीवन को उत्तरोत्तर समृद्धि प्रदान कर रहे हैं। अब तक इनकी दो पुस्तकें-काण्ट का सौन्दर्य शास्त्र एवं वाचस्पति मिश्र विरचित तत्त्वबिन्दु-प्रकाश में आई हैं। सौन्दर्य, संस्कृति एवं दर्शन नामक इनकी तीसरी कृति शीघ्र ही प्रकाश्य है। डॉ. रजनीश अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के संयुक्त सचिव भी रह चुके हैं। वर्तमान में दार्शनिक त्रैमासिक के प्रधान-सम्पादक का दायित्त्व संभाले हुए हैं। ऐसे भविष्णु व्यक्ति से भारत के दर्शन जगत् को बड़ी अपेक्षायें हैं।

*

संजय कुमार शुक्ला

डॉ. संजय कुमार शुक्ला का जन्म 1964 में वाराणसी में हुआ। अपने विद्वान न्यायाधीश पिता (भगवती प्रसाद शुक्ला) की देख-रेख में इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा बहुत ही उत्तम तरीके से सम्पन्न हुई। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातक एवं स्नातकोत्तर (दर्शनशास्त्र) अध्ययन पूरा करने के पश्चात् काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से इन्होंने यू.जी.सी., जे.आर.एफ. एवं एस.आर.एफ. के रूप में पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने इन्हें 2005 में डी. लिट् की उपाधि से सम्मानित किया है। डॉ. शुक्ला का अध्यापकीय जीवन इरविंग क्रिश्चियन कॉलेज, इलाहाबाद से प्रारम्भ हुआ और सम्प्रति वहीं उपाचार्य पद पर आसीन हैं। अब तक इनकी दो मानक कृतियाँ - Kant,s Copernican Revolution एवं Revolution in the Philosophy of Edmund Husserl, प्रकाश में आई हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने अपनी विशेषज्ञता के क्षेत्र में अनेक शोधपरक निबन्ध देश-विदेश के रेफर्ड जर्नल्स में प्रकाशित किये हैं। डॉ. शुक्ला अपने अकादमिक दायित्त्वों के प्रति जितने सचेष्ट उतने ही अपने लेखन में संवेदनशील प्रकृति के अध्येता हैं। जर्मन दार्शनिक परम्परा का गहरा बोध इन्होंने जर्मन भाषा से स्वायत्त किया है जो इनकी अत्युच्च अकादमिक विशिष्टता है।

*

रमाकान्त पाण्डेय

डॉ. रमाकान्त पाण्डेय का जन्म 5 अगस्त 1966 को चित्रकूट अंचल के सकरौंहाँ ग्राम में एक पारम्परिक विद्वत् कुल में हुआ। इनके पितामह पं. दयाराम जी पाण्डेय श्रीमद्भागवत एवं सारस्वत व्याकरण के सुविख्यात पण्डित थे। उन्हीं के चरणों में इनकी प्रारम्भिक शिक्षा व्याकरण एवं प्रमाणशास्त्र में संस्कारित करने के उद्देश्य से सम्पन्न हुई। उच्च शास्त्रीय शिक्षा प्राप्त करने के लिए इन्हें काशी भेजा गया जहाँ इन्होंने मनोयोग से आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठी एवं आचार्य रामयत्न शुक्ल जैसे मूर्धन्य मनीषियों से व्याकरणशास्त्र एवं न्यायशास्त्र का प्रौढ़ अध्ययन किया। तदन्तर डॉ. पाण्डेय आधुनिक संस्कृत साहित्य एवं अलङ्कार शास्त्र के पुरोधा प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी के सम्पर्क में आये और उन्हीं के निर्देशन में "संस्कृत साहित्ये स्मृतितत्वम्" पर शोधकार्य करते हुए उन्होंने सागर विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. (1994) की उपाधि प्राप्त की। इनकी शोध-प्रवणता के चलते ही इन्हें 1994 में ही संस्कृत-प्रणत अध्ययन केन्द्र, पुणे विश्वविद्यालय के अनुसन्धान सहायक का कार्यभार सौंपा गया जहाँ डॉ. पाण्डेय लगभग छः वर्षों तक शोधोत्तर कार्यों में प्रवृत्त रहे। सम्प्रति डॉ. पाण्डेय राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, जयपुर परिसर में उपाचार्य पद पर प्रतिष्ठित हैं। अब तक इनके 18 ग्रन्थ एवं 40 से अधिक शोध निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। 'शास्त्रेषुनिष्ठा सहजश्च बोधः' को चरितार्थ करने वाले डॉ. पाण्डे सम्प्रति आधुनिक संस्कृत जगत् की विद्वतमण्डली में एक उदीयमान नक्षत्र के रूप में सम्मानार्ह हैं।

*

श्रीमती विभा मुकेश

डॉ. (श्रीमती) विभा मुकेश दिल्ली विश्वविद्यालय की स्नातक एवं परास्नातक (दर्शनशास्त्र) हैं। पी-एच.डी. की उपाधि इन्होंने मेरठ विश्वविद्यालय (उ.प्र.) से प्राप्त की है। 1981 से हेमवती नन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में नियुक्त होकर सम्प्रति वहीं वरिष्ठ उपाचार्य एवं अध्यक्ष पद पर रहते हुए अपने अकादमिक दायित्त्वों का सोत्साह निर्वहन करती हैं। 'द न्याय कॉन्सेप्ट ऑफ अभाव' एवं 'द नव्यन्याय लॉजिक' अब तक की इनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त दर्जनों आलेखों का प्रकाशन भी इन्होंने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं एवं सम्पादित पुस्तकों के माध्यम से किया है। डॉ. विभा 1993-96 तक अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की संयुक्त सचिव भी रही हैं। वर्तमान में (2003 से) परिषद् की सम्मान्य उपाध्यक्ष हैं।

*

सरोज कुमार वर्मा

डॉ. सरोज कुमार वर्मा का जन्म 20 अगस्त 1961 को शिवहर (बिहार) के बसहिया गाँव में हुआ। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय विद्यालयों से प्राप्तकर इन्होंने स्नातक (प्रतिष्ठा) एवं स्नातकोत्तर (दर्शनशास्त्र) अध्ययन बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर से सम्पन्न किया। आचार्य रजनीश के दर्शन पर पी-एच.डी. की उपाधि इन्हें बिहार विश्वविद्यालय (1991) से प्राप्त हुई। अपने अध्यापकीय जीवन की शुरुआत (1996) इन्होंने जे.बी.एस.डी. कॉलेज, मुजफ्फरपुर से की। सम्प्रति राममनोहर लोहिया स्मारक महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर में वरिष्ठ व्याख्याता पद पर सेवारत हैं। अनेक छोटे-बड़े दार्शनिक निबन्ध एवं समसामयिक आलेख इन्होंने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अनवरत प्रकाशित किये हैं। साहित्य के क्षेत्र में भी इनकी अच्छी खासी पहचान और दखलन्दाजी है। इस क्षेत्र में इन्होंने "मगर साक्षी क्या करे" (कविता संग्रह) और "है मयस्सर अब कहां" (ग़ज़ल संग्रह) भी प्रकाशित किया है। डॉ. वर्मा की दो पुस्तकें 'भारतीय दर्शन की मूल अवधारणायें' एवं 'ओशो का दर्शन' शीघ्र प्रकाश्य हैं। एक कवि हृदय से दर्शनशास्त्र को जी कुछ मयस्सर हो सकता है, वह सबकुछ इनकी बहुआयामी रचनाधर्मिता में बामस्सकत परिलक्षित होता है।

*

मुकेशचन्द्र डिमरी

डॉ. मुकेशचन्द्र डिमरी (जन्म स्थान, पौड़ी गढ़वाल) राजनीति शास्त्र, समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र जैसे तीन-तीन महत्त्वपूर्ण विषयों के परास्नातक हैं। दर्शनशास्त्र में पी-एच.डी. की उपाधि इन्होंने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार से हासिल की है। 'पाश्चात्य नीति दर्शन' एवं 'नैतिकता एवं सामाजिक विसंगतियाँ' अब तक की इनकी महत्त्वपूर्ण रचनायें मानी जा सकती हैं। राष्ट्रीय संगोष्ठियों एवं दार्शनिक सम्मेलनों में सक्रिय भागीदारी निभाते हुए इन्होंने बहुविध विषयों पर लगभग एकाध दर्जन शोध-निबन्धों का भी प्रकाशन किया है। डॉ. डिमरी वर्तमान में दर्शन विभाग, हेमवतीनन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय में शोध-सहायक पद पर कार्यरत हैं। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ने इन्हें 2001-2002 से अपना संरक्षक सदस्य मान्य किया है।

*

ज्योतिस्वरूप दुबे

डॉ. ज्योतिस्वरूप दुबे का जन्म 1 अगस्त 1967 को बुद्ध की महा परिनिर्वाण भूमि देवरिया में हुआ। दर्शनशास्त्र में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर अध्ययन (1987) सम्पन्न करने के उपरान्त जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर से इन्होंने 2005 में पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। मध्यप्रदेश लोकसेवा आयोग से सहायक प्राध्यापक पद पर चयनित होकर इन्होंने मध्यप्रदेश के विभिन्न महाविद्यालयों - स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मन्दसौर, शासकीय स्वशासी महाविद्यालय, शिवपुरी में अध्यापन कार्य किया। सम्प्रति शासकीय मानकुँवर बाई कला एवं वाणिज्य स्वशासी महाविद्यालय, जबलपुर में दर्शन विभागाध्यक्ष पद से अपने अकादमिक एवं संस्थागत दायित्त्वों का कर्मठता के साथ निर्वाह कर रहे हैं। अनुप्रयुक्त दर्शनशास्त्र एवं समाज दर्शन में अपनी विशेष अभिरुचि को इन्होंने तदनुरूप लेखन एवं राष्ट्रीय संगोष्ठियों को आयोजित कर चरितार्थ किया है। व्यवस्थापरक कर्मठता एवं दार्शनिक निष्ठा के चलते ही सम्प्रति डॉ. ज्योतिस्वरूप अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के संयुक्त सचिव एवं मध्यप्रदेश दर्शन परिषद् के महासचिव बनाये गये हैं। इस सम्पादित पुस्तक के लिए इन्होंने सूर्यप्रकाश श्रीवास्तव के आलेख का अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद किया है। ऐसे भविष्णु का उज्ज्वल भविष्य हम सभी के लिए साकांक्ष्य है।

* * *